ओ३म्

भगवद्गीता

(अन्वय के अनुसार शब्दार्थ एवं प्रश्नोत्तर सहित)

लेखक

कन्हैयालाल आर्य

सेवानिवृत्त उपप्रधानाचार्य,

एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत, अर्थशास्त्र)

एम.कॉम., बी.एड.

सम्पादक

आचार्य सोमदेव

वैदिक प्रवक्ता

ऋषि उद्यान परोपकारिणी सभा

अजमेर (राजस्थान)

प्रकाशक :

चन्द्रवती आर्या वैदिक धर्म सत्साहित्य प्रकाशन

गुड़गांव (हरियाणा)

लेखक की अन्य रचनायें

1. सत्यार्थ प्रकाश प्रश्नोत्तरी।
2. संजीवनी I (एक प्रयास भक्ति की ओर)।
3. संजीवनी - II (एक प्रयास नैतिकता की ओर)
4. विदुरनीति प्रश्नोत्तरी।

प्रकाशक : **चन्द्रवती आर्या वैदिक धर्म सत्साहित्य प्रकाशन**
4/44, शिवाजी नगर, गुड़गांव, (हरियाणा) 122001
चलभाष : 09911197073, 097185-85908

संस्करण : प्रथम, विक्रमी संवत २०७४, सन् 2017 ई.

प्राप्ति-स्थान: 1. **आर्यन मेडीकेयर प्राइवेट लिमिटेड,**
4/45, शिवाजी नगर, गुड़गांव, (हरियाणा) 122001
2. **आर्य प्रतिनिधि सभा हरियाणा**
दयानन्द मठ, रोहतक
3. **परोपकारिणी सभा**
दयानन्द आश्रम केसर गन्ज अजमेर (राजस्थान)
4. **आत्मशुद्धि आश्रम (बस स्टैन्ड के निकट)**
देहली रोड बहादुरगढ़ (हरियाणा)

मूल्य : 250/-

टाइप-सैटिंग : **चोपड़ा कम्प्यूटर्स,** गुड़गांव (हरियाणा)
चलभाष : 09871341992

सम्पादकीय

महर्षि दयानन्द ने वैदिक साहित्य में वेद को सर्वोपरि रखा है। वेद के अतिरिक्त जितने भी आर्ष ग्रन्थ हैं, वे वेद के बाद हैं, क्योंकि वेद स्वत: प्रमाण हैं और अन्य ग्रन्थ परत: प्रमाण अर्थात् वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वेद में प्राणी मात्र की भलाई के उपदेश हैं, इसलिए वेद मानव धर्म ग्रन्थ हैं। विशेषकर हम आर्यों की धार्मिक पुस्तक वेद ही हैं, अन्य नहीं।

वेदानुकूल जहाँ कहीं बात है वह ग्राह्य है, वेद के प्रतिकूल वार्ता त्याज्य है। ऋषियों ने अपने ग्रन्थ वेदानुकूल ही लिखे हैं, उन वेदानुकूल ग्रन्थों में भी स्वार्थी लोगों ने अपनी अवैदिक मान्यताओं को मिला दिया जिससे जन सामान्य भ्रमित हो जाता है। मिलावट का एक प्रमाण महाभारत भी है।

महर्षि दयानन्द जी महाभारत के विषय में कहते हैं कि उसमें स्पष्ट लिखा गया है कि "व्यासजी" चार सहस्र चार सौ, और उनके शिष्यों ने पांच सहस्र छ: सौ श्लोकयुक्त अर्थात् कुल मिलाकर दश सहस्र श्लोकों के प्रमाण का 'भारत' बनाया था। वह महाराजा विक्रमादित्य के समय में बीस सहस्र, महाराजा भोज कहते हैं कि मेरे पिता जी के समय में पच्चीस और अब मेरी आधी उम्र में तीस सहस्र श्लोकयुक्त महाभारत की पुस्तक मिलती है।" जो ऐसे ही बढ़ता चला तो महाभारत एक ऊंट का बोझा हो जायेगा। महाभारत की तरह अन्य ऋषि ग्रन्थों में भी प्रक्षेप किया गया।

'श्रीमद्भगवद् गीता' पुस्तक महाभारत का ही एक अंश है। आर्यावर्त देश के ग्रन्थों में गीता ने विश्व में सबसे अधिक लोकप्रियता प्राप्त की है। अनेक विद्वानों की मान्यता है कि गीता यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के दूसरे मन्त्र **"कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।"** की व्याख्या है। गीता कर्म करने की प्रेरणा देती है,

निठल्ला बैठने की नहीं। गीता का पाठक निरूत्साह को त्याग सदा उत्साह युक्त रहेगा। गीता के उपदेश ने हताश एवं निरूत्साहित अर्जुन को उत्साह प्रदान कर उसको शत्रुओं का नाश करने के लिए उद्यत कर दिया। जो पाठक अर्जुन बन गीता का उपदेश ग्रहण करेगा वह भी अर्जुन की भांति निराशा को त्याग अपने बाहर भीतर के अधर्मी शत्रुओं का नाश करने के लिए उद्यत हो जायेगा। पूर्व में हमने कहा कि 'वेद ही सर्वोपरि है, वेद का सिद्धान्त ही मान्य है,' इसलिए गीता में भी जो वेदानुकूल है, वह ग्राह्य है, उसके अतिरिक्त त्याज्य है। महर्षि दयानन्द ने भी गीता के वेदानुकूल बातों को स्वीकार कर अपने ग्रन्थों में गीता के श्लोकों का उद्धरण दिया है।

गीता के बहुत से भाष्यकार, व्याख्याकार हुए हैं, उन भाष्यकारों ने अपनी अपनी मान्यता को लेकर भाष्य व व्याख्या की है, वे व्याख्या या भाष्य अनेकत्र वेदानुकूल नहीं हैं। वेदानुकूल व्याख्या ही गीता के यथार्थ स्वरूप को बता सकती है। गीता की वेदानुकूल व्याख्या करने का प्रयास आर्य समाज के कर्मठ कार्यकर्ता, सदा उत्साही, स्वाध्यायशील, आर्यसमाज के समर्पित व्यक्ति श्री कन्हैयालाल आर्य जी ने किया है। श्री कन्हैयालाल आर्य जी के इस प्रयास ने इनको गीता के व्याख्याकारों व विद्वानों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया है।

मैंने श्री कन्हैयालाल आर्य जी की व्याख्या का सम्पादन करने का प्रयास किया है न कि पूरे ग्रंथ का। जहाँ कहीं मुझे सुझाव देने का, कांट छांट करने का अवसर मिला वह मैंने किया जो कि श्री आर्य जी ने सहर्ष स्वीकार किया। इतना सब कुछ करने के बाद भी यदि कोई भूल रही हो वह मेरी अल्पज्ञता के कारण हो सकती है। पाठक इस पुस्तक को प्राप्त कर अवश्य आनन्द की अनुभूति करेंगे।

इसी विश्वास के साथ –

२८.०३.२०१७
आर्य समाज स्थापना दिवस

आचार्य सोमदेव
वैदिक प्रवक्ता
ऋषि उद्यान परोपकारिणी सभा
अजमेर (राजस्थान)

Acharya Devvrat
Governor
Himachal Pradesh

सत्यमेव जयते

आचार्य देवव्रत
राज्यपाल
हिमाचल प्रदेश

शुभाशंसा

पाठकों के हृदय में 'भगवद्गीता' के प्रति अद्भुत आस्था का भाव है। 'भगवद्गीता' का न केवल भारतीय साहित्य में अपितु विश्व के धार्मिक साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व की अधिकांश प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद उपलब्ध है और अनुवाद की यह प्रक्रिया निरन्तर अग्रसर है। भारतीय साहित्य में तो यह सर्वाधिक संख्या में प्रकाशित होने वाला धर्मग्रन्थ है।

'भगवद्गीता' मूलतः 'महाभारत' नामक महाकाव्य के 'भीष्मपर्व' का अंश है, किन्तु आध्यात्मिक और व्यावहारिक ज्ञान का अनुपम स्रोत होने के कारण उसकी एक स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा है। गीता में सात सौ श्लोक हैं जिनमें वेद, दर्शन, उपनिषद्, मनोविज्ञान, राजनीति, मानवता आदि का सार निहित है। योगिराज श्रीकृष्ण का उपदेश होने के कारण इसकी महिमा अति श्रद्धास्पद हो गई है। प्राचीन समीक्षकों ने इस महिमा का जिन शब्दों में उल्लेख किया है आज भी पाठक उस महिमा में विश्वास करते हैं। वह महिमा है –

''**गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः**''

अर्थात् – मनुष्य को गीता का ही गम्भीर अध्ययन कर लेना चाहिए, फिर उसे विस्तृत शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता नहीं रहती।

गीता जितनी व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी है उतनी ही आध्यात्मिक दृष्टि से है। वह मनुष्य को दैन्य, निराशा, हताशा, पलायन, अकर्मण्यता आदि भावों से निकालकर कर्म का उपदेश देती है, कर्मण्य बनाती है, हृदय में आशा का संचार करती है। उसका भक्तियोग मनुष्य के चित्त में शान्ति और आत्मा में आनन्द का संचार करता है। इस प्रकार गीता मनुष्य को मोक्ष की ओर अग्रसर करती है।

सांसारिक द्वन्द्वों में समत्व के भाव को उत्पन्न करने में गीता की अनन्य भूमिका है।

साहित्य के क्षेत्र में जितने भाष्य या अनुवाद गीता पर उपलब्ध हैं उतने अन्य किसी ग्रन्थ में नहीं। श्री कन्हैयालाल जी आर्य ने उस परम्परा को आगे बढ़ाया है। उनके भाष्य का अपना एक विशेष महत्त्व यह है कि इन्होंने ऐसी नवीन शैली को ग्रहण किया जो पूर्व में किसी भाष्यकार द्वारा ग्रहण नहीं की गई है। पदार्थ के साथ श्लोक के सम्बद्ध प्रश्न को उपस्थित कर विषय को अधिक ग्राह्य बना दिया है। इस प्रकार पाठक सहजता से गीता के प्रतिपाद्य को समझ लेता है।

श्री आर्य जी ने स्वंलिखित कई ग्रन्थों में इस शैली को ग्रहण कर उन्हें पाठकों के लिए सुबोध बना दिया है। श्री आर्य जी को 'गीता भाष्य' और अन्य ग्रन्थों पर लेखन कार्य करने के लिए मैं साधुवाद देता हूँ और उनके सुखद स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ।



(देवव्रत)

डॉ. सुरेन्द्र कुमार
कुलपति

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,
हरिद्वार, उत्तराखण्ड

शुभाशंसा

'श्रीमद् भगवद्गीता' महाभारत नामक महाकाव्य का वह प्रकरण जिसमें युद्ध के मैदान में मोहग्रस्त और कर्तव्य से विचलित अर्जुन को श्रीकृष्ण द्वारा दिया गया मार्गदर्शक उपदेश है। श्रीकृष्ण के उपदेश से अर्जुन मोहमुक्त होकर अपने कर्तव्य कर्म के लिए तत्पर हो जाते हैं। कर्म की ओर प्रेरित करने का जैसा सुन्दर उपदेश गीता में प्राप्त होता है वैसा अन्य किसी लौकिक ग्रन्थ में नहीं है। आनुषंगिक रूप से इसमें अध्यात्म, राजनीति, व्यवहार आदि विद्याओं का भी वर्णन है जिससे गीता के प्रतिपाद्य में व्यापकता आ गई है। 'श्रीमद् भगवद्गीता' आज विश्व में सर्वाधिक प्रकाशित होने वाले और पढ़े जाने वाले ग्रन्थों में सम्मिलित है। जितनी टीकाएँ और भाष्य गीता पर लिखे गये हैं उतने ही शायद ही किसी अन्य ग्रन्थ पर लिखे गये हैं। वह क्रम आज भी प्रचलित है।

उसी क्रम में श्री कन्हैयालाल आर्य ने यह 'गीताभाष्य' प्रस्तुत किया है। यह देखा जाता है कि गीता पढ़ने का इच्छुक साधारण व्यक्ति अतिगंभीर और अतिविस्तृत टीकाओं में उलझकर रह जाता है और केवल पदार्थ से अधिकांश पाठकों को सन्तुष्टि नहीं होती। श्री आर्य जी ने मध्यमार्गी शैली अपनायी है। इन्होंने पदार्थ के साथ प्रश्नोत्तर देकर श्लोकों के भाव को सरल-संक्षिप्त रूप में समझाया है। इस शैली के माध्यम से सर्वसामान्य पाठक भी श्लोक के पदार्थ और कथ्य को समझ सकता है। श्री आर्य से पहले किसी अन्य टीकाकार ने पदार्थ और प्रश्नोत्तर शैली का अनुगमन

नहीं किया। इसी नवीनशैली के अनुसार संपन्न भाष्य के लिए श्री आर्य प्रशंसा के पात्र हैं। आशा है पाठक इस भाष्य का अधिकाधिक उपयोग करके लेखक के परिश्रम को सफल बनायेंगे और गीता को अर्थसहित समझकर अपने जीवन को सार्थक बनायेंगे।

भवदीय
(डॉ. सुरेन्द्र कुमार)
कुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार (उत्तराखंड)

ओ३म्
शुभ-आशंसा

''हिमवत्पार्श्वमास्थाय कृत्वा द्वादशवार्षिकम्।
ब्रह्मचर्यं महद्घोरं यो मया तपसार्जितः ।।'' महाभारत

महाभारत के महानायक योगेश्वर भगवान् श्री कृष्ण ने अपने सुपुत्र श्री प्रद्युम्न जी के जन्म के बारे में बताया कि - ''मैने रुक्मिणी के साथ हिमालय जाकर बारह वर्ष पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया तब शास्त्र विधिपूर्वक प्रद्युम्न को पैदा किया'' यही संयम का महा तप था जिसके कारण पितापुत्र साथ चलते तो साधारण व्यक्ति इन दो में कृष्ण कौन है ? प्रद्युम्न कौन है ? पहचान नहीं पाता था।

व्यक्ति निर्माण से लेकर राष्ट्र निर्माण तक की वैदिक विद्या को मूर्तरूप देने वाले श्री कृष्ण उस समय जितने लोकप्रिय थे आज भी उतने ही हैं। मानव सभ्यता के वैश्विक विकास में योगेश्वर श्री कृष्ण का योगमय जीवन और श्री कृष्ण जी की अमृत-वाणी भगवद् गीता दोनों अपनी गरिमा से प्रसिद्धि की ऊँचाई पर आरोहण करते रहेंगे। महापुरुष, योगीजन, विद्वान्, मनीषी, समाज सुधारक, पुण्यात्मायें भगवान् श्री कृष्ण के दिव्य चिन्तन से सदा प्रभावित होते रहे हैं, आगे भी होते रहेंगे।

मानव मात्र के सर्वांगीण विकास के लिए नरश्रेष्ठ अर्जुन को माध्यम बनाकर भगवान् ने जो गीता-ज्ञान गंगा को प्रवाहित किया है वह वैदिक संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। इसका स्वाध्याय करना प्रचार करना एवं इस पर निबन्ध लिखना आर्य जाति (हिन्दू जाति) को ज़िन्दा रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

आज विज्ञान के विविध आविष्कारों ने विश्वभर के दैवी और आसुरी

विचारधारा के लोगों को आमने सामने बहुत निकट लाकर खड़ा कर दिया है। भगवान् श्री कृष्ण आदिशंकराचार्य, महर्षि दयानन्द का प्रिय देश भारत भी निरन्तर देवासुर संग्राम में ज़बरन लगा दिया गया है। हम सब भारतवासी प्रतिदिन इस संग्राम में वीरगति पाये हुए सैनिकों के शवों को तिरंगे में लपेट कर उनके घरों को भेजते हुए टी.वी. समाचारों में देखकर व्यथित होते हैं।

भगवद्गीता हमें एक सर्वव्यापी परमसत्ता ईश्वर को सबके जन्मदाता-पालनकर्ता और संहर्ता स्वीकार करना सिखाती है। इससे ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की भावना बनती है जो सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार व्यवहार करने की प्रेरणा देती है।

सत्य विद्या के भण्डार 'वेद' में ''अहं भूमिम् अददाम् आर्याय'' के साथ घोषणा की गई है कि भूमण्डल पर श्रेष्ठ लोगों का ही स्वामित्व रहना चाहिए, परन्तु जब श्रेष्ठ परिवारों में ही दुर्भाग्य से धृतराष्ट्र जैसे पिता और दुर्योधन जैसे पुत्र जन्म लेते हैं तब सारी कल्याणकारी मर्यादायें ध्वस्त हो जाती हैं।

वर्तमान भारत में देशव्यापी चर्चा का विषय - मर्यादा - अमर्यादा, देव-असुर तथा कौरव-पाण्डव ही हैं। कौरव स्वार्थ के लिए सभी श्रेष्ठ नियमों को तोड़ देते हैं। पाण्डव श्रेष्ठ नियमों के लिये सारे कष्ट उठाते हैं। आज देश में कौरवों की तरह अधिक संख्या में लोग सर्व हितकारी नियम तोड़ते हैं। पाण्डवों की तरह कम संख्या में लोग आज भी अनेक कष्ट सहते हुए श्रेष्ठ नियमों का पालन करते हैं। इन्हें भगवद्गीता में सतोगुणी कहा गया है। भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय में अलग-अलग योग का वर्णन है। विषाद योग से लेकर मोक्षसंन्यास योग तक 18 प्रकार के योग का गीता में वर्णन है।

जीवन के सभी आयामों में गीता सबके लिए अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। गीता के कर्म योग से राजनीति और व्यवसाय सुधर सकते हैं। ज्ञानयोग से शिक्षा का स्तर उन्नत हो सकता है। भक्ति योग से देश का प्रत्येक नागरिक एकमेव ईश्वर का प्रेमी बनकर सबके लिए उपयोगी बन सकता है। यही श्री कृष्ण भगवान् की योजना है जिससे कौरवों (आसुरीभावों) का संहार होता है, पाण्डवों- श्रेष्ठ भावों की विजय होती है।

श्री कन्हैया लाल आर्य जी का समग्र जीवन वैदिक धर्म के लिए समर्पित है। आप मन, वचन, कर्म से वैदिक मर्यादा की रक्षा में संलग्न रहते हैं। एक आदर्श पुत्र के रूप में आपने अपने माता पिता को, एक आदर्श पिता के रूप में अपनी

सन्तानों को तथा एक आदर्श समाज सेवी के रूप में वैदिक संस्थाओं को बहुत सम्मान दिलाया है, विशेषकर मेरे विद्यागुरु पूज्यवर स्व. आचार्य बलदेव जी महाराज का निरन्तर उत्तम सहयोग करके हरियाणा सभा के द्वारा बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न कराते रहे हैं।

विगत अनेक वर्षों से मैं भी गुरुग्राम की अनेक आर्यसमाजों एवं परिवारों में वेद कथायें एवं गीता कथाएँ करता आया हूँ। प्रत्येक कार्यक्रम मे श्री आर्य जी सपरिवार मेरा साथ देते रहे हैं। वैदिक योग आश्रम के आप नगर प्रतिनिधि हैं। अनेक महापुरुषों के गीताभाष्य पढ़ने और गीताकथायें सुनने के बाद भगवान् श्री कृष्ण की गीता पर भाष्य लिखने का उद्यम कर चुके हैं। यह इस महान् ग्रंथ की महिमा तथा इसका स्वाध्याय करने वाले का सौभाग्य है।

मैं श्री कन्हैया लाल आर्य जी को हार्दिक शुभकामना देते हुए स्वाध्याय प्रेमियों से इनकी इस रचना से पूर्ण लाभ उठाने का निवेदन करता हूँ। परम पिता परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि श्रीमद्भगवद्गीता के पावन ज्ञान से संशुद्ध होकर अज्ञान और दु:खों से सन्तप्त मानवजाति 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के लक्ष्य को पा सके।

''यतो कृष्णस्ततो जय:''

आचार्य अखिलेश्वर भारद्वाज
अध्यक्ष - वैदिक योग आश्रम
हरिद्वार

शुभकामना संदेश

''गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यै:शास्त्रविस्तरै:'' के प्रशस्ति वचनों से समलङ्कृत 'श्रीमद् भगवद्गीता' न केवल हिन्दुओं का, अपितु मानवमात्र का प्रेरणास्पद ग्रन्थ है। वैदिक सनातन धर्म द्वारा अनुमोदित भक्ति, ज्ञान एवं कर्म के अद्वितीय जीवन मूल्यों का एकत्र सन्निवेश करने वाली भगवद्गीता ने अपने दिव्य सन्देश से विश्व बन्धुत्व की उदात्त भावना को पल्लवित एवं पुष्पित किया है - इस तथ्य को कथमपि नकारा नहीं जा सकता। इस अनुपम ग्रन्थ की लोकप्रियता का इससे बढ़कर अन्य क्या प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि भारतीय विद्व%जनों के साथ-साथ पाश्चात्य मनीषियों ने भी भगवद्गीता पर अद्भुत शोधपरक विवेचन किया है।

पुरातन काल से ही श्रीमद् भगवद्गीता के प्रतिपाद्य विषय पर टीका, समीक्षा, व्याख्या एवं भावार्थ आदि लिखने की परम्परा सतत् प्रवाहमान है। 'मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना' के न्यायानुसार मनीषी विद्वज्जनों ने अपने चिन्तन, मनन एवं बुद्धि वैभव के आधार पर भगवद्गीता के ज्ञान-विज्ञान परक विभिन्न आयामों को रूपायित किया है। इस दृष्टि से अपनी प्रतिभा एवं लेखनी को धन्य बनाने वाले महान् आचार्यों में श्री शंकराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्रीमद् वल्लभाचार्य, श्री मध्वाचार्य एवं निम्बार्काचार्य आदि महानुभावों तथा आधुनिक युग के लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, श्री अरविन्द घोष, दामोदर सातवलेकर, डॉ. राधाकृष्णन, श्री विनोवा भावे, स्वामी रामसुखदास, श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार एवं श्री जयदयाल गोयन्दका आदि मनीषियों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सभी मर्मज्ञ विद्वज्जनों की व्याख्याओं अथवा भाष्यों में जहाँ एक और अनेकों समाजोपयोगी तथ्य प्रकाशित हुए हैं, दूसरी और प्रसुप्त भारतीय मानस को निष्ठापूर्वक निष्काम कर्म करने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई है।

भगवद्गीता के व्याख्या रूपी उक्त महान् यज्ञ में आहूति समर्पित करने का

अहोभाग्य श्रीयुत् कन्हैया लाल आर्य जी को भी प्राप्त हुआ है। आर्य जी ने भगवद्गीता की विभिन्न व्याख्याओं एवं भाष्यों का अध्ययन करने के पश्चात् अपने गहन चिन्तन् एवं मनन के आधार पर 'भगवद् गीता' अन्वय अनुसार शब्दार्थ एवं प्रश्नोत्तर सहित' को लिपिबद्ध किया है। यह महान् कार्य उनके विशेष परिश्रम एव स्वाध्याय का साक्षी होने के साथ-साथ उनकी अद्भुत प्रतिभा एवं विषय के सरलीकरण की योग्यता का भी दिग्दर्शन कराता है। निरन्तर समाज सेवा में व्यस्त रहते हुए भी इस महनीय कार्य को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करना वस्तुत: उनकी विशिष्ट तपस्या का ही परिणाम है। हम सभी उनके इस पुनीत कार्य और परीश्रमसाध्य कार्य हेतु बधाई देते हैं।

ईश्वर से प्रार्थना है कि वे आर्य जी को चिरायुष्य एवं उत्तम स्वास्थ्य प्रदान करें ताकि वे और अधिक उत्साह एवं निष्काम भावना के साथ ऐसे लोकोपकारी विकल्पों को सम्पन्न करते रहें।

शुभाकांक्षी
डॉ. सुभाष चन्द्र सचदेवा 'हर्ष'
सेवानिवृत्त एसोसिएट प्रोफैसर
(संस्कृत विभागाध्यक्ष)
हिन्दू-कन्या-महाविद्यालय,
सोनीपत (हरियाणा)
मो. 09996302758

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता व गर्व की अनुभूति हुई की समस्त विश्व के सर्वाधिक टीकाकृत ग्रन्थ की एक नूतन व्याख्या आदरणीय कन्हैया लाल आर्य जी ने करने का प्रयास इस पुस्तक के माध्यम से किया है। निश्चित रूप से इस ईश्वरीय कार्य हेतु वे साधुवाद के पात्र हैं, क्योंकि 'जिन खोजा, तिन पाईया, गहरे पानी पैठ।' फिर गीता तो, भगवान् श्री कृष्ण के श्रीमुख से अवतरित वह शब्द नाद है, जिसे कुरूक्षेत्र के रणांगण में, उस अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा गया है, जो निर्णायक क्षणों में सम्बन्धों के मायावी बोझ से दबा, पाप और पुण्य की तुला को थामे, सही और गलत की मीमांसा में उलझा, बस पलायन करने की अंतिम पायदान पर ही खड़ा था। तभी बस योगिराज श्री कृष्ण ने जो सन्देश दिया वह हज़ारों वर्षों से सिर्फ पठनीय ही नहीं, मात्र श्रवणीय ही नहीं बल्कि हृदयस्थ करते हुए अनुकरणीय है।

हे पार्थ, तुम मात्र निमित्त बन कर कर्म करो, तेरा मेरा, यश अपयश व पाप और पुण्य के समस्त अवरोधों से ऊपर उठ कर यही विचार जीवन के पथ को, हर एक कर्म को एवं प्रत्येक धर्म को, ईश्वरमयी बना देगा। जीव के प्रत्येक कर्म का प्रतिफल, परिणाम की चिन्ता तज, जो भी प्राप्त हो उसे प्रसाद समझ, आत्मसात् कर लेना ही पूर्ण शरणागति के मार्ग को प्रशस्त करता है।

शेष, गीता तो एक महासागर है। कालान्तर से आज तक जो भी इसमें उतरा है, अपनी क्षमता, योग्यता व दृष्टिबोध से, जितना सहेज पाया वही श्रेयस्कर है। मगर श्रेष्ठतम तभी रहेगा जब इस पावन ग्रन्थ का सार तत्त्व हमारे जीवन में हमारे विचारों में व हमारे कर्मों में उतरता ही चला जाये।

वरना, कमोबेश आज भी हम हैं तो उसी अर्जुन सरीखे, जब जब हमारे जीवन में कभी भी, कोई भी, कुरुक्षेत्र उतरता है, हम पलायन करने को तत्पर दिखाई देते हैं। बस वहीं ही नही, हर कदम, प्रत्येक श्वास हर एक कर्म हमें

''कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'' का आश्रय लेता प्रतीत हो तो हम गा सकते हैं।

''जाने क्या जादू भरा हुआ
भगवान् तुम्हारी गीता में,
मन चमन हमारा हरा हुआ
भगवान् तुम्हारी गीता में।।''

डॉ. अशोक शर्मा 'अक्स'
महामन्त्री
आर्य समाज, मॉडल टाऊन,
गुरूग्राम (हरियाणा)

ओ३म्

दो शब्द

श्री कन्हैया लाल जी आर्य, समाज की स्पृहणीय विमल विभूति हैं। इन के व्यक्तित्व में इतने गुणों का समावेश है कि उनके सम्पर्क में आने वाला कोई भी व्यक्ति उनका प्रशंसक बने बिना नहीं रह सकता।

भगवद्गीता के विषय में एक अति प्रसिद्ध उक्ति है –

**''सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्सो सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।''**

अर्थात् समस्त उपनिषदें गौ के समान हैं, श्री कृष्ण जी उन गौवों के दुहने वाले है, अर्जुन बछड़ा है, सुधीजन उस दुग्ध के उपभोक्ता हैं वह दूध महान गीतामृत् है।

अर्जुन स्वजनों में आसक्त हो गया और अपने कर्तव्य कार्य को भूल बैठा। नर को भीरू बनता देख नारायण को गीता उपदेश देना पड़ा।

सहृदयता, अनुशासन प्रियता, व्यवहार शुचिता की प्रतिमूर्ति श्री कन्हैया लाल जी आर्य के जीवन का अधिकांश भाग आर्य समाज की गतिविधियों में व्यतीत होता है। वे वेदोपदेशक, एवं उच्चस्तरीय स्थापित लेखक भी हैं। जिनकी लेखनी से सत्यार्थप्रकाश प्रश्नोत्तरी, विदुर नीति प्रश्नोत्तरी, संजीवनी आदि अनूठे ग्रन्थों का सम्पादन हुआ है। अब भगवद्गीता पर किए गए कार्य द्वारा लेखक महोदय ने गीता ज्ञान को अत्यन्त सरल भाषा में प्रदर्शित किया है जो इनके यश व कीर्ति बढ़ाएँगे।

मैं इन की समृद्धि, दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन के लिए प्रभु से विनम्र प्रार्थी हूँ। इनका भावी जीवन सब के लिये प्रेरणादायक बने।

मेहरचन्द सेतिया
वैदिक प्रवक्ता

शुभकामना संदेश

श्रीमद्भगवद्गीता योगिराज श्री कृष्ण के मुख से निकली एक ऐसी अमृतवर्षा है जिसके सुनने मात्र से अज्ञान ज्ञान में और अंधकार प्रकाश में परिवर्तित होता है। रहस्यों से परिपूर्ण 18अध्यायों में संकलित गीता यद्यपि एक ग्रन्थ है, परन्तु गहराई से अध्ययन के उपरांत इसके स्वरूप में एक सखा, मार्गदर्शक, स्थितप्रज्ञ पुरुष इत्यादि के स्वरूप की झलक भी इसमें नज़र आती है। यद्यपि अनगिनत ऋषियों, ज्ञानियों ने इस पर व्याख्या एवं चर्चा की है, परन्तु श्री कन्हैया लाल आर्य, जो आर्य जगत् की लालिमा हैं, की लेखनी ने कमाल की टीका की है। ज्ञान के प्रतिरूप श्री कन्हैया लाल आर्य का अपनी लेखनी से ''गीता'' को कई संतों द्वारा लिखी व्याख्या के आधार पर एक नए स्वरूप में पेश करना, सराहनीय कदम है।

श्री आर्य जी एक गृहस्थी के लिबास में ज्ञानी पुरुष हैं। इस ग्रन्थ के माध्यम से वे पावन एवं पवित्र श्रीमद्भगवद्गीता के एक नवीन पक्ष का चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं। आप संस्कृत, हिंदी एवं इंग्लिश भाषा के सूत्रों की इतनी मज़बूत पकड़ रखते हैं कि आपकी वाणी में माँ सरस्वती के आशीर्वचन की झलक दिखाई देती है, आप एक व्यापारी होने के साथ-साथ अध्यापक, आध्यात्मिक मार्गदर्शक, सच्चे समाजसेवी और वैदिक धर्म एवं आर्य समाज के प्रति पूर्णत: समर्पित है। अपनी लेखनी से कई रहस्यमय ग्रंथों की बखूबी व्याख्या करना श्री आर्य जी की अद्भुत शैली का परिचायक है।

श्री कन्हैया लाल जी का प्रेम भरा व्यक्तित्व और उनके द्वारा अपनी संतान को दिए जीवन को सुन्दरतम ढंग से जीने के सूत्र समाज के हर व्यक्ति को स्वीकार करने चाहिएँ, क्योंकि उनके सूत्र ज्ञान की ऊर्जा की आपूर्ति कर देते हैं।

मैं, वरिष्ठतम अग्रज समान श्री कन्हैया लाल आर्य जी को इस संदेश के माध्यम से मुबारकबाद देता हूँ जिन्होंने अपनी लगन, अपनी मेहनत, अथक

प्रयास एवं ज्ञान से एक जीवनोपयोगी पुस्तिका, जो गीता के रस से भरपूर है, को एक नई दिशा दी है। परमसत्ता से सहृदय प्रार्थना है कि हे ईश्वर, श्री कन्हैयालाल आर्य जी अर्जुन जैसे सात्त्विक गुणों को भीतर धारण करते हुए समाज की सेवा करते रहें और शतायु को प्राप्त हों।

शुभचिन्तक,
(बोध राज सीकरी)
प्रधान: श्री श्याम जी मंदिर, गुरूग्राम
ट्रस्टी: एबीएस वेलफेयर ट्रस्ट,
पंचनद स्मारक ट्रस्ट,
जे.सी. जुनेजा फाउंडेशन ट्रस्ट,
जामपुर निष्काम ट्रस्ट

विषय सूची

समर्पण

मैं अपनी इस कृति को देश, धर्म, जाति
के निष्काम सेवक ईश्वर की अनादि वाणी के अद्वितीय
विद्वान अपने युग के एक मूर्धन्य दार्शनिक गुरू विरजानन्द सरस्वती जी
के प्रमुख शिष्य आर्य समाज के संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती
के अनन्य भक्त

पूज्य पिता
स्वर्गीय श्री रामचन्द्र आर्य जी की पावन स्मृति में,

एवं

पूज्या माता श्रीमती जमना देवी

के पावन सान्निध्य में

एवं

प्रिय पुत्री श्रीमती सुनीता आर्या छोकरा

के पचासवें जन्मदिवस (19–02–1967) के उपलक्ष्य में
समर्पित करता हूं जिन्होंने सदैव मुझे साहित्य सृजन की प्रेरणा दी है।

कन्हैयालाल आर्य

सम्पर्क सूत्र –
4/45, शिवाजी नगर, गुरूग्राम
चलभाष – 09911197073

भूमिका

गीता किसी पूजा-पाठ की पद्धति अथवा किसी प्रतीकात्मक धर्म का प्रतिनिधित्व ही नहीं करती, अपितु गीता का ज्ञान सार्वभौमिक, वैज्ञानिक व सार्वकालिक है। गीता जीवन को अन्तर्दृष्टि से परिपूरित करने वाला अन्तश्चक्षु है। गीता निराशा, अविश्वास, अकर्मण्यता, काल्पनिक भय, भ्रम, संशय, अशान्ति, असंवेदनशीलता, कायरता, आत्मग्लानि, निराशा, हताशा एवं अवसाद से भरे प्रत्येक मनुष्य के लिए एक जीवन्त दर्शन है, एक संजीवनी है।

प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य में 'प्रस्थानत्रयी' एक प्रसिद्ध शब्द है। प्रस्थान का अर्थ है जीवन की यात्रा में प्रस्थान, किसी उद्देश्य के लिए चल पड़ना, निरुद्देश्य न भटकते रहना। इस प्रकार जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत साहित्य में तीन ग्रन्थ हैं - उपनिषद, गीता तथा वेदान्त दर्शन। 'प्रस्थान-त्रयी' का द्वितीय अंग गीता है। गीता उपनिषदों का सार है। गीता माहात्म्य में इस ग्रन्थ के विषय में लिखा है-

"सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतम् महत्।।"

सब उपनिषद मानो गाएँ हैं, ग्वालों का प्यारा श्रीकृष्ण जी इन गौओं का दूध दोहने वाला ग्वाला है, अर्जुन मानों इन गौओं को पौसाने वाला बछड़ा है, गौओं के पौस आने पर उस दूध रूपी रस का पान करने वाला हर एक जिज्ञासु है, यह जिज्ञासु जिस अमृत का पान करता है, वह गीता गौमाता का महान् ज्ञानामृतरूपी दूध है। यह कथन कहने का तात्पर्य यह है कि यह ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है, इसकी धारा अमरत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है, जो भी इस अमृत का पान करेगा, वही अर्जुन है।

गीता अपने प्रेरणादायक सन्देशों के कारण विगत पाँच हज़ार वर्षों से साधारणतया समस्त संसार की और विशेषतया भारतीय परिवेश की आध्यात्मिक

आस्थाओं का केन्द्र बनी हुई है। इसे विश्वासपूर्वक सार्वभौम सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ कहा जा सकता है। धर्मग्रन्थों में इसे जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है, उससे सुधीजन भलीभाँति परिचित हैं। कृष्ण-अर्जुन संवाद के माध्यम से इसमें अध्यात्म विद्या, ब्रह्म विद्या, योग शास्त्र, मनोविज्ञान और नीति शास्त्र आदि के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार-बिन्दुओं को प्रभावशाली ढंग से समझाया गया है। अत: इसे यदि उपनिषदों का सार कहा जाता है, तो यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

विश्व के जिन कालजयी ग्रन्थों का सबसे अधिक अनुवाद हुआ है, उनमें शीर्ष स्थान है गीता का। गीता का भाष्य - अनुवाद प्राचीन युग के आद्य शंकराचार्य से लेकर आधुनिक युग के लोकमान्य तिलक, महर्षि अरविन्द घोष, राष्ट्रपति डॉ. राधाकृष्णन्, सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, आचार्य विनोबाभावे, स्वामी आत्मानन्द जी, स्वामी समर्पणानन्द जी, श्री आर्य मुनि जी, श्री कालेलकर जी, उपन्यासकार गुरुदत्त जी, स्वामी रामदेव जी, श्री रामसुखदास जी, श्री जयदयाल गोयन्दका जी, सत्यपाल बेदार 'सरस', प्रो. मुरारि लाल शर्मा, डा. मूलराज शर्मा जैसे लोकनायकों ने अपनी चिन्तन धारा के अनुसार किया है। हिन्दी में यह अनुवाद परम्परा वर्तमान शती के प्रारम्भ से ही चल रही है।

दुनिया के अधिकांश व्यक्तियों के मन में जीवन व जगत् के सम्बन्ध में बहुत से भ्रम, उलझन अथवा संशय प्रतिपल उत्पन्न होते रहते हैं। साधारण जनों से लेकर विद्वज्जनों तक के मन मस्तिष्क व हृदय में यह जो संशय या भ्रम की स्थिति बार-बार उत्पन्न होती है, उससे जीवन में अवरोध, अवसाद, अविश्वास, निराशा, अकर्मण्यता व आत्मग्लानि का भाव पैदा होता है परिणामत: व्यक्ति कुण्ठित होकर बैठ जाता है। वह स्वधर्म, स्वकर्म, वर्णाश्रम धर्म, परिवार धर्म, समाज धर्म, मानव धर्म व राष्ट्र धर्मादि के बारे में कोई निर्णय नहीं ले पाता। परिणामत: महाबलशाली, पराक्रमी, शूरवीर व महाविद्वान् व्यक्ति भी कुण्ठित होकर एक उलझन में फंस जाता है। गीता का अर्जुन तो मात्र एक पात्र है, वस्तुत: जो स्थिति अर्जुन की है वही स्थिति लगभग प्रत्येक मनुष्य की होती है। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को माध्यम बनाकर विश्व के प्रत्येक व्यक्ति को निराशा, हताशा, अवसाद से बाहर निकलने का उपदेश दिया है।

विनोबा भावे जी ने गीता के सम्बन्ध में कहा है :- "जितना गाय के दूध से, मेरे शरीर की पुष्टि हुई है उससे कहीं अधिक मेरे व्यक्तित्व का निर्माण गीता के अमृतरूपी दुग्ध से गीता के ज्ञान ने, माँ की लोरी की तरह मुझे सदैव शान्ति दी।"

ऐसी ही भावना राजगोपालाचार्य तथा डॉ. राधाकृष्णन् जी ने भी प्रकट की है।

गीता के सम्बन्ध में महात्मा जी ने 'यंग इंडिया' में लिखा था - ''मुझे भगवद् गीता में एक ऐसी सान्त्वना मिलती है जो मुझे बाइबल के 'सर्मन ऑन दी माउंट' तक में नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है, जब मैं अपने को बिल्कुल एकाकी अनुभव करता हूँ, जब मुझे प्रकाश की कोई किरण नहीं दिखलाई पड़ती, तब मैं गीता की शरण लेता हूँ, और तब मुझे गीता में कोई-न-कोई ऐसा श्लोक दीख पड़ जाता है जिसे पढ़कर मैं विषम विपत्तियों में भी मुस्कराने लगता हूँ।''

श्री शंकराचार्य से महात्मा गांधी तक इस देश के महान् विचारक, समाज-सुधारक, शिक्षक तथा राजनीतिक-चिंतक गीता की शिक्षाओं को जीवन का पथ-प्रदर्शक मानते रहे हैं और यह ग्रन्थ सदियों से विद्वानों का ही नहीं, सर्वसाधारण का भी समान-रूप से मान्य ग्रन्थ रहा है। इतनी दीर्घकालीन परम्परा में इसका स्थान हमारे हृदयों में इतना ऊँचा इसीलिये बन गया है क्योंकि इसमें सार्वभौम सिद्धान्तों का दिग्दर्शन है और उसका मन्तव्य, गहन होते हुए भी जीवन का स्पष्ट मार्ग-प्रदर्शन करता है।

भारत के पूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री जी ने जो गीता के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं, वे हम सब के लिए प्रेरणास्रोत हैं-

गीता का 'निष्काम-कर्म' का एवं सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे पकड़ लेने से जीवन की उलझनभरी समस्याएँ अपने-आप सुलझने लगती हैं। जब मनुष्य कामना का एवं फलासक्ति का त्याग करके, कर्तव्य कर्म में जुट जाता है, तब वह सुख-दुःख के विक्षोभ से ऊपर उठ जाता है। गीता ने मनुष्य की इस मानसिक-स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हुए कहा है-

''सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।(गीता २।३८)
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकांचनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।(गीता १४।२४, २५)"

''सुख-दुःख में, लाभ-हानि में, मान-अपमान में, निन्दा- स्तुति में सम-भाव में रहना, किसी भावावेश में उद्वेलित न होना, अपने को सन्तुलित रखना-

गीता की यह ऐसी सीख है जो जीवन के राजपथ पर डाल देती है। दुःख को भी सुख की कोटि में, हानि को भी लाभ की कोटि में, अपमान को भी मान की कोटि में, निन्दा को भी स्तुति की कोटि में ला बैठालना, इन विरोधी- तत्त्वों को एक स्तर पर ले आना, इनमें से किसी से भी उद्विग्न न होना- यह एक ऐसा अद्भुत विचार है, जो विश्व की विचार-धारा को गीता की अपूर्व देन कहा जा सकता है। गीता के रचयिता तो विश्व की रचना को अपनी पैनी आध्यात्मिक-दृष्टि से देखते हुए सृष्टि के विधान में, अपना नहीं, उसका हाथ देखते हुए दुःख में भी सुख लेते प्रतीत होते हैं, हानि, अपमान तथा निन्दा में भी एक तरह का मज़ा लूटते जान पड़ते हैं। इस प्रकार की मनःस्थिति तभी संभव हो सकती है जब जीवन का ढाँचा गीता के निष्काम-कर्म के साँचे में ढला हो। निष्काम-कर्म द्वारा मानसिक सनतुलन बनाये रखना- यह तथा इसी कोटि के सार्वभौम सिद्धान्तों के कारण गीता जैसा मूल-ग्रन्थ मिलना ही कठिन है।''

गीता केवल एक धार्मिक ग्रन्थ नहीं है और किसी विशेष धर्म की पुस्तक तो वह कदापि नहीं है। भारतीय परम्परा में धर्म, दर्शन और मनोविज्ञान को सदा ही समन्वित रूप में देखा और विचारा गया है, क्योंकि इन सभी विषयों का वास्तविक केन्द्र बिन्दु मनुष्य का मन और उसके द्वारा रचा गया संसार है। गीता में यह समन्वित दृष्टिकोण पूरी तरह मिलता है। इसमें जहाँ धर्म के क्षेत्र के आत्मा, परमात्मा, पाप और पुण्य आदि विषयों को लिया गया है, वहाँ इस विश्व की रचना और उसमें मनुष्य की स्थिति से सम्बंधित दार्शनिक प्रश्न भी उठाये गये हैं, पर गीता जिस विषय पर सबसे अधिक प्रकाश डालती है वह है मनुष्य के मन का आन्तरिक संसार और उसके विविध आयाम। हम क्या हैं, हमारे आन्तरिक जीवन की संरचना किस प्रकार की है, कौन सी शक्तियाँ हमारे जीवन को नियन्त्रित करती है, हमारा कर्तव्य क्या है, हमारे दुःख कैसे दूर हो सकते हैं, हमें अपना वैयक्तिक और सामाजिक जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए, हमें अक्षय सुख कैसे मिल सकता है, हमारे जीवन का लक्ष्य क्या है और हम उस लक्ष्य तक कैसे पहुँच सकते हैं? इस प्रकार के सभी गंभीर प्रश्नों का गीता बहुत सारगर्भित विवेचन के रूप में उत्तर प्रस्तुत करती है और क्योंकि यह प्रश्न सभी मनुष्यों के लिए समान है, इसलिए गीता का सन्देश किसी विशेष समुदाय के लिए न होकर सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए है।

गीता निस्सन्देह वह पुस्तक है जिसने भारतीय चिन्तन को सबसे अधिक

प्रभावित किया है। गीता का प्रभाव केवल भारत तक ही सीमित नहीं हुआ है, बल्कि प्राचीन और मध्यकाल में एशिया के प्राय: सभी देशों में और आधुनिक काल में पश्चिम के अनेक देशों में गीता के सन्देश का और उसके माध्यम से भारतीय चिन्तन का व्यापक प्रसार हुआ है, इसलिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि देश तथा विदेशों के जिन विद्वानों का परिचय भारतीय चिन्तन से हुआ है या वे उनसे प्रभावित हुए हैं। इनमें से कुछ विद्वानों के विचार इस प्रकार हैं –

1. भौतिकी में नोबेल पुरस्कार प्राप्त **एर्विन श्रडिंगर** जैसे वैज्ञानिक ने अपनी पुस्तक 'माई व्यू ऑफ द वर्ल्ड' में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि, "सृष्टि के अन्तिम सत्य को जानने के लिए उपनिषद् और गीता की दृष्टि सहायक है।"

2. डॉ. एनी बेसेन्ट के विचार गीता के सम्बन्ध में इस प्रकार है– "महाभारत नामक हिन्दू महाकाव्य में जो अमूल्य उपदेश उपलब्ध हैं, उनमें श्रीमद्भगवद्गीता से अधिक मूल्यवान् कोई नहीं है। चूँकि वह योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से नि:सृत हुआ है और उसने शिष्य तथा मित्र के रूप में उपस्थित अर्जुन का मानसिक उद्वेग शान्त किया है, अत: उसने बहुत से व्यथित हृदयों को शांति और सांत्वना प्रदान की और बहुत से थके माँदे जीवों को परमात्मा की ओर अग्रसर किया। इसका उपदेश सुनकर साधक पहले निम्न स्तर का त्याग करता है। यहाँ वस्तुओं का त्याग कर दिया जाता है फिर उच्च प्रकार का त्याग कर अपनी कामनाएँ ही छोड़ दी जाती हैं। वहाँ योगी अपने जीवन के कर्तव्य कर्मों को करते हुए भी अपने में शान्त रहता है और अनुचिन्तन में निमग्न रहता है। आध्यात्मिक पुरुष को कहीं एकान्त में भागने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि सांसारिक कार्यों के बीच में ही परमात्मा से मिलन होने में जो बाधायें आती हैं वे बाहरी नहीं हैं, आन्तरिक ही हैं। भगवद्गीता की यही प्रमुख शिक्षा है।"

''गीता योगशास्त्र है। योग का शाब्दिक अर्थ है 'मिलन' अर्थात् परमात्मा से एकात्मभाव प्राप्त करना, बाहर की ओर प्रवाहित होने वाली समस्त शक्तियों को परमात्मा से जोड़ना। इसके लिये आन्तरिक सन्तुलन की आवश्यकता होती है, तभी जीव का परमात्मा से मिलन होता है और फिर वह सुख दु:ख, राग–द्वेष अथवा उन द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता जो उसे पहले आगे–पीछे दोलायमान करते रहते थे। अत: गीता का मुख्य विषय सन्तुलन और मनुष्य के सभी घटकों के बीच समन्वय स्थापित करना है। अन्त में उसे परमात्मा के साथ एकात्मभाव प्राप्त कर लेना है। शिष्य को अपनी दृष्टि के सामने यही लक्ष्य रखना चाहिये।

उसे अनुकूल से राग और प्रतिकूल से द्वेष नहीं करना चाहिये। वह अनुकूल व प्रतिकूल दोनों को ही परमात्मा की सृष्टि समझे जिससे वे जीवन के बन्धन न बनकर प्रगति के मार्गदर्शक ही बनें। घोर अशान्ति के क्षणों में भी वह प्रभु की शरण में रहे और पूर्णरूपेण अपने कर्तव्य कर्म को करता रहे। वह कर्मफल की अभिलाषा से कर्म न करे वरन् उन्हें अपना कर्तव्य समझ कर करता रहे। उसका हृदय पूजा की वेदी है और प्रभु का प्रेम ही उस पर जलती दीपशिक्षा है। उसके शारीरिक और मानसिक सभी कार्य या कर्म उस वेदी पर चढ़ाये गये पूजा के पुष्प हैं। एक बार समर्पित की गई वस्तु से अपना कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता।''

''उपदेश को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए उसे युद्धक्षेत्र में प्रस्तुत किया गया है। योद्धा अर्जुन अपने अग्रज का राज्याधिकार पुन: प्राप्त करके और देश की जनता को पीड़ित करने वाले कौरवों का विनाश करना चाहता था। एक राजकुमार और योद्धा होने के नाते वह अपना कर्तव्य समझता था कि वह अपने राष्ट्र की रक्षा करे और उसमें शान्ति तथा व्यवस्था बनाये रखे। इस संघर्ष को और भी अधिक कटु बनाने के लिए प्रिय भ्राता और मित्र एक दूसरे के सामने खड़े दिखाये गये हैं। उनके हृदयों में आपसी द्वेष की ज्वाला धधक रही थी। उनमें कर्तव्य का विरोध ही नहीं वरन् आपसी विद्वेष भी था। अर्जुन के सामने प्रश्न था कि क्या वह उन लोगों पर शस्त्र उठाये जिनमें वह स्नेह और आदर भाव रखता है। एक ओर वंश नाश करना पाप था और दूसरी ओर अधर्मियों को क्षमा कर देना भी पाप था, फिर भला धर्म क्या माना जाए? न्याय करना आवश्यक था अन्यथा न्याय की हत्या होती थी। ऐसा क्या उपाय था कि उन्हें मारकर भी पाप से बचा जा सके। इस प्रश्न का उत्तर ही इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। कर्मफल में अपनी आसक्ति रखे बिना अपने कर्तव्य कर्म को करते रहो और इस बात का ध्यान रखो कि ईश्वर नियामक और स्वामी होकर सब करा रहा है। वह जगत् को विकसित कर पूर्णता की ओर लिये जा रहा है, जहाँ परमानन्द और शान्ति का साम्राज्य है। भक्तिपूर्वक उसके साथ तादात्म्य रखो और अपना कर्तव्य कर्म करते रहो। विगत ज्वर और निष्काम होकर तथा क्रोध और घृणा में न पड़कर संघर्ष करते रहो। इस प्रकार कर्म का बन्धन न होगा, योग सिद्ध होगा और हम मुक्त हो जायेंगे।''

3. एल्डुअस हक्सले जी के विचार–"गीता सनातन दर्शन का स्पष्टतम

और सर्वग्राही सार संग्रह है। यह भारतीयों के लिए ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के लिए स्थायी मूल्य का ग्रन्थ है। यह सम्भवत: सनातन दर्शन का सबसे अधिक सुव्यवस्थित अध्यात्म चिन्तन है।"

4. **चार्ल्स जान्स्टन**– "निराशा सन्देह और अवसाद के कारण अर्जुन हमें कितना मानव प्रतीत हो रहा है और वहीं अपने गौरवपूर्ण सुदृढ़ प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण श्रीकृष्ण जी कितने आलौकिक लगते हैं। ये दोनों प्रकार के व्यक्तित्व कितने सुस्पष्ट, सजीव और विश्व के सनातन सत्य के अमर प्रतीक हैं। गीता ईश्वरीय प्रेरणा, भावभरी भक्ति और मानव हृदय को परखने वाली सूक्ष्म अर्न्तदृष्टि से ओतप्रोत है। हमारे कर्म सम्पादन में अनेक प्रकार की परस्पर विरोधी भावनायें आकर हमें विचलित कर देती हैं। स्वार्थ की बेड़ियाँ हमें परमात्म पथ पर बढ़ने नहीं देती। हृदय की सूक्ष्म प्रेरणाओं और संकेतों की अवहेलना करके मनमानी करने का हमारा स्वभाव बन गया है। गीता में इन सभी बातों का बहुत ही विशद विवेचन हुआ है तथा सुलझाव का व्यावहारिक मार्ग दिखलाया गया है।

5. इसके अतिरिक्त भारतीय चिन्तकों के विचारों में **लोकमान्य तिलक** के अनुसार, ''गीता की शिक्षा उन लोगों के लिये नहीं है जो स्वार्थपूर्ण सांसारिक जीवन बिताने के बाद अवकाश के समय खाली बैठ कर पुस्तकें पढ़ने लगते हैं और न वह सांसारिक लोगों के लिये कोई प्रारम्भिक शिक्षा है। इसमें यह दार्शनिक शिक्षा दी गई है कि हमें मुक्ति की ओर दृष्टि रखते हुए सांसारिक कर्तव्य कैसे पूरे करने चाहिएँ? इसमें मनुष्य का संसार में वास्तविक कर्तव्य भी बताया गया है। इसलिये मेरी अन्तिम प्रार्थना यही है कि हर व्यक्ति बिना किसी अपवाद के अपने जीवन के प्रारम्भिक क्षणों में गीता में दी हुई गृहस्थ धर्म की शिक्षा भली-भाँति सीख ले।''

6. **स्वामी विवेकानन्द** के अनुसार, ''गीता उपनिषदों के उपवन से चुने हुए आध्यात्मिक सत्यों के सुन्दर पुष्पों का एक गुच्छा है।''

7. **श्री अरविन्द जी** के अनुसार, ''गीता ग्रन्थ की रचना हुए बहुत काल बीत चुका है और तब से मानव-विचारों और अनुभवों में बड़ा परिवर्तन हो चुका है। अब इस युग में गीता का क्या संदेश है, उसकी व्यावहारिक उपयोगिता क्या है और मानव-मन के लिये उसका आध्यात्मिक उपयोग क्या है? मनुष्य की बुद्धि सदा आगे बढ़ती रहती है, उसका दृष्टिकोण बदलता रहता है और

विचार-क्षेत्र व्यापक होता जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि पुरानी विचार पद्धति कालबाधित हो जाती है। यदि उसे बनाये रखा जाता है तो उसमें विकास और परिवर्तन करना होता है और उसके अन्तर या बाह्य रूप से मूल्य बदल जाते हैं। प्राचीन सिद्धान्तों की उपयोगिता तभी तक है और जब तक वे इस परीक्षा पर खरे रहते हैं। सिद्धान्त कितने ही पुराने हो गये हों किन्तु उनमें निहित सत्य यदि अब भी अपरिवर्तनीय है तो उसका महत्त्व स्वीकार करना पड़ेगा।''

''गीता अद्वितीय ग्रन्थ है, वह अब भी नया जैसा है और उसका प्रतिपाद्य विषय बिल्कुल नवीनता लिये हुए है। महाभारत के बीच लिखते समय वह जितना ताज़ा था वैसा ही आज भी अनुभव में आता है। आज भी उसे उन सिद्धान्तों का संग्रह माना जाता है जिनसे धार्मिक विचारधारा नियन्त्रित होती है, सभी मतमतान्तरों के लोग भले ही उसे स्वीकार न करें, किन्तु उसकी शिक्षा को सर्वत्र सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसका केवल दार्शनिक और शैक्षिक मूल्य ही नहीं है, व्यवहारिक जीवन में भी उसकी बड़ी उपयोगिता है। उसका प्रभाव विचार और कर्म दोनों पर है। इसके विचार राष्ट्र और संस्कृति के नव-निर्माण और उत्थान में भी सहायक हो रहे हैं। अभी हाल में इस प्रकार की ज़ोरदार आवाज उठी है कि आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए जिस आध्यात्मिक सत्य की आवश्यकता है वह गीता में पूर्ण रूप से उपलब्ध है। इसे शब्दश: सत्य मान लेने से पुस्तक के विषय में अन्ध विश्वास बढ़ता है। आत्मा का सत्य अनन्त है, उसे इस प्रकार सीमित नहीं बनाया जा सकता, फिर भी यह कहा जा सकता है कि मुख्य सूत्र उसमें उपलब्ध हैं। आध्यात्मिक अनुभवों में प्रगति करने और सब खोज कर लेने के बाद भी उसमें प्रेरणा और मार्ग-दर्शन प्राप्त हो सकता है। भारत के बाहर भी सर्वत्र इस ग्रन्थ को संसार के महान् धर्मग्रन्थों में से एक माना जाता है। यूरोप में इस पुस्तक को आध्यात्मिक साधन के रहस्य जानने की अपेक्षा उसके विचारों को प्रेरणादायी अधिक समझा जाता है।''

श्री अरविन्द जी एक दूसरे स्थान पर गीता के बारे में लिखते हुए उद्घोषणा करते हैं – ''गीता एक अनन्त रत्नराशि का अतुल समुद्र है, जीवन भर उसमें गोते लगा-लगाकर गोतेखोर (साधक) रत्न निकालते रहें तो भी उनका अन्त होता नहीं, समुद्र का तल मिलता नहीं।.....

''उसके दो- एक रत्न प्राप्त कर लेने मात्र से ही दरिद्र धनी बन जाता है,

गंभीर चिन्तक ज्ञानी हो जाता है। भगवद् विरोधी प्रेमी बन जाता है।.... हम गीता के पास आते हैं- सहायता और प्रकाश पाने के लिए।.... हमारा हेतु यही होना चाहिए कि हमें इसमें से इसका वास्तविक अभिप्राय और जीता-जागता सन्देश मिले, वह असली चीज़ मिले, जिसका ग्रहण मनुष्य जाति के पूर्णत्व और परम आध्यात्मिक कल्याण का कारण होगा।''

8. श्री मदनमोहन मालवीय जी के शब्दो में, ''मेरा विश्वास है कि संसार की सभी जीवित भाषाओं में ज्ञान से परिपूर्ण उतनी छोटी पुस्तक कोई नहीं है जितनी भगवद्‌गीता है। इससे मनुष्य को सर्वोच्च ज्ञान, पवित्रतम प्रेम और सर्वोत्कृष्ट कर्म की शिक्षा मिलती है। गीता आत्मसंयम, त्रिविध तप, अहिंसा, सत्य, करुणा, कर्तव्य का पालन करना और अधर्मी के विरुद्ध संघर्ष करने की शिक्षा देती है। मेरी दृष्टि में विश्वसाहित्य में भगवद्‌गीता जैसी महान् रचना कोई नहीं है। वह हिन्दुओं का ही नहीं वरन् मनुष्य मात्र के धर्म का भण्डार है।''

9. श्री शंकराचार्य के अनुसार, ''इस गीता शास्त्र का अर्थ जान लेने पर समस्त पुरुषार्थों की सिद्धि होती है।''

10. सन्त ज्ञानेश्वर के अनुसार, ''श्रोताओं को अपना मन कोमल करके इस कथा के माधुर्य का अनुभव उसी प्रकार करना चाहिये, जिस प्रकार चकोर के बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद् ऋतु की कोमल चन्द्रकलाओं के सुधाकण चुन लेते हैं।''

''भ्रमर जैसे फूल का पराग ले जाते हैं, परन्तु कमल के दल को इससे कुछ संवेदना नहीं होती, वैसी ही रीति इस ग्रंथ के सेवन करने की है।'' "जैसे अपना स्थान न छोड़कर चन्द्रोदय होते ही आलिंगन-प्रेम का उपभोग केवल कुमुदिनी ही जानती है, वैसे ही जिसका अन्तःकरण गम्भीरता से स्थिर हो रहा है, वही इस कथा का सम्मान करना जानता है। गीता सुनने के लिये जो लोग अर्जुन की पंक्ति में बैठने के योग्य हों, उनको कृपा कर इस कथा की ओर ध्यान देना चाहिये।''

11. श्री बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय जी के अनुसार, ''ऐसा अपूर्व धर्म, ऐसा अपूर्व ऐक्य केवल गीता में ही दृष्टिगोचर होता है। ऐसी अद्‌भुत धर्म-व्याख्या किसी भी देश में और किसी भी काल में किसी ने भी की हो, ऐसा जान नहीं पड़ता। ऐसा उदार और उत्तम भक्तिवाद जगत् में और कहीं भी नहीं है।''

12. ''गीता की उपादेयता अथवा महत्ता के विषय में हम **लोकमान्य गंगाधर तिलक** के **"श्रीमद्भगवद्‌गीता रहस्य"** नामक ग्रन्थ पर योगीराज अरविन्द की टिप्पणी का भी यहाँ उल्लेख कर रहे हैं।

"प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि श्रीमद्भगवद्‌गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही नव्यतापूर्ण एवं स्फूर्तिदायिनी है, जितनी कि महाभारत में समाविष्ट होते समय थी। गीता के सन्देश का प्रभाव केवल दार्शनिक अथवा विद्वद् चर्चा का विषय नहीं है, अपितु आचार-विचारों के क्षेत्र में भी वह सदैव जीता-जागता प्रतीत होता है। संसार के अति उच्च शास्त्र विषयक ग्रन्थों में गीता का अविरोध से समावेश हुआ है। मानवी कर्तव्य, जीवन और कर्म की महिमा का उपदेश, सच्चे अध्यात्म का सनातन सन्देश गीता अपनी अधिकारपूर्ण वाणी से दे दे रही है, जो कि आधुनिक काल के ध्येयवाद के लिए आवश्यक है।''

13. भाष्यकार श्री गुरुदत्त ने अपनी भूमिका में श्री मोहनदास कर्मचन्द गान्धी का यह मत उद्धृत किया है- "न तो महाभारत का युद्ध हुआ है न ही गीता युद्ध की प्रेरणा देने वाला ग्रन्थ है।" गान्धी के इस कथन की प्रमाणिकता के विषय में कोई भी बुद्धिशील व्यक्ति किसी भी प्रकार की टिप्पणी करना उपयुक्त नहीं समझेगा, क्योकि उनकी दृष्टि में ईश्वर और अल्लाह में कोई अन्तर ही नहीं है। जब कि सब जानते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है और अल्ला सातवें आसमान पर रहने वाला। ऐसे दिग्भ्रमित व्यक्तियों के मत का खण्डन करने के लिए यह भाष्य उन्होंने लिखा है।''

गीता के अनुसार ईश्वर प्रत्येक मुनष्य के अन्दर विद्यमान है। कोई भी व्यक्ति मन को पूरी तरह शान्त करके, शब्दों के ऊपर उठकर ईश्वर को अपने अन्दर पा सकता है। यदि ईश्वर की परिभाषा देनी हो तो हम कह सकते हैं कि भाषातीत चैतन्य ईश्वर है, सभी धार्मिक और मतमतान्तर शब्दों में ही होते हैं। गीता हमें सभी सम्प्रदायों और मतों से ऊपर उठकर एक ऐसे विश्वधर्म का सन्देश देती है जो किसी पुस्तक व्यक्ति, सिद्धान्त, पूजा-स्थान या पूजा-विधि पर आधारित नहीं है। यह विश्वधर्म प्रत्येक मनुष्य को अपना ईश्वर अपने ही अन्दर खोजने और पाने का मार्ग दिखाता है। गीता में वैयक्तिक साधना और सामाजिक सेवा को भिन्न नहीं माना गया है। गीता में स्पष्ट कहा गया है कि जो मनुष्य सभी प्राणियों में परमात्मा को देखता है, उसी के पास सच्ची दृष्टि है और जो व्यक्ति सभी के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख की तरह समझता है वही वास्तव में योगी है। आध्यात्मिक साधना उसी की सफल होती है जो अपने

सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करता है।

विश्व के इतिहास में गीता का उपदेश एक अद्भुत और अनूठी घटना है। गीता सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या है। गीता हमें कठिन से कठिन परिस्थिति में निरन्तर संघर्षशील रहने और आगे बढ़ने की प्रेरणा व शिक्षा देती है। गीता हमें वर्तमान में रहना और जीना सिखाती है। गीता द्वारा दर्शित जीवन जीने से ही जीवन में पूर्णता, ईश्वर प्राप्ति एवं मुक्ति हो सकेगी। भारत और विश्व समुदाय में गीता सर्वमान्य और पूज्य ग्रन्थ है। इस कारण इस ग्रन्थ का सबसे अधिक आकर्षण व सम्मान है। सार्वजनिक प्रार्थना सभाओं, श्रद्धांजलि सभाओं, न्यायालयों आदि में इसीको सर्वमान्य समझा जाता है। गीता क्रांतिकारी ग्रन्थ है और भारत की पहचान तथा आकर्षण है। इसमें किसी प्रकार का भेद-भाव, ऊँच-नीच, सम्प्रदाय आदि की चर्चा नहीं है। यह तो मानव मात्र के कल्याण, उत्थान, विश्वशाँति एवं विश्वमानवता का ग्रंथ है। गीता वह गहरा समुद्र है, जिसने इसमें गोता लगाया, उसने ही अपने तरह का अमूल्य ज्ञान रत्न पाया। गीता मानसिक रोगों की रामबाण औषधि है। आज का मानव काम-क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या-द्वेष, अशान्ति, असन्तोष, चिन्ता, तनाव आदि मन के रोगों से ग्रस्त है। गीता इन सभी मानसिक रोगों का निदान करती है और उन सभी रोगों का समाधान भी बताती है। अर्जुन मानसिक रोग से पीड़ित हुए तो गीता के इलाज से उन्हें नया जीवन मिला तभी तो वह कह उठा-

''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।। गीता १८/७३''

''हे अच्युत! आप की कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया। मुझे स्वधर्म की स्मृति पुनः प्राप्त हो गई है। अब मेरे सन्देह दूर हो गये हैं, मैं स्थिर-चित्त हो गया हूँ। अब मैं आपके कथनानुसार कर्म करूंगा।''

गीता जन्म-मरण से निर्भय होने का ज्ञान व उपदेश देती है। मरने पर लोग गीता पढ़ते और सुनते हैं। सत्य तो यह है कि गीता जीवित रहते हुए पढ़ने-सुनने और सुन्दर ढंग से जीने का ढंग सिखाती है। जिसने जीवित रहते गीता पढ़ी-सुनी व गाई नहीं, मरने के पश्चात गीता पाठ से कोई लाभ नहीं होगा। गीता तो जीवन का मधुर संगीत है, जिसका आनन्द तो जीवित व्यक्ति ही ले जा सकता है। शमशान में जाते हुए लोग ''राम नाम सत्य है'' बोलते जाते हैं। यदि जीवित रहते हुए यह समझ आ जाये कि प्रभु का नाम ही सत्य एवं सार है, यही

अन्त तक साथ देगा, शेष सब यहीं छूट जायेगा, तो ऐसी भाव दशा में संसार छोड़ते हुए मृत्यु का दुःख एवं भय न होगा। गीता कर्म का उपदेश देती है, निठल्लेपन का नहीं, तभी तो यजुर्वेद के 40 वें अध्याय के दूसरे मंत्र में वेद के ऋषि ने स्पष्ट घोषणा की है-

''कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।''

इस मन्त्र में जीव को इस बात का उपदेश है कि, ''हे जीव! तुम इस संसार में सौ वर्ष तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा करो, अर्थात् सम्पूर्ण जीवन कर्म में लगे रहो। तुम्हारे लिये यही सबसे श्रेष्ठ मार्ग है। शुभ कर्म जीव के लिए बन्धन का कारण नहीं होते, क्योंकि ईश्वर दुःखदायक कर्म करने का जीवन को उपदेश नहीं करता और कर्म करने का उपदेश भी यही है कि मनुष्य शुभ कर्म करे, परन्तु इस संसार का त्याग पूर्वक उपभोग करे।'' जैसा कि यजुर्वेद के 40वें अध्याय के प्रथम मंत्र की मान्यता है-

''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।''

इस मन्त्र में कहा गया है कि, ''जो कुछ इस नाशवान् संसार में पदार्थ हैं वे सब ईश्वर से व्याप्त या ईश्वर से ढके हुए हैं। पर्वत की कोई ऐसी गहरी से गहरी गुफ़ा नहीं है जिसमें ईश्वर विद्यमान न हो, समुद्र का कोई गहरे से गहरा तल नहीं, जहाँ ईश्वर न हो। जो लोग ईश्वर की आज्ञा के विरुद्ध चलते हैं, वे जन्म मरण के दुःखों को भोगते हैं। हे मानव! किसी के धन लेने की इच्छा मत कर, क्योंकि ईश्वर का नियम है कि प्रत्येक मनुष्य को उसके कर्मों के अनुसार भोग मिलता है। अतः दूसरों का धन लेने की इच्छा से पाप तो अवश्य होगा। इसलिए कहा है कि त्यागपूर्वक भोग कर इसमें लिप्त मत हो। यही उपदेश योगीराज कृष्ण ने अर्जुन को दिया था। कुछ वैदिक विद्वानों का मत है कि गीता यजुर्वेद के इन दोनों मंत्रों के आधार पर श्री कृष्ण जी के मुख से उच्चरित हुई है।

योगेश्वर कृष्ण की पावन वाणी 'भगवद्गीता' आज भी मनुष्य के जीवन में पग-पग पर राह दिखाने में उतनी ही सक्षम है जितनी आज से लगभग साढ़े पांच हजार वर्ष पूर्व थी। महाभारत के उस काल में जब गीता ग्रन्थ का उदय हुआ था, उस समय आज का कोई भी सम्प्रदाय अपने अस्तित्व में नहीं आया

था। अतः भगवद्गीता का उपदेश केवल वैदिक विद्या के ऊपर ही आधारित है। इसी सत्य विचार को स्वीकार करके यदि हम इस पावन ग्रन्थ का अध्ययन, मनन तथा तत्पश्चात् आचरण करें तो निश्चित रूप से ही प्रत्येक प्राणी अपने जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान पाकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को अति सरलता से गृहस्थाश्रम में भी सिद्ध कर सकता है।

गीता में अर्जुन और श्री कृष्ण जी के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के बीच होने वाले संवाद का वर्णन है। ये अर्जुन और कृष्ण हमारी आत्मा और हमारे अन्दर के परमात्मा के रूप में हमारे अन्दर ही विद्यमान हैं। अर्जुन द्वारा उठाये गये सभी प्रश्न प्रतिदिन हम सबके मन में उठते हैं और उनका उत्तर हमें अपने अन्दर की उस शान्त गहराई में जाकर मिलता है जहाँ विश्वात्मा शब्दातीत भाषा में हमसे संवाद करने के लिए सदैव विद्यमान हैं।

भारत के स्वतन्त्रता संघर्ष में जिन क्रांतिकारियों ने भाग लिया- चाहे वह नरम दल के थे या गरम दल के, सभी ने फाँसी के फन्दे को चूमते हुए गीता के इन दो श्लोकों से प्रेरणा ली-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। गीता २/२३

इस आत्मा को कोई शस्त्र नहीं काट सकता, न अग्नि जला सकती है। न पानी इसे गला सकता है और न ही वायु इसे सुखा सकती है। यह आत्मा तो अजर और अमर है, नाश तो केवल शरीर का ही होना है।

वांसासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। गीता २/२२

अर्थात् जिस प्रकार से मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, पुराने वस्त्र छोड़ कर नये वस्त्र धारण करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है, ऐसे ही ज्ञानी आत्मा अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीर को त्याग कर नवीन शरीर को धारण करके प्रसन्न होता है।

ऐसे उपरोक्त विचार जैसे-जैसे क्रान्तिकारियों के हृदय में उठे और उन्हें पता चला कि चोला बदलने में कोई देर नहीं लगेगी, नया चोला मिलेगा, फिर से और शक्ति से कार्य करेंगे। किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ, मन क्षुब्ध नहीं हुआ और फाँसी के फन्दे पर हँसते-हँसते झूल गये। जिसने भी गीता की अमृतमयी ज्ञान की बूँदों को चख लिया, उसके लिए स्वयं का कष्ट तो कष्ट रहा

ही नहीं। वह दुनिया के कष्टों के निवारण करने के लिए निकल पड़ा।

गीता संजीवनी है। श्वास लेने वाले हम मुर्दा लोगों के अन्दर एक नये प्राण संचारित करने का काम यदि कोई ग्रंथ कर सकता है तो वह गीता है। यह ग्रन्थ हाथ जोड़कर प्रणाम कर देने के लिए नहीं है। इस गीता के गीत को गुनगुनायें, केवल होठों से नहीं, बल्कि हृदय और कानों से तथा इस पर आचरण भी करें- तब यह जीवन संगीत बन जायेगा।

कर्तव्य के रथ से उतरकर भागने की इच्छा वाले अर्जुन के मन को गीता के माध्यम से भगवान श्री कृष्ण जी ने एक नई संजीवनी दी- 'भागो नहीं, जागो, अपने स्वरूप को पहचानो।'

यहाँ श्री कृष्ण जी ने गीता के माध्यम से जो अनोखा सन्देश दिया वह था संसार से भागो नहीं। साधारणतया पौराणिक ग्रन्थों में संसार से विमुख होने की बात कही जाती है। जगत् मिथ्या की रट लगाकर कुछ ग्रन्थकार हमें संसार से विरक्त होने की बात करते रहते हैं, परन्तु मेरा प्यारा श्री कृष्ण जी ऐसा कोई उद्घोष नहीं करता। वह तो जीवन को संघर्ष मानता है, चुनौती मानता है, परीक्षास्थल एवं रणस्थल मानता है, जहाँ पग-पग पर प्रत्येक श्वास के साथ संघर्ष की बात मानता है, जीवन से भागने की नहीं। गीता का इसलिए पढ़ना, चिन्तन और आचरण होना चाहिए, क्योंकि यह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ठीक मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। गीता वीरता का सन्देश देती है। गीता कायर बनकर ज़िम्मेदारियों से भागने की बात नहीं करती। कर्तव्य का पालन करने, निराश न होने एवं पुरुषार्थ द्वारा भाग्य को बदलने की बात करती है। मरणधर्मा को अमृत का सन्देश देती है गीता। मैं तो यह कहूँगा कि प्रमादी को कर्मठता का उपदेश गीता से मिलता है। भागने वाले को जागने का सन्देश गीता से मिलता है, गिरे हुए को उठाने का नाम गीता है।

गीता का संसार को उपदेश है- मानव-जीवन सर्वोत्तम, दुर्लभ एवं उच्चतम पदवी है। यह जीवन परमेश्वर की अनमोल भेंट हैं। इसे ज्ञानपूर्वक, नियमपूर्वक, त्यागपूर्वक और उद्देश्यपूर्ण ढंग से जीओ। यह अवसर बार-बार नहीं मिलता है। गीता धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति में ही जीवन की पूर्णता एवं सफलता मानती है। यदि हमें जीना आता है तो जीवन व जगत् स्वर्ग है। यह मनुष्य के ऊपर निर्भर करता है कि वह जीवन और जगत् को नरक बनाकर जीता है या स्वर्ग बना कर। गीता ने जीवन के प्रत्येक पहलू पर प्रकाश डाला है।

गीता का प्रेरक चिन्तन और दृष्टि मानव जीवन को उच्चतम उद्देश्य तक पहुंचाने में पूर्ण समर्थ है। गीता का चिन्तन, दर्शन, उपदेश और विचारधारा आस्तिक तथा ईश्वर विश्वासी है। गीता के पठन, श्रवण, मनन, चिन्तन आदि के बाद व्यक्ति नास्तिक नहीं रह सकता। योगेश्वर कृष्ण ने गीता में परमात्मा के विराट रूप का विस्तार से वर्णन किया है। नदी, समुद्र, पर्वत, आकाश और सम्पूर्ण ब्रह्मांड ईश्वर के विराट स्वरूप का संकेत कर रहे हैं। सारा संसार इस सत्य को मानता है कि कोई ऐसी सत्ता और शक्ति है जो, सृष्टि का सृजन करती, चलाती और अन्त में संहार करती है, गीता प्रत्येक पग पर उस अदृश्य शक्ति के प्रति आस्था, विश्वास तथा श्रद्धा भाव रखने का सन्देश देती है। जहाँ श्री कृष्ण अर्जुन से यह कहते है- **'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत'** तब श्री कृष्ण का यह सन्देश है कि हे अर्जुन! सर्वत्र विद्यमान विराट् प्रभु की शरण में आओ। बड़े-बड़े बलवान्, धनवान्, गुणवान्, ज्ञानी, तपस्वी, त्यागी सभी परमेश्वर के नियमों और व्यवस्था के आगे नतमस्तक होते हैं। किसी में साहस नहीं है कि प्रभु के नियम और व्यवस्था को तोड़ सके।

(छ) गीता का कृष्ण योगी है, महापुरुष है, योगेश्वर है, नीतिज्ञ है, धर्म का पोषक है। यदि वे स्वयं ईश्वर होते तो वह निम्न श्लोकों से अपने आप को ईश्वर से भिन्न न मानते-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्योन्द्रियाणि तस्या प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। गीता २/६१

इस श्लोक में एक शब्द है 'मत्परः'। मत्परः का अर्थ है मेरे परायण। यह गीता की प्रवचन शैली है। इसका स्पष्टीकरण महाभारत के अश्वमेध काण्ड में किया गया है। यहाँ श्री कृष्ण जी ने कहा है कि गीता का प्रवचन मैंने योगयुक्त अवस्था में किया था। उस समय मैं ऐसे कह रहा था जैसे मानों परमात्मा मुझ में बैठकर कह रहा हो। इस प्रकार जहाँ-जहाँ श्री कृष्ण जी ने 'मैं' 'मेरा' इत्यादि शब्द प्रयोग किये हैं वहाँ उनका अभिप्राय परमात्मा ही है। अतः मेरे परायण का अर्थ ईश्वर के परायण समझना चाहिये।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। गीता १८/६१

हे अर्जुन! ईश्वर के नियम रूप में स्थित सब प्राणियों को अपने प्रकृति रूप माया से भ्रमण कराता हुआ प्राणियों के हृदय देश में स्थिर है। सर्वभाव से तू

उसी की शरण को प्राप्त हो।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्यसि शाश्वतम्।। गीता१८/६२

हे भारत! तू सर्वभाव से अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को समेट कर उसकी (परमात्मा) की शरण में जा। अपनी शरण में नहीं कहा। उसकी कृपा से तुझे परम शान्ति और शाश्वत भाव प्राप्त होगा। यह कथन इस बात को सिद्ध करते हैं कि श्री कृष्ण जी स्वयं को ईश्वर कदापि नहीं मानते थे।

मेरे पौराणिक भाईयों के पास श्री कृष्ण जी को ईश्वर सिद्ध करने का यदि कोई बड़ा अस्त्र है तो वह यह है कि श्री कृष्ण जी ने स्वयं ही कहा है-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। गीता ४/७

हे भारत! जब जब धर्म की ग्लानि या ह्रास होता है तब मैं ही धर्म का उत्थान करने के लिए जन्म लेता हूं।

परित्राणाय साधुनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे।। गीता ४/८

महर्षि वेद व्यास जी ने अपने मुख्य पात्र योगेश्वर श्री कृष्ण जी के माध्यम से उक्त श्लोक में यह कहा है कि उनके जैसे महान् पुरूष साधुओं की रक्षा के लिए, दुष्टों के विनाश के लिए, धर्म की स्थापना के लिए समय-समय पर जन्म लेते रहते हैं।

इनसे श्री कृष्ण जी का परमात्मा स्वरूप दिखाई नहीं देता बल्कि उनके आत्मविश्वास की पराकाष्ठा का परिचय है न कि अवतार का। अनेक क्रान्तिकारियों ने भी कहा था कि मेरी इच्छा है कि फाँसी लगने के बाद मैं पुनः भारत भूमि पर ही जन्म लूँ और अन्यायी अंग्रेजी शासन के विरुद्ध इसी प्रकार लड़ते हुए अपने प्राणों को न्यौछावर करूँ। यदि ईश्वर अन्याय को मिटाने के लिए बार-बार अवतार लेता है तो केवल भारत में ही क्यों लेता? विदेशों में भी लेता। जबकि भारत से अधिक विदेशों में अन्याय हुए हैं, वहाँ पर भी तो अवतार लेना चाहिए था। गीता के वे श्लोक जिनसे अवतारवाद सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, वह मध्यकाल के विचारकों का अपना मत हो सकता है।

गीता में स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को उपदेश करते हुए परमात्मा के अस्तित्व को दर्शाया है। परमात्मा के अस्तित्व को मानने वाला स्वयं

परमात्मा कैसे हो सकता है? कदापि नहीं हो सकता। आईये, गीता के इस श्लोक पर दृष्टिपात करते हैं, जिससे पता चलता है कि योगेश्वर कृष्ण एक महान् पुरुष थे। गीता का निम्नलिखित यह अन्तिम श्लोक जो सारी गीता का निष्कर्ष है। यह श्लोक श्री कृष्ण जी को ईश्वर का अवतार न मानकर एक महान् पुरुष ही सिद्ध करता है-

यत्र योगेश्वरः कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। गीता १८/७८

इस श्लोक में संजय धृतराष्ट्र को कह रहा है कि हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण है, जहाँ गाण्डीवधारी अर्जुन है वहीं 'श्री' होगी, विजय होगी, वहीं विभूति होगी, वहीं अचल नैतिकता होगी- यह मेरी निश्चित धारणा है। यदि श्री कृष्ण जी ईश्वर के अवतार होते तो संजय यह कहता कि पाण्डवों की ओर जब श्री कृष्ण स्वयं ईश्वर के अवतार हैं वहाँ पाण्डवों की जीत निश्चित है, परन्तु संजय ने ऐसा न कह कर श्री कृष्ण को महान्, चतुर, प्रकाण्ड वेदज्ञ, कुशल राजनीतिज्ञ व दूरदर्शी तो बताया है, ईश्वर का अवतार नहीं, यही प्रश्नोत्तरी बनाने का मुख्य प्रयोजन है।

यह सर्वमान्य है कि गीता का पूर्ण कथन उपनिषदादि शास्त्रों की शिक्षा पर आधारित है। स्वयं योगेश्वर कृष्ण ने १३वें अध्याय के चौथे श्लोक में यह स्वीकार किया है-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।

जो कुछ भी इस प्रवचन में कहा गया है, वही वेदों में ऋषियों ने बहुत प्रकार से गान किया है और ब्रह्मसूत्र में भी युक्तियुक्त ढंग से स्पष्ट किया गया है, किन्तु कुछ भाष्यकारों ने गीता प्रवचन के ऐसे अर्थ निकाले हैं जो वेदादि शास्त्रों के विरोधी हैं। अनेक मतमतान्तर वालों ने गीता में से वेद विरुद्ध भाव निकालने का यत्न किया है, उनके द्वारा गीता की विवेचनाओं पर वेद सम्मत मत लिखा जाए। गीता की प्रमुख प्रश्नोत्तरी का उद्देश्य है गीता का यथार्थ अपना वेद सम्मत मत लिखा जाए।

मैं यह दावा करने का दुराग्रह नहीं करता कि हिन्दी भाषा में गीता से सम्बन्धित यह अपनी तरह की प्रथम अथवा अद्वितीय कृति है, परन्तु यह कहने का साहस अवश्य करुँगा कि सरल हिन्दी प्रश्नोत्तर रूप में यह एक अनोखा

प्रयास है। मैं यह मानता हूँ कि गीताकार ने संवाद प्रणाली के माध्यम से उपदेश दिये हैं, परन्तु कहीं-कहीं वेद विरुद्ध होने से गीता के भाष्य परस्पर विरोधी बन गये हैं।

प्रस्तुत रचना के अस्तित्व में आने का न कोई इतिहास है और न ही इस की पृष्ठभूमि में कोई सुनियोजित योजना रही है। मैंने इस रचना से पूर्व सत्यार्थ प्रकाश प्रश्नोत्तरी एवं विदुरनीति प्रश्नोत्तरी भी तैयार की है। श्रद्धालु जनमानस ने जिस प्रकार उनको स्वीकार किया है, मैं इससे अभिभूत हूँ। आज का व्यक्ति बनी बनाई मिठाई खाने में विश्वास करता है, स्वयं मिठाई बनाने में उसकी रुचि नहीं है। मेरा विचार है कि इसी प्रकार प्रश्नोत्तरी के माध्यम से वह इन रचनाओं के माध्यम से ज्ञान वृद्धि करना अपेक्षाकृत सरल मार्ग है। मैं न तो स्थापित लेखक, न ही साहित्यवेत्ता हूँ और न ही मैंने शास्त्रों आदि का कोई क्रमबद्ध अध्ययन किया है, परन्तु फिर भी गीता जैसे महान् ग्रन्थ जिसमें मानव जीवन के प्रत्येक पहलू, सारा दर्शन, धर्म, व्यवहार, ज्ञान-विज्ञान मानव जीवन से संबंधित, सार्वभौमिक ज्ञान और आदर्श तथा यथार्थ का अपूर्व संगम हो, जिन पर भारत तथा विश्व के उद्भट असंख्य विद्वानों की लेखनियाँ चली हों, वहाँ मेरे जैसे अल्पज्ञ, साधारण बुद्धि वाले मनुष्य का इस पर लेखनी चलाने का प्रयास बचकाना-सा तो लगता है, परन्तु कुछ वर्षों से सन्तों, महापुरुषों, विद्वानों की सत्संगति ने मुझे यह साहस प्रदान किया है कि मैं इस पर अपनी लेखनी चलाऊँ।

यह बात नहीं है कि गीता पर भाष्यों, अनुवादों या टीकाओं की कोई कमी है, परन्तु एक कमी मुझे जो लगी है वह यह है कि विद्वानों ने कुछ क्लिष्ट तथा-कथित तौर पर विद्वत्ता का प्रदर्शन किया है। ऐसा नहीं है कि सभी भाष्य ऐसे हैं परन्तु ऐसी प्रश्नोत्तरी किसी लेखक, विद्वान् ने प्रकाशित की हो, मेरी सूचना में नहीं है अतः मैंने इस ओर एक धृष्टता करने का प्रयास किया है। मैंने जिन भाष्यों और टीकाओं की सहायता ली है उसकी सूची भी इसी के साथ दी जा रही है।

इस प्रश्नोत्तरी को प्रकाशित करने के कुछ और प्रयोजन यह हैं:

(क) गीता रंगीन कपड़ों में लपेटकर पूजा की वस्तु नहीं है।

(ख) कुछ भाष्यकारों ने गीता के वेद विरुद्ध अर्थ निकाले हैं। मैंने गीता के भावों और अर्थों को लिखते समय वेद शास्त्र आदि मोक्ष ग्रन्थों के आधार पर ही

देने का प्रयास किया है।

(ग) यह बात इसलिए सर्वमान्य नहीं है कि यह परम पिता परमात्मा के मुख से निकला प्रवचन है बल्कि यह वेद-वेदांग के विद्वान् योगेश्वर श्री कृष्ण जी के मुख से निकला वचन है।

(घ) देश के अनेक विद्वान भी गीता के भाव को न समझते हुए भ्रमित हो रहे हैं। स्वामी शंकराचार्य जैसे विद्वान् भी इस गीता शास्त्र का प्रयोजन परम कल्याण अर्थात् कारण सहित संसार की अत्यन्त उपरति हो जाना मानते हैं। साथ ही परम कल्याण, सर्वकर्म संन्यासपूर्वक आत्मज्ञान निष्ठारूप धर्म से प्राप्त होता है। मैं यहाँ पर उपन्यासकार श्री गुरुदत्तजी से पूर्ण सहमत हूँ कि श्रीकृष्ण जी ने तो संसार से उपराम होने के लिए अर्जुन को कहीं कुछ नहीं कहा। गीता उपदेश तो संग्राम में धर्म की विजय करने के लिए कहा गया था, इसी लिए कुरुक्षेत्र को धर्मक्षेत्र कहा गया है जैसा कि प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक से स्पष्ट है-

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।। गीता १/१

यह वैदिक संस्कृति की विलक्षणता है कि इसमें प्रत्येक कार्य अपने कल्याण का उद्देश्य सामने रखकर ही करने की प्रेरणा की गई है, इसलिए युद्ध जैसा कर्म भी 'धर्मक्षेत्र' (धर्मभूमि) एवं कुरुक्षेत्र (कर्मभूमि) में किया गया है, जिससे युद्ध में मरने वालों का कल्याण हो जाये, तभी तो श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं-

हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।। २/३७

यदि जीवित रहे तो राज्य सुख भोगोगे और यदि मृत्यु हो गई तो स्वर्ग को प्राप्त करोगे।

(ड़) मैंने पूरा प्रयास किया है कि इस प्रश्नोत्तरी भाष्य को संस्कृत निष्ठ न रख कर हिन्दी प्रधान बनाया जाए।

(च) मैंने संस्कृत के मूल पाठ को देकर उसके नीचे अन्वय अनुसार संस्कृत पदों के अर्थ हिन्दी में दे दिये, ताकि कोई भी व्यक्ति जो संस्कृत नहीं भी जानता उसके लिए गीता सरल एवं हृदय ग्राही हो सके और वह गीता के मूल भावों को हृदयंगम कर सके।

विगत अक्तूबर, 2015 में जब मेरी '**विदुरनीति प्रश्नोत्तरी**' का सार्वजनिक लोकार्पण हुआ तब कुछ पत्रकार बन्धुओं ने मुझसे पूछा, ''आर्य जी, हम मानते

हैं कि आपने सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द सरस्वती के अमर ग्रंथ सत्यार्थ प्रकाश पर प्रश्नोत्तरी लिखकर 'सत्यार्थ प्रकाश' को सरल और रुचिकर बना दिया है और महर्षि दयानन्द जी के ऋण से उऋण होने का लघु प्रयास किया है। तत्पश्चात् जन साधारण के लिए संजीवनी भाग-1 **''एक प्रयास भक्ति की ओर'' तथा ''संजीवनी भाग-2'' में ''एक प्रयास नैतिकता की ओर''** प्रेरणास्पद एवं जीवनोपयोगी संकलन तैयार किया है। इसके पश्चात् आपने यह जो 'विदुरनीति प्रश्नोत्तरी' तैयार की है इसमें विदुर जैसे कुशल कूटनीतिज्ञ को सर्वसाधारण के लिए सुलभ कर दिया है, साथ में विदुर जैसे इतिहास में कुछ उपेक्षित व्यक्तियों के वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया। अब अगले किस प्रौजेक्ट पर कार्य करने का मन बना रहे हैं ? मैंने उन पत्रकार बन्धुओं से कहा कि मेरा मन तो योगेश्वर श्री कृष्ण जी की गीता पर कुछ अलग से लिखने का है। जब कुछ आर्य समाज के विद्वानों एवं साधारण सदस्यों तक यह सूचना पहुँची कि मैं गीता पर कुछ कार्य करना चाहता हूँ, तभी कई प्रकार के सुझाव, परामर्श, आलोचना आने प्रारम्भ हो गये। कुछ मुझ पर पौराणिक होने के आरोप लगा रहे थे, कुछ लोगों ने इस कार्य को मेरे मस्तिष्क की व्यर्थ की कवायद कहा। कुछ लोगों ने मेरे इस कार्य को सराहा भी। मैं उन सभी व्यक्तियों के प्रश्नों के उत्तर तथा कुछ विद्वानों एवं सहयोगियों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ -

मैं जन्म-जात आर्य समाजी नहीं हूँ। मेरे पूज्य पिता श्री रामचन्द्र आर्य जी श्री कृष्ण जी के पौराणिक स्वरूप के भक्त थे। बचपन में मुझसे भी वह घंटों श्री कृष्ण जी की मूर्ति के सम्मुख घंटी बजवाया करते थे। बचपन से ही श्री कृष्ण जी की गीता पढ़ने में मेरी विशेष रुचि रही है। मुझे आर्य समाज में लाने का श्रेय मेरे पूज्य ताऊ श्री निरन्जनदेव पहूजा जी को है। गीता का गंभीरतापूर्वक मनन, विचार करने से तथा अनेक सन्त महापुरुषों, विद्वानों विशेषकर आचार्य अखिलेश्वर जी महाराज के वचनों से मुझे गीता के विषय को समझने में सहायता मिली। गीता पढ़ने से पूर्व मैं भी इस गीता को मरणासन्न व्यक्ति को गीता सुनानी चाहिये - ऐसा समझता था परन्तु आचार्य अखिलेश्वर जी के गीता प्रवचनों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। मैं यहाँ उनके सहयोग के प्रति भी कृतज्ञ हूँ।

गीता के भावों को पूरी तरह समझने की और उनको व्यक्त करने की मेरी सामर्थ्य नहीं है, परन्तु कुछ समय पूर्व जब मैंने **'सत्यार्थ प्रकाश प्रश्नोत्तरी' एवं 'विदुरनीति प्रश्नोत्तरी' श्री मनोहर लाल खट्टर, मुख्यमंत्री, हरियाणा**

सरकार को भेंट की तो कुछ समय पश्चात् उन्होंने मुझे गीता पर कार्य करने का परामर्श दिया। यह उसी प्रेरणा का एक फल है कि मैं इस पर कुछ कार्य कर पाया।

सर्व श्री डॉ. सुरेन्द्र कुमार (मनुस्मृति विशेषज्ञ) कुलपति गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार, श्री विरजानन्द दैवकरणि, निदेशक स्वामी ओमानन्द सरस्वती पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल झज्जर, स्वर्गीय डॉ. धर्मवीर, अध्यक्ष परोपकारिणी सभा अजमेर, स्वामी धर्ममुनि जी दुग्धाहारी, मुख्य अधिष्ठाता, आत्मशुद्धि आश्रम, बहादुरगढ़ एवं फरूखनगर, डॉ. सत्येन्द्र सत्यम्, वैदिक प्रवक्ता, डॉ. अशोक शर्मा जी, श्री बी.आर. सीकरी जी से परामर्श लिया तो उन सबने न केवल मेरे इस कार्य के लिए मुझे साधुवाद दिया और साथ में इस पवित्र कार्य के लिए मुझे सहयोग का आश्वासन भी दिया। अत: मैं इन सभी व्यक्तियों का हार्दिक आभारी हूँ।

मैं अपने इस पवित्र कार्य के लिए सबसे पूर्व परमपिता परमात्मा का आभारी हूँ, जिनकी कृपा से मुझे यह प्रेरणा मिली, तत्पश्चात् अपने स्वर्गीय पिता श्री रामचन्द्र आर्य, माता श्रीमती जमना देवी आर्या एवं पूर्ण सहयोग प्रदान करने वाली अपनी धर्मपत्नी श्रीमती चन्द्रवती आर्या, सुपुत्र श्री राजेश आर्य, श्री दिनेश आर्य, सुपुत्री श्रीमती सुनीता रानी छोकरा, दामाद श्री अजय छोकरा, एवं अन्य सभी सज्जनों का जिन्होंने मुझे परोक्ष, अपरोक्ष रूप से सहयोग किया, मैं उनका हृदय से आभार प्रकट करता हूं। मैं उन सभी सज्जनों जिनमें प्रमुख श्री रमेश चन्द्र आर्य राधा प्रैस गांधी नगर, दिल्ली, श्री मेहर चन्द सेतिया, स्वामी विवेकानन्द गिरि, आचार्य हरि निवास, आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली का भी आभारी हूँ जिन्होंने मुझे विभिन्न विद्वानों की गीता उपलब्ध कराई।

इस के प्रूफ संशोधन में श्री सुभाष दुआ सुशान्त लोक गुरूग्राम एवं डॉ. सुभाष सचदेवा, शिवाजी नगर गुरूग्राम के सहयोग की चर्चा न करूं तो मेरी कृतघ्नता होगी। अत: श्री सुभाष दुआ तथा डॉ. सुभाष सचदेवा जी का मैं हार्दिक आभारी हूँ। इस के सम्पादन का गुरूतर भार आचार्य सोमदेव जी ने लेकर मुझे यह सम्बल प्रदान कर दिया है, जिसे मैं शब्दों में वर्णित नहीं कर सकता। इतने उच्चकोटि के विद्वान् एवं प्रखर वक्ता होते हुए भी इस का सम्पादन कार्य करके मुझे कृतकृत्य किया है उस के लिए मैं जितना उन का धन्यवाद करूँ थोड़ा है।

मेरी यह कृति आपके सम्मुख है। मैं यह दावा नहीं करता कि यह अप्रतिम

है, परन्तु आपसे इतना आग्रह है कि आप इस का स्वाध्याय करने का संकल्प अवश्य करें, आपको यदि थोड़ी सी भी प्रेरणा इस ग्रन्थ से मिलती है तो यह प्रभु की कृपा ही मानी जायेगी। मैं अपने आप को इसके लिए साधुवाद नहीं दूँगा। योगेश्वर श्री कृष्ण जी जिन्हें महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने एक आप्त पुरुष लिखा है, उनकी इस रचना को केवल रेशमी कपड़े में लपेट कर प्रात: सायं उसके आगे नतमस्तक होने की अपेक्षा इसका स्वाध्याय करें। ईश्वर आपके और मेरे जीवन का प्रेरणस्रोत बना रहे। कृष्ण भक्तो! कृष्ण सरीखे प्रभु-भक्त तथा कर्मयोगी बन जाओ। विश्व का उद्धार तभी होगा। इसी आशा और विश्वास के साथ –

विदुषाम् अनुचर
कन्हैया लाल आर्य
4/45, शिवाजी नगर,
गुरूग्राम (हरियाणा) 122001
चलभाष 09911197073

प्रथमोऽध्यायः
अर्जुन-विषाद योग

कर्तव्य के रथ से उतरकर भागने की इच्छा करने वाले अर्जुन के मन को गीता के माध्यम से भगवान् श्रीकृष्ण जी ने एक नई संजीवनी दी। लगभग सभी तत्कालीन ग्रन्थों में संसार से भागने की बात कही गई है – 'संसार से विमुख हो जाओ, जगत् मिथ्या' का उद्‌घोष चल रहा था, परन्तु मेरा प्यारा योगेश्वर कृष्ण जीवन के बारे में घोषणा करता है– जीवन एक संघर्ष है, एक चुनौती है, एक परीक्षास्थल है, एक रणक्षेत्र है – इसका सामना करना होगा, परीक्षा देनी ही होगी। जब तक श्वास हैं तब तक संघर्ष चलता रहेगा। संघर्ष से भागना नहीं, स्थिर होकर उसका सामना करना होगा।

विषाद से प्रसाद की ओर चलने का नाम गीता है। इसलिए प्रथम अध्याय को अर्जुन-विषाद-योग कहा गया है। जब युद्ध की पूरी तैयारी हो गई, दोनों पक्षों (कौरवों, पाण्डवों) की सेनाएँ एक दूसरे के सम्मुख डट कर खड़ी हो गईं, तब धृतराष्ट्र को भी सब कुछ जानने की इच्छा हुई। धृतराष्ट्र अन्धा था, वह देख तो सकता नहीं था। फिर क्या करता ? उसने संजय को कहा कि 'कुरूक्षेत्र के मैदान में जो घटनाएं घट रहीं है उनका अविकल विवरण मुझे सुनाओ, ताकि मैं जान सकूँ कि वहाँ क्या हो रहा है ?' गीता में जो कुछ है वह संजय की धृतराष्ट्र को दी गई रिपोर्ट है।

मरणधर्मा मनुष्य को अमृतमय बनाने का सन्देश जहाँ से मिला उस सन्देश का नाम गीता है। गीता को इस लिए भी पढ़ना, चिन्तन करना आवश्यक है, क्योंकि यह हमें कर्तव्य का बोध कराती है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ठीक ढंग से चलने का मार्ग हमें गीता देती है। इसमें कहा है–'कायर बनकर भागो नहीं, अपने उत्तरदायित्वों से विमुख होने का प्रयास मत करो। कर्तव्य पालन करते-करते मन में निराशाएँ आएँगी, निराश नहीं होना, मन को पुनः कर्तव्य के मार्ग पर आरूढ़ करना, क्योंकि हमारा भाग्य परिवर्तन करने के लिए कोई और नहीं आयेगा हमें स्वयं ही भाग्य का निर्माण करना होगा।'

पांच हजार दो सौ चालीस वर्ष पूर्व, कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में यह एक महान् गीत कहिये, संगीत कहिये जो प्रत्येक व्यक्ति को संजीवनी देने का कार्य करता है, उस गीत को हम गीता के नाम से जानते हैं।

दोनों पक्षों की सेनाएँ आकर खड़ी हो गई हैं– ग्यारह अक्षोहिणी सेना कौरव पक्ष में है और सात अक्षोहिणी सेना पाण्डव पक्ष में है। विचित्र बात यह है कि कौरवों के सात महारथी हैं– दुर्योधन, कर्ण, भीष्म, शकुनि, अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य और दु:शासन। यह सारे महारथी लोभ, अहंकार, मोह, मत्सर (ईष्या), क्रोध, मद, काम के प्रतीक हैं। दुर्योधन लोभ का प्रतीक है– राज्य मेरे हाथ में रहना चाहिए। उसका लोभ समाप्त नहीं हो रहा। अपने राज्य से उस की संतुष्टि नहीं हो रही। लोभ भी भाईयों का राज्य हड़पने के लिए तैयार बैठा है। कर्ण अहंकार का प्रतीक है। वह अपने आप से बड़ा किसी को नहीं मानता, वह तो बस युद्ध की प्रतीक्षा कर रहा है। जिससे वह अपने अहंकार की पूर्ति कर सके। भीष्म मोह का प्रतीक है। कौरव वंश की गद्दी सुरक्षित रहे, वह अपने इसी मोह से चिपके हुए हैं। जब कि मोह के सम्पूर्ण वृक्ष के रूप में धृतराष्ट्र वहाँ इसी सम्पूर्णत्व के साथ उपस्थित है। धृतराष्ट्र मोहवश अन्धा है। जहाँ वह आँखों से अन्धा है वह व्यवहार में भी मोह से पूर्ण रूपेण ग्रस्त है। शकुनि मत्सर (ईष्या) का प्रतीक है। अश्वत्थामा– क्रोध से भरा है, मेरे पिता को छल से मारा गया है। मैं भी सारे परिवार को छल से समाप्त करूँगा। क्रोध में अपने होश खो बैठा है। द्रोणाचार्य मद का प्रतीक है। ठीक क्या है, गलत क्या है ? इसका निर्णय करने में 'जिसका खाया अन्न, उसी के लिए मरना' सोच कर मद में उचित निर्णय लेने में असमर्थ है। दु:शासन द्रौपदी का अपमान करने और उसके आँचल को खींचने से काम का प्रतीक है।

प्रधान विषय

(1) दोनों सेनाओं के मुख्य-मुख्य शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन (श्लोक संख्या 1 से 11 तक)।

(2) दोनों सेनाओं की शंख ध्वनि का कथन (श्लोक संख्या 12 से 19 तक)।

(3) अर्जुन द्वारा सेना निरीक्षण का प्रसंग (श्लोक संख्या 20 से 22 तक)।

(4) मोह से व्याप्त हुए अर्जुन के कायरता, स्नेह और शोक युक्त वचन (श्लोक संख्या 28 से 47 तक)।

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

सञ्जय (हे संजय!) धर्मक्षेत्रे (धर्म के क्षेत्र में, पुण्यभूमि में), कुरुक्षेत्रे (कुरुक्षेत्र के मैदान में), समवेताः (एकत्रित), युयुत्सवः (युद्ध की इच्छा करने वाले), मामकाः (मेरे पक्ष के लोग), च (और), एव (भी), पाण्डवाः (पाण्डु के पुत्रों ने), किम् (क्या) अकुर्वत (किया)?

प्रश्न 1- धृतराष्ट्र ने संजय से क्या प्रश्न किया?

उत्तर- धृतराष्ट्र बोले- हे संजय! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में मेरे पुत्रों और पाण्डु पुत्रों ने युद्ध की इच्छा से एकत्रित होकर क्या किया?

यह भारतीय संस्कृति की विलक्षणता है कि इसमें प्रत्येक कार्य अपने कल्याण का उद्देश्य सामने रखकर ही करने की प्रेरणा की गई है। अतः युद्ध जैसा घोर कर्म भी धर्मक्षेत्र माना गया है जिससे युद्ध में मरने वालों का भी कल्याण हो जाये।

परमपिता परमात्मा की ओर से सृष्टि में कोई भी भेद नहीं किया गया है। सभी मनुष्य समान है और सभी मनुष्यों को पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश समान रूप से उपलब्ध हैं, परन्तु मनुष्य मोह के वशीभूत होकर उनमें कई प्रान्त और देश बना कर मेरे और तेरे का भेद उत्पन्न कर देता है। यहाँ पर धृतराष्ट्र ने भी (मामकाः) और (पाण्डवाः) कह कर उस भेद को बतला दिया है। जो युद्ध का मूल है। प्रत्येक मनुष्य का शरीर उसका धर्मक्षेत्र अर्थात् कुरुक्षेत्र है, जिसमें देव तथा असुर इसी प्रकार प्रतिक्षण युद्धार्थी होकर आमने-सामने खड़े रहते हैं।

सञ्जय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

तदा (उस समय), राजा दुर्योधनः (राजा दुर्योधन), व्यूढम् (व्यूह रच कर खड़ी), पाण्डवानीकम् (पाण्डवों की सेना को), दृष्ट्वा (देखकर), तु (और), आचार्यम् (द्रोणाचार्य के), उपसंगम्य (पास जाकर यह), वचनम् (वचन), अब्रवीत् (कहने लगा)।

प्रश्न 2- राजा दुर्योधन पाण्डवों की सेना की व्यूह रचना को देखकर किसके पास गया?

उत्तर- राजा दुर्योधन पाण्डवों की सेना की व्यूह रचना को देखकर अचम्भित हो गया और अपने गुरु द्रोणाचार्य के पास पहुँचा।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

आचार्य (हे आचार्य द्रोण!) तव (आपके), धीमता (बुद्धिमान्), शिष्येण (शिष्य द्वारा), द्रुपदपुत्रेण (राजा द्रुपद के पुत्र धृतराष्ट्रद्युम्न द्वारा), व्यूढाम् (व्यूह रचना में खड़ी), पाण्डुपुत्राणाम् (पाण्डु पुत्रों की), एताम् (इस), महतीम् (बड़ी भारी), चमूम् (सेना को), पश्य (देखिये)।

प्रश्न 3- दुर्योधन आचार्य द्रोण को किस की सेना की व्यूह रचना को दिखाना चाहता है?

उत्तर- दुर्योधन पाण्डवों की इस विशाल सेना को देखकर अपने आचार्य द्रोण के पास जाकर कहता है- आचार्य जी, आपके शिष्य राजा द्रुपद के पुत्र धृष्टद्युम्न (द्रोपदी का भाई) द्वारा जो पाण्डवों की सेना की व्यूह रचना की गई है, उसे आप देखें। यहाँ पर दुर्योधन धृष्टद्युम्न को बुद्धिमान् कहकर सम्बोधित करता है अर्थात् धृष्टद्युम्न को बुद्धिमान् मानता है और उसकी व्यूह रचना से अत्यधिक प्रभावित होता है।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।

अत्र (इस सेना में), महेष्वासाः (बड़े-बड़े धनुर्धारी), च (और), युधि (युद्ध में), भीमार्जुन समाः (भीम और अर्जुन के समान) शूराः (शूरवीर), युयुधानः (सात्यकि, जो कृष्ण का सारथी था), च (और), विराट (राजा विराट्), च (तथा), महारथः (बड़े रथ का स्वामी), द्रुपदः (राजा द्रुपद) विद्यमान हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।

धृष्टकेतु (चेदियों के राजा धृष्टकेतु), च (और), चेकितानः (चेकिता नाम का पाण्डव योद्धा), च (तथा), वीर्यवान् (बलवान्), काशीराज पुरुजित् (कांशी का राजा पुरुजित), कुन्तिभोज (धर्मपुत्री कुन्ती का पिता कुन्तिभोज), च (और), नरपुगंवः (मनुष्यों में श्रेष्ठ), शैब्य (शिव जाति का राजा शैब्य)।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।। ६।।

विक्रान्तः युधामन्युः (पराक्रमी राजा युधामन्यु), च (तथा), वीर्यवान् (वीर), उत्तमौजाः (राजा उत्तमौज), च (और), सौभद्र (सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु), द्रौपदेयाः (द्रौपदी के ये पांचों पुत्र), सर्वे, एव (सब, ही), महारथाः (महारथी हैं)।

प्रश्न 4- राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण को पाण्डवों के किन-किन वीरों का नाम बताते हैं ?

उत्तर- राजा दुर्योधन पाण्डवों की व्यूह रचना को देखकर पाण्डवों के इन बलवान् वीरों के नाम बताता है-

1. सात्यकि जो श्री कृष्ण का सारथी होता था 2. राजा विराट् 3. विशाल रथ का स्वामी राजा द्रुपद (द्रौपदी का पिता) 4. चेदियों के राजा धृष्टकेतु 5. चेकितान नाम का पाण्डव योद्धा 6. बलवान् काशीराज पुरुजित 7. धर्मपुत्री कुन्ती का पिता कुन्तीभोज 8. मनुष्यों में श्रेष्ठ शिव जाति का राजा शैब्य 9. पराक्रमी राजा युधामन्यु 10. वीर उत्तमौजा 11. सुभद्रा का पुत्र अभिमन्यु एवं द्रोपदी के पाँचो महारथी पाण्डवों की सेना के महारथी हैं।

यहाँ भीम और अर्जुन के समान धर्नुधारी सात्यकि, राजा विराट् और महारथी राजा द्रुपद का वर्णन दुर्योधन ने किया है। यहँ दुर्योधन इन धर्नुधारियों की तुलना भीम और अर्जुन से करके उनकी श्रेष्ठता का वर्णन करते हैं। दुर्योधन इस समय शत्रु की वीरता का वर्णन करने में किसी प्रकारकी कृपणता नहीं कर रहा है। यहाँ महारथी से तात्पर्य ऐसा धर्नुधारी जो 10 हज़ार योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करने वाले को कहा गया है तथा यहाँ महारथ का अर्थ एक विशाल रथ से भी है जो विभिन्न प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित हो।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।७।।

हे द्विजोत्तम (ब्राह्मणों में श्रेष्ठ)! अस्माकम् (हमारे पक्ष में), तु, ये (भी, जो), विशिष्टाः (विशेष गुणों के कारण मुख्य), तान् (उनको), निबोध (जान लीजिये), ते (आपकी), संज्ञार्थम् (जानकारी के लिए), मम (मेरी), सैन्यस्य (सेना के जो, जो), नायकाः (सेनापति है), तान् (उनको), ब्रवीमि (बतलाता हूं)।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।। ८।।

भवान् (आप द्रोणाचार्य), च (और), भीष्मः (भीष्म पितामह), च (और), कर्णः (कर्ण), च (और), समितिञ्जयः (संग्राम में विजय प्राप्त करने में समर्थ), कृपः (कृपाचार्य), च तथा एव (और, वैसे ही), अश्वत्थामा (द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा), विकर्णः (विकर्ण) च (और) सौमदत्तिः (सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा)।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।। ९।।

अन्य च (और भी), मदर्थे (मेरे लिए), त्यक्तजीविताः (जीवन की आशा त्याग देने वाले अर्थात् अपने जीवन की परवाह न करने वाले), बहवः (बहुत से), शूराः (शूरवीर), नानाशस्त्रप्रहरणाः (अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित), सर्वे (सब के सब), युद्ध विशारदाः (युद्ध कला में चतुर) हैं।

प्रश्न 5- दुर्योधन आचार्य गुरु द्रोण को अपने पक्ष में युद्ध करने वाले किन-किन सेनापतियों के नाम बताते हैं ?

उत्तर- दुर्योधन जब गुरु द्रोणाचार्य को पाण्डव पक्ष के सेनापतियों के नाम बता देते हैं तब अपने महारथियों के भी नामों को इस प्रकार बताते हैं-

1. आप (द्रोणाचार्य), 2. भीष्म पितामह, 3. कर्ण 4. संग्राम में विजय दिलाने में समर्थ, कृपः (कृपाचार्य), 5. अश्वत्थामा 6. विकर्ण 7. सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा तथा मेरे लिए अपने जीवन का बलिदान करने में तत्पर अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित वीर तैयार खड़े हैं।

यहाँ श्लोक संख्या ७ में दुर्योधन अपने गुरु द्रोणाचार्य के सम्मान में उन्हें द्विजोत्तम अर्थात् ब्राह्मणों में श्रेष्ठ कहता है जो उसकी अपने गुरु के प्रति श्रद्धाभाव प्रदर्शित करता है।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।। १०।।

भीष्माभिरक्षितम् (भीष्म पितामह द्वारा रक्षित), अस्माकम् (हमारी), तत् बलम् (वह सेना), अपर्याप्तम् (सब प्रकार से अजेय), तु (और), भीमाभिरक्षितम् (जिसकी रक्षा भीम कर रहे हैं), एतेषाम् (इन लोगों की), इदम् बलम् (यह सेना), पर्याप्तम् (जीतने में सुगम है)।

प्रश्न 6- दुर्योधन अपनी और पाण्डवों की सेना की किस प्रकार तुलना करते हैं ?

उत्तर- दुर्योधन आचार्य द्रोण को कहते हैं, "हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आचार्य प्रवर! हमारी सेना जिसका रक्षण भीष्म पितामह कर रहे हैं, सब प्रकार से अजेय है और बहुत अधिक है, परन्तु पाण्डवों की सेना जिसका रक्षण भीम कर रहा है वह बहुत अल्प है, परिमित है।" (क्योंकि दुर्योधन की सेना ११ अक्षोहिणी सेना थी और पाण्डवों की सेना में ७ अक्षोहिणी सेना थी।)

आचार्य (डॉ.) सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने अपने श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है, जो हमें उपयुक्त लगती है-

वैसे तो पाण्डवों की सेना का प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न था तथा कौरवों की सेना का प्रधान सेनापति द्रोणाचार्य था, परन्तु प्रधान सेनापति के साथ-साथ सेना का एक मुख्य रक्षक भी हुआ करता था। मुख्य रक्षक के तौर पर पाण्डवों की सेना का मुख्य रक्षक भीम था और कौरवों की सेना के मुख्य रक्षक भीष्म थे।

इस श्लोक में अपर्याप्त तथा पर्याप्त शब्दों के सम्बन्ध में टीकाकारों में मतभेद हैं। संस्कृत भाषा में अपर्याप्त शब्द के दो अर्थ हैं (1) अपरिमित (यह अर्थ शंकराचार्य के भाष्य के टीकाकार आनन्द गिरि का है।) (2) नाकाफ़ी है। यही अर्थ ही आजकल प्रचलित है, यह अर्थ श्रीधर स्वामी ने किया है। गीता प्रबोधिनी में स्वामी राम सुखदास जी ने भी यह भाष्य किया है- द्रोणाचार्य को चुप देखकर दुर्योधन के मन में विचार हुआ कि वास्तव में हमारी यह सेना पाण्डवों पर विजय प्राप्त करने में पर्याप्त है, क्योंकि उसके संरक्षक (उभय-पक्षपाती) भीष्म हैं, यहाँ भीष्म को उभयपक्षपाती इसलिए कहा है क्योंकि भीष्म पाण्डवों के प्रति स्नेह रखते थे, परन्तु इन पाण्डवों की सेना हम पर विजय प्राप्त करने में पर्याप्त है, समर्थ है, क्योंकि इसके संरक्षक (निज सेना पक्षपाती) भीमसेन हैं।

श्रीधर स्वामी जी का कथन है कि दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को कहा कि यद्यपि हमारी सेना के रक्षक भीष्म पितामह है, हमारी सेना बहुत बड़ी है, तब भी वह अपर्याप्त है, ना काफ़ी है, पाण्डवों की सेना का रक्षक भीम है, सेना भी थोड़ी है, परन्तु वह पर्याप्त है, काफी है। यह अर्थ इस सन्दर्भ में ठीक नहीं जँचता। दुर्योधन अहंकार से भरा हुआ था। वह कैसे कहता कि हमारी सेना नाकाफी है। इसलिए इस सन्दर्भ में पर्याप्त का अर्थ परिमित और अपर्याप्त का अर्थ अपरिमित

ही ठीक प्रतीत होता है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।। ११।।

च (इसलिये), सर्वेषु (सभी), अयनेषु (मोर्चों पर), यथाभागम् (अपने अपने भाग के अनुसार), अवस्थिता: (स्थित रहते हुए), भवन्त: (आप लोग), सर्वे, एव (सभी, ही), भीष्मम् (भीष्म पितामह की), एव (ही), अभिरक्षन्तु (सब ओर से रक्षा करें)।

प्रश्न 7- दुर्योधन ने आचार्य द्रोण एवं सभी वीरों से किस की रक्षा करने का अनुरोध किया ?

उत्तर- दुर्योधन बाह्यदृष्टि से आचार्य द्रोण एवं अपनी सेना के महारथियों से बोला- आप सब के सब लोग सभी मोर्चों पर अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हुए भी निश्चित रूप से ही भीष्म पितामह जी की चारों ओर से रक्षा करें।

यहाँ दुर्योधन इस बात से पूर्णतया परिचित था कि भीष्म पितामह ही एक ऐसे योद्धा हैं जो युद्ध की स्थिति को अच्छी प्रकार संभाल सकते हैं। यहाँ दुर्योधन का भीष्म पितामह के प्रति अत्याधिक विश्वास झलकता है। साथ में दुर्योधन इस श्लोक के माध्यम से भीष्म पितामह का मूल्यांकन आचार्य द्रोण के सेनापति न होते हुए भी बहुत अधिक आँकते हैं।

दुर्योधन ने भीष्म पितामह की रक्षा के लिए सबको क्यों कहा ? क्या भीष्म स्वयं अपनी रक्षा में समर्थ न थे। भीष्म पितामह तो महाक्रमी और अपराजेय योद्धा थे, परन्तु ऐसा दुर्योधन ने इसलिए कहा था कि द्रुपद पुत्र शिखण्डी जो कि पाण्डव सेना का योद्धा था, उसके सम्मुख भीष्म पितामह जी ने अस्त्र न उठाने की प्रतिज्ञा की थी और दुर्योधन भीष्म पितामह की शिखण्डी के आक्रमण से रक्षा के लिए सावधानी बरतना चाहते थे।

तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।। १२।।

कुरुवृद्धः (कौरवों में वृद्ध), प्रतापवान् (महाप्रतापी), पितामहः (भीष्म पितामह ने), तस्य (उस, दुर्योधन के हृदय में), हर्षम् (प्रसन्नता), सञ्जनयन् (उत्पन्न करते हुए), उच्चैः (उच्च स्वर से), सिंहनादम् (सिंह की गर्जना के समान), विनद्य (गरज कर), शंङ्खम् (शंख को) दध्मौ (बजाया)।

प्रश्न 8- भीष्म पितामह ने युद्ध की घोषणा किस प्रकार की ?

उत्तर– दुर्योधन शीघ्रता से युद्ध प्रारम्भ करना चाहता था, इसलिए दुर्योधन के हृदय में प्रसन्नता लाने के लिए कौरवों में वृद्ध भीष्म पितामह ने सिंह के समान उच्च स्वर से गर्जना करते हुए शंखनाद किया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।। १३।।

ततः (इसके पश्चात्), शंङ्खाः (शंख), च (और), भेर्यः (नगाड़े), च (और), पणवानक गोमुखाः (ढोल, मृदङ्ग और नरसिंघे आदि बाजे), सहसा, एव (एक साथ, ही), अभ्यहन्यन्तः (बज उठे), सः, शब्दः (वह, शब्द), तुमुलः (बड़ा भयंकर), अभवत् (हुआ)।

प्रश्न 9– भीष्म पितामह के शंखनाद के पश्चात् कौरव सेना ने क्या किया ?

उत्तर– भीष्म पिता के शंखनाद के पश्चात् कौरव सेना से अनेक शंख, नगाड़े, ढोल, मृदंग, नरसिंघे आदि बजने लगे और बड़ा भयंकर शब्द होने लगा जिससे युद्धस्थल गूँज उठा।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।। १४।।

ततः (इसके पश्चात्) श्वेतैः (सफेद), हयैः (घोड़ों से), युक्ते (जुड़े हुए), महति (विशाल), स्यन्दने (रथ में), स्थितै (बैठे हुए), माधवः (श्रीकृष्ण जी), च (और), पाण्डवः (अर्जुन ने), एव (भी), दिव्यौ शंखौ (अलौकिक या दिव्य गुण युक्त शंख), प्रदध्मतुः (बजाये)।

प्रश्न10– कौरव सेना के शंखनाद के पश्चात् श्रीकृष्ण तथा अर्जुन ने क्या किया ?

उत्तर– कौरव सेना की ओर से शंखनाद हो गया तो अन्तिम क्षण में सन्धि की धीमी–सी जो आशा बची थी, वह भी जाती रही। तत्पश्चात् भगवान् श्री कृष्ण जी और अर्जुन ने भी सफेद घोड़ों से सुसज्जित विशाल रथ पर बैठकर दिव्य एवं अलौकिक शंख बजाये, जिससे कौरव सेना को सन्देश दिया गया कि पाण्डव सेना भी युद्ध के लिए कटिबद्ध है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।। १५।।

हृषीकेशः (श्रीकृष्ण), पाञ्चजन्यम् (पांचजन्य नामक शंख को), धनञ्जयः (अर्जुन ने), देवदत्तम् नामक शंख को, भीमकर्मा (भयानक कर्म वाले), वृकोदरः (भेड़िये के समान उदर वाले भीम ने, क्योंकि भीम भेड़ियों के समान खाता था इसलिए उसे वृकोदर कहा गया है), पौण्ड्रम (पौण्ड्र नामक शंख), महाशङ्खम् (महाशंख को), दध्मौ (बजाया)।

प्रश्न 11– श्री कृष्ण, अर्जुन और भीम ने कौन–कौन से महाशंख बजाये ?

उत्तर– भीष्म पितामह द्वारा युद्ध की घोषणा के शंखनाद के साथ ही युद्ध की चुनौती को स्वीकार करते हुए इन्द्रियजयी श्री कृष्ण जी ने पांचजन्य, अर्जुन ने देवदत्त और शत्रुओं में भय पैदा करने वाले भीम ने पौण्ड्र नामक शंख बजाये।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठरः (कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठर ने), अनन्तविजयम् (अनन्तविजय नामक शंख), नकुलः च सहदेवः (नकुल और सहदेव ने), सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष और मणि पुष्पक नामक शंख) {दध्मौ} (बजाये)।

प्रश्न 12– युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव ने कौन–कौन से शंख बजाये ?

उत्तर– कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने अनन्त विजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नामक शंख बजाये।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।। १७।।

परमेष्वासः (श्रेष्ठ धनुष वाले), काश्यः (काशीराज), च (और), महारथः शिखण्डी (महारथी शिखण्डी), च (और), धृष्टद्युम्न (धृष्टद्युम्न), च (और), विराट (राजा विराट्), च (और), अपराजितः (अजेय पराजित न होने वाले), सात्यकिः (सात्यकि)।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।। १८।।

द्रुपद :(राजा द्रुपद), एव (और), द्रौपदेयाः (द्रोपदी के पांचों पुत्र), च (और), महाबाहुः, सौभद्रः (बड़ी भुजाओं वाले, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु), पृथिवीपते (हे राजन् धृतराष्ट्र), सर्वशः (सब ओर से), पृथक्–पृथक् (अलग–अलग), शंङ्खान् (शंखों को), {दध्मौ} (बजाया)।

प्रश्न 13– संजय ने धृतराष्ट्र को पाण्डवों के किन अन्य महारथियों के शंख बजाने की चर्चा की ?

उत्तर– संजय राजा धृतराष्ट्र को उस युद्ध क्षेत्र के निम्नलिखित पाण्डव सेना के

महारथियों के शंख ध्वनियों को बताता है:-

1. श्रेष्ठ धनुष वाले काशीराज 2. महारथी शिखण्डी 3. महारथी धृष्टद्युम्न 4. राजा विराट् 5. कभी पराजित न होने वाले महारथी सात्यकि 6. राजा द्रुपद 7. द्रोपदी के पांचों पुत्र 8. महान् भुजाओं वाले सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु। संजय ने कहा कि हे राजन्! इन सभी महारथियों ने महात्मा भीष्म पितामह के युद्ध की घोषणा का उत्तर अपने-अपने प्रिय शंख बजाकर किया।

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।। १९ ।।

च, सः (और, उस), तुमुलः, घोषः (भयानक, शब्द ने), नभः, च, पृथिवीम्, च (आकाश, और, पृथिवी को, भी), व्यनुनादयन् (गुंजाते हुए), धार्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्र के पक्ष वाले कौरव महारथियों के), हृदयानि (हृदयों को), व्यदारयत् (विदीर्ण कर दिया)।

प्रश्न 14- पाण्डव सेना की भयंकर शंखध्वनि से कौरव सेना पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर- संजय ने राजा धृतराष्ट्र को बताया- हे राजन्! जैसे ही पाण्डव महारथियों ने युद्ध की चुनौती को स्वीकार करते हुए शंख बजाये, उनसे भयानक ध्वनियाँ निकलीं। उन ध्वनियों को सुनकर कौरव पक्ष वाले महारथियों के हृदय छलनी (भयभीत)हो गये, ऐसा प्रतीत हो रहा था।

अथ व्यस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।२०।।

अथ (इसके पश्चात्), कपिध्वजः (जिसके झण्डे पर वानर का चिन्ह था), पाण्डवः (ऐसे अर्जुन ने), व्यवस्थितवान् (मोर्चा बांध कर डटे हुए), धार्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्र के पुत्र एवं सम्बंधियों को), दृष्ट्वा (देख कर), शस्त्रसम्पाते (शस्त्र चलने की तैयारी के), प्रवृत्ते (समय), धनुः (धनुष), उद्यम्य (उठाकर)।

अर्जुन उवाच

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।। २१ ।।

महीपते (हे धृतराष्ट्र राजन् !) तदा (तब उस), हृषीकेशम् (इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने वाले श्री कृष्ण जी से), इदम्, वाक्यम्, आह (यह, वचन, कहा), अच्युत (यह शब्द श्री कृष्ण के लिए अर्जुन ने प्रयुक्त किया है यहाँ अच्युत का

तात्पर्य अपने संकल्प से न डिगने वाले श्री कृष्ण जी से है।), रथम् (मेरे रथ को), उभयोः, सेनयोः (दोनों, सेनाओं के), मध्ये स्थापय (बीच में खड़ा कीजिये)।

प्रश्न 15- संजय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन की किस स्थिति को बताया ?

उत्तर- संजय ने धृतराष्ट्र से कहा- हे राजन्! इसके बाद जब चारों ओर से भयानक घोष उत्पन्न हो रहा था, शस्त्र चलाने की पूरी तैयारी हो चुकी थी, धृतराष्ट्र के पुत्र अपने-अपने मोर्चे पर खड़े थे, तब इस सब को देखकर कपिध्वज (अर्जुन के रथ के ध्वज पर कपि (वानर) की छवि अंकित होने से कपिध्वज कहा है) अर्जुन ने अपना धनुष उठाकर श्री कृष्ण जी से कहा कि हे संकल्प के धनी! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य ले जाकर खड़ा करो।

यहाँ कपिध्वज के बारे में **डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार** जी के विचार - प्राचीन काल में युद्ध की यह मर्यादा थी कि जो योद्धा जिस स्थिति का होता था, उससे उसी स्थिति का प्रतिद्वन्द्वी युद्ध करता था। इसलिए प्रत्येक योद्धा का अपना युद्ध-चिन्ह रहता था जिससे पहचाना जा सके कि उस रथ में कौन योद्धा है। इस प्रकार के चिन्हों की मर्यादा आज तक सेनाओं में चली आती है। कैप्टन, मेजर, कर्नल, ब्रिगेडियर आदि के अपने-अपने चिन्ह होते हैं, जिनसे सैनिक की सेना में रैंक पहचानी जाती है। इसी प्रकार अर्जुन के ध्वज का चिन्ह कपिध्वज (वानर) का चिन्ह था।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।२२।।

यावत् (जब तक कि), अहम् (मैं), अवस्थितवान् (युद्ध क्षेत्र में डटे हुए), योद्धुकामान् (युद्ध करने की इच्छा करने वाले), एतान् (इन विपक्षी योद्धाओं को), निरीक्षे (भली प्रकार देख लूँ कि) अस्मिन् (इस), रणसमुद्यमे (युद्ध रूपी कार्य में), मया, कैः, सह (मुझे, किन-किन के, साथ), योद्धव्यम् (युद्ध करना है)।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।२३।।

दुर्बुद्धेः (दुर्बुद्धि), धार्तराष्ट्रस्य (धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन का), युद्धे (युद्ध में), प्रिय चिकीर्षवः (हित चाहने वाले), ये एते (जो जो ये राजा लोग या महारथी), अत्र समागताः (यहाँ युद्ध क्षेत्र में आये हैं इन), योत्स्यमानान् युद्ध करने वालों

को), अहम्, अवेक्षे (मैं, देखूँगा)।

प्रश्न 16- अर्जुन श्री कृष्ण जी से अपने रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में क्यों खड़ा करना चाहता है ?

उत्तर- संजय ने धृतराष्ट्र को बताया कि अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से अपने रथ को सेनाओं के मध्य में खड़ा करने को कहा ताकि अर्जुन उन सभी कौरव सेना के महारथियों, राजाओं को देख सके। तभी अर्जुन श्री कृष्ण जी से कहता है- ''हे अच्युत! मैं उन युद्ध के लिए तैयार लोगों को देखना चाहता हूँ और यह जानना चाहता हूँ कि मुझे इस युद्ध में किन-किन लोगों से युद्ध करना है तथा मुझे यह भी पता चले कि दुर्बुद्धि दुर्योधन के पक्ष में उसका प्रिय चाहने वाले कौन-कौन लोग रणांगण में एकत्रित हुए हैं।''

सञ्जय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।। २४।।

भारत (हे धृतराष्ट्र!), गुडाकेशेन (अर्जुन द्वारा), एवम्, उक्तः (इस प्रकार, कहे हुए), हृषीकेशः (श्री कृष्ण जी ने), उभयोः, सेनयोः, मध्ये (दोनों, सेनाओं के, मध्य में), रथोत्तमम्, स्थापयित्वा (उत्तम रथ को खड़ा करके)।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।। २५।।

भीष्मद्रोण प्रमुखतः (भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने), च (तथा), सर्वेषाम् महीक्षिताम् (सम्पूर्ण राजाओं के सामने), इति, उवाच (इस प्रकार, कहा), पार्थ (हे अर्जुन!), समवेतान् (युद्ध के लिए, इकट्ठे हुए),एतान् कुरुन् पश्य (इन, कौरवों को देख)।

प्रश्न 17- संजय धृतराष्ट्र से अर्जुन के बारे में क्या बताता है ?

उत्तर- संजय धृतराष्ट्र से बोला- हे भरतवंशी राजन्! गुडाकेश अर्थात् निद्रा व तन्द्रा को जीतने वाले अर्जुन के द्वारा इस तरह कहने पर श्रीकृष्ण जी ने दोनों सेनाओं के मध्य में पितामह भीष्म और आचार्य द्रोण के सामने तथा सम्पूर्ण राजाओं के सामने श्रेष्ठ रथ को खड़ा करके इस प्रकार कहा, ''हे पार्थ (अर्जुन!)यहाँ इन युद्ध के लिए एकत्रित हुए सभी कौरवों को देखो।''

स्वामी रामसुखदास जी 'गीताप्रबोधनी' में लिखते हैं- युद्ध के लिए एकत्र हुए इन कुरुवंशियों को देख ऐसा कहने में श्रीकृष्ण जी की यह गूढ़ाभिसंधि थी

कि इन कुरुवंशियों को देखकर अर्जुन के भीतर छिपा कौटुम्बिक ममतायुक्त मोह जागृत हो जाये और मोह जागृत होने से अर्जुन जिज्ञासु बन जाए, जिससे अर्जुन का तथा उसके निमित्त से भावी मनुष्यों का भी मोह नाश करने के लिए गीता का महान् उपदेश दिया जा सके।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄध्न् पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄनपुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।२३।।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

अथ (इसके पश्चात्), पार्थः (पृथा पुत्र अर्जुन ने), तत्र (वहाँ), उभयोः एव (दोनों ही), सेनयोः, स्थितान् (सेनाओं में स्थित), पितॄन् (ताऊ-चाचाओं को), पितामहान् (दादों-परदादों को) आचार्यान् (गुरुओं को), मातुलान् (मामाओं को), भ्रातॄन् (भाईयों को), पुत्रान्-पौत्रान् (पुत्र-पौत्रों को), तथा (और), सखीन् (मित्रों को), श्वशुरान् (ससुरों को), च (और) सुहृदः (मित्र राजाओं को), अपि (भी), अपश्यत् (देखा)।

प्रश्न18- अर्जुन ने दोनों सेनाओं के किन-किन संबंधियों को देखा ?

उत्तर- उसके बाद पृथानन्दन (पृथा के पुत्र अर्जुन) ने उन दोनों ही सेनाओं में स्थित ताऊ-चाचाओं, दादा-परदादाओं, गुरुओं, मामों, मित्रों, पुत्र-पौत्रों भाईयों द्रुपद आदि श्वसुरों को तथा मित्र राजाओं को भी देखा।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।२७।।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।

तान् (उन) अवस्थितवान् (खड़े हुओं को या उपस्थित) सर्वान् बन्धून, समीक्ष्य (सभी बन्धुओं को, देखकर) सः कौन्तेयः (वह कुन्तीपुत्र अर्जुन) परया कृपया (अत्यन्त करुणा से) आविष्टः (युक्त होकर) विषीदन् (शोक करते हुए,उदास होकर) इदम्, अब्रवीत् (यह वचन, बोला)।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्। २८।।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।२९।।

कृष्णः (हे कृष्ण!) समुपस्थितम् (युद्ध क्षेत्र में डटे हुए या सामने खड़े हुओं को) , युयुत्सम् (युद्ध करने के अभिलाषी) इमम् स्वजनम् दृष्ट्वा (इस अपने लोगों को देखकर) मम, गात्राणि, सीदन्ति (मेरे, अंग, शिथिल हुए जा रहे हैं),

च, मुखम्, परिशुष्यति (और मेरा मुख सूखता जा रहा है) च मे शरीरे (और मेरे शरीर में) वेपथुः (कपकंपी) च (और) रोमहर्षः (रोमाँच या घबराहट) जायते (हो रहा है)

प्रश्न19- दोनों ओर युद्धक्षेत्र में डटे हुए स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन की क्या स्थिति हुई ?

उत्तर- दोनों ओर की सेनाओं में अपने सभी बन्धु-बान्धवों को आमने-सामने युद्ध की इच्छा लिए खड़ा देखकर अर्जुन अत्यन्त करुणा से युक्त होकर उदास होते हुए यह वचन बोला-"हे कृष्ण! युद्ध की इच्छा वाले इस कुटुम्ब समुदाय को अपने सामने उपस्थित देखकर मेरे अंग शिथिल हो रहे हैं, और मुख सूख रहा है, तथा मेरे शरीर में कंपकंपी हो रही है तथा घबराहट में मेरे रोंगटे खड़े हो रहे हैं।"

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।। ३०।।

हस्तात् (हाथ से), गाण्डीवम्, स्रंसते (गाण्डीव धनुष, गिर रहा है), च (और), त्वक्, एव, परिदह्यते (त्वचा, भी, जल रही है), च (और), मे, मनः (मेरा मन), भ्रमति, इव (भ्रमित, सा हो रहा है, चकरा रहा है), {इसलिए मैं}, अवस्थातुम् च (खड़ा रहने को भी), न शक्नोमि (समर्थ नहीं हूँ)।

प्रश्न 20- दोनों ओर युद्ध की इच्छा लिए हुए स्वजन समुदाय को देखकर अर्जुन को अपना प्रिय गाण्डीव धनुष अपने हाथ में कैसा लग रहा है ?

उत्तर- युद्ध की स्थिति को देखकर अर्जुन श्री कृष्ण जी से बोले- "भगवन्! मेरे हाथ से गाण्डीव धनुष फिसलता जा रहा है और मेरी त्वचा भी इस घबराहट में जल रही है। मेरा मन भ्रमित हो रहा है। मैं खड़े होने में भी स्वयं को असमर्थ पा रहा हूँ।"

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे। ३१।।

केशव (हे कृष्ण!), {मैं}, निमित्तानि, च (लक्षणों को, भी), विपरीतानि, पश्यामि (विपरीत ही, देख रहा हूँ), आहवे (युद्ध में), स्वजनम् (स्वजन समुदाय या अपने लोगों को), हत्वा (मारकर), श्रेयः (कल्याण), च, न (भी, नहीं), अनुपश्यामि (देखता हूँ)

प्रश्न 21- यहाँ अर्जुन युद्ध के किस परिणाम का वर्णन कर रहा है ?

उत्तर- यहाँ अर्जुन अपने लोगों को युद्ध में देखकर चाहे वे अपने पक्ष में है या दुर्योधन के पक्ष में, उनकी हत्या का विचार आते ही अपने अंगों में शिथिलता, मुख का सूखना, शरीर में कंपकंपी होना, घबराहट होना गांडीव धनुष का फिसलना, शरीर में जलन होना और मन के विचलित होने के विपरीत लक्षणों को देखकर श्री कृष्ण जी से कहने लगे-"हे केशव! इस प्रकार मुझे सभी लक्षण विपरीत दीख रहे हैं। मैं क्या करूँ? मुझे इन स्वजनों को युद्ध में मार कर कल्याण दिखाई नहीं दे रहा।"

नकाङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।। ३२।।

कृष्ण (हे कृष्ण! मैं), न विजयम् काङ्क्षे (न तो विजय चाहता हूँ), च न राज्यम् (और न ही राज्य चाहता हूँ), च सुखानि (और सुखों को भी नहीं चाहता हूँ), गोविन्द (हे इन्द्रयजयी कृष्ण), नः, राज्येन, किम् (हमें, ऐसे राज्य से, क्या प्रयोजन है ?), वा भोगैः (अथवा, ऐसे भोगों से और), जीवितेन किम् (जीवन से भी), क्या लाभ है ?

प्रश्न 22- अर्जुन को इस युद्ध से जो प्राप्त होना है उसको वह निरर्थक क्यों मानता है ?

उत्तर- अर्जुन कृष्ण को युद्ध के परिणामों के बारे में बताता है कि "इस युद्ध को जीत लिये जाने पर भी, राज्य मिल जाने पर भी, मैं ऐसे राज्य का क्या करूँगा ? वह कहता है, "हे कृष्ण! मैं न तो विजय चाहता हूँ, न राज्य चाहता हूँ और न ही सुखों को ही चाहता हूँ। हे गोविन्द! हम लोगों को ऐसे राज्य से क्या लाभ ?"

अर्जुन यहाँ पर कहना चाहता है कि युद्ध में कुटुम्बियों को मार कर हम राज्य के सुख भोगते हुए कितने ही वर्ष जीते रहें, पर उससे भी हमें क्या लाभ ? राज्य भोग सुख तो कुटुम्ब के लिए होते हैं, पर जब ये ही मर जायेंगे, तब इनको कौन भोगेगा ?

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।३३।।

नः, येषाम्, अर्थे (हमें, जिनके, लिए) राज्यम्, भोगाः, च, सुखानि काङ्क्षितम् (राज्य, भोग और सुखादि, अभीष्ट हैं), ते (वे ही) इमे (ये सब), धनानि, च, (धन, और) प्राणान् (जीवन की आशा को), त्यक्त्वा (त्यागकर), युद्धे

अवस्थिताः (युद्ध में खड़े हैं।)

प्रश्न 23- अर्जुन युद्ध में विजय क्यों नहीं चाहते हैं?

उत्तर- अर्जुन इस युद्ध के परिणाम को यह जानकर कि विजय होगी, परन्तु फिर भी युद्ध में विजय इसलिए नहीं चाहते हैं, क्योंकि 'जिनके लिए हमारी राज्य, भोग और सुख की इच्छा है' जब वे ही अपने प्राणों और धन की आशा त्याग कर युद्ध में खड़े हैं, जब उन्हें प्राणों का मोह ही नहीं है, जब वे ही मर जायेंगे, तो ऐसी विजय को अर्जुन निरर्थक मानते हैं।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा।।३४।।

आचार्याः (गुरुजन), पितरः (ताऊ-चाचे), पुत्राः (पुत्र), च तथा एव (और उसी प्रकार), मातुलाः, श्वशुराः (मामे, ससुर), पौत्राः (पौत्र), श्यालाः (साले), तथा संबंधिनः (तथा और भी संबंधी लोग हैं)।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।३५।।

मधुसूदन (मधु नामक राक्षस को मारने वाले हे मधुसूदन, हे कृष्ण!), घ्नतः, अपि (मारे जाने पर भी), त्रैलोक्यराज्यस्य (तीनों लोगों में राज्य के), हेतोः, अपि (लिए भी, मैं) एतान् (इन सबको), हन्तुम्, न, इच्छामि (मारना, नहीं, चाहता, फिर), महीकृते, नु, किम् (पृथ्वी के लिए, तो), कहना ही क्या है?

प्रश्न 24- अर्जुन किन-किन संबंधियों की चर्चा करके उन्हें क्यों नहीं मारना चाहता?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से कहते है- "हे मधुसूदन! (मधु नामक राक्षस को मारने के कारण आप का सार्थक नाम मधुसूदन है) आचार्य, पिता, पुत्र, पितामह, मामे, ससुर, पौत्र, साले तथा अन्य जितने भी संबंधी हैं, मुझ पर प्रहार करने पर भी मैं इनको मारना नहीं चाहता। मुझे त्रिलोकी का राज्य भी मिलता हो तो भी मैं इनको मारना नहीं चाहता, फिर केवल इस पृथ्वी के लिए ही मैं इनको क्यों मारूँ।"

यहाँ अर्जुन श्री कृष्णजी को मधुसूदन कह कर यह बताना चाहते हैं कि आपने तो मधु नामक दैत्य को मारा था, परन्तु ये सम्बन्धी तो दैत्य नही हैं। इसलिए इनको मारना मैं नहीं चाहता क्योंकि संबंधियों की रक्षा की जाती है, उनकी हत्या नहीं की जाती।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।। ३६।।

जनार्दन (हे जनार्दन!), धार्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्र के पुत्रों को), निहत्य (मारकर), नः, का, प्रीति, स्यात् (हमें, क्या, प्रसन्नता, होगी), एतान् आततायिनः, हत्वा (इन, आततायियों को, मारकर तो), अस्मान् (हमें), पापम्, एव, आश्रयेत् (पाप, ही, लगेगा)।

प्रश्न 25- दुर्योधन आदि को आततायी मानने पर भी अर्जुन क्यों नहीं मारना चाहता था?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से कहते हैं - "हे जनार्दन! मैं मानता हूँ कि धृतराष्ट्र के पुत्र आततायी हैं। परन्तु इन सभी सम्बन्धियों को मारकर क्या हमें प्रसन्नता होगी। आततायी होने पर भी वह संबंधी होने के कारण वध योग्य नहीं हैं।"

मेरी अपनी धारणा है कि आततायी को अवश्य मारना चाहिए क्योंकि आततायी के जो लक्षण वसिष्ठ स्मृति ३-१६ में बताये गये हैं वे सब दुर्योधनादि पर पूरे उतरते हैं, जैसे घर में आग लगाना (कौरवों ने पाण्डवों को समाप्त करने के लिए लाक्षागृह की योजना बनाई) 2. विष देना (भीम को विष दिया गया)। 3. हाथ में शस्त्र लेकर मारने को तैयार रहना- पाण्डवों को सदैव शस्त्रों से मारने का षड्यन्त्र किया गया। 4-5. धन और राज्य को हड़पना (द्यूत क्रिया के माध्यम से पाण्डवों का धन तथा राज्य छीन लिया) 6. स्त्री का हरण या अपमान-(द्रोपदी को भरी सभा में अपमानित किया गया) ये सब लक्षण धृतराष्ट्र के पुत्रों को आततायी सिद्ध करते हैं। इसलिए वे वध योग्य हैं।

यह सब कुछ जानते हुए भी अर्जुन परिवारजनों के मोह में आकर उन्हें आततायी मानते हुए भी उनके विरुद्ध शस्त्र उठाने में संकोच कर रहे हैं।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम् माधव।। ३७।।

तस्मात् (अतएव), माधव (हे माधव!), स्वबान्धवान् (अपने सम्बन्धियों को), हन्तुम् (मारने के लिए), वयम्, न, अर्हाः (हम, योग्य, नहीं है), हि (क्योंकि), स्वजनम् हत्वा (अपने ही कुटुम्ब को, मार कर, हम), कथम्, सुखिनः, स्याम् (कैसे, सुखी, होंगे?)

प्रश्न 26- अर्जुन आपने आप को असमर्थ कैसे अनुभव कर रहा हूँ?

उत्तर- अर्जुन इतना मोहग्रस्त हो रहा है कि वह अपनी असमर्थता इस प्रकार

प्रकट कर रहा है। हे माधव! अपने सम्बन्धी धृतराष्ट्र के इन पुत्रों को मारना मेरे लिए उचित नहीं है अर्थात् मैं अपने आप को इनके मारने में असमर्थ पा रहा हूँ। अपने ही जनों को मार कर हम कैसे सुखी अनुभव कर सकते हैं? अर्जुन की इस मोहजनित स्थिति के कारण अपने क्षत्रियोचित कर्तव्य की ओर उसकी दृष्टि नहीं जा रही है। कारण कि जहाँ मोह होता है वहाँ मनुष्य का विवेक दब जाता है। मोह के प्रबल होने से अपने कर्तव्य का स्पष्ट भान नहीं होता।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।। ३८।।

यद्यपि (यद्यपि) लोभोपहतचेतसः, एते (लोभ से मारा गया है चित्त जिनका, ऐसे लोग), कुलक्षयकृतम्, दोषम् (कुल के नाश से उत्पन्न, दोष को), च (और), मित्रद्रोहे, पातकम् (मित्रों से द्रोह, विरोध, करने में, पाप को), न, पश्यन्ति (नहीं, देखते हैं।)

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।। ३९।।

जनार्दन (हे जनार्दन!), कुलक्षयकृतम्, दोषम् (कुल के नाश से उत्पन्न, दोष को), प्रपश्यद्भिः, अस्माभिः (जानने वाले, हम लोगों को), अस्मात्, पापात्, निवर्तितुम् (इस, पाप से, हटने के लिए), कथम्, न, ज्ञेयम् (क्यों, नहीं, विचार करना चाहिये)?

प्रश्न 27- अर्जुन इस युद्ध से कुल के नाश से बचने की क्या युक्ति देता है?

उत्तर- अर्जुन मोह के कारण कई प्रकार की युक्तियां युद्ध से बचने की दे रहा है, परन्तु यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि जैसे अर्जुन के लिए दुर्योधनादि स्वजन हैं ऐसे ही दुर्योधन आदि के लिए अर्जुन आदि भी तो स्वजन है। स्वजन की दृष्टि से अर्जुन तो युद्ध से निवृत्त होने की बात सोच रहे हैं, परन्तु दुर्योधन आदि इस युद्ध से निवृत्त होने की बात क्यों नहीं सोच रहे? इसका कारण है दुर्योधन में लोभवृत्ति का होना। यहाँ अर्जुन श्री कृष्ण से कह रहे हैं, ''हे जर्नादन! यद्यपि लोभ के कारण जिनका विवेक-विचार लुप्त हो गया है, ऐसे ये दुर्योधन आदि कुल का नाश करने से होने वाले दोष को और मित्रों के साथ द्वेष करने से होने वाले पाप को नहीं देखते, परन्तु हम तो कुल का नाश करने वाले दोष को ठीक-ठीक जानने वाले इस पाप से निवृत्त होने का विचार क्यों न करें?

अर्थात् युद्ध न करने का निर्णय क्यों न लें?''

यहाँ अर्जुन की दृष्टि दुर्योधन आदि के लोभ की ओर तो जा रही है, परन्तु यह भी सत्य है कि अर्जुन स्वयं कौटुम्बिक मोह से आबद्ध होकर बोल रहे हैं, इस ओर उनकी दृष्टि नहीं जा रही है। इस कारण अर्जुन अपने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य को नहीं समझ पा रहे हैं। उन्हें दूसरों की लोभ प्रवृत्ति तो दिखती है, परन्तु अपनी मोह जन्य स्थिति से वह आँखे मूंद रहा है। दूसरों के दोष तो उसे दिख रहे हैं, परन्तु अपने दोष उसे दिखाई नहीं दे रहे। दूसरे के दोष देखना और अपनी अच्छाई का अभिमान करना - ये दोनों दोष साथ-साथ रहते हैं। अतः अर्जुन को दूसरों के लोभ रूपी दोष को देखने की अपेक्षा अपने मोह रूपी दोष को भी देखकर उसके निवारण हेतु युद्ध करने का निर्णय लेना चाहिये।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।। ४०।।

कुलक्षये (कुल के नाश होने से), सनातनाः (पुरानी), कुलधर्माः, प्रणश्यन्ति (कुल की परम्परायें, नष्ट हो जाती हैं), धर्मे, नष्टे (धर्म के, नाश हो जाने पर), कृत्स्नम्, कुलम् (सम्पूर्ण, कुल में), अधर्मः उत, अभिभवति (अधर्म भी, बहुत फैल जाता है),

प्रश्न 28- कुल के नाश होने से क्या हानि है?

उत्तर- अर्जुन इस युद्ध में कुल के सम्भावित नाश को देखकर उसकी हानि के बारे में विचार करते हुए कह रहा है- ''हे कृष्ण! कुल के क्षय हो जाने पर कुल की प्राचीन परम्परायें व मर्यादायें सब नष्ट हो जाती हैं। इनके नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुटुम्ब में, सम्पूर्ण समाज में अधर्म का बोलबाला हो जाता है।''

यहाँ कुल का अर्थ परिवार ही नहीं है, अपना निकट का सारा समुदाय भी है, जिसमें परिवार तो केवल एक इकाई है। यहाँ अर्जुन का यह कथन है कि हम इस युद्ध में अपने परिवार का तो नाश कर ही रहे हैं, अपने सारे निकट के सामाजिक-समुदाय का भी नाश कर रहे हैं, परन्तु जब कुल का क्षय हो जाता है तब सदा से रहने वाली परम्परायें, मर्यादायें नष्ट हो जाती हैं और इनके नष्ट होने से सम्पूर्ण समुदाय को अधर्म दबा लेता है और समाज में कई प्रकार की कुरीतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, अतः कुल को क्षय से बचाने और अधर्म से बचने का उपाय केवल युद्ध न करना ही अर्जुन बताना चाह रहे हैं।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्‌करः।। ४१।।

कृष्ण (हे कृष्ण!), अधर्माभिभवात्, कुलस्त्रियः (पाप के अधिक बढ़ जाने से, कुल की स्त्रियाँ), प्रदुष्यन्ति (बिगड़, भ्रष्ट हो जाती हैं), हे वार्ष्णेय (वृष्णि वंश से उत्पन्न होने से श्री कृष्ण जी को वार्ष्णेय भी कहा जाता है), स्त्रीषु, दुष्टासु (स्त्रियों के, बिगड़ जाने पर), वर्णसंकर, जायते (वर्णसंकर उत्पन्न हो जाते हैं)।

प्रश्न 29- अधर्म के बोलबाले या पाप के अधिक बढ़ जाने पर क्या हानि है?

उत्तर- अर्जुन यहाँ श्री कृष्ण जी से यह कह रहे हैं- ''हे कृष्ण! जब कुल का क्षय होगा, अधर्म बढ़ेगा, पाप बढ़ेगा तो कुटुम्ब तथा समाज की स्त्रियाँ बिगड़ जायेंगी, जब स्त्रियाँ बिगड़ जायेगी तो वर्ण-संकर सन्तानें उत्पन्न होंगी और हमारी उत्तम मर्यादाओं का नाश हो जायेगा, इसलिए युद्ध न करना ही समाज के क्षय को रोक सकता है।

सङ्‌करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक क्रियाः।। ४२।।

संङ्करः (वर्णसंकरता), कुलघ्नानाम् (कुल को नष्ट करने वालों के), कुलस्य (कुल को), नरकाय, एव (नरक में ले जाने के लिए ही, होता है), लुप्तपिण्डोदक (लुप्त हुई पिण्ड और जल की क्रियाः (क्रिया वाले) एषाम्, पितरः (इनके पितर लोग यहाँ पितर से तात्पर्य जीवित माता-पिता, विद्वान आदि से है न कि मरे हुए लोगों के लिए), हि (भी), पतन्ति (अधोगति को प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 30- अर्जुन श्री कृष्ण जी को वर्णसंकरता की किन हानियों की चर्चा कर रहा है?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्णजी से कह रहे हैं, ''हे कृष्ण! अधर्म बढ़ने से स्त्रियाँ बिगड़ जायेंगी, वर्ण संकरता हो जायेगी और यह वर्ण संकरता कुल नष्ट करने वालों और कुल - दोनों को निश्चय ही नरक में ले जाती हैं, क्योंकि इनके पितरों (जीवित माता-पिता, विद्वान् अतिथि, वृद्ध) सभी को दाना-पानी देने वाला कोई नहीं बचता, तो वे बेचारे जीवन में ही नरक भोगने लगते हैं। यहाँ नरक से तात्पर्य जीते जी, दु:खी होना है, क्योंकि स्वर्ग और नरक कहीं और नहीं बल्कि यहीं हैं।

इस श्लोक में वर्णसंकर शब्द आया है। आजकल वर्ण व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था को एक ही समझ कर इस व्यवस्था की आलोचना की जाती है। यदि वर्णव्यव्था वही कुछ है जो जात-पात के नाम से जानी जाती है तो यह आलोचना ठीक ही है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। आजकल की जाति व्यवस्था प्राचीन काल की वर्ण व्यवस्था का विकृत रूप है। वर्ण व्यवस्था का शुद्ध रूप है- जो व्यक्ति जिस योग्यता का हो, वह उसी कार्य को करे- यह वर्ण व्यवस्था है। यह जन्मना न होकर कर्मणा होनी चाहिये और यदि कोई जिस योग्यता का न हो और वह इस कार्य को करने लगे तो यह वर्ण- संकरता है। डॉक्टर पुल बनाने और इन्जीनियर रोगियों को देखने लगे- यह वर्ण संकरता है और इस प्रकार की संकरता जिस समाज में फैल जाती है, वह नरक में जा पड़ता है।

इस श्लोक में 'लुप्त पिण्डोदक क्रिया' का कुछ पौराणिक व्यक्ति यह अर्थ करते हैं कि जब वर्ण संकरता फैलती है तो कुल नष्ट हो जाते हैं। कुल के पितरों के तर्पण की जो परम्परा होती है, वह नष्ट हो जाती है। यहाँ वे पितरों से अर्थ मरे हुए लोगों से लेते हैं जो उचित नहीं है। आज का प्रगतिशील समाज ऐसे पाखण्ड को नहीं मानता। इसका उचित अर्थ है कि जब परम्परायें लुप्त हो जाती हैं तो उस समाज में बड़े-बूढ़ों की पिण्ड (अन्न) और उदक (जल) भोजन-पानी के लिए कोई नहीं पूछता। इस प्रकार वर्णव्यवस्था और आश्रम व्यवस्था दोनों पतित हो जाती हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।। ४३।।

एतैः (इन)] वर्णसंकरकारकैः (वर्णसंकरता उत्पन्न करने वाले), दोषैः (दोषों से), कुलघ्नानाम् (कुल का हनन करने वाले लोगों के) शाश्वताः (सदा से चले आ रहे), कुलधर्माः (कुल-धर्म), च (और), जातिधर्माः (जाति-धर्म), उत्साद्यन्ते (नष्ट हो जाते हैं)।

प्रश्न 31- वर्णसंकरता से और क्या हानि है?

उत्तर- परस्पर विरुद्ध धर्मों का मिश्रण होकर जो बनता है उसको संकर कहते हैं। जब कर्तव्य का पालन नहीं होता, तब धर्मसंकर, वर्णसंकर जातिसंकर, कुलसंकर, वेशसंकर, भाषासंकर, आहारसंकर आदि अनेक संकर दोष आ जाते हैं। यहाँ तात्पर्य वर्ण संकर से है। इस प्रकार के वर्णसंकर उत्पन्न करने वाले कुलघाती लोगों के दोष से सदा से चले आ रहे जाति-धर्म और कुल धर्म नष्ट हो

जाते हैं।

कुल धर्म और जाति धर्म क्या है ? एक ही जाति में एक कुल की जो अपनी अलग-अलग परम्पराएँ, मर्यादाएँ, आचरण हैं, वे सभी उस कुल के कुलधर्म कहलाते हैं। एक ही जाति के सम्पूर्ण कुलों के समुदाय को लेकर जो धर्म कहे जाते हैं, वे सभी जाति-धर्म, वर्ण-धर्म कहलाते हैं। इन कुलधर्मों और जाति-धर्मों का आचरण न होने से यह धर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।। ४४।।

जनार्दन (हे जर्नादन!), उत्सन्नकुल धर्माणाम् (जिनका कुल धर्म नष्ट हो गया है ऐसे), मनुष्याणाम् (मनुष्यों का), नियतम् (निश्चित रूप से), नरके वासः भवति (नरक में, वास होता है), इति (ऐसा हम) अनुशुश्रुम (सुनते आये हैं)।

प्रश्न 32- कुल-धर्म के नष्ट हो जाने पर क्या होता है ?

उत्तर- यहाँ पर अर्जुन बहुत ही असंमजस में है। उसे पता है कि युद्ध की स्थिति में सारी परम्परायें, मर्यादायें टूट जायेंगी, अधर्म का बोलबाला हो जायेगा। समाज की स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जायेगी, वर्ण संकर संतानें उत्पन्न होंगी। बड़े-बूढ़ों का जीवन नरकमय हो जायेगा। यह निश्चित है। यह बात आप्त लोगों से सुनते आये हैं कि जिन मनुष्यों के कुल धर्म, कुल की मर्यादायें, परम्परायें कुल की संस्कृति नष्ट हो जाती है, वे मनुष्य समाज- चाहे वे जाति-रूप में हों या राष्ट्र-रूप में उन सब जातियों और राष्ट्रों का जीवन सदा दुःखमय होने के कारण सदा नरकमय बना रहता है।

इस श्लोक से स्पष्ट है कि स्वर्ग और नरक किसी और लोक में नहीं बल्कि यहीं पर ही है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।। ४५।।

अहो (हा!), बत (शोक!), वयम् (हम लोग, बुद्धिमान् होकर भी), महत्, पापम्, कर्तुम् (महान्, पाप, करने को), व्यवसिताः (तैयार हो गये हैं), यत् (जो), राज्यसुखलोभेन (राज्य और सुख के लोभ से), स्वजनम्, हन्तुम्, उद्यताः (अपने ही, लोगों को, मारने के लिए उद्यत हो गये हैं)।

प्रश्न 33- युद्ध में होने वाली अनर्थ परम्परा का स्वयं अर्जुन पर क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर- यहाँ पर अर्जुन अपनों के साथ युद्ध करने को कितना दुःखमय मानता है तभी तो कह उठता है- ''हे जर्नादन! यह बड़े आश्चर्य और खेद की बात है कि हम लोग बड़ा भारी पाप करने का निश्चय कर बैठे हैं कि जो राज्य और सुख के लोभ से अपने ही लोगों को मारने के लिए तैयार बैठे हैं।''

यहाँ अर्जुन यह मानता है कि ये दुर्योधन आदि दुष्ट हैं। इनकी धर्म पर दृष्टि नहीं है। इन पर लोभ सवार हो गया है। इसलिए ये युद्ध के लिए तैयार हो जायें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परन्तु हम लोग तो धर्म-अधर्म, कर्तव्य-अकर्तव्य, पाप-पुण्य, को अच्छी प्रकार जानने वाले हैं। ऐसे जानकार होते हुए भी अनजान (अज्ञानी) मनुष्यों की तरह हम लोगों ने बड़े भारी पाप करने का निश्चय (विचार) कर लिया है। इतना ही नहीं, युद्ध में अपने स्वजनों को मारने के लिए अस्त्र-शस्त्र लेकर तैयार बैठे हैं। यह हम लोगों के लिए बड़े भारी आश्चर्य और खेद की बात है अर्थात् सर्वथा अनुचित है।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।। ४६ ।।

यदि, माम् (यदि, मुझ), अशस्त्रम् (शस्त्र रहित, एवं), अप्रतीकारम् (सामना न करने वाले को), शस्त्रपाणयः (शस्त्र हाथ में लिए हुए), धार्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्र के पुत्र), रणे, हन्युः (रण में, मार डाले, तो), तत् (वह, मारना भी), मे (मेरे लिए), क्षेमतरम्, भवेत् (अधिक कल्याणकारक, होगा)।

प्रश्न 34- आश्चर्य और खेद में निमग्न हुए अर्जुन अपने तर्कों का स्वयं क्या अन्तिम निर्णय लेता हैं ?

उत्तर- युद्ध के परिणामों पर विचार करते-करते आश्चर्य और खेद में निमग्न होकर अर्जुन यह अन्तिम निर्णय लेता है। वह कहता है, ''हे कृष्ण! मैं चाहता हूँ कि मैं शस्त्र रहित हो जाऊँ, दुर्योधन आदि का विरोध न करूँ और उस समय शस्त्र उठाकर दुर्योधन आदि मुझे मार भी डालें तो भी मेरे लिए यह कल्याणकारी होगा।''

इस श्लोक की बहुत सुन्दर व्याख्या स्वामी रामसुख दास जी ने अपनी पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता (साधक संजीवनी) में की है- अर्जुन कहते हैं, ''हे जर्नादन! यदि मैं युद्ध में अस्त्र-शस्त्र नहीं उठाता, दुर्योधन आदि का सामना नहीं करता तो यह संभव है कि दुर्योधन आदि भी युद्ध से निवृत्त हो जायेंगे। कारण कि हम लोग कुछ चाहेंगे ही नहीं, लड़ेंगे ही नहीं, तो फिर ये लोग युद्ध क्यों

करेंगे ? परन्तु कदाचित उत्साह से भरे हुए तथा हाथों में शस्त्र धारण किये हुए धृतराष्ट्र के पक्ष के लोग सदा के लिए हमारे रास्ते का काँटा निकल जाए, वैरी समाप्त हो जाए– ऐसा विचार करके सामना न करने वाले, शस्त्र रहित मुझ को मार भी दें, तो उनका यह मारना मेरे लिए हितकर होगा। कारण कि मैंने युद्ध में गुरुजनों को मारने का बड़ा भारी पाप करने का जो निश्चय किया था, उस निश्चय रूप पाप का प्रायश्चित्त हो जायेगा। उस पाप से मैं शुद्ध हो जाऊँगा और कुल का नाश भी नहीं होगा।''

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।। ४७।।

संङ्ख्ये (रणभूमि में), शोकसंविग्नमानसः (शोक से उद्विग्न, व्याकुल मन वाला), अर्जुनः (अर्जुन), एवम्, उक्त्वा (इस प्रकार, कहकर), सशरं, चापं (बाण सहित, धनुष को), विसृज्य (त्यागकर), रथोपस्थे (रथ के पिछले भाग में), उपाविशत् (बैठ गया)।

प्रश्न 35– संजय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन की किस स्थिति से अवगत कराया ?

उत्तर– प्रथम अध्याय के अंतिम श्लोक में अर्जुन की व्याकुलता के सम्बन्ध में संजय ने धृतराष्ट्र को इस प्रकार बताया, ''हे धृतराष्ट ! अर्जुन अपने संबंधियों को युद्ध क्षेत्र में देखकर और उनके मारे जाने की कल्पना एवं दुष्परिणामों पर विचार करके उद्विग्न हो गया। अर्जुन इस समय रणभूमि में धनुष–बाण त्याग कर शोक से व्याकुल मन वाला होकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया (युद्ध में रथी के खड़े रहकर ही युद्ध करने की प्रणाली थी)। यह श्रीकृष्ण जी के लिए स्पष्ट संकेत था कि मोहग्रस्त अर्जुन स्वजनों की हत्या की संभावना से व्याकुल होकर शोक विह्वल हो युद्ध से विरत हो गया है।

सारांशः – गीता का स्थान उपनिषद् के समान है। जैसे उपनिषद् में ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन है वैसे गीता में भी ब्रह्म विद्या का प्रतिपादन है। ब्रह्म विद्या का वर्णन योगशास्त्र में किया जाता है, इसलिए गीता जैसे उपनिषद् के समान है वैसे यह योग शास्त्र के समान भी है। गीता में ब्रह्मविद्या और योगशास्त्र की चर्चा श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद में है। इस संवाद में अर्जुन के विषाद का, उसके शोकनिमग्न हो जाने का वर्णन है– इसलिए इसे अर्जुन–विषाद–योग कहा गया है। विषाद या शोक भी योग के लिए मनुष्य को तैयार करता है,

क्योंकि विशाद की मनोदशा में मनुष्य एक प्रकार की मानसिक दशा को छोड़ रहा होता है और दूसरे प्रकार की मानसिक दशा के लिए तैयार हो रहा होता है।

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का संवाद मानव–जीवन में चल रहे प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का प्रतीक है। यही वही अन्तर्द्वन्द्व है जिसे उपनिषद्‌कार ऋषियों ने दैवासुर–संग्राम के नाम से कहा है। एक ओर जहाँ धर्म और कर्तव्यनिष्ठा है वहाँ दूसरी ओर अधर्म तथा मोहमायाजाल है। आन्तरिक संघर्ष के ऐसे समय में मनुष्य की आत्मा दुर्बल पड़ जाती है। अर्जुन की तरह उसके हाथ से धनुष–बाण छूटने लगते हैं और उस निराशा की स्थिति में व्यक्ति अपनी निर्बलता छिपाने के लिए मोह–माया की फँसावट को उच्च आदर्शों का जामा पहनाने लगता है, ठीक यही स्थिति यहाँ पर अर्जुन की है। जिस अर्जुन ने अन्य युद्धों में न जाने कितने लोगों को मारा होगा परन्तु आज वही अर्जुन अपने सम्बंधियों के मोह में पड़कर युद्ध के विरोध में कई प्रकार के तर्क दे रहा है। यह तो वैसे हुआ जैसे एक न्यायाधीश न जाने कितने अपराधियों को मृत्यु का दण्ड दे चुका हो, परन्तु जब उसका अपना पुत्र एक अपराधी के रूप उसके सामने आता है तो वही न्यायाधीश मोह जाल में फँस कर मृत्यु दण्ड के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करने लगता है।

अर्जुन ने भी जब शोकाविष्ट होकर २८वें श्लोक से बोलना प्रारम्भ किया तब वह इतना शोकाविष्ट नहीं था जितना वह अब है। पहले अर्जुन युद्ध से उपरत नहीं हुए पर शोकाविष्ट होकर बोलते–बोलते अन्त में युद्ध से उपरत हो जाते हैं। बाण सहित धनुष का त्याग कर रथ के मध्य में बैठ जाते हैं। श्री कृष्ण जी ने यह सोचा कि अर्जुन के बोलने का वेग निकल जाये तो मैं बोलूँ अर्थात् बोलने से अर्जुन का शोक बाहर आ जाये। भीतर में कोई शोक बाकी न रहे। तभी मेरे वचनों का प्रभाव होगा। अत: श्री कृष्ण जी बीच में कुछ नहीं बोले।

श्रीकृष्ण जी ने क्या किया ? उन्होंने अर्जुन की दुविधा के मूल कारण मोह को काट दिया, क्योंकि मोह के कारण ही तो हम सब दुविधा में पड़े रहते हैं। मोह–शब्द का अर्थ है मन की वह अवस्था जिसमें मनुष्य में विवेक न रहे। अर्जुन ने विवेक खो दिया। ऐसे ही क्षण हमारे जीवन में प्रतिदिन आते रहते हैं। इसके लिए हमें भी अर्जुन जैसा ऋजु (सरल) होना होगा। मन में जो दुविधा हो अपने मित्र, गुरु पथ प्रदर्शक को,अर्जुन की तरह बेखटके कह देना चाहिए। जो अर्जुन जैसा सरल शिष्य बन जाता है, उसे ही श्री कृष्ण जैसा मित्र, गुरु पथ

प्रदर्शक मिल जाता है। तभी हमारे मोह रूपी अज्ञान का निवारण हो सकता है।

भगवद् गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्रीकृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का अर्जुन-विषाद-योग नामक यह प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

अथद्वितीयोऽध्यायः
साँख्य-योग

जब भी मनुष्य अपने जीवन में अपनी परिस्थितियों से अपनी विवशताओं से बँध जाये तो निराशा का जन्म होता है। निराशा हमारे सामर्थ्य को तोड़ती है। निराशा जब भी आयेगी हमारी ऊर्जा शक्ति काम नहीं करेगी। निराशा का प्रभाव सदैव हमारी बुद्धि पर होता है, हम समझ नहीं पाते कि क्या करें और क्या न करें? निराशा हमें दिग्भ्रमित करते हुए हमें एक अज्ञात चौराहे पर खड़ा कर देगी।

अर्जुन की दशा भी ऐसी है। निराशा से ग्रस्त अर्जुन कई प्रकार के तर्क देता हुआ योगेश्वर श्रीकृष्ण जी के सम्मुख तर्कों का एक विषद जाल फैला देता है- 'युद्ध होगा, वीर मरेंगे, स्त्रियाँ विधवा होंगी, स्त्रियाँ पथ-भ्रष्ट होंगी, वर्णसंकर सन्तानें होंगी, वर्णाश्रम की मर्यादायें टूटेंगी, युद्ध भयंकर है, न किया जाये तो अच्छा है। इस रक्तपात से युक्त सिंहासन मुझे नहीं चाहिये।' वह युद्ध के क्षात्र धर्म से बचना चाहता है भले ही कुरुपुत्र दुर्योधन उसका वध कर दे और निराशा से भरा हुआ अपने धनुष और बाण सहित रथ के मध्य में बैठ जाता है। अर्जुन के मन में यह एक तात्कालिक प्रभाव था। व्यक्ति सदैव कर्तव्य पथ से दूर भागने का प्रयास करता है। इस निराशा भरे वातावरण में द्वितीय अध्याय जिसे विद्वानों ने साँख्य योग कहा है, प्रारम्भ होता है।

इस अध्याय के प्रधान विषयः-

1. अर्जुन की कायरता के संबंध में श्री कृष्ण अर्जुन का संवाद (श्लोक संख्या 1 से 10)।

2. साँख्य योग का विषय (श्लोक संख्या 11 से 30)।

3. क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का विवरण (श्लोक संख्या 31 से 38)।

4. निष्काम कर्मयोग का विषय (श्लोक संख्या 34 से 53)।

5. स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण (श्लोक संख्या 54 से 72)।

सञ्जय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।। १।।

तथा (इस प्रकार), कृपयाविष्टम् (करुणा से भरे हुए), अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् (आँसुओं से भरे और व्याकुल नेत्रों वाले), विषीदन्तम् (शोकयुक्त), तम् (उस, अर्जुन के प्रति) मधुसूदनः (श्रीकृष्ण जी ने), इदम्, वाक्यम्, उवाच (यह, वचन, कहा)।

प्रश्न 1- संजय ने धृतराष्ट्र से अर्जुन के विषाद का किस प्रकार वर्णन किया?

उत्तर- संजय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन के विषाद की स्थिति इस प्रकार बताई, ''हे राजन्! अर्जुन इस समय दीनभाव से परिपूर्ण है। उसकी आँखें आँसुओं से भरी हुई हैं। इस कारण अर्जुन की आँखों में स्पष्टतः व्याकुलता देखी जा सकती है।'' इस प्रकार अर्जुन को दुःखी देखकर मधुसूदन श्री कृष्ण जी अर्जुन से बोले।

श्री कृष्ण उवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। २।।

अर्जुन (हे अर्जुन!) त्वा (तुझे, इस), विषमे (असमय में), इदम्, कश्मलम् कुतः, समुपस्थितम् (यह, मोह, कलंक किस हेतु से उपस्थित हुआ, क्योंकि), अनार्यजुष्टम् (न तो यह भ्रष्ट पुरुषों द्वारा आचारित है), अस्वर्ग्यम् (न स्वर्ग को देने वाला है और), अकीर्तिकरम् (न कीर्ति को करने वाला है अर्थात् बदनामी कराने वाला है)।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।। ३।।

परन्तप (हे शत्रुओं का सता देने वाले अर्जुन!), क्लैब्यं (नपुंसकता को), मा, स्म, गमः (मत, प्राप्त, हो), त्वयि (तुझ में) एतत्, न, उपद्यते (यह, उचित, नहीं जान पड़ती), क्षुद्रं, हृदयदौर्बल्यम्, त्यक्त्वा (हृदय की, तुच्छ दुर्बलता को, त्याग कर), उत्तिष्ठ (युद्ध के लिए खड़ा हो जा)।

प्रश्न 2- श्री कृष्णजी अर्जुन को युद्ध के लिए किस प्रकार उत्साहित करते हैं?

उत्तर- श्री कृष्णजी ने अर्जुन को कहा, ''हे अर्जुन! इस विषम संकट के समय तेरे मन में यह मलिनता (मोह रूप दोष) कहाँ से उत्पन्न हो गई जो कि अनार्यों का आचरण है। यह मानसिक दुर्बलता सुख की नाशक और कीर्ति को भी नष्ट करने वाली है। हे पार्थ! ऐसे कायर (नपुंसक) मत बनो। तुम जैसे वीर पुरुषों में ऐसी कायरता कभी उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। यह तुम्हारे लिए उचित नहीं है, अर्थात् तुम्हारे जैसा वीर ऐसे कायरतापूर्ण वचन बोलेगा तो यह शोभा नहीं देता। हे शत्रुओं को पीड़ित करने वाले परन्तप! (अर्जुन)! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता का त्याग करके युद्ध के लिए खड़े हो जाओ।''

श्री कृष्ण जी यहाँ 'अनार्यजुष्टम्', 'अस्वर्ग्यम्' 'अकीर्तिकरम्' ऐसा क्रम देकर तीन प्रकार के मनुष्य बताये हैं। (क) जो विचारशील मनुष्य होते हैं, उनका ध्येय, उद्देश्य केवल कल्याण ही होता है। (ख) जो पुण्यात्मा मनुष्य होते हैं, वे स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानकर उसकी प्राप्ति का उद्देश्य रखते हैं, (ग) जो साधारण मनुष्य होते हैं, वे अपनी कीर्ति को ही ध्येय मानते हैं। यहाँ कृष्ण जी अर्जुन को सावधान करते हैं, कि इस प्रकार युद्ध न करने के निश्चय से न तो तुम विचारशील मनुष्य लगते हो, न पुण्यात्मा और न ही साधारणजन लगते हो। इस प्रकार की कायरता (नपुंसकता) प्रदर्शित करने के कारण तुम्हारा पतन ही होगा। यहाँ अर्जुन की थोथी युक्तियों को नकारते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपने कर्तव्य पालन करने की आज्ञा देते हैं कि उसे पूरी तैयारी के साथ युद्ध करने के लिए खड़े होना है।

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।। ४।।

मधुसूदन (हे कृष्ण!) अहम्, संख्ये, कथम् (मैं, युद्धभूमि में, कैसे), इषुभिः (बाणों से), भीष्मम्, द्रोणम्, च (भीष्म पितामह और आचार्य द्रोण), प्रतियोत्स्यामि (उनके विरुद्ध, युद्ध करूँगा), यतः (क्योंकि) अरिसूदन (हे शत्रुओं का संहार करने वाले श्री कृष्ण), तौ (वे दोनों), पूर्जार्हौ (पूजा के योग्य अर्थात् पूजनीय हैं।)

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

महानुभावान्, गुरुन्, अहत्वा (महानुभाव गुरुजनों को न मार कर मैं) इह लोके

(इस लोक में) भैक्ष्यम्, अपि, भोक्तुम्, श्रेयः (भिक्षा का अन्न, भी, खाना, कल्याणकार समझता हूँ), हि (क्योंकि), गुरुन्, हत्वा (गुरुजनों को मार कर, भी) इह, रुधिरप्रदिग्धान् (इस लोक में, रक्त से सने हुए), अर्थकामान् (धन की कामना वाले), भोगान्, एव (भोगों को, ही) तु, भुञ्जीय (तो, भोगूँगा)।

प्रश्न 3– अर्जुन अपनी युक्तियों का समाधान न पाकर श्री कृष्णजी को अपना क्या निर्णय सुनाते हैं ?

उत्तर– अर्जुन श्री कृष्ण जी की फटकार सुनकर अपनी युक्तियों का समाधान न पाकर उत्तेजित होकर बोला– ''हे मधुसूदन! मैं पूजनीय महानुभाव भीष्म पितामह और गुरु द्रोणाचार्य के विरुद्ध बाण कैसे उठाऊँगा, क्योंकि ये तो दोनों मेरे पूजा के योग्य हैं, पूजनीय हैं। पूजनीयों का सम्मान किया जाता है, उनके विरुद्ध हथियार कैसे उठाये जा सकते हैं? यह कहकर अर्जुन श्री कृष्ण को अपना निर्णय सुनाते हुए कहते हैं– मैं इन पूजनीय गुरुजनों को न मारकर इस लोक में भिक्षा लेकर जीवन यापन करना अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ, क्योंकि गुरुजनों को मारकर यहाँ रक्त से सने हुए तथा धन की कामना की मुख्यता वाले भोगों को मैं नहीं भोगना चाहता।

यहाँ अर्जुन यह भी जानता है कि भिक्षा माँग कर खाने से इस लोक में उसका अपमान होगा, तिरस्कार होगा, निन्दा होगी, परन्तु फिर भी गुरुजनों को मारने की अपेक्षा भिक्षा माँगने को श्रेष्ठ मानता है। यहाँ अर्जुन की अपने गुरुजनों के प्रति अत्याधिक सम्मान एवं विनम्रता की भावना प्रदर्शित हो रही है।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।६।।

एतत्, च, न, विद्मः (यह, भी, नहीं जानते, कि) नः (हमारे लिए युद्ध करना और न करना–इन) कतरत्, गरीयः (दोनों में से कौन सा, श्रेष्ठ है), यत्, वा (अथवा, यह भी नहीं जानते कि), जयेम (उन्हें हम जीतेंगे), यदि वा नः, जयेयुः (या हमको वे, जीतेंगे), यान्, हत्वा (जिनको, मार कर हम), न, जिजीविषाम्ः (जीना भी नहीं चाहते), ते, एव, धार्तराष्ट्राः (वे, ही, धृतराष्ट्र के पुत्र) प्रमुखे, अविस्थिताः (हमारे सम्मुख मुकाबले में खड़े हैं।)

प्रश्न 4– युद्ध करने या ना करने के विषय में अर्जुन का क्या संशय है ?

उत्तर– अर्जुन को यह संशय है कि हम यह नहीं जानते कि हम दोनों में से कौन श्रेष्ठ है? हम लोगों के लिए युद्ध करने या न करने में से कौन सा कार्य श्रेष्ठ है?

हम यह भी नहीं जानते कि हम उन्हें जीतेंगे अथवा वे हमें जीतेंगे और यदि जीत भी गये तो जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते। ऐसे हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध के लिए हमारे सामने खड़े हैं। यहाँ पर अर्जुन को यह लगता है कि हमें वे भी जीत सकते हैं। यहाँ पर अर्जुन को अपने बल पर भी सन्देह हो रहा है, जो उसकी दुर्बलता को और अधिक प्रदर्शित कर रहा है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः (कायरता रूपी दोष से ग्रस्त हुए स्वभाव वाला मैं, तथा), धर्मसम्मूढचेताः (धर्म के विषय में मूढ़ हो गया चित्त जिसका, ऐसा मैं) त्वाम्, पृच्छामि (आपसे, पूछता हूँ कि), यत्, निश्चितम्, श्रेयः स्यात् (जो, निश्चित, कल्याणकारक, मार्ग हो) तत्, मे, ब्रूहि (वह, मेरे लिए, कहिये, क्योंकि) अहम्, ते, शिष्यः (मैं, आपका, शिष्य हूँ), त्वाम्, प्रपन्नम्, माम्, शाधि (आपके, शरणागत, मुझ को, शिक्षा दीजिये)

प्रश्न 5– मोह और कायरतारूप दोषों से ग्रस्त होने पर अर्जुन श्री कृष्ण जी से क्या प्रार्थना करता है ?

उत्तर– अर्जुन श्री कृष्ण जी से अपने मार्गदर्शन हेतु यह प्रार्थना करता है– ''हे गुरु जी! (कृष्ण) मैं कायरता रूपी दोष से ग्रस्त हो अपनी स्वाभाविक वृत्ति (शौर्यकार्य) से भ्रष्ट हो रहा हूँ और इस संकट काल में मेरा धर्म क्या है? इस विषय में मेरा मन मूढ़ हो गया है तथा मैं भ्रमित हूँ। इस कारण आपसे पूछता हूँ कि मेरे लिए जो कल्याणकारी साधन हो वह मुझे निश्चित रूप में बताईये। मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे समझाइये, आप की शरण में आया हूँ। मुझ शरणागत पर कृपा करके उपदेश देकर मेरा मार्गदर्शन कीजिये।

स्वामी रामसुख दास जी 'गीता प्रबोधनी' में इस श्लोक की व्याख्या ऐसे करते हैं :– प्रत्येक मनुष्य वास्तव में साधक है। कारण यह कि असंख्य योनियों के पश्चात् परम पिता परमात्मा यह मानव शरीर केवल अपने कल्याण (मोक्ष) करने के लिए प्रदान करते हैं। मनुष्य मात्र को परमात्मा प्राप्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है। साधक होने के नाते मनुष्य मात्र अपने साध्य को प्राप्त करने में स्वतंत्र, समर्थ, योग्य और अधिकारी है। सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य अपने उद्देश्य को पहचान कर दृढ़तापूर्वक यह स्वीकार कर ले कि मैं एक साधक हूँ। यहाँ अर्जुन ने भी अपने वास्तविक उद्देश्य को पहचान लिया

है कि मुझे अपना कल्याण करना है। इसलिए वह युद्ध करने अथवा न करने की बात न पूछकर अपने कल्याण का निश्चित उपाय पूछते हैं।

इस श्लोक में अर्जुन ने चार बातें कहीं हैं। 1. कार्पण्यदोषो....धर्मसम्मूढ चेताः 2. यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे 3. शिष्यस्तेऽहं 4. शाधि मां त्वां प्रपन्नम्। इनमें पहली बात में अर्जुन धर्म के विषय में पूछते हैं। दूसरी बात में अपने कल्याण के लिए प्रार्थना करते हैं। तीसरी बात में शिष्य बन जाते हैं और चौथी बात में शरणागत हो जाते हैं। अब इन चारों बातों पर विचार किया जाय तो पहली बात में मनुष्य जिससे पूछता है वह कहने अथवा न कहने में स्वतंत्र होता है। दूसरी में, जिससे प्रार्थना करता है उसके लिए कहना कर्तव्य हो जाता है। तीसरे में, जिनका शिष्य बन जाता है उस गुरु पर शिष्य को कल्याण का मार्ग बताने का विशेष दायित्व आ जाता है। चौथी में जिसके शरणागत हो जाता है, उस शरण्य को शरणागत का उद्धार करना ही पड़ता है अर्थात् उसके उद्धार का उद्योग अवश्य करना पड़ता है, जो स्थिति यहाँ अर्जुन की है वही स्थिति महर्षि दयानन्द सरस्वती जी की भी थी। ऋर्षि दयानन्द जी भी अपने गुरु स्वामी विरजानन्द जी के पास अपने कल्याण की भावना लेकर शिष्यत्व ग्रहण कर अपने गुरु के शरणागत हो गये तभी तो उनको उचित मार्गदर्शन मिला और वह इस विश्व समुदाय के महामानव बन सके।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।। ८।।

हि (क्योंकि), भूमौ, असपत्नम्, ऋद्धम्, राज्यम् (भूमि में, निष्कंटक, धन धान्य सम्पन्न, राज्य को), च (और), सुराणाम् आधिपत्यम्, अवाप्य (देवताओं के स्वामित्व (शासन) को प्राप्त करके), अपि (भी, मैं), तत् (उस उपाय को), न, प्रपश्यामि (नहीं देखता हूँ), यत् (जो), मम इन्द्रियणाम्, उच्छोषणम्, शोकम्, अपनुपद्यात् (मेरी, इन्द्रियों के, सुखाने वाले, शोक को दूर कर सके)।

प्रश्न 6- अर्जुन किन-किन वस्तुओं को प्राप्त होकर भी शोक से मुक्त नहीं हो पा रहे?

उत्तर- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी को युद्ध से उत्पन्न शोक से मुक्त होने की यह युक्ति दी। हे कृष्ण! भले ही मुझे सारी पृथिवी में निष्कंटक धन-धान्य सम्पन्न राज्य मिल जाय, भले ही मुझे स्वर्ग लोक के देवताओं पर शासन करने को मिल जाये परन्तु मुझे कोई ऐसी वस्तु दिखाई नहीं देती जो इन्द्रियों को सुखा डालने

वाले इस शोक को दूर कर सके।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

परन्तप (हे पराक्रमी राजन्!) गुडाकेश (निद्रा को जीनते वाले अर्जुन), हृषीकेशम् (श्रीकृष्ण जी को) एवम्, उक्त्वा (इस प्रकार, कहकर) गोविन्दम् (गोविन्द= श्री कृष्ण को), न योत्स्ये (युद्ध नहीं करूँगा), इति, ह, उक्त्वा (यह, स्पष्ट, कहकर) तूष्णीम्, बभूव (चुप, हो गये)

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।। १०।।

भारत (हे भरतवंशी धृतराष्ट्र), हृषीकेशः (श्रीकृष्ण) उभयोः, सेनयोः मध्ये (दोनों, सेनाओं के, मध्य में), विषीदन्तम् तम्, (शोक करते हुए, उस अर्जुन को), प्रहसन्, इव (हँसते हुए, से), इदम् वचः उवाच (यह, वचन, बोले)

प्रश्न 7- संजय ने धृतराष्ट्र से अर्जुन की क्या स्थिति बताई? और श्रीकृष्ण जी ने उस समय क्या प्रतिक्रिया दिखाई?

उत्तर- संजय धृतराष्ट्र से बोले - ''हे पराक्रमी राजन् धृतराष्ट्र! निद्रा पर विजय प्राप्त करने वाले अर्जुन श्री कृष्ण जी को कहते हैं, मैं युद्ध नहीं करूँगा।" थोड़ी देर के पश्चात् संजय ने पुनः धृतराष्ट्र से कहा, ''हे भरतवंशी राजन् (धृतराष्ट्र)! दोनों सेनाओं के मध्य में खड़े होकर विषाद से ग्रस्त अर्जुन को श्री कृष्ण जी ने हँसते हुए ये वचन कहे।''

यहाँ परन्तप शब्द धृतराष्ट्र के लिए संजय ने प्रयुक्त किया, परन्तु श्लोक संख्या ३ में श्री कृष्ण इसी परन्तप शब्द को अर्जुन के लिए प्रयुक्त करते हैं। दोनों ही स्थानों पर परन्तप का अर्थ मेरी दृष्टि में पराक्रमी है, वैसे परन्तप का अर्थ शत्रु को पीड़ित करने वाला है। यहाँ दोनों स्थितियों में चाहे अर्जुन हो या धृतराष्ट्र दोनों ही अपने-अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में समर्थ हैं।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी ने अपनी पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य' में इन तीनों श्लोकों पर इस प्रकार टिप्पणी की है-

एक ओर तो क्षत्रिय का स्वधर्म और दूसरी ओर गुरुहत्या एवं कुलक्षय के पातकों का भय-इस खींचतान में मरे या मारे के झमेले में पड़कर भिक्षा मांगने के लिए तैयार हो जाने वाले अर्जुन को अब श्री कृष्ण इस जगत् में सच्चे कर्तव्य

का उपदेश देते हैं। अर्जुन को आशंका थी कि लड़ाई जैसे कार्य से आत्मा का कल्याण न होगा। इसलिए जिन उदार व्यक्तियों ने परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर अपनी आत्मा का पूर्ण कल्याण कर लिया है, वे इस दुनिया में कैसा बर्ताव करते हैं। यहाँ से गीता के उपदेश का प्रारम्भ हुआ है। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि आत्मज्ञानी व्यक्तियों के जीवन बिताने में इस संसार में दो मार्ग चले आ रहे हैं। (1) साँख्य योग (2) कर्मयोग। यद्यपि दोनों ही निष्ठायें प्रचलित हैं तथापि इसमें कर्मयोग ही अधिक श्रेष्ठ है। इन दोनों निष्ठाओं में से अर्जुन के मन की चाह संन्यास निष्ठा (वैराग्य) की ओर ही बढ़ी हुई थी। अतएव उसी मार्ग से पहले अर्जुन की भूल उसे समझा दी गई और ३९वें श्लोक से कर्मयोग का प्रतिपादन करना श्रीकृष्ण जी ने प्रारम्भ कर दिया है। साँख्य मार्ग वाले व्यक्ति ज्ञान के पश्चात् कर्म भले ही न करते हों, पर उनका बह्मज्ञान और कर्मयोग का ब्रह्मज्ञान दोनों अलग-अलग नहीं हैं। साँख्य निष्ठा के अनुसार देखने पर भी यदि आत्मा अविनाशी और नित्य है तो यह कहना व्यर्थ है कि मैं अमुक को कैसे माँरू? इस प्रकार अर्जुन से श्रीकृष्ण जी का यह प्रथम कथन है।

स्वामी रामदेव जी महाराज ने अपनी पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता – गीतामृत' में टिप्पणी इस प्रकार की है-

प्रश्न है कि किन समस्याओं ने अर्जुन के चित्त को अशान्त एवं शोकसन्तप्त कर दिया है? सर्वप्रथम बन्धु-बान्धवों, विशेषकर गुरुजनों के प्रति मोह तथा दूसरा – वह युद्ध कर्म को भयंकर व अहितकर मानता है। वह युद्ध कर स्वजनों की हत्या कर, राज्य प्राप्त कर, यहाँ तक कि स्वर्ग का एक छत्र राज्य व सुख मिल जाने पर भी हत्याओं की अपेक्षा भिक्षा माँगकर यति का जीवन जीना अधिक श्रेयस्कर समझता है। उसे इस बात की भी परवाह नहीं कि युद्ध में नि:शस्त्र पाकर कौरव उसकी हत्या कर देंगे। वह विचलित हो श्रीकृष्ण से सही मार्ग-दर्शन के लिए प्रार्थना करता है, और यहीं से शुरू होता है गीता का संवाद- 'अर्जुन का पथ प्रदर्शन।' इस पथ-प्रदर्शन ने न केवल अर्जुन के लिए वरन् इस विश्व के सभी मनुष्यों के लिए एक अनुकरणीय सार्वकालिक जीवन दर्शन दिया है, आज के वैज्ञानिक युग में भी यह उपदेश उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि आज से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को कुरुक्षेत्र के युद्धक्षेत्र में जाते समय दिया गया था। इससे केवल अर्जुन ही लाभान्वित नहीं हुआ, बल्कि जिस-जिस ने भी इस का मनन किया, आचरण किया उन सबने अपना

जीवन सफल बना लिया। यह उपदेश तर्क की हर कसौटी पर खरा उतरता है।

स्वामी रामसुखदास जी के विचार में जब अर्जुन ने यह कह दिया कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तब श्री कृष्ण जी को यह कह देना चाहिए था कि 'जैसी तेरी मर्ज़ी आये, वैसा कर- **यथेच्छसि तथा कुरु** (श्लोक संख्या १८/६३), परन्तु श्रीकृष्ण जी ने समझा कि मनुष्य जब चिन्ता-शोक से विफल हो जाता है, तब वह अपने कर्तव्य का निर्णय न कर सकने के कारण कभी कुछ तो कभी कुछ बोल उठता है। यही दशा अर्जुन की हो रही है। परन्तु श्री कृष्ण जी के हृदय में अर्जुन के प्रति अत्याधिक स्नेह होने के कारण कृपालुता बढ़ी। कारण – श्री कृष्ण जी अर्जुन के वचनों की ओर ध्यान न देकर उसके भाव की ओर ही देखते हैं। इसलिए श्री कृष्ण जी अर्जुन के 'मैं युद्ध नहीं करूँगा' इस वचन की तरफ ध्यान न देकर आगे के श्लोक से अपना उपदेश प्रारम्भ कर देते हैं।

श्री कृष्ण उवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:।। ११।।

त्वम्, अशोच्यान्, अन्वशोच: (तू, न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिए, शोक करता है), च (और) प्रज्ञावादान्, भाषसे (ज्ञानियों की तरह, वचनों को कहता है), गतासून (जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिए), च (और), अगतासून (जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए भी), पण्डिता:, न, अनुशोचन्ति (ज्ञानी लोग, शोक नहीं करते)।

प्रश्न 8 – श्रीकृष्ण जी का अर्जुन के प्रति पहला उपदेश क्या है?

उत्तर- गीता का वास्तविक उपदेश इसी श्लोक से प्रारम्भ होता है। शंकराचार्य जी ने गीता का भाष्य इसी श्लोक से प्रारम्भ किया है। यह ठीक है कि गीता का उपदेश यहीं से प्रारम्भ होता है, परन्तु उस उपदेश की भूमिका का होना भी तो आवश्यक है। किस परिस्थिति में यह उपदेश दिया गया- इसी भूमिका का विवरण प्रथम अध्याय तथा इस श्लोक से पहले श्लोकों में पाया जाता है। गीता के इन श्लोकों को 'अर्जुन विषाद योग' का नाम दिया गया है।

श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा, ''हे अर्जुन! तुमने शोक न करने योग्य का शोक किया है और विद्वत्ता (पांडित्य) की बातें कर रहे हो, परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिए और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए पण्डित (विद्वान्, ज्ञानी) लोग शोक नहीं करते।''

इस श्लोक में मरे हुए और जीवितों के लिए पण्डित (विद्वान्) लोग शोक नहीं करते– यह कहा है। मरों के लिए तो शोक किया जाता है, जीवितों के लिए तो कोई शोक नहीं करता, फिर गीता में मरे हुए और जीवित, दोनों को क्यों जोड़ दिया गया है? इस पर गीता के टीकाकारों ने बहुत कुछ लिखा है। कई टीकाकार कहते हैं कि भीष्मादि जैसे जीवितावस्था में अशोच्य हैं, वैसे मृतावस्था में अशोच्य हैं, क्योंकि जीवितावस्था में शोचनीय वही होता है जो दुराचारी हो। भीष्मादि ऐसे नहीं है इसलिए जीवितावस्था में शोचनीय नहीं है, मरकर वे सद्गति प्राप्त करेंगे इसलिए मरने के बाद भी वे अशोच्य हैं। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि ज्ञानी जन को दोनों बातें एक समान ही प्रकट होती हैं।

इस श्लोक से श्री कृष्ण जी शरीर और शरीरी (स्वयं) के विवेक का उपदेश प्रारम्भ करते हैं, जो प्रत्येक मार्ग के साधक के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शरीर सदा मृत्यु में रहता है और शरीरी सदा अमरता में रहता है, इसलिए दोनों के लिए शोक करने का कोई औचित्य नहीं है– यही इस सम्पूर्ण उपदेश का सार है।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥१२॥

न, तु, एव (न, तो, ऐसा ही है कि), अहम् जातु, न , आसम् (मैं किसी काल में, नहीं था), त्वम्, न (तू, नहीं था), इमे, जनाधिपाः न (ये, राजा लोग भी, नहीं थे), च,न, एव (और, न ही, ऐसा ही है) अतः, परम्, वयम्, सर्वे, न, भविष्यामः (इससे, आगे, हम सब, नहीं, रहेंगे)।

प्रश्न 9– श्रीकृष्ण जी ने अर्जुन को आत्मा का क्या स्वरूप बताया?

उत्तर– श्रीकृष्ण जी अर्जुन के भ्रम को दूर करते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! देखो! न तो ऐसा है कि मैं (पहले) कभी न था। अथवा तू और ये राजा लोग (पहले) न थे और ऐसा भी नहीं हो सकता कि हम सब लोग आगे नहीं होंगे, क्योंकि आत्मा नित्य है अर्थात् सभी लोग सदा रहे हैं और सदा रहेंगे केवल उनके शरीरों में परिवर्तन होगा।''

इस श्लोक में श्री कृष्ण जी ने सम्पूर्ण विश्व पर दार्शनिक दृष्टि से विचार करते हुए कहा है कि कोई समय नहीं था जब मैं नहीं था तू नहीं था या ये दूसरे योद्धा लोग जो युद्ध भूमि में खड़े हुए हैं, नहीं थे। यह भूतकाल की बात हुई। वर्तमान काल में भी ये तीनों वर्तमान हैं ही, भविष्यत्काल में भी कोई समय

ऐसा नहीं होगा जब ये तीनों नहीं होंगे। इससे स्पष्ट है कि आत्मा नित्य है। मेरा, तेरा, इनका आत्मा था, है, होगा– फिर हे अर्जुन! तू इनके मरने की बात क्यों सोचता है? वास्तव में देह अलग है, देही अलग है। देह को शरीर कहते हैं जो मरता है, देही को आत्मा कहते हैं, जो शाश्वत है, अमर है। हे अर्जुन! तू इन में भेद कर।

इस श्लोक से ही श्रीकृष्ण जी स्वयं कहते हैं कि मैं भी मरणधर्मा हूँ। इससे वह सिद्ध होता है कि वे भगवान् नहीं थे, बल्कि मरण धर्मा महापुरुष ही थे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥१३॥

यथा (जैसे), देहिनः (जीवात्मा की), अस्मिन्, देहे (इस, देहे में), कौमारम्, यौवनम्, जरा (बचपन, जवानी और बुढ़ापा आता है), तथा (वैसे ही), देहान्तर प्राप्तिः (दूसरा देह प्राप्त हो जाता है), तत्र (उस विषय में) धीरः न मुह्यति (धीर पुरुष, मोह में नहीं फँसता)

प्रश्न 10– श्रीकृष्ण जी अर्जुन को देह की कौन-कौन सी स्थितियां बतलाते हैं?

उत्तर– श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, ''हे अर्जुन! जैसे इस देह की कुमारावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था होती है और जीवात्मा नहीं बदलता, वही का वही रहता है। वैसे ही एक देह छूट कर, दूसरी प्राप्त हो जाती है। बुद्धिमान् मनुष्य इसमें मोहित नहीं होता।''

इस श्लोक की व्याख्या गीता प्रबोधनी में इस प्रकार हुई है– जीव स्वयं तो निरन्तर अमरत्व में ही रहता है, पर शरीर निरन्तर मृत्यु में जा रहा है। जीव के गर्भ में आते ही मृत्यु का यह क्रम प्रारम्भ हो जाता है। गर्भावस्था मरती है तो बाल्य अवस्था आती है। बाल्य अवस्था मरती है तो युवा अवस्था आती है। युवा अवस्था मरती है तो वृद्धावस्था आती है। वृद्धावस्था मरती है तो देहान्तारावस्था आती है, अर्थात् दूसरे जन्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार शरीर की अवस्थायें बदलती रहती हैं, पर उसमें रहने वाला शरीरी ज्यों का त्यों रहता है। कारण यह है कि शरीर और शरीरी दोनों के विभाग अलग-अलग हैं। अतः साधक अपने को कभी शरीर न मानें। बन्धन मुक्ति (मोक्ष) स्वयं की होती है, शरीर की नहीं।

इसलिए हे अर्जुन! तू किसी के शरीरी (जीवात्मा) को नहीं मार रहा। अतः शोक मत कर। यह तू आत्मा के मरने की बात क्यों सोचता है? यह तो तेरा

मोह है। इस शरीर से बन्ध जाना, इसमें आसक्ति है। यह मत समझ कि शरीर नित्य है, भीष्म और द्रोण का शरीर भी नित्य नहीं है, उनसे मोह क्यों करता है, नित्य तो इन शरीरों में रहने वाला आत्मा है, वह मरता नहीं, फिर उसके लिए मोह कैसा, विषाद कैसा, घबराहट कैसी?

श्री शंकराचार्य जी का कहना है कि इस बात पर शंका होती है कि यदि आत्मा नहीं मरती, वह नित्य है, वह अमर है तो हमें प्रतिदिन के जीवन में यह अनुभव क्यों होता है कि 'हम दुःखी हैं, हमें सर्दी या गर्मी लगती है। हम मर रहे हैं।' इसका उत्तर श्री कृष्ण जी ने अगले श्लोक में दिया है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखःदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

कौन्तेय (हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन!) शीतोष्णसुखदुःखदाः (सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले), मात्रास्पर्शाः (इन्द्रियों और विषयों के संयोग), तु (तो), आगमापयिनः (आने-जाने वाले), अनित्याः (अनित्य है), भारत (हे भारत अर्जुन!), तान्, तितिक्षस्व (उनको तू, सहन कर)।

प्रश्न 11- श्रीकृष्ण जी समस्त भोगों के विषय में अर्जुन को क्या आदेश देते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को बताते हैं कि - हे कुन्ती के पुत्र! आत्मा के अमर होते हुए भी आत्मा को उल्टा भान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख की अनुभूति इसलिए होती है, क्योंकि आत्मा का मात्रा से, इन्द्रियों से स्पर्श रहता है। सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख का भान इन्द्रियों को होता है, शरीर को होता है, परन्तु इन्द्रियों तथा शरीर का आत्मा के साथ सम्पर्क होने के कारण यह भान आत्मा पर आरोपित हो जाता है। ये स्पर्श तो आते-जाते हैं, अनित्य हैं, सदा नहीं रहते। इसलिए हे भारत! इन्हें सहन कर।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस पर विशेष टिप्पणी इस प्रकार की है-

मात्रा स्पर्श के भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। जगदगुरु शंकराचार्य जी ने मात्रा का अर्थ 'इन्द्रिय' किया है। लोकमान्य तिलक जी ने मात्रा का अर्थ शब्दरूप आदि बाह्य-पदार्थ अर्थात् संसार के विषय किया है। दोनों अर्थों में अभिप्रायः एक ही निकलता है। यदि मात्रा का अर्थ इन्द्रिय माना जाये तो अर्थ यह निकलता है कि आत्मा तथा इन्द्रिय के स्पर्श से सुख-

दुःख अनुभव होता है, यह संबंध हट जाये तो सुख दुःख भी नहीं होता। यदि मात्रा का अर्थ बाह्य-पदार्थ अर्थात् संसार के विषय माना जाय तो अर्थ यह निकलता है कि इन्द्रियों के विषयों के साथ स्पर्श से सुख-दुःख होता है, इन्द्रिय का विषय के साथ संबंध हट जाये तो सुख-दुःख नहीं होता। प्रत्येक स्थिति में सुख-दुःख आत्मा का गुण नहीं है। इन्द्रियों के आत्मा के साथ स्पर्श से या विषय के इन्द्रियों के साथ स्पर्श से सुख-दुःख, शीत-उष्ण का भान होता है।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

हि (क्योंकि), पुरुषर्षभ (हे पुरुष श्रेष्ठ), समदुःखसुखम् (सुख-दुःख को समान समझने वाले), यम, धीरम्, पुरुषम् (जिस धीर, पुरुष को), एते (ये, इन्द्रियों और विषयों के संयोग), न, व्यथयन्ति (व्याकुल नहीं करते), सः, अमृत्वाय कल्पते (वह, मोक्ष के योग्य होता है)।

प्रश्न 12- कौन व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त कर लेता है?

उत्तर- यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हुए कहते हैं, ''हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन! जिस धीर पुरुष ने अपने आपको दुःख-सुख दोनों अवस्थाओं में समान रखना सीख लिया है और जिसे मात्रा स्पर्श (पदार्थ) विचलित (सुख दुःखी) नहीं करते, वह अमर होने में समर्थ हो जाता है। जो व्यक्ति आध्यात्मिक साक्षात्कार की उच्च अवस्था को प्राप्त करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है और सुख-दुःख के प्रहारों को समभाव से सह सकता है वह निश्चय ही मुक्ति के योग्य है।'' अतः अर्जुन को क्षत्रिय- धर्म निर्वाह में दृढ़ रहने के लिए कहा जा रहा है। भले ही स्वजनों या अन्य प्रिय व्यक्तियों के साथ युद्ध करना कितना ही दुष्कर क्यों न हो?

जिस व्यक्ति को आत्मज्ञान नहीं वह इन सांसारिक पदार्थों यथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि इन्द्रिय अनुभूतियों को सत्य मानकर उनका आत्मा से संबंध कर देता है और मोहित हो इन प्रतीतियों के द्वन्द्व अर्थात् माया-मोह के चक्कर में फँस जाता है। श्रीकृष्ण जी का कहना है कि हे अर्जुन! जब-तब उपस्थित हुए इन मायात्मक द्वन्द्वों को स्थिरचित्त (समभाव) से सहन कर। इन नाना प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करने वाला व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी बन सकता है।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

असतः (अनुपस्थित, वस्तु की तो) भावः, न, विद्यते (सत्ता नहीं है), तु, सतः, अभावः न (और सतः {उपस्थित} का) अभाव, नहीं), विद्यते (है), अनयोः उभयोः, अपि, अन्तः (इन, दोनों का, ही, तत्त्व), तत्त्वदर्शिभिः दृष्टः (तत्त्वज्ञानी पुरूषों द्वारा देखा गया है)

प्रश्न13- श्री कृष्ण जी ने किसी वस्तु के होने (उपस्थित) और किसी वस्तु के न होने (अनुपस्थित) के क्या लक्षण बतलाये हैं ? या संसार का नित्य वियोग और परमात्मा का नित्य योग क्या है ?

उत्तर- श्रीकृष्ण जी अर्जुन से किसी वस्तु के असत् और सत् का लक्षण इस प्रकार करते हैं। वे कहते हैं- हे अर्जुन! जो वस्तु असत् है या जो नहीं है अर्थात् जो अनुपस्थित है उसकी सत्ता (भाव, उपस्थित) नहीं होती और जो है, उपस्थित है, सत् है उसका अभाव कभी नहीं होता। तत्त्वज्ञानी पुरुषों ने सत् और असत् इन दोनों का अन्त (परिणाम) देख लिया है अर्थात् अन्तिम तथ्य को देखकर उनके स्वरूप का निर्णय कर लिया है।

इस श्लोक में सत् का अभिप्रायः अव्यक्त परब्रह्म व मूल उपादान से है, जो इस ब्रह्मांड में सर्वत्र व्याप्त है और उसका कोई अभाव नहीं है और यह व्यक्त संसार अर्थात् दृश्य जगत् जिसमें मानव शरीर भी सम्मिलित है, यह सब नाशवान् है। इनका क्षणिक अस्तित्व मात्र भासित होता है। आत्मा तो अव्यक्त एवं अमर है, उसका कभी नाश नहीं होता। ऐसी अवस्था में अर्जुन का यह कहकर विषाद करना कि- 'ये सब मर जायेंगे तो मैं क्या करूँगा', ठीक नहीं है।

सत् उन पदार्थों को कहते हैं जो अनादि तथा अजर, अमर होते हैं। असत् उनको कहते हैं जो जिस रूप में दिखाई देते हैं, उस रूप में सदा नहीं रहते। पूर्ण वैदिक साहित्य इस बात को स्वीकार करता है कि पदार्थों के परमाणु सत् है। वे नष्ट नहीं हो सकते। उनकी रूप-राशि स्थिर है जब वे अकेले-अकेले होते हैं, तब भी और जब वे मिलकर अहंकार परिमण्डल तथा संसार के भिन्न-भिन्न प्रकार के परिमण्डलों में भिन्न-भिन्न संख्या में भिन्न-भिन्न प्रकार से संयुक्त होकर संसार के सब पदार्थ बनाते हैं।

संसार में अभाव ही मुख्य है। इसके भाव में भी अभाव है, अभाव में भी अभाव है। परन्तु परमात्मा में भाव ही मुख्य है। उनके अभाव में भी भाव है और

भाव में भी भाव है। संसार दीखे या न दीखे, मिले या न मिले, उसका वियोग ही मुख्य है। परमात्मा दीखे न दीखे, मिले न मिले, उनका योग ही मुख्य है। अतः संसार का नित्य वियोग है। परमात्मा का नित्य योग है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।१७।।

अविनाशि (नाशरहित), तु (तो, तू) तत्, विद्धि (उसको, जान), येन इदम्, सर्वम्, ततम् (जिससे, यह, सम्पूर्ण दृश्य जगत्, व्याप्त है), अस्य अव्ययस्य, विनाशम्, कर्तुम् (इस, अविनाशी का, नाश, करने में), कश्चित् न, अर्हति (कोई भी, समर्थ, नहीं है)।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अनाशिनः (नाशरहित), अप्रमेयस्य (अप्रमेय=अज्ञेय के), नित्यस्य शरीरिणः (नित्यस्वरूप जीवात्मा के), इमे, देहाः, अन्तवन्तः, उक्ताः (ये, सब शरीर, नाशवान् कहे गये हैं) तस्मात्, भारत, युध्यस्व (इसलिए हे भरतवंशी, अर्जुन, युद्ध कर)।

प्रश्न 14- श्री कृष्ण जी ने सत् और असत् स्वरूप किस प्रकार निरुपण कर अर्जुन को युद्ध करने के लिये प्रेरित किया ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अविनाशी (सत्) और विनाशी (असत्) में भेद करते हुए इस प्रकार युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं- "हे भरतवंशी अर्जुन! नाशरहित उसको जानों जो यह सब जगत् में उपस्थित (ओतप्रोत) है, इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है। यह देह 'शरीर है,' ये देह जो अन्त वाली है, नष्ट हो जाने वाली है, परन्तु वह आत्मा स्वयं अविनाशी है, अज्ञेय है। इसलिए हे अर्जुन! तू युद्ध करने के लिए तत्पर हो जा।

यहाँ श्लोक १७ और १८ पर श्री गुरुदत्त जी ने इस प्रकार टिप्पणी की है- **'इदम् सर्वमिदं ततम्'** से अभिप्राय है यह सब संसार परमाणु रूप प्रकृति पूर्ण संसार में विद्यमान है। यह सत् है। इस कारण इसे अविनाशी कहा है। इस अविनाशी (परमाणु रूप प्रकृति) का कोई नाश नहीं कर सकता। यहाँ इस श्लोक में **"येन सर्वमिदं ततम्"** का अर्थ अन्य भाष्यकारों ने यह सब संसार तो ठीक किया है, परन्तु तद्विद्धि का अर्थ परमात्मा कर दिया है, यह अशुद्ध है, क्योंकि यहाँ प्रकृति का वर्णन हो रहा है परमात्मा का नहीं। आत्मा का क्षेत्र यह

शरीर है, इससे बाहर नहीं। जो शरीर है वह असत् है। शरीर का रूप नष्ट होता है। इसका वह स्वरूप जो मूल प्रकृति का है, नष्ट नहीं होता, वह सदा बना रहता है। जब यह समझ में आ जाये कि शरीर तो नष्ट होने वाला है, फिर इसका नष्ट हो जाने से कुछ हानि नहीं होगी, क्योंकि यह कभी न कभी नष्ट होगा ही।

अभिप्राय: यह है कि भीष्म, द्रोण आदि यदि मरते हैं तो इनके शरीर ही मरेंगे, क्योंकि वे नित्य नहीं है और जो नित्य है वह मरता नहीं। आत्मा नित्य है, वह नहीं मरती। तो फिर मरता क्या है? मृत्यु शरीर और आत्मा (नाशवान् और अविनाशी) के संयोग की समाप्ति ही है। संयोग का टूटना अथवा बनना किसी उद्देश्य से होता है। यदि वह उद्देश्य जिससे शरीर और जीवात्मा का संयोग हुआ था, पूर्ण नहीं हो रहा तो उसके टूटने में कुछ हानि नहीं, लाभ ही होगा।

अर्जुन ने यह कहा था कि वह अपने परिवार के वृद्धजनों और गुरुजनों के रक्त से सना हुआ त्रिभुवन का राज्य भी नहीं लेना चाहता। उसके इस भ्रम को श्रीकृष्ण जी दूर कर रहे हैं। वे कहते हैं कि ये महानुभाव जीवात्मा और शरीर के संयोग के उद्देश्य का पालन नहीं कर रहे हैं और मनुस्मृतिकार के अनुसार ये आततायी हैं। आततायी को मारने में कोई दोष नही। दुर्योधनादि कौरवों ने पाण्डवों को उनकी माता सहित जीवित जला देने का यत्न किया था। उन्होंने भीम को विष दिया था। द्रौपदी को भरी सभा में नग्न कर अपमानित करने का प्रयत्न किया था, अत: कौरव आततायी हैं। स्वयं भीष्म पितामह कहते हैं– 'मैं कौरवों के धन से बँधा हुआ हूँ। आततायी का साथ देने वाला भी आततायी माना जाता है। श्रीकृष्ण जी का कहना था कि ये लोग धर्म-अधर्म का तत्त्व नहीं पहचानते। ये धन के दास हैं, अत: इनको मारकर तुम पाप नहीं करोगे। अत: हे अर्जुन! खड़ा हो और इन आततायियों को मारो, इससे तुम्हें किसी प्रकार का पाप नहीं होगा।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

य:, एनम् (जो, इस, आत्मा को), हन्तारम्, वेत्ति (मारने वाला, समझता है), च, य: (तथा, जो), एनम्, हतम्, मन्यते (इसको, मरा, मानता है), तौ, उभौ न विजानीत: (वे दोनों नहीं जानते, क्योंकि), अयम्, न, हन्ति (यह आत्मा, वास्तव में, न तो, किसी को मारता है), न हन्यते (न, किसी के द्वारा मारा जाता है)।

प्रश्न 15– श्री कृष्ण जी कैसे लोगों को अज्ञानी मानते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस आत्मा की वास्तविकता से परिचित कराते हुए कहते हैं ''हे अर्जुन! जो मनुष्य इस अविनाशी शरीरी (आत्मा) को मारने वाले मानता है और जो मनुष्य इसको मरा हुआ जानता है, वह दोनों ही आत्मा के इस स्वरूप को नहीं जानते, वे वास्तव में अज्ञानी मनुष्य हैं, क्योंकि वे नहीं जानते कि आत्मा न मारता है, न मारा जाता है। तुझे यही तो भय है कि तू हत्यारा हो जाएगा। परन्तु जो इस जीव को हत्यारा मानता है वह भूल में है, क्योंकि जब कोई मरा ही नहीं तो हत्यारा कहाँ से हो गया? इसलिए हत्यारा मानने वाला तथा मरा हुआ मानने वाला दोनों ही कुछ नहीं जानते, क्योंकि जीव किसी को नहीं मारता, क्योंकि मारने से कोई मरता ही नहीं (केवल शरीर बदल लेता है।)''

यहाँ यह श्लोक अर्जुन के विषाद को दूर करने के लिए है, किसी को मारने या हत्या करने के समर्थन में नहीं है।

न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूय:।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अयम्, कदाचित्, न (यह, आत्मा किसी काल में भी, न तो), जायते (जन्म लेता है), वा, न, म्रियते (और, न ही, मरता ही है), न, भूत्वा, भूय:, भविता (तथा न, यह, उत्पन्न होकर, फिर होने वाला ही है), अयम्, अज: नित्य:, शाश्वत:, पुराण: (यह आत्मा, अजन्मा, नित्य, परिवर्तनरहित, पुरातन है), हन्यमाने, न हन्यते (मारे जाने पर भी यह मारा नहीं जाता)।

प्रश्न 16– श्री कृष्ण जी ने आत्मा का जन्मादि से रहित क्या स्वरूप बताया?

उत्तर– श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को बताया कि यह आत्मा जन्मादि 6 विकारों से रहित है। 1. यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है। 2. न कभी मरता है। 3. यह अजन्मा है। 4. यह नित्य है। 5. यह परिवर्तन रहित है। 6. यह पुरातन है। शरीर के वध हो जाने पर भी यह मरता नहीं है।

शरीर में 6 विकार होते हैं। 1. उत्पन्न होना। 2. सत्ता वाला दीखना। 3. बदलना। 4. बढ़ना। 5. घटना। 6. नष्ट होना। यह शरीरी (आत्मा) इन 6 विकारों से रहित है।

अर्जुन युद्ध में कुटुम्बियों के मरने की आशंका से विशेष शोक कर रहे हैं। इस शोक को दूर करने के लिए श्री कृष्ण जी कहते हैं कि शरीर के मरने पर भी

इस शरीरी (आत्मा) का मरना नहीं होता अर्थात् इसका अभाव नहीं होता। इसलिए शोक करना अनुचित है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

पार्थ (हे अर्जुन!), यः, पुरुषः, एनम् (जो, पुरुष, इस आत्मा को), अविनाशिनम्, नित्यम्, अजम्, अव्ययम्, वेद (नाश रहित, नित्य, अजन्मा, जानता है), सः, कथम्, कम, घातयति (वह पुरुष, कैसे, किसी को, मरवाता है और), (कथम्=कैसे) कम्, हन्ति (किस को, मारता है) ?

प्रश्न 17- श्री कृष्ण जी किस को आत्मतत्त्ववित् मानते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, ''हे अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अजन्मा और अपरिवर्तनशील जान लेता है। वह है आत्मतत्त्ववित्। ऐसा आत्मज्ञानी पुरूष कभी भी कैसे, किसी को दूसरों से मरवा सकता है या स्वयं मार सकता है ? शरीर की किसी भी क्रिया से शरीरी (आत्मा) में किचिन्मात्र भी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। अत: शरीरी किसी भी क्रिया का न तो कर्ता (तथा भोक्ता) बनता है, न कारयिता ही बनता है।''

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

यथा, नरः, जीर्णानि, वासांसि, विहाय (जैसे, मनुष्य, पुराने, वस्त्रों को, छोड़कर) अपराणि, नवानि, गृह्णाति (दूसरे नये (वस्त्रों को) ग्रहण करता है), तथा, देही, जीर्णानि, शरीराणि, विहाय (वैसे ही, जीवात्मा, पुराने शरीरों को, त्यागकर), अन्यानि, नवानि, संयाति (दूसरे, नये शरीरों को, प्राप्त करता है।)

प्रश्न 18- श्री कृष्णजी शरीरान्तर प्राप्ति के तत्त्व को किस प्रकार समझाते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन से इस आत्मा की स्थिति को बताते हुए एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! मनुष्य जैसे पुराने कपड़ों को छोड़कर दूसरे नये कपड़े धारण कर लेता है, ऐसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर दूसरे नये शरीर में चला जाता है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी इस श्लोक के संबंध में अपनी टिप्पणी इस प्रकार व्यक्त करते हैं-

शरीर और आत्मा के भेद को शरीर की अनित्यता और आत्मा की नित्यता

को दर्शाने के लिए इससे अच्छा दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। जैसे फटे-पुराने कपड़े बदल दिये जाते हैं, मनुष्य का शरीर वही रहता है। वैसे जीर्ण-शीर्ण शरीर बदल जाता है, आत्मा वही रहता है। नये कपड़े की तरह नये शरीर का धारण जन्म है, पुराने कपड़े की तरह पुराने शरीर को छोड़ देना मृत्यु है- इसमें आत्मा वहीं का वहीं रहता है। आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में चला जाता है। जब आत्मा की मृत्यु ही नहीं, जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह दूसरा जन्म है, तब मृत्यु से क्या डरना ? इसका यह अर्थ नहीं कि झट से बेखटके मनुष्य को मार दिया जाये। जैसे वस्त्र का काम सर्दी-गर्मी का निवारण करना है, वैसे इस मानव शरीर का काम कर्मों का भोग है। जिन कर्मों के कारण यह शरीर मिला है, जब इनका भोग समाप्त हो जाता है, तब इस शरीर को जीर्ण कहा जाता है, इसलिए कई व्यक्ति युवा अवस्था में ही शरीर छोड़ देते हैं, कई वृद्धावस्था में। इस श्लोक से जीर्णता का अर्थ बुढ़ापा नहीं है, इसका अर्थ यह है कि जब शरीर कर्म फल भोग चुकता है, तब आगे यह शरीर निरर्थक हो जाता है, यही शरीर की जीर्णता है और तब आत्मा इस शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस श्लोक पर यह टिप्पणी देते हैं- हे अर्जुन! सो विचार कि, नये कपड़े बदलने के दिन कोई रोता है कि हाय मेरे पुराने कपड़े छूट गये। यदि किसी मनुष्य के घर चोर आवें और हीरे, जवाहारात की पेटी सुरक्षित छोड़ जायें तथा कौड़ियाँ चुरा लें तो वह हीरे जवाहारात के बच जाने पर खुशी मनावें अथवा कौड़ियों को रोवे। इसी प्रकार हे अर्जुन! देख इस युद्ध में जो असली स्वामी (आत्मा) है। उसका तो कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। इसलिए तू युद्ध कर।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

एनम्, शस्त्राणि, न, छिन्दन्ति (इस आत्मा को, शस्त्र, नहीं, काट सकते), एनम्, पावकः, न, दहति (इसको, आग, नहीं, जला सकती), एनम्, आपः, न, क्लेदयन्ति (इस आत्मा को, पानी, नहीं, गला सकता), च, मारुतः, न, शोषयति (और, वायु, नहीं, सुखा सकता)।

प्रश्न 19- क्या आत्मा को शस्त्र, अग्नि, जल वायु प्रभावित कर सकते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को समझाया, ''हे अर्जुन! आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी गीला कर सकता है और न ही

वायु सुखा सकती है। अग्नि, जल, वायु, शस्त्र आदि का प्रभाव तो शरीर पर पड़ता है, आत्मा पर नहीं। शरीर के सुख-दु:ख का भोक्ता आत्मा है। मानव जीवन में जो कुछ भी पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छा बुरा आदि होता है, उसका फल आत्मा को ही भोगना पड़ता है। जीव प्रभु की न्याय-व्यवस्था से नाना-योनियों में आता-जाता है। पाप-पुण्य की ज़िम्मेदारी आत्मा की है। आत्मा इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के सम्पर्क से ऊँचा उठती हैं और इन्हीं के विकारों एवं दोषों के कारण नीचे भी गिर जाती है। यदि मानव अपने आत्मस्वरूप को नहीं समझता, तो पतित होकर ठोकरें खाता हुआ पाप की गठरी लादकर जन्म-जन्मान्तर तक अनेक योनियों के चक्कर काटता है।''

स्वामी रामसुखदास जी अपनी साधक संजीवनी में लिखते है- यहाँ युद्ध का प्रसंग है। ये सब संबंधी मर जायेंगे- इस बात को लेकर अर्जुन शोक कर रहे हैं। अत: श्री कृष्ण जी कहते हैं कि ये कैसे मर जायेंगे? क्योंकि वहाँ तक अस्त्र-शस्त्रों की क्रिया पहुँचती ही नहीं, अर्थात् शस्त्र के द्वारा काटे जाने पर भी शरीरी (आत्मा) नहीं कटता। अग्नि के द्वारा शरीर जल जाने पर भी शरीरी नहीं जलता, वरूणास्त्र के द्वारा शरीर गल जाने पर भी शरीरी नहीं गलता और वायव्यास्त्र के द्वारा शरीर सूख जाने पर भी शरीरी नहीं सूखता। तात्पर्य है कि अस्त्र-शास्त्रों के द्वारा शरीर मर जाने पर भी शरीरी नहीं मरता प्रत्युत ज्यों का त्यों निर्विकार रहता है। अत: हे अर्जुन! इसको लेकर शोक करना तेरी बिल्कुल ही अज्ञानता है, अत: युद्ध के लिए तैयार हो जा।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्य: सर्वगत: स्थाणुरचलोऽयं सनातन:।।२४।।

अयम्, अच्छेद्य: (यह आत्मा,काटी नहीं जा सकती), अयम्, अदाह्य: (यह आत्मा, जलाई नहीं जा सकती), अक्लेद्य (गलाई नहीं जा सकती), च, एव, अशोच्य (और, निस्सन्देह, सुखाई नहीं जा सकती), अयम्, नित्य: (यह आत्मा, नित्य है), सर्वगत: (शरीर के सब अंगों में व्याप्त), अचल: (अचल), स्थाणु: (स्थिर रहने वाला) सनातन: (प्राचीन)

प्रश्न 20- यदि आत्मा काटी, जलाई, गलाई, सुखाई नहीं जा सकती तो आत्मा क्या है?

उत्तर- श्रीकृष्ण जी अर्जुन को आत्मा की अमरता का उपदेश देते हुए कहते हैं, हे अर्जुन! यह आत्मा न तो काटी जा सकती है, न जलाई जा सकती है, न गीली

की जा सकती है, न सुखाई जा सकती है। यह आत्मा नित्य है, सदा रहने वाली है। सब शरीर के अंगों में इसकी गति है, यह अचल है तथा स्थिर रहने वाली है।

शस्त्र, अग्नि, जल, वायु चारों जड़ पदार्थ हैं। जड़ वस्तु शरीरी में कोई विकार, उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि शरीरी स्वत: स्वाभाविक निर्विकार है। निर्विकारिता इसका स्वरूप है।

श्री गुरुदत्त जी ने यहाँ अपनी टिप्पणी इस प्रकार दी है- ''इस श्लोक में एक शब्द है 'सर्वगत:'। इसका अर्थ कई भाष्यकारों ने सर्वव्यापक किया है। यहाँ यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यहाँ इस प्रसंग में शरीर और उसके जीवात्मा की बात हो रही है। जो जीवात्मा एक शरीर में रहता है वह सर्वव्यापक नहीं हो सकता।

दर्शनशास्त्र कहता है कि जब एक शरीर देखता, सुनता अथवा चखता है, उस समय दूसरे शरीर का जीवात्मा ऐसा नहीं कर रहा होता। यदि जीवात्मा सर्वव्यापक होता तो एक जीव के आनन्द भोगने पर सब मनुष्यों को आनन्द की अनुभूति होती। अत: 'सर्वगत:' का अर्थ सर्वव्यापक (परमात्मा) नहीं, प्रत्युत वह आत्मा है जो शरीर में रहते हुए शरीर को सक्रिय बनाए है। अर्थात् जिसकी उनमें गति (पहुंच) है। यहाँ प्राणी के शरीर तथा जीवात्मा का वर्णन हो रहा है, परमात्मा का वर्णन नहीं है। परमात्मा भी 'सर्वगत:' है परन्तु जब और जहाँ जीवात्मा और शरीर का वर्णन होगा, वहाँ अभिप्राय आत्मा से होगा।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अयम्, अव्यक्त: (यह आत्मा, इन्द्रियों का विषय नहीं है), अयम्, अचिन्त्य:, उच्यते (यह आत्मा, अचिन्त्य कहा जाता है), तस्मात् (इससे हे अर्जुन!), एनम्, एवम्, विदित्वा (इस आत्मा को, उपर्युक्त प्रकार से, जान कर), अनुशोचितुम् न, अर्हसि (शोक करने के, योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है)।

प्रश्न 21- क्या यह आत्मा इन्द्रियों और मन का विषय है?

उत्तर- श्री कृष्ण अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! आत्मा अव्यक्त है अर्थात् इन्द्रियों से ग्रहण करने का विषय नहीं है, अचिन्त्य है अर्थात् मन से ग्रहण करने का विषय भी नहीं है। इसे अविकार्य अर्थात् सर्वथा विकार रहित

कहा जाता है, इसलिए उसे ऐसा समझ कर, हे अर्जुन! तुझे शोक नहीं करना चाहिए।''

अर्जुन को समझाते हुए श्री कृष्ण अभी तक साँख्य-दृष्टि से विचार कर रहे हैं। साँख्य दृष्टि से पुरुष और प्रकृति- ये दो तत्त्व माने गये हैं। ११वें श्लोक से २५वें श्लोक तक तो पुरुष को, अर्थात् आत्मा को प्रधान मान कर सब कुछ कहा गया है। अब प्रकृति को प्रधान मानकर श्री कृष्ण जी कहते हैं, कि ''यदि तू यह कहे कि आत्मा अमर होगा, पर दीखता तो यही है कि हम अमर नहीं हैं।'' प्राकृतिक वस्तुओं के समान हम जन्म लेते हैं, मरते हैं इसके समाधान के लिए श्रीकृष्ण २६वें श्लोक में कहते हैं कि ऐसी स्थिति में तुझे मोह नहीं करना चाहिये, शोक नहीं करना चाहिए।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अथ, च, त्वम् (किन्तु, यदि, तू), एनम्, नित्यजातम् (इस आत्मा को, सदा जन्म लेने वाला), वा, नित्यम्, मृतम्, मन्यसे (तथा, सदा, मरने वाला, मानता है), तथापि, महाबाहो (तो भी, हे महाबाहु! तू) एवम्, शोचितम्, न, अर्हसि (इस प्रकार, शोक करने के योग्य नहीं है)।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

हि (क्योंकि इस मान्यता के अनुसार) जातस्य, मृत्यु, ध्रुवः (जो जन्मा है, उसकी मृत्यु, निश्चित है), तस्मात् (इससे भी इस) अपरिहार्ये, अर्थे, (इस बिना उपाय वाले, विषय में), त्वम्, शोचितम्, न, अहसि (तू, शोक करने के योग्य नहीं है)।

प्रश्न 22- श्री कृष्ण जी किसी के मरने पर भी शोक न करने को क्यों कहते हैं?

उत्तर- श्रीकृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, हे अर्जुन! जीवात्मा या तो अजर-अमर, अविनाशी है या क्षणभंगुर, ये दो ही पक्ष हो सकते हैं। यदि वह अजर-अमर है, तो क्षणभंगुर देह के जाने से इसका बिगड़ा क्या? और यदि वह नित्य मृत है तब तो जब स्वामी ही नहीं रहा फिर तो किसी का कुछ बिगड़ा नहीं। जब भोगने वाला ही नहीं रहा तो रोये किसे? इसलिए हे महाबाहो! इस अवस्था में भी तुम्हें बिल्कुल शोक नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो पैदा हुआ है, उसकी मृत्यु

निश्चित है, जो मर गया है उसका जन्म निश्चित है। इस प्रकार जो अवश्यमेव हो के रहने वाली बात है उस पर शोक मनाना तुझे उचित नहीं।

जो मिला है और बिछुड़ने वाला है, उस पर किसी का स्वतंत्र अधिकार नहीं चलता। कारण कि मिली हुई और बिछुड़ने वाली वस्तु अपनी और अपने लिए नहीं होती, प्रत्युत संसार की और संसार के लिए होती है।

शरीरी स्वयं अविनाशी है, शरीर विनाशी है। स्थूल-दृष्टि से केवल शरीरों को ही देखें तो जन्म से पहले भी हमारे साथ नहीं थे और मरने के बाद भी वे हमारे साथ नहीं रहेंगे। वर्तमान में वे हमारे साथ मिले हुए से दीखते हैं। पर वास्तव में हमारा उनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। इस तरह मिले हुए और बिछुड़ने वाले प्राणियों के लिए शोक करने से क्या लाभ?

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

भारत (हे अर्जुन!), भूतानि, अव्यक्तादीनि (सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और), अव्यक्तनिधनानि, एव (मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं केवल), व्यक्तमध्यानि (बीच में प्रकट है फिर), तत्र, का, परिदेवना (ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है?)

प्रश्न 23- श्री कृष्ण जी प्राणी जगत् के बारे में क्या बताते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी प्राणी जगत् के बारे में बताते हैं, ''हे अर्जुन! आदि में सब प्राणी अव्यक्त (शरीर रहित) थे। मृत्यु के बाद फिर अव्यक्त (शरीर रहित) हो जायेंगे। केवल जीवन काल (मध्य काल) में ही व्यक्त दिखाई देने वाले हो गये तो फिर इस स्थिति में शोक करने की क्या (युक्ति) है?''

शरीरी (आत्मा) स्वयं अविनाशी है। स्थूल दृष्टि से केवल शरीरों को ही देखें तो वे जन्म से पहले भी हमारे साथ नहीं थे और मरने के बाद भी वे हमारे साथ नहीं रहेंगे। वर्तमान में वे हमारे साथ मिले हुए से दिखते हैं पर वास्तव में हमारा उनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। इस तरह मिले हुए और बिछुड़ने वाले प्राणियों के लिए शोक करने से क्या लाभ?

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

कश्चित्, एनम् (कोई एक महापुरुष ही, इस आत्मा को), आश्चर्यवत्, पश्यति (आश्चर्य की भाँति, देखता है) च (और), तथा, एव, अन्य, आश्चर्यवत्,

वदति (वैसे ही, दूसरा कोई महापुरुष, आश्चर्य की भांति, वर्णन करता है), च, अन्य: (तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही), एनम्, आश्चर्यवत्, शृणोति (इसे, आश्चर्य की भांति, सुनता है), च, कश्चित्, (और, कोई-कोई तो), श्रुत्वा आदि (सुनकर, भी), न, एव, वेद (नहीं जानता)।

प्रश्न 24- श्री कृष्ण जी आत्मतत्त्व का गहनता से किस प्रकार वर्णन करते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे अर्जुन! यह आत्मतत्त्व बड़ा गहन है। पहले तो वे लोग बहुत थोड़े हैं जो इस जीवात्मा का रहस्य दर्शन करते हैं और उनके भी पल्ले क्या पड़ता है? फिर कोई-कोई उस आश्चर्य को वाणी द्वारा दूसरों तक पहुंचाते हैं, फिर श्रोताओं को भी सुनकर आश्चर्य होता है और सच पूछो तो सुनने वाला आश्चर्य के अतिरिक्त कुछ जान भी तो नहीं पाता तो हे अर्जुन! आश्चर्य का स्थान शोक को मत दो।''

यह आत्मा इतना विलक्षण है कि इसका अनुभव भी आश्चर्यजनक होता है, वर्णन भी आश्चर्यजनक होता है और इसका वर्णन सुनना भी आश्चर्यजनक होता है। परन्तु शरीरी का अनुभव सुनने मात्र से अर्थात् अभ्यास से नहीं होता, प्रत्युत् स्वीकार करने से होता है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

भारत (हे अर्जुन!), अयम्, देही (यह, आत्मा), सर्वस्य, देहे (सब के शरीरों में), नित्यम्, अवध्य: (सदा ही, न वध करने योग्य है), तस्मात् (इस कारण से), सर्वाणिभूतानि, त्वम् (सब, प्राणियों के लिए, तू), शोचितम्, न अर्हसि (शोक करने के, योग्य नहीं है)।

प्रश्न 25- क्या आत्मा सदा अवध्य (न वध करने योग्य) है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा, ''हे अर्जुन! सब की देह में यह देही (आत्मा) नित्य (सदैव) से वध न करने योग्य है। इसलिए सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए।''

मनुष्य, आत्मा और देह का समुच्चय है। इसमें आत्मा अमर है। इसलिए मरना या मारना दोनों ही शब्द उसके लिए उपयुक्त नहीं होते। शेष रह गई देह, वह तो स्वभाव से ही अनित्य है। यदि उसका नाश हो जाए तो शोक करने योग्य कुछ है ही नहीं। यदि अनायास अथवा काल की गति से कोई मर जाये या

किसी को कोई मार डाले, तो उसको भी सुख-दु:ख न मानकर शोक करना छोड़ दे, परन्तु फिर भी इस प्रश्न का निपटारा नहीं होता कि युद्ध जैसा घोर कर्म करने के लिए जान-बूझकर लोगों के शरीरों का नाश हम क्यों करें? यद्यपि देह अनित्य है, तथापि आत्मा का कल्याण या मोक्ष सम्पादन करने के लिए देह ही तो एकमात्र साधन है। बिना योग्य कारणों के किसी दूसरे को मार डालना घोर पातक है। इसलिए यद्यपि मरे हुए के लिए शोक करना उचित नहीं है तथापि इसका कुछ-कुछ प्रबल कारण बतलाना आवश्यक है कि एक दूसरे को क्यों मारे? इसी का नाम धर्म, धर्मविवेक है और गीता का वास्तविक प्रतिपाद्य विषय भी यही है। अब जो चातुर्वर्ण्य व्यवस्था साँख्य मार्ग द्वारा सम्मत है उसके अनुसार भी युद्ध करना क्षत्रिय का कर्तव्य है। इसलिए श्री कृष्ण जी कहते हैं कि तू मरने, मारने का शोक मत कर।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

च (तथा), स्वधर्मम्, अवेक्ष्य:, अपि (अपने धर्म को, देखकर, भी तू), विकम्पितुम्, न, अर्हसि (भय करने योग्य, नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिए), हि (क्योंकि), क्षत्रियस्य, धर्म्यात्, युद्धात् (क्षत्रिय के लिए, धर्मयुक्त, युद्ध से बढ़कर), अन्यत्, श्रेय: न विद्यते (दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।)

प्रश्न 26- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को क्षत्रिय का क्या कर्तव्य बताया?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, ''हे अर्जुन! अपने क्षात्रधर्म को देखकर भी तुम्हें विकम्पित नहीं होना चाहिए, अर्थात् अपने कर्तव्य कर्म (युद्ध) से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि धर्ममय युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए दूसरा कोई कल्याणकारक कर्म नहीं है।''

श्री गुरुदत्त जी ने क्षात्रधर्म (क्षत्रिय) के कर्म के विषय में मनुस्मृति को उद्धृत किया है-

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याऽध्ययनमेव च (१/१८९)

अर्थात् प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, स्वाध्याय करना - ये राजा (क्षत्रिय) के कार्य हैं।

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।(७/१७)

अर्थात् राजा ही दण्ड देता है, वह शक्तिशाली नेता है तथा चारों वर्ण उससे शासित होते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में जब दुर्योधनादि अधर्मयुक्त व्यवहार करने लगे और अर्जुन कर्तव्यच्युत होने लगा तो कृष्ण ने अर्जुन को क्षत्रिय धर्म और राजधर्म का स्मरण कराया और कहा कि तुम दोनों प्रकार से इन सामने खड़े अधर्मियों को दण्ड देने के योग्य हो।

जो लोग गीता को निवृति मार्ग का ग्रन्थ मानते हैं, वे वहाँ स्वधर्म का अर्थ, गृहस्थधर्म मानते हैं। बालगंगाधर इस पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं ....''संन्यास अथवा साँख्य मार्ग के अनुसार यद्यपि कर्म संन्यास (कर्मों का त्याग) रूपी चतुर्थ आश्रम अन्त की सीढ़ी है तो भी मनु के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्मण धर्म और क्षत्रिय को क्षत्रिय धर्म का पालन कर गृहस्थाश्रम पूरा करना चाहिए। अतएव इस श्लोक और अगले श्लोक का तात्पर्य यह है कि गृहस्थाश्रमस्थ अर्जुन को युद्ध करना आवश्यक है'' गीता रहस्य टिप्पणी २/३१

हम यह समझते हैं कि यहाँ स्वधर्म और स्वधर्मों का अर्थ श्लोक में कहे ''**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयो.... न विद्यते**'' से ही अभिप्राय है।

संन्यास जैसी तिलक जी ने जो कल्पना की है वह केवल ब्राह्मण प्रवृत्ति (स्वभाव) वालों के लिए ही है और ब्राह्मण तो गृहस्थ धर्म में भी युद्ध के लिए विवश नहीं किये गये।

सब सभ्य देशों और सभ्य समाजों में मानव-हत्या घोर पाप माना गया है। इस अपराध का घोर दण्ड नियत किया गया है। परन्तु श्री कृष्ण जी ने युद्ध में दुष्टों के वध को न केवल धर्म माना है वरन् उसे स्वर्ग प्राप्ति में साधन समझा है। यह इस कारण कि श्री कृष्ण जी के विचार में धर्म की स्थापना परम कल्याण का कार्य है। अत: श्रीकृष्ण जी कर्तव्य कर्म (क्षात्र धर्म) के पालन का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

पार्थ (हे अर्जुन!), यदृच्छया, उपपन्नम् (अपने आप, प्राप्त हुए), च (और)अपावृतम्, स्वर्ग द्वारम् (खुले हुए, स्वर्ग के द्वार रूप), ईदृशम, युद्धम् (इस प्रकार के, युद्ध को), सुखिनः, क्षत्रियाः, लभन्ते (भाग्यवान्, क्षत्रिय लोग, ही पाते हैं)।

प्रश्न 27- धर्म युद्ध से क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को धर्मयुद्ध के लाभ बताते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! यह युद्ध तुझे अपने आप प्राप्त हो रहा है, ऐसा प्राप्त हुआ युद्ध स्वर्ग के लिए द्वार को खोलता है। हे पृथानन्दन! वे क्षत्रिय बड़े सौभाग्यशाली होते हैं, जिन्हें ऐसा धर्म युद्ध प्राप्त होता है।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अथ, चेत्, त्वम् (किन्तु, यदि, तू), इमम्, धर्म्यम्, संग्रामम्, न, करिष्यसि (इस धर्म युक्त, युद्ध को, नहीं करेगा), ततः (तो), स्वधर्मम् च, कीर्तिम्, (स्वधर्म और कीर्ति को), हित्वा (खोकर), पापम्, अवाप्सयसि (पाप को प्राप्त होगा)

प्रश्न 28- धर्म युद्ध न करने पर क्षत्रिय की क्या स्थिति होती है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस धर्म युद्ध को न करने की स्थिति से अवगत कराते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! यदि तू इस धर्मयुद्ध को नहीं करेगा, तो तू स्वधर्म (क्षत्रिय धर्म) से पतित माना जायेगा और पाप का भागी बनेगा।''

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

च (तथा), भूतानि, ते (सब लोग, तेरी), अव्ययाम् (बहुल काल तक रहने वाली), अपकीर्तिम्, अपि, कथयिष्यन्ति (अपयश, भी, करेंगे), च (और), सम्भावितस्य, अकीर्तिः मरणात्, अतिरिच्यते (सम्मानीय व्यक्ति के लिए, अपयश मरण से भी बढ़कर है।)

प्रश्न 29- धर्म युद्ध न करने पर संसार के अन्य जन योद्धा के बारे में क्या विचार बना लेते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन से युद्ध न करने की स्थिति में साधारण जनों की विचारधारा बताते हुए अर्जुन को सावधान करते हैं, ''हे अर्जुन! यदि तू इस धर्मयुद्ध से भागा तो संसार के सभी लोग तेरा अपयश करेंगे, तेरी निन्दा होगी। यह अपयश सम्मानित व्यक्तियों के लिए मृत्यु से भी बढ़कर होता है। इसलिए हे अर्जुन! यदि तू अपयश और निन्दा से बचना चाहता है और जीते जी मृत्यु जैसे दु:ख से बचना चाहता है तो धर्मयुद्ध कर अन्यथा सभी लोकों में तेरी निन्दा होती रहेगी।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी का यहाँ पर विशेष विवरण है- यह बात

बिल्कुल स्पष्ट है, कि यदि क्षत्रिय अधर्म का पक्ष लेकर लड़ता हुआ मर जाय तो स्वधर्म तो नहीं मिला, किन्तु कीर्ति तो फिर भी मिल गई। यदि अधर्म का नाम लेकर युद्ध से हट गया तो अपकीर्ति तो बनी रहेगी, जब तक इस बात का प्रमाण न मिल जाये तो उसने अधर्म से डरकर युद्ध छोड़ा है, मृत्यु भय से नहीं, किन्तु जो धर्मयुक्त युद्ध से लड़ा उसे तो स्वधर्म और कीर्ति दोनों मिल गये। फिर इसमें भी पहले स्वधर्म का स्थान है, फिर कीर्ति का। बस क्षत्रिय धर्म रक्षार्थ संग्राम करता है, स्वजन रक्षार्थ नहीं। यही गीता का मर्म है।

हे अर्जुन! इसके अतिरिक्त यहाँ धर्मयुद्ध से विमुख होने पर संसार के अन्य लोग जो तेरा अपयश करेंगे, तेरी निन्दा होगी। इस अपयश और निन्दा से आक्रान्त होकर तू जीते जी मर जायेगा। अतः धर्म युद्ध कर।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

च (और), येषाम्, त्वम्, बहुमतः, भूत्वा (जिनकी दृष्टि में, तू पहले), {बहुत सम्मानित होकर अब} लाघवम्, यास्यसि (लघुता को प्राप्त होगा, वे), महारथाः (महारथी लोग), त्वाम्, भयात् (तुझे, भय के कारण) रणात्, उपरतम्, मंस्यन्ते (युद्ध से, हटा हुआ मानेंगे)।

प्रश्न 30– धर्म युद्ध से विमुख होने पर महारथी लोग अर्जुन के बारे में क्या विचारधारा बनायेंगे ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि तू धर्म युद्ध से विमुख हो गया, तो महारथी लोग यह समझेंगे कि तू भय के कारण युद्ध से हट गया है, विमुख हो गया है। जो अब तक जिन महारथियों के हृदय में तेरे लिये आदर का भाव था, वह आदर नहीं रहेगा और उनकी दृष्टि में तू छोटा हो जायेगा। वे लोग तुझे रण में भय के कारण भागा हुआ समझेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

तव, अहिताः (तेरे, शत्रु लोग), तव, सामर्थ्यम्, निन्दितः (तेरे, सामर्थ्य की, निन्दा करते हुए तुझे), बहून्, अवाच्यवादान्, च, वदिष्यन्ति (बहुत से, न कहने योग्य वचन, भी, कहेंगे), ततः, दुःखतरम् (उससे, अधिक दुःख) न, किम् (और, क्या होगा?)।

प्रश्न 31– धर्म युद्ध से विमुख होने पर योद्धा को क्या कुछ कहा जाता है ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि यदि तू धर्मयुद्ध से विमुख हो गया तो तेरे शत्रु लोग तेरे बारे में क्या कहेंगे? तू उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। शत्रुओं को तेरे विरुद्ध विष–वमन का अवसर मिल जायेगा। वे शत्रु लोग तेरी सामर्थ्य की निन्दा करते हुए ऐसी–ऐसी बातें कहेंगे जो कहने के योग्य नहीं होगी। इसलिए तेरा भला इसी में है कि तू धर्म–युद्ध के लिए तैयार हो जा।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

वा, हतः स्वर्गम्, प्राप्यसि (या, {तो, तू युद्ध में}, मारा जाकर, स्वर्ग को प्राप्त होगा), वा, जित्वा, महीम्, भोक्ष्यसे (अथवा, युद्ध में जीत कर, पृथ्वी का, राज्य भोगेगा), तस्मात्, कौन्तेय (इस कारण से हे अर्जुन, तू) युद्धाय, कृतनिश्चियः, उत्तिष्ठ (युद्ध के लिए, निश्चय करके, खड़ा हो जा)।

प्रश्न 32– धर्मयुद्ध में मरने और जीते रहने से क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर– धर्मयुद्ध की सार्थकता का विवरण देते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि कुछ देर के लिए मैं मान लूँ कि तू युद्ध में मारा जाता है तो तुझे स्वर्ग की प्राप्ति होगी और यदि तू युद्ध में विजयी हो जाता है तो पृथ्वी का राज्य भोगेगा। अतः हे कुन्तीनन्दन! तू युद्ध के लिए निश्चय करके खड़ा हो जा।

इस श्लोक के अर्थ पढ़ने से यह भ्रम भी होता है कि मरने पर ही स्वर्ग मिलता है, जीते जी नहीं, परन्तु वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जीते जी सुख विशेष की प्राप्ति स्वर्ग है और धर्म युद्ध में मरने के पश्चात् आवागमन के सिद्धान्त के अनुसार जीवात्मा अच्छे धार्मिक, सम्पन्न परिवारों में जन्म लेता है, वहाँ उसे सुख की प्राप्ति होती है, यह भी स्वर्ग है और मोक्ष को भी स्वर्ग कह देते हैं।

स्वामी राम सुखदास जी ने अपनी साधक संजीवनी में इस श्लोक पर विशेष टिप्पणी की है– इस अध्याय के छठे श्लोक में अर्जुन ने कहा था कि हम लोगों को इसका भी पता नहीं है कि युद्ध में हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे। अर्जुन के इस सन्देह को श्रीकृष्ण जी यहाँ स्पष्ट कहते हैं कि अगर युद्ध में तुम कर्णादि के द्वारा मारे भी जाओगे तो स्वर्ग को चले जाओगे और अगर युद्ध में तुम्हारी जीत हो जायेगी तो यहाँ पृथ्वी का राज्य भोगोगे। इस तरह तुम्हारे दोनों हाथों में लड्डू हैं। तात्पर्य है कि युद्ध करने से तो तुम्हारा दोनों तरफ से

लाभ ही लाभ है और युद्ध न करने से दोनों तरफ से हानि ही हानि है। अतः तुम्हें युद्ध में प्रवृत्त हो जाना चाहिए।

इस श्लोक में अर्जुन के लिए 'कौन्तेय' का सम्बोधन देने का तात्पर्य यह है कि जब मैं (श्री कृष्ण) सन्धि का प्रस्ताव लेकर कौरवों के पास गया था, तब माता कुन्ती ने तुम्हारे लिए यही सन्देश भेजा था कि तुम युद्ध करो। अतः युद्ध से निवृत्त नहीं होना चाहिये प्रत्युत् युद्ध का निश्चय करके खड़े हो जाना चाहिये। यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपनी माता जी द्वारा दिए गए आदेश का स्मरण भी करा रहे हैं।

यहाँ श्रीकृष्ण जी का तात्पर्य ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य को किसी भी स्थिति में कर्तव्य का त्याग नहीं करना चाहिये, प्रत्युत् उत्साह और तत्परतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। इसी में मनुष्य की मनुष्यता है।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

जयाजयौ, लाभालाभौ, सुख-दुःखे (जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःख को), समे, कृत्वा (समान-समझकर), ततः (उसके बाद), युद्धाय, युज्यस्व (युद्ध के लिए तैयार हो जा), एवम् (इस प्रकार युद्ध करने से तू), पापम् न अवाप्यसि (पाप को नहीं प्राप्त होगा)।

प्रश्न 33- युद्ध करने से कौन सी स्थिति में पाप नहीं लगेगा ?

उत्तर- अर्जुन को यह आशंका थी कि युद्ध में कुटुम्बियों को मारने से हमको पाप लग जायेगा पर श्री कृष्ण जी यहाँ कहते हैं कि पाप का हेतु युद्ध नहीं है प्रत्युत् अपनी कामना है। अतः कामना का त्याग करके तू युद्ध के लिए खड़ा हो जा। वे कहते हैं, ''हे अर्जुन! जब तक तू स्वजन-सुख, शत्रुजन-दुःख, धन-धान्य, धरती-राज्य अथवा लाभ-हानि, जय-पराजय इसकी गणना करके लड़ेगा तब तक स्वार्थ के कारण कुछ न कुछ पाप का भागी अवश्य होगा। हाँ, जब तू सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीत-हार की चिन्ता छोड़ के न्याय-रक्षा रूप स्वधर्म को सामने रखकर लड़ेगा, तो पाप तुझे छू नहीं सकता। इसलिए स्वधर्म को सामने रखकर युद्ध कर। इस प्रकार तुझे पाप नहीं लगेगा।''

इस श्लोक की व्याख्या डॉ. शशि तिवारी जी ने अपनी पुस्तक ''गीता-विमर्श के दूसरे अध्याय में इस प्रकार की है- स्वजनों की मृत्यु की चिन्ता के कारण शोक और मोह से अभिभूत होकर अर्जुन ने अपने कर्तव्य युद्ध से विमुख

होने की बात की। श्रीकृष्ण जी ने उसके शोक के निराकरण के लिए उसे आत्मज्ञान का जो उपदेश दिया उसे ज्ञानयोग या ज्ञानमार्ग कहते हैं। इसी के अनन्तर उन्होंने प्रतिष्ठा, लोकनिन्दा आदि का उल्लेख करते हुए अर्जुन को बतलाया कि सांसारिक दृष्टि से भी युद्ध छोड़ना उसके लिए अनुचित है। यह सुनिश्चित करने के बाद कि अर्जुन के लिए अपना कर्तव्य कर्म करना परम आवश्यक है। उन्होंने करने की कुशलता को निष्काम कर्मयोग के रूप में प्रतिपादित किया। यह श्लोक इसी सिद्धान्त की भूमिका जैसा है।

संसार द्वन्द्वात्मक है। प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष है। प्रायः, मनुष्य की सभी क्रियायें प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल को ध्यान में रखकर होती है। जिससे उसको सुख मिलता है, उससे उसको राग होता जाता है, और जिससे दुःख मिलता है उससे द्वेष होता जाता है। लाभ सुख देता है और हानि दुःख। इसी तरह जय सुख देती है और पराजय दुःख। राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मनुष्य कर्म करता है तो उसके अच्छे या बुरे फल उसको बन्धन में बाँधते हैं। अच्छे कर्मफल पुण्य कहलाते हैं और बुरे कर्मफल पाप। ये कर्मफल बन्धन कारक हैं। कर्म बन्धन कारक नहीं है। अतः कर्म किया जाये और उसका फल बन्धन न बने - यही आदर्श स्थिति है। यहाँ श्री कृष्ण जी उपदेश दे रहे हैं कि कर्म को कर्तव्य बुद्धि से करना चाहिये और सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय में समत्व भाव रखना चाहिये। दोनों स्थितियों को बराबर समझना ही निर्द्वन्द्व होना है। यदि अर्जुन निर्द्वन्द्व होकर युद्ध करेगा तो कदापि पाप का भागी नहीं होगा। ऐसा समझ जाने पर उसकी युद्ध के प्रति विमुखता स्वतः दूर हो जायेगी, क्योंकि उसकी नासमझी ही उसके युद्ध न करने की अड़चन है।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

पार्थ (हे अर्जुन!) एषा, बुद्धिः (यह, बुद्धि), ते सांख्ये, अभिहिता (तेरे लिए, ज्ञान योग के विषय में, कही गई), तु (और अब तू), इमाम्, योगे, शृणु (इसको, कर्मयोग के विषय में सुन), यया, बुद्ध्या (जिस, बुद्धि से), युक्तः (युक्त हुआ, तू), कर्मबन्धम् (कर्म के बन्धन को), प्रहास्यसि (भली भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा)।

प्रश्न 34- कर्म बन्धनों को काटने में हेतु, कर्म विषयक बुद्धि का वर्णन करने की श्रीकृष्ण जी की क्या प्रस्तावना थी ?

उत्तर– यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं– हे अर्जुन! अब तक मैंने तुम्हें साँख्ययोग का ज्ञान बताया है। अब तू योग का ज्ञान सुन। इस ज्ञान को ग्रहण करके तू कर्म के बन्धनों को परे फेंक देगा।

डॉ. शशि तिवारी जी ने अपनी पुस्तक 'गीता विमर्श' में इस की इस प्रकार व्याख्या की है– अर्जुन शोक और मोह से ग्रस्त होकर अपने कर्तव्य कर्म युद्ध से विमुख होने की बात करता है। श्री कृष्ण जी ने उसके शोक को दूर करने के लिए उसको पहले ज्ञान का उपदेश दिया। अत: शोक अनुचित है। ज्ञानमार्ग को यहाँ साँख्यबुद्धि कहा गया है। जिससे परम तत्त्व का सम्यक् दर्शन हो वह ज्ञान साँख्य है। उस ज्ञान का प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व साँख्य है। श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे अर्जुन! मैंने अब तक तुम्हें साँख्य बुद्धि या ज्ञान मार्ग बताया। अब आगे योगबुद्धि बताने जा रहा हूँ। वस्तुत: योग बुद्धि को ही आगे चलकर योग, कर्मयोग, बुद्धि, धर्म, बुद्धियोग आदि नाम भी दिये गये हैं। सामान्य रूप से योगबुद्धि का अभिप्राय अधिक प्रचलित नाम निष्काम कर्मयोग है। श्रीकृष्ण जी ने यहीं पर उसका उद्देश्य सार रूप में दे दिया है– यह वह मार्ग है जिस पर चलकर तुम कर्मबन्धन का नाश करने में समर्थ हो। वस्तुत: कर्म मनुष्य के बन्धन कारक नहीं है। बन्धन तो कर्मफल हैं। यदि कर्मों को बिना फल की कामना के किया जाये तो वे बन्धन नहीं बनते। इससे चित्त के राग, द्वेष आदि विकार समाप्त हो जाते हैं और चित्त में शुद्धता उत्पन्न होती है, जिससे तत्त्व साक्षात्कार में सहायता मिलती है। (वैदिक सिद्धान्त बन्धन का कारण अविद्या को मानता है)

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

इह (इस कर्म योग में), अभिक्रमनाश:, न अस्ति (आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश, नहीं है और)] प्रत्यवाय:, न (उल्टा फलरूप दोष भी, नहीं) अस्ति है, अस्य, धर्मस्य, स्वल्पम्, अपि (इस कर्मयोग रूप, धर्म का, थोड़ा सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप), महत:, भयात्, त्रायते (महान् भय से, रक्षा कर लेता है)

प्रश्न 36– श्री कृष्ण जी कर्मयोग की महिमा का क्या वर्णन कर रहे हैं?

उत्तर– अब तक बताये गये मार्ग पर श्री कृष्ण जी को लगने लगा कि अर्जुन की शंका का समाधान नहीं हुआ। अत: श्री कृष्ण जी अब कर्म-योग की दृष्टि पर आ जाते हैं। ऐसा मार्ग जिसमें कर्म तो नहीं छूटता, वह तो करना ही होता है परन्तु कर्म करने में जो भय बना रहता है– युद्ध करूँगा तो पाप लगेगा– यह भय छूट जाता है। यहाँ पर श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं कि कर्मयोग में प्रारम्भ किये गये कर्म का नाश नहीं होता और उल्टा फल मिल जाय– ऐसा दोष भी नहीं होता। कर्म योग रूपी धर्म का थोड़ा-सा भी आचरण बड़े भय से मनुष्य की रक्षा करता है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी इस श्लोक के विशेष विवरण में कहते हैं– उपनिषदों तथा गीता के काल में 'कर्म' का अर्थ उस समय चले हुए तथा कथित वैदिक कर्मकाण्ड से था जिसकी अवहेलना करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है ''**प्लवा ह्येते अदृढाः यज्ञरूपाः**'' ये कर्मकाण्ड के पचड़े जीवन रूपी नदी को पार तैराने वाले असुरक्षित बेड़े हैं। अर्जुन कहीं कर्म-योग से उस कर्मकाण्ड को न समझ बैठे, इसलिए पहले कर्म योग के विषय में स्पष्टीकरण किया गया है। श्री कृष्ण जी पहले कर्म-काण्ड के विषय में तो यह कहा जाता था कि अगर यज्ञ पूरा न हुआ तो फल नहीं मिलेगा, बीच में कोई विघ्न आ गया तो फल नहीं मिलेगा। यहाँ श्री कृष्ण जी यह कहते हैं कि कर्म-काण्ड में ये दोनों दोष हैं, परन्तु हमारे कर्मयोग में ये दोनों दोष नहीं है। इन दोनों में पहला दोष है– अभिक्रम नाश (बीज का नाश), दूसरा है 'प्रत्यवाय' (उल्टा फल)। कर्म-योग में ये दोनों दोष नहीं है। कर्म-योग में जो कार्य किया जाता है वह अनासक्ति से, ईश्वर को अर्पण करके किया जाता है, वह न तो नष्ट होता है और न ही उसमें किसी प्रकार के विघ्न की संभावना है, तब फल न मिलने का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

कुरुनन्दन (हे अर्जुन), इह, व्यवसायात्मिका, बुद्धि:, एका (इस कर्मयोग में, निश्चयत्मिका बुद्धि, एक ही होती है, किन्तु), अव्यवसायिनाम् (अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की), बुद्धय: (बुद्धियाँ), हि (निश्चय ही), बहुशाखा:, च अनन्ता: (बहुत शाखाओं वाली, और बेअन्त हैं)।

प्रश्न 37– श्री कृष्ण जी ने कौन सी बुद्धि को उचित माना है?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को दृढ़ निश्चय वाली बुद्धि की ओर चलने की प्रेरणा करते हुए कहते है, ''हे अर्जुन! इस संसार में कर्मयोगियों के कर्तव्य-पालन में निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है, कर्तव्य पालन के स्थान में नाना प्रकार

के पूजा-पाठ, मंत्र, पुरश्चरणादि बताने वालों की बुद्धियों का क्या ठिकाना? इनकी शाखा में शाखा फूटती है और इस प्रकार वे अनन्त हैं। [एक सेना में हज़ार सिपाही हैं, कोई भैरव के पीछे है, कोई डाकिनी-शाकिनी जन्त्र-मन्त्र, जादू-टोने के पीछे हैं, परन्तु राष्ट्र की रक्षार्थ परेड पर उपस्थित होने में कल्याण है।] यह एक निश्चयात्मक बुद्धि है। सच्चे क्षत्रिय न्याय की रक्षा तथा अन्याय के नाश में निश्चयात्मक बुद्धि लेकर चलते हैं। हे अर्जुन! तू आज उससे विचलित क्यों हो रहा है?

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

पार्थ (हे अर्जुन!) वेदवादरताः (जो कर्मफल के प्रशंसक वेद वाक्यों में ही प्रीति रखते हैं, अथवा वेद के वाद-विवाद में रत है [वेदों से यहाँ अर्थ कर्म काण्ड का प्रतिपादन करने वाले ब्राह्मण ग्रन्थों से हैं, ऋक्, यजुः, साम, अथर्व वेदों से नहीं, क्योंकि कर्मकाण्ड का इन्हीं में वर्णन है, इन्हें तभी वेद भी कहा जाता था और यही सिलसिला भी कर्मकाण्ड का चल रहा है]), अविपश्चितः (अज्ञानी या वे अविवेकीजन, जो मन से ठीक नहीं देख सकता), अन्यत्, न (दूसरी कोई वस्तु ही नहीं), अस्ति (है), इति, वादिनः (ऐसा, कहने वाले हैं), इमाम्, याम् (इस प्रकार जिस), पुष्पिताम्, वाचम्, प्रवदन्ति (पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को, कहा करते हैं [जो कि])

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैयश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

कामात्मनः (जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं अर्थात् लालसा में फंसे हुए,) स्वर्गपराः (जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है), जन्म कर्मफल प्रदाम् (जन्म रूप कर्मफल देने वाली एवं), भोगैश्वर्यगतिम्, प्रति (भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए), क्रिया विशेष बहुलाम् (नाना प्रकार की बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है [यह पूर्व श्लोक के 'वाचं प्रवदन्ति' से संबंधित है।])

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। ४४।।

तया (उस वाणी द्वारा), अपहृतचेतसाम् (जिनका चित्त हर लिया गया है), भोगैश्वर्य, प्रसक्तानाम् (जो भोग और ऐश्वर्य में, अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों

की), समाधौ (समाधि में), व्यवसायात्मिका, बुद्धिः, न विधीयते (निश्चयात्मिका, बुद्धि, नहीं, होती।)

प्रश्न 38- किन मनुष्यों को एक निश्चय वाली बुद्धि नहीं मिलती?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को सकाम कर्मों में प्रीति रखने वाले मनुष्यों का वर्णन करते हुए कहते हैं, "हे अर्जुन! जो कामनाओं में तन्मय हो रहे हैं, वेदों में कहे हुए सकाम कर्मों में प्रीति रखने वाले हैं, (भोगों के सिवाय कुछ और है ही नहीं- ऐसा कहने वाले हैं, वे अविवेकीजन इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहा करते हैं, जो कि जन्मरूपी कर्मफल को देने वाली है तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है, उस दिखाऊ वाणी से जिसका अन्तःकरण हर लिया गया है, अर्थात् भोगों की ओर आकर्षित हो रहा है और जो भोग तथा ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन मनुष्यों में समाधि में एक निश्चय वाली बुद्धि नहीं होती।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थोनिर्योगक्षेम आत्मवान्।। ४५।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), वेदाः त्रैगुण्यविषयाः (वेद यहाँ ब्राह्मणग्रन्थ से तात्पर्य है, प्रकृति के तीन गुण हैं, प्रतिपाद्य विषय जिनके), निस्त्रैगुण्यः (तीन गुणों से अलग), निर्द्वन्द्वः (हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित), नित्यसत्त्वस्थः (सदा सत्त्व गुण की वृत्ति में स्थित), निर्योगक्षेमः (योग-क्षेम को न चाहने वाला, यहाँ अप्राप्त की प्राप्ति का नाम 'योग' है, प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम 'क्षेम' है), आत्मवान्, भव (बलवान् आत्मा वाला अर्थात् अध्यात्मवादी कर्मयोगी बन)।

प्रश्न 39- श्री कृष्ण अर्जुन को कैसे अध्यात्मवादी कर्मयोगी बनने का आदेश देते हैं?

उत्तर- यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को प्रकृति के भोग तथा ऐश्वर्य की लालसा से ऊपर उठने पर आदेश देते हुए कहते हैं, "हे अर्जुन! इन ज्ञानियों (वैज्ञानिकों का विषय त्रिगुणात्मक प्रकृति का है। तू इन तीन गुणों की प्रकृति से ऊपर उठ इससे बाहर हो जा), द्वन्द्वों (हर्ष-शोकादि) से मुक्त हो जो, योगक्षेम से विमुक्त होकर सत्त्वभाव में नित्य स्थित होकर अध्यात्मवादी कर्मयोगी बन।"

यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन से तीनों गुणों से रहित होकर अध्यात्मवादी और निष्कामी होने का आदेश देते है। यह स्थिति पाने के लिए निम्नलिखित चार विशेषताओं को अपने जीवन में अपनाना होगा- (क) द्वन्द्वों (सुख-दुःखादि)

से रहित होना (ख) सदा सत्त्वगुण को अन्तःकरण में पुष्ट करना (ग) योग और क्षेम की भावना से मुक्त होना (घ) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बनाये रखना।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। ४६।।

सर्वतः (चारों ओर से), सम्प्लुतोदके (पानी की बाढ़ आ जाने पर), उदपाने (छोटे जलाशय, तालाब में), यावान्, अर्थः (जितना, प्रयोजन रहता है), विजानतः (कर्मयोग जानने वाले के लिए), ब्राह्मणस्य, सर्वेषु, वेदेषु, तावान् (ब्राह्मण के, समस्त वेदों {कर्मकाण्डात्मक ब्राह्मण ग्रन्थों} में, उतना ही प्रयोजन रहता है)।

प्रश्न 40- ज्ञानवान् ब्राह्मण के लिए कर्मकाण्डात्मक ग्रन्थों का क्या महत्त्व रह जाता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी इस बात को एक दृष्टान्त से बहुत सुन्दर ढंग से समझाते हुए कहते है, "हे अर्जुन! चारों ओर से बाढ़ आ जाने पर जितना प्रयोजन एक तालाब का होता है, ज्ञानी ब्राह्मण के लिए उतना ही प्रयोजन वेदों (कर्मकाण्डात्मक ग्रन्थों) का होता है।"

जैसे बाढ़ के समय छोटे तालाब, कुएँ आदि को कोई नहीं पूछता वैसे ही कर्म योग का ज्ञान हो जाने पर कर्मकाण्ड का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। सारे प्रकरण का उद्देश्य कर्मयोग को कर्मकाण्ड की तुलना में श्रेष्ठ बताना है। जिनकी चेतना प्रबुद्ध हो चुकी हो, उनके लिए कर्मकाण्डीय विधियों का महत्त्व बहुत कम रह जाता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। ४७।।

ते, कर्मणि, हि, अधिकारः (तेरा, कर्म करने में ही अधिकार है), फलेषु, कदाचन, मा (उसके फलों में, कभी, नहीं), कर्मफलहेतु (अमुक कर्म का अमुक फल मिले यह हेतु मन में रखकर काम करने वाला), मा, भूः (मत, हो), ते, अकर्मणि, संगः, मा, अस्तु (तेरी, कर्म न करने में, प्रीति न हो)।

प्रश्न 41- श्री कृष्ण जी ने कर्मयोग के स्वरूप का क्या वर्णन किया है?

उत्तर- गीता के कर्म-योग का यह सब से मुख्य श्लोक है। यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को कर्मयोग के वास्तविक स्वरूप को बताते हुए कहते हैं "हे अर्जुन! तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्म के फल में नहीं अर्थात् फल

मिलना या न मिलना कभी भी तेरे हाथ में नहीं है। अमुक कर्म का अमुक फल अवश्य मिले- यह हेतु, यह इच्छा मन में रखकर काम करने वाला तू न बन, परन्तु तू अकर्मण्य भी मत बन।"

गीता के कर्म योग का यह सब से मुख्य श्लोक है, यहाँ कर्मयोग के सिद्धान्त को सूत्ररूप में निर्दिष्ट करते हुए उसके चार अंग बताये गये हैं। (क) देह का अभिमान रखने वाले जीव का अधिकार कर्म में है, अतः इसे शास्त्रों में बताये गये कर्मों को सदैव करते रहना चाहिए। (ख) कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिये, क्योंकि कर्मों के फल कर्ता के अधिकार में नहीं है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर कर्म का फल उसे कैसा और कितना मिलेगा, इस पर उसका कुछ अधिकार नहीं है। (ग) कर्मों को उनके फलों की लालसा से रहित होकर ही करना चाहिए। कर्म के फल को निमित्त बनाकर कर्म नहीं करने चाहिये। (घ) यदि कर्मों के फलों की कामना ही नहीं तो कर्म ही क्यों किया जाय- ऐसा सोचकर कर्म न करने में भी आग्रह नहीं होना चाहिये। कर्मों की सफलता और विफलता में एक सा रहना कर्मयोग का मूल आधार है।

मनुष्य का ध्यान प्रायः कर्म करने की ओर कम, उसका फल पाने की ओर अधिक रहता है, पर कर्म करना जहाँ हमारे हाथ में है, हमारे कर्मों का फल उन शक्तियों पर निर्भर है, जिन पर हमारा कोई वश नहीं है। अपनी ओर से पूरी निष्ठा, कुशलता और परिश्रम के साथ कर्म करने के पश्चात् यदि हमें वांछित फल नहीं मिलता है तो हमें कर्म करना छोड़ नहीं देना चाहिये। हम पायेंगे कि कर्म करने का अपना एक आनन्द है जो इस बात पर निर्भर नहीं करता कि हमारे कर्म का फल क्या मिलेगा, हमेशा कर्म के फल को लेकर उद्विग्न रहने वाला व्यक्ति कर्म करने के इस आनन्द से वंचित रहता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।। ४८।।

धनञ्जय (हे अर्जुन!) सङ्गम् (प्रीति या आसक्ति को) त्यक्त्वा (त्याग कर तथा), सिद्ध्यसिद्ध्योः, समः, भूत्वा (सिद्धि और असिद्धि में, समान बुद्धि वाला, होकर) योगस्थः(योग में स्थित हुआ), कर्माणि कुरु (कर्तव्य कर्मों को कर), समत्वम् योगः उच्यते (समत्व ही [जो कुछ भी कर्म किया जाय, उसके पूर्ण होने और न होने में तथा उसके फल में समभाव रहने का नाम 'समत्व' है] योग, कहलाता है)

प्रश्न 42– श्री कृष्ण जी के विचार में योग क्या है ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी समत्व भाव को योग कहते हुए अर्जुन को समझाते हैं, ''हे अर्जुन! योगस्थ होकर, कर्म योग में स्थित होकर, कर्म के फल की आसक्ति को छोड़कर कर्म की सिद्धि या असिद्धि दोनों अवस्थाओं में समता की मनोवृत्ति को धारण करके कर्म कर। कर्मफल मिलने या न मिलने की दोनों अवस्थाओं में मन की सम अवस्था रहे– इसी को योग कहते हैं।''

योग की साधना जीवन से हटकर नहीं की जा सकती। इसका अभ्यास जीवन को पूर्णता के साथ जीने के लिए करना है। इस श्लोक में योग की एक सरल परिभाषा दी गई है। समत्व का नाम योग है। योग की साधना के लिए आवश्यक है कि मनुष्य कर्म तो निरन्तर करे, किन्तु उसमें किसी प्रकार की आसक्ति न रखे। सफलता– असफलता की चिन्ता किये बिना जो व्यक्ति कर्तव्य कर्म करता है। वह योग के मार्ग पर प्रगति करता है। सभी दशाओं में अपने अन्दर समत्व का भाव रखना योग की चेतना जगाने में सहायक है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। ४९ ।।

बुद्धियोगात्, कर्म, दूरेण, अवरम् (बुद्धियोग से, सकाम कर्म, अत्यन्त ही, निम्न श्रेणी का है), धनञ्जय (हे अर्जुन तू), बुद्धौ, शरणम्, अन्विच्छ (समबुद्धि में ही, रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर), हि (निश्चय से), फलहेतवः (फल के हेतु कर्म करने वाले कर्म–काण्डी लोग), कृपणाः (अत्यन्त दीन हैं)।

प्रश्न 43– श्री कृष्ण जी ने सकाम कर्मों को समत्व बुद्धि की अपेक्षा कैसा बताया ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को बताया कि सकाम कर्म करने वाले हीन होते हैं। अर्जुन को स्पष्ट करते हुए कहा, ''हे अर्जुन! बुद्धियोग की अपेक्षा सकाम कर्म निष्काम कर्म की अपेक्षा से हीन हैं। अतः तुझे समत्व बुद्धि को आश्रय लेना होगा क्योंकि फल के हेतु कर्म करने वाले कर्मकाण्डी अत्यन्त दीन होते हैं।''

यहाँ बुद्धि योगात् का अर्थ है बुद्धि के सहाय से दूर होकर किया गया जो कर्म है–ऐसा कर्म अति तुच्छ होता है। इस श्लोक में 'कर्मयोग' को निष्काम कर्म को, बुद्धि योग कहा गया है। इसका कारण है दर्शन–साहित्य में बुद्धि के दो भेद किये हैं– संशयात्मिका बुद्धि तथा निश्चयात्मक बुद्धि। संशयात्मक बुद्धि

को मन कहते हैं और निश्चयात्मक बुद्धि को intellect कहते हैं। कर्म पर सारी शक्ति केन्द्रित करें, फल पर शक्ति व्यय न करें, इसलिए कर्मयोग का दूसरा नाम बुद्धियोग है।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। ५०।।

बुद्धियुक्तः (कर्मयोग से युक्त व्यक्ति), सुकृतदुष्कृते, उभे, इह, जहाति (पुण्य और पाप अच्छे और बुरे, दोनों, इस लोक में, त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है), तस्मात् (इससे तू), योगाय, युज्यस्व (कर्मयोग के लिए जुट जा), योगः, कर्मसु, कौशलम् (समत्वरूप योग ही, कर्मों में कुशलता है अर्थात् बन्धन से छूटने का उपाय है।)

प्रश्न 44– श्री कृष्ण जी ने कर्मों की कुशलता को ही कर्मयोग क्यों माना है ?

उत्तर– बुद्धिशील व्यक्ति इस संसार में पाप–पुण्य अर्थात् दुःखकारक अथवा सुखकारक दोनों ही कर्मों को यहीं त्याग देता है। इसलिए श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह परामर्श देते हैं कि तू समभाव बुद्धि (कर्मयोग) के लिए प्रयत्न कर। कर्मों में कुशलता ही योग है। संसार में अधिकतर मनुष्य अपना सारा जीवन मन के स्तर पर ही जीते हैं। मन सोच विचार करता है। उसके सोच विचार से ही सारे विज्ञानों का जन्म हुआ है। विश्व में स्थापित सभी सम्प्रदाय भी मन के चिन्तन की उपज हैं। ईश्वर कैसा है ? पाप क्या है ? पुण्य क्या है ? इस बारे में सम्प्रदाय ग्रन्थों के प्रणेता जैसा लिख गये हैं वैसा उन मतों के अनुयायी मानते आये हैं। इन मान्यताओं के कारण जीवन में अनावश्यक संघर्ष आ जाता है और समय तथा शक्ति का अपव्यय होता है। योगेश्वर श्री कृष्ण जी के अनुसार कर्मों में सच्ची कुशलता तभी आती है जब मनुष्य मन के स्तर से ऊपर उठकर बुद्धि के स्तर से सभी कार्य करता है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस श्लोक में आये '**जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते**' के अर्थों को स्पष्ट किया है। यहाँ कुछ विद्वान् इन के अर्थों में गड़बड़ी करते दिखते हैं। स्वामी शंकराचार्य इसका अर्थ करते हैं कि बुद्धि के सहाय से कर्म करने वाला पुरुष पाप–पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग कर देता है। इससे यह अभिप्रय है कि मनुष्य बुरे कर्मों के साथ पुण्य कर्मों को भी छोड़ देता है। गीताकार का ऐसा अभिप्राय नहीं है। सुकृत का अर्थ है अच्छे सुखकारक फल

वाले कर्म और दुष्कृत का अभिप्राय है दु:ख उत्पन्न करने वाले कर्म। श्लोक २/४८ में '**सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा**' पद द्वारा इसे स्पष्ट कर चुके हैं। सफलता सुखकारक होती है और असफलता दु:खकारक होती है। अत: किसी कर्म से सुख तथा किसी कर्म से दु:ख होता है इसका विचार छोड़कर बुद्धि से जो ठीक कर्म समझ में आता है, वह करना चाहिये। ऐसा करने वाला कर्म करने में कुशल समझा जायेगा। अत: लोगों को कष्ट देने वाले पाप कर्म के साथ लोकहित के कर्म भी छोड़ दे ऐसा, अर्थ करना गलत है, जो कि योगश्वर श्री कृष्ण को मान्य नहीं था। यहाँ पर कर्म छोड़ने की बात नहीं वरन् फल की इच्छा के त्याग की बात कही है।

मेरे विचार में सकाम भाव से काम करने वाला फल पर अपना अधिक ध्यान केन्द्रित कर देता है, निष्काम भाव से काम करने वाला फल पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा कर्म पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। फल पर ध्यान केन्द्रित करने से शक्ति का अपव्यय होता है, वह शक्ति जो कर्म पर लगनी चाहिये थी, फल पर भय, शंका आदि के रूप में नष्ट होती रहती है। इसलिए अपनी शक्ति का प्रयोग कर्म करना उचित है। कर्म के सम्बन्ध में इस दृष्टि का उत्पन्न हो जाना कर्मयोग है, कर्म कौशल है।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

हि (क्योंकि), बुद्धियुक्ता: मनीषिण: (बुद्धियोग से युक्त, ज्ञानी लोग), कर्मजम्, फलम्, त्यक्तवा (कर्मों से उत्पन्न होने वाले, फलों को, त्यागकर), जन्मबन्ध, विनिर्मुक्ता (जन्म रूप बन्धन से, मुक्त हो), अनामयम् (दु:ख रहित), पदम्, गच्छन्ति (परम पद को, प्राप्त हो जाते हैं)।

प्रश्न 45– कर्म योग का आश्रय लेने से साधक किस को प्राप्त करता है?

उत्तर– यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को पहले बताये समत्व बुद्धि की चर्चा करने के पश्चात् यह बताते हैं, ''हे अर्जुन! कर्म योग का आश्रय लेने से साधक सांसारिक दु:खों, कष्टों, उपद्रवों और दोषों से रहित सत्–चित् आनन्द स्वरूप परमात्मा को पा लेता है, यही मानव जीवन का लक्ष्य है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार इसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं– जिस प्रकार पक्षी अण्डे में बन्द पैदा होता है, इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति पूर्व जन्म में किये पाप–पुण्य के समूह रूपी अण्डे में घिरा पैदा होता है, जिसे लोग भाग्य

कहते हैं, किन्तु योग बुद्धि से युक्त महान् ज्ञानी लोग कर्म से उत्पन्न फल को त्यागकर और जन्म बन्धन से मुक्त होकर रोग–शोक से रहित परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।

जिनको यह योग–बुद्धि प्राप्त हो गई है, वे दृढ़ संकल्प वाले लोग, ''हाय विधाता ने हमें कैसा उल्टा भाग्य दिया'' इस प्रकार का रोना–धोना छोड़ देते हैं। इसलिए जन्मजात परिस्थितियों के बन्धन रूप दीवारों को तोड़कर वे रोग–बाधा रहित पद को प्राप्त होते हैं। दु:ख से मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय दु:ख की दीवारों से लड़ने में रस का अनुभव करना है। जो अभ्यास–साध्य है, इसी का दूसरा नाम वीर रस है, इससे अनामय पद (दु:खविहीन स्थिति) मिलता है।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

यदा, ते (जिस काल में, तेरी), बुद्धि: (बुद्धि), मोहकलिलम् (मोहरूप दल–दल की), व्यतितरिष्यति (भली भाँति पार कर जायेगी), तदा (उस समय तू), श्रुतस्य च, श्रोतव्यस्य (सुने हुए और सुनने में आने वाले [इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी भोगों से]), निर्वेदम्, गन्तासि (वैराग्य=उदासीनता को, प्राप्त हो जायेगा)।

प्रश्न 46– श्री कृष्ण जी अर्जुन को मोहरूपी दलदल से क्यों पार कराना चाहते हैं?

उत्तर– कर्मयोग के सिद्धान्त के प्रतिपादन के अन्तर्गत उसके आधार समत्वबुद्धि की प्रशंसा की गई है। अब श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह बता रहे हैं कि समत्वबुद्धि का विरोधी भाव मोह है, जिसे छोड़ने पर ही कर्मयोग की सिद्धि संभव है। श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''मोह एक दलदल के समान है, जब–जब तेरी बुद्धि में मोह आता है, ममता जागती है तब यह जान कि तेरी बुद्धि उस दलदल में फँस जाती है। इस दलदल में फँसी हुई बुद्धि से न निष्काम कर्म और न ही ज्ञान की साधना सम्भव है। इसलिए सबसे पहला काम यही है कि तू इस दलदल से बाहर निकल, पर अपनी बुद्धि को उज्ज्वल कर, शुद्ध कर, निर्मल कर। यह केवल वैराग्य द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इस वैराग्य के अभाव में तेरा मन इस दलदल में फँसा है।''

अर्जुन ने कर्मकाण्डियों से कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग नरक की कल्पनायें सुन रखी थी। उस युग में इन्हीं बातों का प्रचार था। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि ''जब

कर्मयोग द्वारा मोह को पार कर लोगे, तब कर्मकाण्ड के विषय में जो कुछ तुमने सुन रखा है या सुनोगे उस सब के प्रति उदासीन हो जाओगे। अत: कर्मयोग में नियुक्त हो जाने से ही मोहरूपी दलदल से तुम बाहर हो सकोगे।''

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना, ते, बुद्धि: (भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई, तेरी, बुद्धि), यदा, समाधौ, निश्चला, अचला, स्थास्याति (जब, समाधि में अचल और स्थिर, ठहर जायेगी), तदा, योगम् अवाप्यसि (तब तू, योग को प्राप्त हो जायेगा)।

प्रश्न 47- श्री कृष्ण जी कर्मयोग की प्राप्ति का क्या लक्षण बताते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को कर्मयोग का रहस्य कब प्राप्त होगा, यह बता रहे हैं, ''हे अर्जुन! कर्म काण्ड परक स्वर्ग-नरक का वर्णन करने वाली श्रुतियों से (सुनी हुई बातों से) तेरी बुद्धि विक्षिप्त, चलायमान हो रही है। (यहाँ श्रुति से अभिप्राय ऋक्, यजु:, साम, अथर्व से न होकर सुनी सुनाई बातों से है) जब यह तेरी बुद्धि कर्मयोग से निश्चल हो जायेगी, समाधि में टिक जायेगी तब तुझे कर्मयोग का रहस्य प्राप्त हो जायेगा।''

योगदर्शन में समाधि के तीन स्तर बताये गये हैं-

(क) जब मनुष्य किसी काम को करना चाहे और उसके विषय में विचार करने लगे तो विचार का प्रथम पग है, धारणा।

(ख) जब कार्य के विषय का ज्ञान हो जाये तब दूसरा पग उठाया जाता है उसका नाम है, ध्यान।

(ग) जब विषय (मात्र) का ही आभास हो अन्य सब कुछ शून्य की भाँति हो जाये, तब समाधि होती है।

योगेश्वर श्री कृष्ण जी ने युद्ध जैसे घोर कर्म को करने की युक्ति इस प्रकार दी है- कर्म मनुष्य को इस संसार में बाँधता है। कर्म का फल प्राप्त होता है। फल प्राप्त करते हुए मनुष्य पुन: कर्म करता है। इसका भी फल मिलता है। इस प्रकार कर्मफल यह एक बन्धनयुक्त प्रक्रिया- कर्म तथा फल की शृंखला बन जाती है। शृंखला के बन्धन से मुक्त होने का उपाय कुछ ऐसा होना चाहिये कि कर्म तो किया जाये, परन्तु कर्मफल से मुक्ति मिल जाये। तभी तो गीताकार कह रहे हैं कि बुद्धियुक्त होकर कर्म कर। अभिप्राय यह है कि विचार कर और कर्मफल

की आकांक्षा से रहित होकर कर्म कर। इसे बुद्धियोग कहा गया है।

डॉ. राधा कृष्णन् जी ने समाधि पर अपनी टिप्पणी इस प्रकार दी है- समाधि चेतना का अभाव नहीं है, अपितु यह उच्चतम प्रकार की चेतना है। बुद्धियोग वह पद्धति है, जिसके द्वारा हम कर्मकाण्ड से ऊपर उठ जाते हैं और अपने कर्मों के फल की इच्छा न रखते हुए अपना कर्तव्य किए जाते हैं। हमें कर्म करना चाहिये, परन्तु शक्ति के साथ, जो किसी भी कर्म की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। प्रश्न यह नहीं है कि हम क्या करें, अपितु यह है कि हम कैसे करें, किस भावना से हम कर्म करें?

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधी: किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

केशव (हे कृष्ण!) समाधिस्थस्य (समाधि में स्थित), स्थित प्रज्ञस्य (स्थित प्रज्ञ की अर्थात् परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिर बुद्धि पुरुष का), भाषा (क्या लक्षण है?), स्थितधी:, किम्, प्रभाषेत, किम् आसीत, किम् व्रजेत (स्थिरबुद्धि= स्थितप्रज्ञ पुरुष, कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है)।

प्रश्न 48- अर्जुन श्री कृष्ण जी से स्थितप्रज्ञ के लक्षण के विषय में क्या प्रश्न करता हैं?

उत्तर- स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को भली भांति समझने की जिज्ञासा से अर्जुन ने इस श्लोक में योगीराज श्री कृष्ण जी से प्रश्न किया, ''हे केशव! (क) समाधि में स्थित स्थितप्रज्ञ मनुष्य की क्या परिभाषा है? क्या लक्षण हैं?

(ख) स्थितप्रज्ञ व्यक्ति सांसारिक व्यवहार कैसे निष्पन्न करता है?

(ग) स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी मानसिक क्रियाएँ कैसे करता है और अपनी इन्द्रियों का निग्रह कैसे करता है?

(घ) अपनी बहिर्गामी सामान्य और विशेष क्रियाएँ कैसे सम्पादित करता है।''

श्री कृष्ण उवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

पार्थ (हे अर्जुन!) यदा (जब), मनोगतान्, (मन में स्थित), सर्वान्, कामान्, आत्मना प्रजहाति (सम्पूर्ण, कामनाओं को भली-भाँति, त्याग देता है और), आत्मा, आत्मनि, एवं तुष्ट: (आत्मा से, आत्मा में ही, सन्तुष्ट रहता है), तदा

(तब वह), स्थितप्रज्ञ: उच्यते (स्थितप्रज्ञ कहा जाता है)।

प्रश्न 49- स्थित प्रज्ञ व्यक्ति कैसी स्थिति वाला हो जाता है ?

उत्तर- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से चार प्रश्न किये। उनमें से पहले प्रश्न स्थितप्रज्ञ की स्थिति के बारे में बताते हुए श्री कृष्ण जी ने कहा, ''हे अर्जुन! स्थित प्रज्ञ की सबसे पहली पहचान यह है कि जब वह मैंने जो किया उसकी दूसरे क्या प्रशंसा करेंगे ? मुझे क्या पदवी, क्या भोगैश्वर्य प्राप्त होगा ? इस प्रकार की सब मन में स्थित कामनाओं को वह त्याग देता है और मैंने एक पवित्र कर्म किया है, यह आत्म सन्तोष ही उसकी दृष्टि में एकमात्र सन्तोष रह जाता है, अपने आत्मा में आत्मसंतुष्ट रहता है वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है।''

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दु:खेषु, अनुद्विग्नमना: (दु:खों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता), सुखेषु, विगतस्पृह: (सुखों में, लालसा रहित है), वीतराग-भय- क्रोध: (जिसके राग, भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा), मुनि:, स्थितधी:, उच्यते (मुनि, स्थित बुद्धि कहलाता है)।

प्रश्न 50- स्थितप्रज्ञ व्यक्ति किससे अप्रभावित रहता है ?

उत्तर- यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन से स्थिर बुद्धि वाले व्यक्ति की स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं- स्थित प्रज्ञ व्यक्ति दु:खों की प्राप्ति होने पर अपने मन में निराश नहीं होता। सुखों की प्राप्ति होने पर वह लालसा रहित रहता है। ऐसे व्यक्ति को राग, द्वेष, भय, क्रोध बिल्कुल नहीं सताता। वह व्यक्ति मननशील होता है।

स्थित प्रज्ञ को यहाँ 'मुनि' कहा गया है। 'मुनि' अर्थात् मौन स्वभाव वाला। अर्जुन ने पूछा था कि स्थितप्रज्ञ व्यक्ति किस ढंग से बोलता है। उसका उत्तर यहाँ दिया है कि वह तो 'मुनि' होता है। बहुत बोलता नहीं। वह दु:ख-सुख, राग-भय-क्रोध से अप्रभावित रहता है।

य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

य: (जो पुरुष), सर्वत्र (सब जगह), अनभिस्नेह: (बिना स्नेह वाला), तत् तत्, शुभाशुभम् प्राप्य (उस-उस, शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर), न अभिनन्दति, न द्वेष्टि (न प्रसन्न होता है, न द्वेष करता है), तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता

(उसकी बुद्धि स्थिर है)।

प्रश्न 51- स्थितप्रज्ञ व्यक्ति का किसी शुभ या अशुभ से कैसा व्यवहार रहता है ?

उत्तर- स्थितप्रज्ञ के स्वरूप, विवेचन के अन्तर्गत अर्जुन के दूसरे प्रश्न के उत्तर में यहाँ बताया जा रहा है कि लोगों के प्रति उसका व्यवहार राग-द्वेषादि से रहित होता है। सर्वत्र सब वस्तुओं और लोगों के प्रति आसक्ति और राग की भावना न होने के साथ-साथ उसके चित्त में द्वेष की भावना भी नहीं रह जाती है। इसी कारण से संसार में तरह-तरह के शुभ या अशुभ फलों को पाकर न तो वह उनका अभिनन्दन करता है और न ही उनसे द्वेष करता है। अच्छे को पाकर प्रसन्न न होना और बुरे को पाकर द्वेष न करना - इसलिए सम्भव है, क्योंकि उसकी बुद्धि प्रतिष्ठित है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश:।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

च (और, जैसे), कूर्म:, सर्वश: अङ्गानि, इव (कछुआ, सब ओर से, अपने अंगों को, जैसे समेट लेता है, वैसे ही), यदा, अयम् (जब, यह पुरुष), इन्द्रियार्थेभ्य: (इन्द्रियों के विषय से), इन्द्रियाणि संहरते (इन्द्रियों को, सब प्रकार से हटा लेता है तब), तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता (उसकी, बुद्धि, स्थिर है [ऐसा समझना चाहिए])।

प्रश्न 52- स्थितप्रज्ञ को अपनी इन्द्रियों पर किस प्रकार नियन्त्रण करना चाहिए ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे है कि जिस व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है वह व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को उस प्रकार हटा लेता है जैसे एक कछुआ आपत्ति आने पर अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है।

यहाँ पर गीताकार का यह कहना है कि जैसे कछुआ जल में अपने सब हाथ-पैर फैलाकर तैरता है वैसे मनुष्य संसार-सागर में विचरे, परन्तु संकट आते ही जैसे वह सब समेट लेता है वैसे मनुष्य भी विषयों का संकट सामने देखते ही इन्द्रियों को समेट ले। जब साधक इन्द्रियों को विषयों से हटाकर अपने वश में कर लेता है और अन्त:करण में स्थापित कर देता है तब उसकी सब बाह्य क्रियाएं रूक जाती हैं। फलत: वह भी करणता से रहित होकर अचल हो जाती है। यही प्रज्ञा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है, पर इस स्थिति तक पहुँचने

के लिए इन्द्रियों को विषयों से समेटना आवश्यक है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। ५९।।

निराहारस्य ([इन्द्रियों के द्वारा] विषयों को ग्रहण न करने वाले), देहिनः (पुरुष के [भी केवल]), विषयाः विनिवर्तन्ते (विषय तो, निवृत्त हो जाते हैं [परन्तु उन में रहने वाली]), रसवर्जम् (आसक्ति निवृत्त नहीं होती), अस्य (इस स्थितप्रज्ञ पुरुष की [तो]), रसः, अपि, परम् दृष्ट्वा, निवर्तते (आसक्ति, भी, परमात्मा का, साक्षात्कार करके, निवृत् हो जाती है)

प्रश्न 53– श्री कृष्ण जी प्रज्ञा की स्थिरता का निराहार होने पर किस प्रकार वर्णन करते है?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं कि प्रज्ञा परमात्मा का दर्शन करने पर स्थिर हो जाती है। वे कहते हैं, ''हे अर्जुन! देहधारी मनुष्य के निराहार होने पर विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उन विषयों के रस से उनके प्रति लालसा बनी रहती है, परन्तु परमात्म तत्त्व का अनुभव होने से इस स्थित प्रज्ञ मनुष्य का रस (लालसा) भी निवृत्त हो जाता है अर्थात् उसकी संसार में रस बुद्धि नहीं रहती।''

इन्द्रियों को विषयों में झटका देकर हटाने का सबसे सरल उपाय निराहार रहना है। भूख में मनुष्य का मन सब विषयों से हटकर रसना के रस में इकट्ठा हो जाता है, किन्तु धीरे-धीरे प्रभु-साक्षात्कार होने पर उस ब्रह्मानन्द रूपी रस के प्रभाव से रसना का रस भी फीका होते-होते निवृत्त हो जाता है। इसलिए अनशन द्वारा अन्य विषयों के रस को और भक्ति रस से अन्त में रसना के रस को जीतकर मनुष्य योगी बन जाता है, परन्तु एक बात ध्यान रखने की है यह सिद्धि एक झटके में नहीं बल्कि निरन्तर अभ्यास से प्राप्त होती है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। ६०।।

कौन्तेय (हे, अर्जुन!), हि (निश्चय से), प्रमाथीनि, इन्द्रियाणि (मथ डालने वाली इन्द्रियाँ), यततः, विपश्चितः, पुरुषस्य (यत्न करते हुए, बुद्धिमान पुरुष के), मनः, अपि, प्रसभम्, हरन्ति (मन को भी, बलपूर्वक हर लेती हैं)।

प्रश्न 54– श्री कृष्ण जी ने इन्द्रियों की प्रबलता का कैसा निरुपण किया है?

उत्तर– अर्जुन के तीसरे प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण जी ने बताया कि स्थित प्रज्ञ साधक इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है और विषयों में राग को भी छोड़ देता है।

श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''कि हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! ये इन्द्रियाँ अत्यधिक प्रबल है, अतः बड़ी कठिनाई से मनुष्य के वश में आती हैं। एक साधक शास्त्रों के अध्ययन और गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करते हुए इनको संयम में रखना चाहता है, तब भी ये बलपूर्वक उसके मन को सांसारिक विषयों की ओर खींच कर ले जाती हैं। इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख रखकर स्थित प्रज्ञ साधक उनको पूरी तरह नियन्त्रण में रखता है। इन्द्रियों को वश में रखना कठिन है परन्तु परम आवश्यक भी है। जिसके वश में इन्द्रियाँ हो जाए वही स्थितप्रज्ञ हो सकता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। ६१।।

तानि, सर्वाणि, संयम्य (उन, सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके), युक्तः (जुड़कर), मत्परः (मुझ में रम कर), आसीत (ध्यान में बैठे), हि, यस्य, इन्द्रयाणि, वशे (क्योंकि, जिस पुरुष की, इन्द्रियाँ, वश में होती है), तस्य, प्रज्ञा प्रतिष्ठता (उसकी बुद्धि स्थिर हो जाती है)

प्रश्न 55– श्री कृष्ण जी किस की प्रज्ञा को स्थिर मानते हैं?

उत्तर– स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती के अनुसार, हे अर्जुन! मैं (कृष्ण) प्रभुभक्त हो रात-दिन उसके (प्रभु के) ध्यान में रहता हूँ। मेरे पास तुझे देने के लिए प्रभु-भक्ति से बढ़कर कुछ नहीं, इसलिए यदि तू मुझ से प्रेम करता है तो मेरा अनुकरण कर और मेरे हर भक्त को भी मेरा अनुकरण करते हुए उस (परमात्मा) का भक्त बनना चाहिए जिसका मैं भक्त हूँ। प्रभु का भक्त, सो मेरा भक्त। और यही उपदेश सदा गुरुओं ने शिष्यों को दिया है कि उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में लाकर मेरा प्रत्येक शिष्य मेरे मार्ग में तत्पर रहे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वश में आ गई, उसकी प्रज्ञा स्थिर मानो।

लोकमान्य तिलक जी इस श्लोक में यह कहते हैं कि किसी-किसी टीकाकार ने 'मत्परः' के स्थान पर 'तत्परः' कर दिया है। यह भी उपयुक्त है। पर गुरुदत्त जी, 'मत्परः' को गीता की प्रवचन शैली मानते हैं। उनके अनुसार जहाँ जहाँ कृष्ण ने ''मैं'', ''मेरा'' इत्यादि शब्द प्रयोग किये वहाँ श्री कृष्ण जी का

अभिप्राय: परमात्मा का ही है। अत: मेरे परायण का अर्थ ईश्वर के परायण से समझना चाहिये।

इन्द्रियों का दमन अति कठिन कार्य है। यह भगवत् कृपा के बिना सम्भव नहीं। इसी कारण कहा गया है कि इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिए परमात्मा के सहाय की आवश्यकता है। जब इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं, तो मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है।

गीताकार का कहना यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियों का वेग बड़ा प्रबल है, संयम महा कठिन है, परन्तु यदि मन को परब्रह्म में लगा दिया जाये तो यह वेग अपने आप शिथिल पड़ जाता है। जैसे सूर्य के प्रकाश में दीपक का प्रकाश फीका हो जाता है वैसे परब्रह्म के रस में संसार के विषयों का रस फीका पड़ जाता है। स्थितप्रज्ञता की यह अवस्था है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः संङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। ६२।।

विषयान्, ध्यायत: पुंस: (विषयों का चिन्तन करने वाले, पुरुष की) तेषु, सङ्ग:, उपजायते (उन विषयों में, आसक्ति, हो जाती है), सङ्गात्, काम:, सञ्जायते (आसक्ति से, उन विषयों की कामना, उत्पन्न होती है और), कामात्, क्रोध:, अभिजायते (कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।)

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। ६३।।

क्रोधात्, सम्मोह:, भवति (क्रोध से, मूढ़भाव, उत्पन्न हो जाता है), सम्मोहात्, स्मृति विभ्रम: (मूढ़भाव से, स्मृति में भ्रम हो जाता है), स्मृति भ्रंशात्, बुद्धिनाश: (स्मृति में भ्रम से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और) बुद्धिनाशात् प्रणश्यति (बुद्धि के नाश हो जाने पर, वह स्वयं नष्ट हो जाता है)

प्रश्न 56- विषयों के चिन्तन से क्या हानि है?

उत्तर- डॉ. शशि तिवारी जी ने इस प्रश्न का बहुत सटीक उत्तर दिया है-
मन के अनिग्रह के कारण होने वाली अनर्थ- परम्परा के सात स्तर यहाँ क्रमश: निर्दिष्ट हैं-

(क) दसों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का ज्ञान कराती हैं। मन का कार्य संकल्प-विकल्प करना है, इसलिए वह सभी इन्द्रियों के विषय का अनुभव चिन्तन के द्वारा कर सकता है। यदि मनुष्य सांसारिक विषयों का चिन्तन करता

रहता है तो उसकी उन-उन विषयों में आसक्ति बढ़ जाती है। ये विषय आनन्द देने वाले हैं उसकी ऐसी भावना पुष्ट होती जाती है।

(ख) भावना के पुष्ट होने से विषयों में संग से उनको पाने की इच्छा (काम) उत्पन्न होती है।

(ग) उन इच्छाओं के पूर्ण न होने पर (क्रोध) उत्पन्न होता है।

(घ) क्रोध के कारण अविवेक (मूढ़ भाव) उत्पन्न होता है। यह विवेक बुद्धि जो उचित अनुचित में भेद कर पाती है, क्रोध की अवस्था में क्षीण हो जाती है।

(ड़) सम्मोह (मूढ़ भाव) से स्मृति में भ्रम पड़ जाता है।

(च) स्मृति भ्रम से मनुष्य के निर्णय करने का सामर्थ्य लुप्त (बुद्धिनाश) हो जाता है।

(छ) बुद्धिनाश के कारण मनुष्य अपने लक्ष्य को पाने के अयोग्य हो जाता है।

इस प्रकार मन को वश में न रखने पर अन्तत: मनुष्य पूर्णतया नष्ट हो जाता है- यह बतलाकर श्री कृष्ण जी ने मनोनिग्रह की आवश्यकता पर बल दिया है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।। ६४।।

तु (तो), विधेयात्मा (अपने अधीन किये हुए अन्त:करण वाला साधक, शिक्षित किया हुआ आत्मा), आत्मवश्यै: (अपने वश में की हुई), रागद्वेषवियुक्तै: इन्द्रियै: (इन्द्रियों द्वारा, राग द्वेष से रहित), विषयान्, चरन् (विषयों में, विचरण करता हुआ [अन्त:करण की]), प्रसादम् अधिगच्छति (प्रसन्नता को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 57- स्थितप्रज्ञ व्यक्ति विषयों का ग्रहण किस प्रकार करता है?

उत्तर- इस श्लोक से अर्जुन के चौथे प्रश्न 'स्थितप्रज्ञ अपनी बहिर्गामी सामान्य और विशेष क्रियायें कैसे सम्पादित करता है' का उत्तर प्रारम्भ होता है। यहाँ से ६४ से ७२वें श्लोक तक इस प्रश्न का उत्तर श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को दिया है, ''हे अर्जुन! स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में रखकर विषयों से सम्पर्क करता है। इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से ही आसक्ति या वैर के साथ होती है, परन्तु जो साधक अभ्यासपूर्वक अपने मन को वश में कर लेता है, उसकी इन्द्रियाँ भी उसके वश में हो जाती हैं। स्थितप्रज्ञ साधक के वश में रहने वाली इन्द्रियाँ आसक्ति और द्वेष आदि भावों से मुक्त हो जाती हैं। स्थित प्रज्ञ साधक अवसर के अनुसार कर्मों को करने के लिए इन्द्रियों को उनके

विषयों से संयोग कराता हुआ सांसारिक व्यवहारों में संलग्न होता है, परन्तु मन और इन्द्रियों को अपने वश में रखने के कारण उसकी किसी भी विषय में न आसक्ति होती है और न द्वेष। फलतः वह अन्दर ही अन्दर अपने चित्त में प्रसन्नता का अनुभव करता है।''

मनुष्य के लिए उसकी इन्द्रियाँ बहुत उपयोगी साधन हैं। संसार का सारा ज्ञान और सुख हमें अपनी इन्द्रियों के ही द्वारा प्राप्त होता है। इन्द्रियों की उपेक्षा करके हम न तो संसार को समझ सकते हैं और न ही इसे भोग सकते हैं, किन्तु जब हम केवल रुचिकर विषयों को ही भोगना चाहते हैं, और अरुचिकर विषयों से भागना चाहते हैं, तब हमारे मन में अशान्ति पैदा होती है। अच्छा साधन वह है जिस पर साधक का पूर्ण नियन्त्रण हो। यदि हम इन्द्रियों को वश में रखकर विषयों का भोग करें तो हमें शान्त और निर्मल प्रसन्नता की वह अवस्था प्राप्त होगी जिसे प्रसाद कहते हैं।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।। ६५ ।।

प्रसादे ([अन्तःकरण की], प्रसन्नता होने पर), अस्य, सर्वदुःखानाम्, हानिः, उपजायते (इसके, सम्पूर्ण दुःखों का, अभाव हो जाता है, और उस), प्रसन्नचेतसः, बुद्धि (प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की, बुद्धि), आशु, हि, पर्यवतिष्ठते (शीघ्र, ही [सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही], भली-भाँति स्थिर हो जाती है)।

प्रश्न 58- चित्त की निर्मलता प्राप्त होने पर स्थितप्रज्ञ की क्या स्थिति होती है?

उत्तर- ''स्थितप्रज्ञ व्यक्ति अपनी बाह्य क्रियाएँ कैसे करता है,' के उत्तर में श्री कृष्ण जी इस श्लोक में कहते हैं कि जब साधक अपनी राग और द्वेष से रहित हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करता है, तब उसका चित्त निर्मलता को प्राप्त करता है, जिसे 'प्रसाद' कहा है।

चित्त की शुद्धि अर्थात् प्रसाद प्राप्त होने पर उसकी बुद्धि आत्मस्वरूप में स्थित हो जाती है। चित्त की निर्मलता का फल है- शीघ्रता से आत्मज्ञान की निष्ठा का होना। इस स्थिति में साधक आत्मा के बुद्धि विकार रहित स्वच्छ स्वरूप को जानता है। उसका अज्ञान रूपी मल निवृत्त हो जाता है और सभी प्रकार के दुःख समाप्त हो जाते हैं।

अतः श्री कृष्ण जी ने यहाँ स्पष्ट किया है कि स्थितप्रज्ञ सदैव दुःख रहित

और प्रसन्न चित्त रहता है। दुःखों के विनाश का आधार 'चित्त प्रसाद' है जिसको स्थितप्रज्ञ प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति का परिणाम है अज्ञानमूलक दुःखों की निवृत्ति। अतः मन को वश में करके चित्त की निर्मलता को पाने का यत्न करना चाहिये।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। ६६ ।।

अयुक्तस्य (जिस पुरुष ने मन और इन्द्रियों को नहीं जीता), बुद्धि, न, अस्ति (उसको निश्चयात्मक बुद्धि, नहीं, होती), च, अयुक्तस्य, भावना, न (और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती), च, अभावयतः, शान्तिः, न (और, भावना हीन पुरुष को, शान्ति, नहीं मिलती), अशान्तस्य, सुखम्, कुतः (शान्ति रहित या अशान्त मनुष्य को, सुख कैसे मिल सकता है?)

प्रश्न 59- जिस व्यक्ति ने मन और इन्द्रियों को नहीं जीता, उसे क्या-क्या हानियाँ होती हैं?

उत्तर- यहाँ पर श्री कृष्ण जी उस व्यक्ति को मिलने वाली हानियों का वर्णन कर रहे हैं, जिसने मन और इन्द्रियों को वश में नहीं किया अर्थात् मन को एकाग्र नहीं किया। यहाँ पर श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! जो व्यक्ति अपने चित्त को एकाग्र नहीं कर पाता है उसको चार प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं:-

(क) मन की एकाग्रता से रहित व्यक्ति को निश्चायात्मक बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

(ख) मन की एकाग्रता से रहित व्यक्ति को भावना अर्थात् आत्मज्ञान में रूचि या प्रीति नहीं होती।

(ग) जब भावना नहीं होती तो उसको शान्ति अर्थात् विषयों की लालसा से मुक्ति भी नहीं होती।

(घ) जो अशान्त है उसे सुख कैसे मिल सकता है? क्योंकि विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति होने पर सुख मिलता है। इन्द्रियों द्वारा विषयों की लालसा करना सब प्रकार के दुःखों का मूल कारण है।''

गीता में 'युक्त' तथा 'अयुक्त' ये दो शब्द इसी प्रकरण में आये हैं। ६१वें श्लोक में 'युक्त' शब्द आया है और इस ६६वें श्लोक में 'अयुक्त' शब्द आया है। दोनों स्थल एक-दूसरे से सम्बद्ध है। इक्सठवें श्लोक का अभिप्राय यह है कि हमें अपने मन को पर-ब्रह्म से युक्त अर्थात् जोड़ देना चाहिये। जो जोड़ देते

हैं, वे स्थितप्रज्ञ हैं ६६वें श्लोक का अभिप्राय यह है कि यदि हम 'अयुक्त' रहेगें, मन को पर ब्रह्म से नहीं जोड़ेंगे तो निश्चयात्मक बुद्धि, आत्मज्ञान में रूचि, शान्ति एवं सुख की प्राप्ति न हो सकेगी।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।। ६७।।

हि (क्योंकि), इव (जैसे), अम्भसि, नावम्, वायुः हरति (जल में चलने वाली नाव, वायु, हर लेती है वैसे ही), चरताम्, इन्द्रियाणाम् (विषयों में विचरती हुई, इन्द्रियों में से), मनः, यत्, अनु, विधीयते (मन, जिस, इन्द्रिय के साथ, रहता है), तत्, अस्य, प्रज्ञाम् (वह एक ही इन्द्रिय, इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।)

प्रश्न 60- इन्द्रियों के पीछे चलने वाला मन किसको हर लेता है?

उत्तर- इन्द्रियाँ स्वभाव से अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, आँखें सुन्दर वस्तुएँ देखना चाहती हैं, जीभ स्वादिष्ट वस्तुएँ चखना चाहती है, कान मधुर शब्द सुनना चाहते हैं, आदि-आदि। जो वस्तुएँ इन्द्रियों को अच्छी लगती हैं, वे मन को भी रुचिकर लगती हैं। किन्तु इन्द्रियाँ स्वयं अपने विषयों का प्रबन्ध नहीं कर सकती। उनके उपभोग के पदार्थ जुटाने का कार्य मन ही करता है। इस प्रकार मन जब इन्द्रियों के पीछे जाने लगता है तब मनुष्य की बुद्धि भी ठीक ढंग से काम नहीं करती। भारतीय चिन्तन में मन को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मनुष्य के जीवन का केन्द्र उसका मन है। जैसा ही उसका मन होगा वैसा ही उसका जीवन होगा। (यथार्थ में तो करने वाला आत्मा ही है, मन आदि तो उसके साधन हैं।)

श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को समझाया कि इन्द्रियों का निग्रह जितना आवश्यक है, उतना ही आवश्यक है मन का निग्रह। मन की एकाग्रता साधक के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि मन में चंचलता होती है तो वह अपने-अपने विषयों के प्रति भटकने वाली इन्द्रियों के पीछे-पीछे चल देता है। इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हुआ मन अपने साथ साधक की आत्मज्ञान की प्रज्ञा को भी नष्ट कर देता है, जैसे पानी में चलती हुई नौका तेज़ हवा के थपेड़ों से सही रास्ते से हटकर गलत रास्ते पर लग जाती है, वैसे ही इन्द्रियों के पीछे चलने वाला मन प्रज्ञा (बुद्धि) को हर कर साधक को विषयों में लगा देता है।

वायु नौका को दो तरह से विचलित करती है- नौका को पथभ्रष्ट कर देती

है अथवा जल में डुबा देती है। परन्तु कोई चतुर नाविक होता है तो वह वायु की क्रिया को अपने अनुकूल बना लेता है, जिससे वायु नौका को अपने मार्ग से अलग नहीं ले जा सकती, प्रत्युत् उसको गन्तव्य स्थान तक पहुँचाने में सहायता करती है- ऐसे ही इन्द्रिय के अनुगामी हुआ मन बुद्धि को दो तरह से विचलित करता है- परमात्म प्राप्ति के निश्चय को दबाकर भोग बुद्धि पैदा कर देता है अथवा निषिद्ध भोगों में लगाकर पतन करा देता है, परन्तु जिसके मन तथा इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसकी बुद्धि को मन विचलित नहीं करता, अपितु परमात्मा के पास पहुँचाने में सहायता करता है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। ६८।।

तस्मात्, महाबाहो (इसलिए, हे महान् भुजाओं वाले पराक्रमी अर्जुन!), यस्य, इन्द्रियाणि (जिस पुरुष की इन्द्रियाँ), इन्द्रियार्थेभ्यः, सर्वशः, निग्रहीतानि (इन्द्रियों के विषय से, सब प्रकार, निग्रह की गई है), तस्य, प्रज्ञा, प्रतिष्ठिता (उसी की बुद्धि स्थिर है।)

प्रश्न 61- स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण में किस बात की प्रधानता है?

उत्तर- श्री कृष्ण अर्जुन को 'महाबाहु' कहकर उसका पराक्रम स्मरण करा रहे हैं। वे उक्त विषय की चर्चा में इन्द्रिय संयम को पुनः दुहरा कर यह स्पष्ट करते हैं कि जिस साधक ने अपनी इन्द्रियों को उनके अपने-अपने शब्द आदि विषयों से खींचकर सब प्रकार से नियन्त्रित कर लिया है, उसकी बुद्धि (प्रज्ञा) स्थिर समझनी चाहिये। साधक को स्थित प्रज्ञता प्राप्त करने के लिए इन्द्रियों को वश में रखना अनिवार्य माना गया है। इसमें अल्पमात्र भी प्रमाद का अवकाश नहीं है। अतः यह समझना चाहिये कि इन्द्रियों का संयमी ही आत्मज्ञान में दृढ़ प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।

यहाँ 'निगृहतानि' का तात्पर्य है कि इन्द्रियाँ विषयों से पूरी तरह वश में की हुई हैं। अर्थात् विषयों में उनका लेशमात्र भी राग, आसक्ति, आकर्षण नहीं रहा है जैसे साँप के दाँत निकाल दिये जायें, तो फिर उसमें विष नहीं रहता। वह किसी को काट भी लेता है तो उसका कोई दुष्प्रभाव नहीं होता। ऐसे ही इन्द्रियों को राग-द्वेष से रहित कर देना ही मानो उनके विषैले दाँत निकाल देना है। फिर इन इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं रहती कि वे साधक के मन को पतन के मार्ग पर ले जायें। इस श्लोक का यह तात्पर्य है कि साधक को दृढ़ निश्चय कर लेना

चाहिये कि 'मेरा लक्ष्य परमात्मा की प्राप्ति करना है, भोग भोगना और संग्रह करना मेरा लक्ष्य नहीं है।' यदि ऐसी सावधानी निरन्तर बनी, रहे, तो उसकी बुद्धि स्थिर हो जायेगी।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयती।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। ६९।।

सर्वभूतानाम्, या, निशा (सम्पूर्ण प्राणियों के लिए, जो, रात्रि के समान है), तस्याम्, संयमी, जागर्ति (उस में, [परमात्मा की प्राप्ति में], स्थितप्रज्ञ योगी, जागता है और), यस्याम्, भूतानि, जागर्ति (जिस नाशवान्, सांसारिक सुख की प्राप्ति में, सब प्राणी, जागते हैं), पश्यतः (आंखे खोलकर देखने वाले), मुनेः, सा, निशा (मुनि के लिए, वह, रात्रि के समान हैं)।

प्रश्न 62- संसारी और ज्ञानी पुरुष में क्या अन्तर है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को बताते हैं- हे अर्जुन! सब प्राणियों (सांसारिक) के लिए जो रात्रि होती है, विश्राम का समय होता है। उसमें संयमी जागता है और जब सब प्राणियों के लिए जो जागने का समय है, वह देखने वाले मुनि के लिए या क्रान्तिदर्शी मुनि के लिए रात्रि होती है। जब सब प्राणी इन्द्रियों के विषयों की तड़क-भड़क से आकर्षित होते हैं, तब मुनि (ज्ञानी जन) वास्तविकता को समझने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वह वास्तविकता की प्रकृति के प्रति जागरणशील रहता है, जिसके प्रति अज्ञ लोग सुप्त या निरपेक्ष रहते हैं।

जो मनुष्य विषयों से अलिप्त रहता है अर्थात् विषयों को भोग करता हुआ भी उनको स्वाभाविक कर्म मानता है, वह अन्य विषयासक्त सब मनुष्यों से भिन्न प्रकार से देखने लगता है। जिसको सामान्य जन रात्रि समझते हैं अर्थात् विश्राम काल मानते हैं, उसे वह दिन अर्थात् पुरुषार्थ का काल समझता है। जिन विषयों में साधारण जन संलग्न रहते हैं, उन विषयों से मुनि (ज्ञानी) जन ऐसे ही दूर रहते हैं जैसे रात्रि के समय मनुष्य निद्रा में लीन सब बातों को भूल जाता है।

दिन और रात्रि का अभिप्राय है कि कार्य करने का अवसर और कार्य न करने का अवसर। जिस कार्य में सांसारिक प्राणी अति रूचि लेते हैं, उसे ज्ञानी पुरुष व्यर्थ की बात समझता है और जिन बातों का सांसारिक प्राणी विचार नहीं करते, उन्हें ज्ञानी मुनिजन अत्यन्त महत्वपूर्ण समझता है। उसकी बुद्धि विलक्षण हो जाती है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोतिनकामकामी।। ७०।।

यद्वत् (जैसे), आपः (जल), आपूर्यमाणाम् (सब ओर से परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठाम्, समुद्रम् (अचल मर्यादा वाले, समुद्र), प्रविशन्ति (समा जाते हैं), तद्वत्, सर्वे, कामाः (वैसे ही, सब, भोग), यम् (जिस स्थित प्रज्ञपुरुष में), प्रविशन्ति (समा जाते हैं), सः शान्तिम्, आप्नोति (वही पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है), कामकामी, न (भोगों को चाहने वाला नहीं)।

प्रश्न 63- ज्ञानी महापुरुषों की तुलना किस से की गई है?

उत्तर- अर्जुन के स्थितप्रज्ञ विषयक अन्तिम प्रश्न के उत्तर के अन्त में श्री कृष्ण जी निष्काम कर्मयोग से स्थितप्रज्ञ की स्थिति पर पहुंचने वाले मनुष्य को होने वाले लाभ का वर्णन कर रहे हैं। जो साधक निष्काम कर्मयोग के अभ्यास से आत्मज्ञान की प्रज्ञा को स्थिर कर लेता है उसे सांसारिक भोग आकर्षित नहीं करते हैं। सभी कामनायें जिसके अन्दर विलीन हो जाती है और उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं कर पाती, यह स्थितप्रज्ञ वाला साधक दुःखों (सांसारिक द्वन्द्व) से शान्ति पा जाता है। इसके विपरीत जो सदा विषय भोगों में आसक्त रहता है, उनका चिन्तन किया करता है, वह अज्ञानी है, वह सांसारिक दुःख ज्वलाओं से पीड़ित रहता है।

निष्काम हो चुके आत्मज्ञानी में कामनाएँ किस प्रकार विलीन हो जाती हैं, उसको एक दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है- समुद्र में सब ओर से आकर नदियाँ मिलती हैं और उसे अपने अपरिचित जल से भरती रहती हैं और वह सारा जल समुद्र में समा जाता है। मर्यादा का पालन करने वाले समुद्र में कोई भी वृद्धि या विकार नहीं होता। ठीक उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति में अन्दर ही अन्दर सभी कामनाएँ विलीन हो जाती हैं और वह 'शान्ति' को प्राप्त करता है।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। ७१।।

यः, पुमान् (जो पुरुष), सर्वान्, कामान्, विहाय (सम्पूर्ण, कामनाओं को त्यागकर), निर्ममः, निरहङ्कारः, निस्पृहः, चरति (ममता से रहित, अहंकार से रहित, लालसा से रहित, विचरता है), सः शान्तिम्, अधिगच्छति (वही शान्ति को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 64- किस पुरुष को परमशान्ति की प्राप्ति होती है?

उत्तर- स्थितप्रज्ञ के स्वरूप विवेचन का उपसंहार करते हुए श्री कृष्ण जी ने

बताया, "हे अर्जुन! जो पुरुष सब कामनाओं को, इच्छाओं को त्याग देता है, लालसा से रहित हो जाता है, ममता से रहित हो जाता है तथा "मैं" रूपी अहंकार की भावना को छोड़कर विचरता है, वही परमशान्ति को प्राप्त करता है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस पर विशेष टिप्पणी की है। शान्त-चित्त होने का साधन कामनाओं के पीछे भागना नहीं, परन्तु कामनाओं को त्यागना है। गीता का कहना यह है कि जब हम 'अहंकार', 'ममता' तथा 'लालसा' इन तीनों को छोड़ देते हैं, तब अपने आप कामनाएँ छूट जाती हैं, शान्ति आ जाती है। अहंकार, ममता तथा लालसा इनका आपस में सम्बन्ध है। अहंकार का अर्थ है - 'मैं-पना'। जब 'मैं-पना' प्रबल हो जाता है तब उसी से 'मेरा-पना' उत्पन्न होता है इस मेरे-पन को ही गीता में ममत्व कहा गया है। 'मेरे-पन' या ममत्व की भावना के आते ही लालसा उत्पन्न हो जाती है। लालसा का अर्थ है, 'मुझे या मेरे लोगों को अमुक वस्तु की आवश्यकता है, उसके बिना काम न चलेगा'- यह लालसा, यह कामना, यह इच्छा ही स्पृहा कहलाती है। जो व्यक्ति निरहंकार, ममता रहित और लालसा रहित हो जाता है, जिसमें 'मैं', 'मेरा', 'मेरे लिए' ये तीनों भावनाएँ नहीं रहती, वह सुखी हो जाता है, वह स्थितप्रज्ञ है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। ७२।।

पार्थ (हे अर्जुन), एषा, ब्राह्मी, स्थितिः (यह, ब्रह्म में, स्थित हो जाने की अवस्था है) एनाम् प्राप्य (इस स्थिति को, पाकर) [योगी, स्थितप्रज्ञ], न, विमुह्यति (कभी मोहित, नहीं होता), अन्तकाले, अपि (अन्तकाल में, भी) अस्याम् स्थित्वा (इस ब्रह्म की स्थिति में रहकर), ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति (महान् मोक्ष को, प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 65- कौन सी स्थिति सर्वोत्तम है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन करते हुए बताते हैं, ''हे अर्जुन! संसार में स्थित हो जाने के स्थान पर ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है। इसके प्राप्त हो जाने पर कोई भी मोह नहीं रहता। यदि अन्तकाल में भी यह स्थिति प्राप्त हो जाये तो वह (निर्वाण) को प्राप्त होता है। मनुष्य की यह स्थिति सर्वोत्कृष्ट है। निर्वाण का अर्थ मोक्ष नहीं। इसका अर्थ है शान्त हो जाना। अतः

ब्रह्म निर्वाण का अर्थ होगा उसकी बुद्धि अत्यन्त शान्त, स्थिर हो जायेगी। वह, इधर-उधर दौड़ेगी नहीं।''

श्री लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जी ने इस श्लोक पर विशेष टिप्पणी की है- यह ब्राह्मी स्थिति कर्मयोग की अन्तिम और अत्युत्तम स्थिति है और इसमें विशेषता यह है कि इसे प्राप्त कर लेने के बाद मोह नहीं रहता। यहाँ इस विशेषता के बतलाने का मुख्य कुछ कारण है। वह यह कि यदि किसी दिन दैवयोग से घड़ी दो घड़ी के लिए ब्राह्मी स्थिति का अनुभव हो सके, तो उससे कुछ विशेष लाभ नहीं, क्योंकि किसी भी व्यक्ति की मरते समय यह स्थिति नहीं होगी। मरणकाल में जैसी वासना होगी, उसी के अनुसार पुनर्जन्म होगा (गीता रहस्य प्रकरण ९)। यही कारण है कि ब्राह्मी स्थिति का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्ट कह दिया कि 'अन्तकालेऽपि' अर्थात् अन्तकाल में भी स्थितप्रज्ञ की अवस्था बनी रहती है। अन्तकाल में मन के शुद्ध रहने की विशेष आवश्यकता का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद, प्रश्नोपनिषद तथा गीता के आठवें अध्याय में है। यह वासनात्मक कर्म अगले अनेक जन्मों के मिलने का कारण है। इसलिए प्रकट ही है कि अन्ततः मरते समय तो वासना शून्य हो जाना चाहिये और फिर यह भी कहना पड़ता है कि मरने के समय वासना शून्य होने के लिए पहले से ही वैसा अभ्यास हो जाना चाहिये क्योंकि वासना शून्य होने का कर्म अत्यन्त कठिन है। बिना ईश्वर की विशेष कृपा के उसका किसी को भी प्राप्त हो जाना न केवल कठिन है अपितु असम्भव भी है।

सारांश- भगवद्गीता के इस द्वितीय अध्याय को दो भागों में बाँटा जा सकता है। पहला भाग आरम्भ होता है दसवें श्लोक से और वह चलता है ३९वें श्लोक तक। ऐसा प्रतीत होता है कि यह श्री कृष्ण-अर्जुन -संवाद का वह भाग है जो युद्ध क्षेत्र में सम्पन्न हुआ। इसमें सीधी और संकोच भाव से वार्तालाप हुआ था - इन श्लोकों में श्री कृष्ण ने बताया कि मृत्यु तो वस्त्र बदलने के तुल्य है। कर्म करने वाला चेतनस्वरूप जीवात्मा जो प्राणी में है, वह मरता नहीं। मरता है शरीर। अर्जुन के मन में जो भय समा गया था कि वह प्रियजनों की हत्याकर रहा है, वह निर्मूल हो गया। श्री कृष्ण जी का कहना था कि आत्मा तो कभी मरती नहीं। हत्या शरीर की ही की जा सकती है, आत्मा की नहीं। दुर्योधन, भीष्म, द्रोणाचार्य इत्यादि अपने शरीरों से अनिष्ट कर रहे हैं, इस कारण उनसे उनके शरीर छीन लेने चाहिये, जिससे ये अधर्माचरण न कर सकें। इसमें कुछ

भी पाप नहीं। यही धर्म है, इस कारण इन अधर्मियों की हत्या में कोई पाप नहीं। यह है इस अध्याय के प्रथम भाग का निष्कर्ष। ऐसा प्रतीत होता है कि जब व्यास जी महाभारत की कथा को लिपिबद्ध करने लगे तो उन्होंने अनुभव किया कि श्री कृष्णार्जुन-संवाद में इतना कथन (१०वें श्लोक से ३९ वें श्लोक तक) युद्ध भूमि में भले ही पर्याप्त रहा हो, परन्तु यह जीवन की पूर्ण मीमांसा का वर्णन नहीं करता। इस कारण उन्होंने मनुष्य क्या है, इसके कर्म क्या हैं, यह कर्म कौन करता है, क्यों करता है और इसका फल क्या होता है, इस विषय पर विस्तार से लिखना प्रारम्भ कर दिया।

द्वितीय अध्याय के ७वें श्लोक में अर्जुन ने कहा कि 'मैं समूढ हो गया हूँ, मोह में फंस गया हूँ और अन्तिम श्लोक में ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करके मोह जाता रहता है। गीता के अन्त में भी यह कहा गया है कि **'नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा'** मेरा मोह नष्ट हो गया- इस सब से यह स्पष्ट होता है कि गीता का मुख्य लक्ष्य मोह का नाश है।

'साँख्य योग' का अर्थ है 'साँख्य मार्ग' तथा 'योग मार्ग'। द्वितीय अध्याय में इन दोनों मार्गों की दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार किया गया है।

(1) सांख्य दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार।

(क) आत्मा तथा शरीर के भेद से, अर्जुन की समस्या पर विचार।

(ख) स्वधर्म की दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार।

(2) योग दृष्टि से अर्जुन की समस्या पर विचार।

(क) कर्मकाण्ड तथा कर्मयोग में भेद।

(ख) कर्म योग।

(ग) कर्म-योग का अर्थ फल में आसक्ति का त्याग है।

(घ) सकाम-कर्म तथा निष्काम-कर्म में भेद।

(3) स्थितप्रज्ञ का स्वरूप

(क) स्थितप्रज्ञता का रूप।

(ख) स्थितप्रज्ञता तथा समावस्था।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन- संवाद है, उस संवाद का साँख्य-योग नामक यह द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

अथ तृतीयोऽध्यायः
कर्म-योग

मुख्य विषय -

(1) ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरूपण (श्लोक संख्या 1 से 8)।

(2) यज्ञादि कर्म करने की आवश्यकता का निरूपण (श्लोक संख्या 9 से 16)।

(3) ज्ञानवान् के लिए भी लोकसग्रंहार्थ कर्म करने की आवश्यकता (श्लोक संख्या 17 से 24)।

(4) अज्ञानी और ज्ञानवान् के लक्षण तथा रागद्वेष से रहित होकर कार्य करने के लिए प्रेरणा (श्लोक संख्या 25 से 35)।

(5) काम के निरोध का विषय (श्लोक संख्या 36 से 43)

भूमिका - अर्जुन को भय हो गया था कि मुझे भीष्म-द्रोण आदि को मारना पड़ेगा। अतः साँख्य मार्ग के अनुसार आत्मा की नित्यता और अशोच्यत्व से यह सिद्ध किया गया कि अर्जुन का भय व्यर्थ है। फिर स्वधर्म का थोड़ा विवेचन करके गीता के मुख्य विषय कर्मयोग का दूसरे अध्याय में ही आरम्भ किया गया है और कहा गया है कि कर्म करने पर भी उनके पाप-पुण्य से बचने के लिए केवल यही एक युक्ति या योग है कि वे कर्म साम्य-बुद्धि से किये जायें। इसके अनन्तर उस कर्मयोगी स्थित प्रज्ञ का भी वर्णन किया गया है, जिसकी बुद्धि इस प्रकार सम हो गई हो। परन्तु इतने से ही कर्मयोग का विवेचन पूर्ण नहीं हो जाता। यह बात सच है कि कोई भी काम समबुद्धि से किया जाए तो उसका पाप नहीं लगता परन्तु जब कर्म करने की अपेक्षा समबुद्धि की श्रेष्ठता सिद्ध होती है (गीता २-४९) तब स्थिर बुद्धि की भाँति बुद्धि को सम कर लेने से ही काम चल जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कर्म करना ही चाहिये।

अर्जुन के मन में युद्ध न करने का आग्रह पहले से ही था। पहले अध्याय

के ३१वें श्लोक में अर्जुन कहते हैं– ''युद्ध में अपने कुल को मारकर मैं अपना हित नहीं देखता'' फिर ४५वें श्लोक में वे कहते हैं – ''अहो! शोक है कि हम लोग बुद्धिमान् होकर भी युद्ध रूप महान् पाप करने को तैयार हो गये हैं।'' आगे दूसरे अध्याय के ५वें श्लोक में अर्जुन कहते हैं–''मैं भिक्षा का अन्न खाना श्रेष्ठ समझता हूँ, पर युद्ध करना नहीं। और ९वें श्लोक में श्री कृष्ण जी की आज्ञा के विरुद्ध अपना निर्णय ही सुना देते हैं कि मैं युद्ध नहीं करूँगा।''

यह नियम है कि अपना आग्रह रखने से श्रोता वक्ता की बातों का आशय अच्छी तरह से नहीं समझ सकता। यही कारण है कि अपना (युद्ध न करने का) आग्रह रखने से अर्जुन भी उपर्युक्त प्रकरण में श्री कृष्ण जी के वचनों का आशय अच्छी तरह से नहीं समझ सके। अत: अर्जुन को श्रीकृष्ण जी के वचन मिले हुए से जान पड़ने लगे। कहाँ तो युद्ध के लिए प्रेरणा करना और कहाँ कर्म की बात कहकर फिर 'स्थित प्रज्ञ' की बात कह डालना। यदि यही बात है तो कर्म छोड़कर ब्राह्मी स्थिति देने वाले साँख्य मार्ग को, बुद्धि योग को, कर्म-संन्यास को, निवृत्ति मार्ग को ही क्यों न अपनाया जाय? अत: जब अर्जुन ने यही शंका प्रश्न रूप में उपस्थित की तब श्री कृष्ण जी ने इस अध्याय में प्रतिपादन किया कि कर्म करते रहना चाहिये।

अर्जुन उवाच (अर्जुन की शंका)

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।। १

जनार्दन (हे जनार्दन श्री कृष्ण जी!), चेत्, ते (यदि, आपको), कर्मण: बुद्धि: ज्यायसी, मता (कर्म की अपेक्षा, ज्ञान, श्रेष्ठ, मान्य है), तत्, केशव (तो फिर, हे केशव!) माम्, घोरे, कर्मणि (मुझे, भयंकर, युद्ध कर्म में), किम्, नियोजयसि (क्यों, लगाते हो?)।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।। २

व्यामिश्रेण, इव (मिले हुए, से), वाक्येन (वचनों से), मे, बुद्धिम् (मेरी, बुद्धि को), मोहयसि, इव (मानो मोहित कर रहे हो [इसलिए]), तत्, एकम्, निश्चित्य वद (उस, एक बात को, निश्चित करके, कहिये), येन, अहम्, श्रेय:, आप्नुयाम् (जिससे, मैं, कल्याण को, प्राप्त हो जाऊँ)।

प्रश्न 1- ज्ञान और कर्म की श्रेष्ठता के विषय में अर्जुन की क्या शंका थी?

उत्तर – अर्जुन ने कहा, ''हे जनार्दन! यदि आप के कथानानुसार कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग श्रेष्ठ है अर्थात् यदि आप कर्म से ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं, तो हे केशव! आप मुझे युद्ध रूपी इस भयंकर कर्म में क्यों लगाते हो? इस मिली-जुली बातों से मेरी बुद्धि को भ्रमित क्यों कर रहे हो? अत: आप निश्चय करके मुझे उस एक बात को बताईये जिससे मैं अपना कल्याण कर सकूँ।''

श्री कृष्ण उवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।। ३

अनघ (हे निष्पाप), अस्मिन्, लोके (इस लोक में), द्विविद्या, निष्ठा, मया पुरा, प्रोक्ता (दो प्रकार की, निष्ठायें (मार्ग), मेरे द्वारा पहले, कही गई हैं [उनमें से]), सांख्यानाम्, ज्ञानयोगेन (सांख्य योगियों की निष्ठा तो ज्ञान योग से और), योगिनाम्, कर्मयोगेन (योगियों की निष्ठा कर्म योग से होती है)।

प्रश्न 2- श्री कृष्ण जी अर्जुन की (ज्ञान योग व कर्म योग के सम्बन्ध में) शंका का समाधान किस प्रकार करते हैं?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को निष्पाप कहते हुए सम्बोधित करते हैं, ''मैंने पहले यह बतलाया है कि इस लोक में जीवन की दो निष्ठायें, दो प्रवृत्तियां, दो मार्ग हैं– साँख्य दृष्टि से विचार करने वालों के लिए ज्ञान योग तथा योग दृष्टि से विचार करने वालों के लिए कर्मयोग।''

इस श्लोक में जो कुछ कहा गया है, उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ये दोनों मार्ग यद्यपि अलग-अलग हैं, तथापि परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं। कोई व्यक्ति इस मार्ग से चलता है, कोई उससे, परन्तु पहुँचते सभी एक ही जगह पर हैं, कोई अपने लक्ष्य पर प्रवृत्ति-मार्ग से पहुँचता है, कोई कर्मयोग से। कोई निवृति मार्ग से पहुँचता है तो कोई ज्ञान योग से।

श्री लोकमान्य तिलक जी ने 'पुरा' शब्द के बारे में इस प्रकार चर्चा की है- हमने 'पुरा' शब्द का अर्थ 'पहले ऐसा' दूसरे अध्याय में किया है। यही अर्थ सरल है, क्योंकि दूसरे अध्याय में पहले साँख्य निष्ठा के अनुसार ज्ञान का वर्णन करके फिर कर्मयोग निष्ठा का प्रारम्भ किया गया है, परन्तु 'पुरा' शब्द का अर्थ 'सृष्टि के आरम्भ अथवा प्राचीन काल में भी हो सकता है। डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के अनुसार ''प्राचीन काल से ज्ञान-योग तथा कर्म-योग-जीवन के ये दो मार्ग चले आ रहे हैं।''

'निष्ठा' शब्द नि+ स्था इस प्रकार बना है। इसका अर्थ हुआ नितराम् स्थिति- किसी बात में जो स्थिर रहने का मार्ग है वह निष्ठा कहलाता है। जीवन के मार्ग में स्थिरता के दो प्रकार हैं- 1. ज्ञान योग तथा कर्मयोग।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।। ४

पुरुषः, न, कर्मणाम्, अनारम्भात् (मनुष्य न तो, कर्मों का, आरम्भ किये बिना), नैष्कर्म्यम् (निष्कर्मता को अर्थात्, योग निष्ठा को), अश्नुते (प्राप्त होता है), च, न संन्यसनात् (और न, कर्मों के केवल त्याग मात्र से), सिद्धिम् (सिद्धि अर्थात् साँख्य निष्ठा को ही), समधिगच्छति (अच्छी तरह प्राप्त होता है)

प्रश्न 3- किसी भी निष्ठा (मार्ग) की सिद्धि हेतु कर्म का क्या महत्त्व है?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण अर्जुन को कर्म छोड़ने की आज्ञा न देते हुए दोनों का महत्त्व बताते हैं- हे अर्जुन! सब से पहली बात यह समझ लो कि निष्काम होने का अर्थ निकम्मा -कर्महीन-भाग्यवादी बनकर हाथ पर हाथ धर कर बैठना नहीं है और न ही निष्काम का अर्थ 'उलटा-सीधा' कुछ भी करो है। पागलखाने में पागल लोग जो कुछ करते हैं बिल्कुल निष्काम-निर्लेप अनासक्त भाव से करते हैं, परन्तु यह संन्यास योग नहीं। फलासक्ति छोड़ शुभ करना निष्कर्मता है, कर्महीनता अथवा आसक्तिहीनता दोनों कर्मयोग के लिए प्राप्त नहीं। सो नैष्कर्म्य का अर्थ निकम्मापन नहीं।

कुछ लोगों का यह कहना है कि डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखते हैं- कर्म का सबसे बड़ा दोष यह है कि कर्म करोगे तो संसार के बन्धन में फँसे रहोगे। श्री कृष्ण जी इस दोष को दूर करना चाहते हैं। कर्म में बन्धन का जो दोष है वह कैसे दूर हो? इसके लिए गीता का कहना है कि कर्म में से फल की आसक्ति हटा लेने से ही कर्म का दोष मिट जाता है। कर्म बन्धनकारक नहीं रहता। इसके अतिरिक्त कर्म के बन्धन को काटने का दूसरा कोई मार्ग नहीं है। जो लोग कहते हैं कि कर्म करो ही नहीं, या कर्म प्रारम्भ कर दिया है तो उसे बीच में छोड़ दो, ताकि कर्म का बन्धन न पड़े। गीता का कहना है, कि ये गलत बात है क्योंकि-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।। ५

हि (निःसन्देह), कश्चित्, जातु, क्षणम्, अपि (कोई भी मनुष्य, किसी भी काल में, क्षणमात्र भी), अकर्मकृत्, न, तिष्ठति (बिना कर्म किए, नहीं रहता), हि (क्योंकि), सर्वः, प्रकृतिजैः, गुणैः (सारा मनुष्य समुदाय, स्वाभाव से गुणों द्वारा), अवशः (परवश हुआ), कर्म कार्यते (कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है)।

प्रश्न 4 - क्या कोई व्यक्ति बिना कर्म किए रह सकता है?

उत्तर - अर्जुन निष्कर्मता के अर्थ को न समझने के कारण कर्म त्याग करने को ही जीवन का ध्येय मान लेता है। उसके इस भ्रम को दूर करने के लिए श्री कृष्ण जी ने कहा, "हे अर्जुन! कोई भी मनुष्य, किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि मनुष्य अपनी प्रकृति (स्वभाव) से पैदा होने वाले गुणों द्वारा विवश बना दिया जाता है और वे उससे कर्म कराया ही करते हैं।"

बहुत बार जीवन के संघर्ष से घबराकर मनुष्य सब कुछ त्याग कर पूर्णरूप से तटस्थ हो जाना चाहता है, ताकि उसे सारे दायित्वों से मुक्ति मिल जाये और उसे कर्तव्य के नाम पर कुछ न करना पड़े। गीता यहाँ स्मरण कराती है कि मनुष्य कर्म के क्षेत्र से, चाहने पर भी, नहीं भाग सकता। प्रकृति के अन्य सभी प्राणियों और पदार्थों की तरह मनुष्य का मन आदि भी सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बना है, और ये तीन गुणों से प्रभावित होकर मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता रहता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।। ६

यः, विमूढात्मा (जो, मूढ़बुद्धि मनुष्य), कर्मेन्द्रियाणि (समस्त इन्द्रियों को [हठपूर्वक, ऊपर से]), संयम्य (रोककर), मनसा, इन्द्रियार्थान्, स्मरन, अस्ति (मन से, इन्द्रियों के विषय का, चिन्तन करता, रहता है), सः, मिथ्याचारः उच्यते (वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है)

प्रश्न 5- मिथ्याचारी (दम्भी) किसे कहा जाता है?

उत्तर - दूसरे अध्याय में श्री कृष्ण जी कह चुके हैं कि विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य का पतन हो जाता है (गीता २-६२/६३) यहाँ लोगों को दिखाने के लिए बाहर से स्थिर होकर बैठने वाले तथा मन से विषयों का चिन्तन करने वाले मनुष्य को मिथ्याचारी कहा गया है।

वास्तव में (भोग बुद्धि से) बाहर से भोग भोगने और मन से उनका चिन्तन

करने में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का अन्त:करण पर समान प्रभाव पड़ता है। एक दृष्टि से मन से भोगों का चिन्तन करने से साधक का विशेष पतन होता है। इसलिए श्री कृष्ण जी अर्जुन को उस मिथ्याचार से बचाने के लिए सावधान करते हैं कि हे अर्जुन! जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मेन्द्रियों को हठपूर्वक रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करते हुए बैठता है वह मूढ़ बुद्धि वाला मनुष्य दम्भी, पाखण्डी और मिथ्याचारी होता है। यदि वह समझे कि वह संयम कर रहा है या उसने अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण कर लिया है, ऐसा नहीं है। वह भ्रम में है। मन से विषयों का चिन्तन करना भी भोग की श्रेणी में ही आता है। ऐसा व्यक्ति पाखण्ड दिखाकर अपने आप को महापुरुष दिखाना चाहता है, वास्तव में उसका पतन भी निश्चित है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।। ७

तु (किन्तु), अर्जुन (हे अर्जुन!), यः, मनसा, इन्द्रियाणि, नियम्य (जो पुरुष, मन से इन्द्रियों को, वश में करके), असक्त, (अनासक्त हुआ), कर्मेन्द्रियैः, कर्मयोगम्, आरभते (समस्त इन्द्रियों द्वारा, कर्मयोग का, आचरण करता है), सः, विशिष्यते (वही श्रेष्ठ है)।

प्रश्न 6- श्री कृष्ण जी ने यहाँ श्रेष्ठ व्यक्ति किसे माना है?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण जी पिछले श्लोक में आये भावों को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं- ''सदाचारी होने के लिए मन और व्यवहार में एकता या समत्व का होना आवश्यक है।'' निष्काम बुद्धि से कर्म करने की युक्ति को श्री कृष्ण जी ने कर्मयोग माना है।

हे अर्जुन! जो व्यक्ति मन द्वारा इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है (पाखण्डियों की तरह केवल इन्द्रियों का हठपूर्वक दमन करने, मन द्वारा विषयों का स्मरण नहीं करता रहता) और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियों को कर्म-योग में लगाता है, वही व्यक्ति श्रेष्ठ कहलाता है।

इसका अभिप्राय यह है कि मन को नियन्त्रण में किए बिना इन्द्रियों को कर्म से रोकना मूर्खता है। मन के भटकते रहने पर इन्द्रियों को रोकना हीन प्रक्रिया है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। ८।।

त्वम्, नियतम्, कर्म, कुरु (तू, शास्त्र अनुमोदित, कर्म, कर), हि (क्योंकि), अकर्मणः, कर्म, ज्यायः (कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ है), च (और) अकर्मणः ते, शरीरयात्रा, अपि, न, प्रसिद्ध्येत् (कर्म न करने से, तेरा, शरीर निर्वाह, भी, नहीं, सिद्ध होगा)।

प्रश्न 7- कर्म न करने की अपेक्षा, कर्म करना श्रेष्ठ क्यों है?

उत्तर - यदि कर्म करने और न करने के बीच चुनाव करना हो, तो गीता का स्पष्ट सन्देश है कि प्रत्येक दशा में कर्म करना श्रेष्ठ है, और कुछ नहीं तो मनुष्य को अपने शरीर के निर्वाह के लिए, शरीर की यात्रा पूरी करने के लिए कर्म करते रहना होगा, पर कर्म का तात्पर्य केवल शरीर को बनाये रखना और कुछ शारीरिक क्रियाएँ करते रहना मात्र नहीं है। प्रत्येक मनुष्य के अपने परिवार और समाज के प्रति और स्वयं अपने प्रति कुछ कर्म करने नियत हैं। उन नियत कर्मों को करते हुए ही मनुष्य अपने जीवन के लक्ष्य की ओर प्रगति कर सकता है। साधना का अर्थ घर और समाज को छोड़कर वन में रहना नहीं है। प्रत्येक स्थिति में अपने कर्तव्य का पालन करना जीवन साधना की पहली शर्त है। तभी तो श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, ''तू अपने लिए नियत कर्म अवश्य कर, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ठ है। फिर, कर्म न करने से तेरे शरीर की यात्रा भी तो सिद्ध नहीं हो सकती।''

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।। ९

यज्ञार्थात्, कर्मणः (यज्ञ के निमित्त [भावना में] किए जाने वाले, कर्मों से अतिरिक्त), अन्यत्रः, अयम्, लोकः (दूसरे कर्मों में [लगा हुआ ही], यह, मनुष्य समुदाय), कर्मबन्धनः (कर्मों से बँधता है) [इसलिए], कौन्तेय (हे अर्जुन!) मुक्तसङ्गः (आसक्ति रहित होकर), तदर्थम् (उस यज्ञ के निमित्त [ही भली भाँति]), कर्म, समाचर (कर्तव्य कर्म, कर)।

प्रश्न 8- कौन से किये गये कर्म से कर्म बन्धन नहीं होता?

उत्तर - वैदिक काल से ही भारतीय जीवन में यज्ञ की संकल्पना और परम्परा चली आ रही है। यज्ञ की अग्नि को अर्पित की जाने वाली, समिधाएँ, घी और सामग्री - व्यक्ति और उसकी सीमित चेतना की प्रतीक हैं। अग्नि को अर्पित कर ये वस्तुएँ अग्नि के स्वरूप की हो जाती है। इस प्रकार व्यक्ति आत्मसमर्पण कर परमात्मा को प्राप्त करता है और परमात्मा का प्रकाश उसके अन्दर आ जाता

है। यज्ञ एक सामाजिक अनुष्ठान का प्रतीक भी है, जिसमें व्यक्ति अपने सीमित साधनों को समाज के कल्याण के लिए अर्पित कर देता है। इस प्रकार यज्ञ की भावना से कर्म करते हुए मनुष्य अपनी चेतना को नि:स्वार्थ, निष्पाप, व्यापक और पवित्र बनाता है।

इसमें सन्देह नहीं है कि यह सारा संसार (कर्म में लगे हुए मनुष्य) कर्म के कारण ही बँधा हुआ है अर्थात् मुक्त होने या मुक्त रहने में कर्म ही बाधक बना हुआ है 'बन्धन में न पड़े,' इसलिए कई लोग कर्म के त्याग का ही उपदेश देते हैं परन्तु जो कर्म यज्ञार्थ अर्थात् यज्ञ की भावना से किया जाता है, वह बन्धन का कारण नहीं होता। इसलिए हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! मुक्त संग होकर अर्थात् कर्म व कर्मफल में आसक्ति छोड़कर सदा यज्ञ के रूप में कर्म करते रहो (यज्ञ की भावना से अर्थात् भगवान् को अर्पण करने के भाव से किये गये कर्म बाँधने वाले नहीं होते)।

स्वामी रामदेव जी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है- यज्ञ का तात्पर्य गीता में बहुत व्यापक है। जैसा कि शास्त्रों में वर्णित है कि ब्रह्मा ने यज्ञ रूप इस सृष्टि की रचना की और यज्ञ चक्र द्वारा ही सृष्टि के संचालन अर्थात् सुचारू रूप से चलाने का विधान किया। स्पष्ट है कि यज्ञ से तात्पर्य अग्नि में हवन करने के साथ सांसारिक या स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति के लिए की जाने वाली क्रियाओं का कथन करना भी है। यज्ञ के अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं, जो व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से इस सृष्टि के व्यापार के सुचारू रूप से संचालन में सहयोग देते हैं।

कर्मविपाक प्रक्रिया के सिद्धान्त के अनुसार हर एक कर्म का फल बन्धन कारक है और जिस प्रकार की भावना (बुद्धि) रखकर, कर्म किया जाता है कर्ता को उसका वैसा ही फल भोगना पड़ता है। गीता ने मीमाँसकों के सिद्धान्त में यह सुधार किया कि यज्ञार्थ कर्म सुचारू व्यवहार के लिए आवश्यक है, किन्तु वे सब फल की आशा त्यागकर साम्य बुद्धि से किये जायें। यज्ञार्थ कर्मों में केवल श्रौतयज्ञों का नहीं, बल्कि स्मार्त यज्ञ तथा चातुर्वर्ण्य व्यवस्थानुसार सभी व्यवहारिक कर्मों का भी समावेश है। यज्ञार्थ कर्म बन्धक नहीं होते।

श्री अरविन्द जी के अनुसार वे सब कर्म यज्ञार्थ कर्म हैं जो यज्ञ रूप भगवान् को आहुति रूप में अर्पित किये जाते हैं। उनका कहना है कि गीता में यज्ञ का वर्णन दो स्थानों में हुआ है- एक तीसरे अध्याय और दूसरे चौथे अध्याय में।

ऊपर से देखने में मालूम पड़ता है कि यज्ञों के इस वर्णन में गीता उस समय के प्रचलित आनुष्ठानिक यज्ञों की, कर्मकाण्ड की बात कह रही है, परन्तु गहराई से देखने से ज्ञात होता है कि यज्ञ शब्द का गीता ने बहुत व्यापक, दार्शनिक अर्थ में प्रयोग किया है। दोनों स्थलों में यज्ञ के सम्बन्ध में गीता ने जिस भाषा का प्रयोग किया है उससे इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि इन स्थलों में जो यज्ञ सम्बन्धी वर्णन है वह रूपकात्मक है और यज्ञ करने की शिक्षा द्वारा जिस यज्ञ को करने के लिए कहा गया है, वह बाह्य यज्ञ नहीं आन्तरिक यज्ञ है। प्राचीन वैदिक पद्धति में सदा ही दो तरह का अर्थ रहा है। एक भौतिक दूसरा आध्यात्मिक। गीता का सम्पूर्ण कर्म सिद्धान्त उसकी यज्ञ से सम्बन्धित भावना पर अवलम्बित है।

जीवन एक यज्ञ है जिसकी पूर्णता आत्मदान में होती है, यह आत्मदान ही निष्कामता है। अब प्रश्न यह है कि यह आत्मदान, यह व्यक्ति का अपने को विश्व की आत्मा के सम्मुख उत्सर्ग कर देना, यह आत्म समर्पण क्यों नहीं होता? श्री अरविन्द जी का कहना है कि यह आत्म समर्पण इसलिए नहीं होता, क्योंकि पुरुष अपने कर्मों का कर्ता अपने आप को ही जानता है और यह नहीं देख पाता कि जगत् के सारे कर्म जिनमें, उसके आभ्यान्तर और बाह्य कर्म भी सम्मिलित है, उसके अपने कर्म नहीं। एक ही विश्व प्रकृति द्वारा होने वाले कर्म हैं और कुछ भी नहीं। इस तथ्य के अज्ञान के कारण ही जीव यज्ञ के विधान की, निष्कामता की, कर्मयोग की उपेक्षा करता है और संसार में सब कुछ अपने लिए ही बटोरना चाहता है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।। १०

प्रजापतिः (प्रजापति ब्रह्मा ने), पुरा (कल्प के आदि में [प्राचीन काल में]), सहयज्ञाः, प्रजाः, सृष्ट्वा, उवाच (यज्ञ सहित, प्रजाओं को, रच कर, कहा कि), [यूयम्=तुम लोग], अनेन (इस यज्ञ के द्वारा), प्रसविष्यध्वम् (वृद्धि को प्राप्त होओ और) एषः, वः (यह यज्ञ, तुम लोगों को), इष्टकामधुक् अस्तु (इच्छित भोग प्रदान करने वाला, हो)।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।। ११

अनेन, देवान्, भावयत (इस यज्ञ के द्वारा, देवताओं को उन्नत करो और), ते,

देवा:, व:, भावयन्तु (वे, देवता तुम लोगों को उन्नत करें), [एवम्= इस प्रकार नि:स्वार्थ भाव से], परस्परम्, भावयन्त: (एक दूसरे को, उन्नत करते हुए), [यूयम्= तुम लोग], परम् श्रेय:, अवाप्स्यथ (परम, कल्याण को, प्राप्त हो जाओगे)

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता:।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स:।। १२

यज्ञभाविता: देवा: (यज्ञ के द्वारा बढ़ाये हुए, देवता), व: इष्टान्, भोगान् (तुम लोगों को, इच्छित भोग [बिना माँगे ही]), हि, दास्यन्ते (निश्चय ही देते रहेगें [इस प्रकार]), तै:, दत्तान् (उन देवताओं के द्वारा दिये हुए भोगों की), य:, एभ्य: अप्रदाय (जो पुरुष, इनको, बिना दिये स्वयं), भुंक्ते (भोगता है), स:, स्तेन:, एव (वह, चोर, ही है)।

प्रश्न 9- प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि रचना रूपी यज्ञ करके प्रजाओं को क्या आदेश दिया ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को प्रजापति ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की रचना को बताते हैं, ''हे अर्जुन! प्रजापति ब्रह्मा ने सृष्टि के आदि काल में कर्तव्यकर्मों के विधान सहित प्रजा (मनुष्यादि) की रचना करके (मनुष्यों से) कहा, ''तुम लोग इस कर्तव्य के द्वारा सब की वृद्धि करो और यह (कर्तव्य-कर्मरूप यज्ञ) तुम लोगों को कर्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री प्रदान करने वाला हो। इस (अपने कर्तव्य-कर्म) के द्वारा तुम लोग देवताओं को प्रसन्न करो और वे देवता लोग (अपने कर्तव्य के द्वारा) तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार एक- दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। इस प्रकार यज्ञ से पुष्ट (प्रसन्न) हुए देवता लोग (बिना माँगे ही) कर्तव्य पालन की आवश्यक सामग्री देते रहेंगे। इस प्रकार उन देवताओं की दी हुई सामग्री दूसरों की सेवा में लगाये बिना जो मनुष्य (स्वयं ही उसका) उपभोग करता है, वह चोर ही है।''

गुरुदत्त जी ने यज्ञ की सुन्दर व्याख्या की है- यज्ञ के संकुचित अर्थ करने वालों ने बहुत भ्रम फैलाया है। अत: यज्ञ के वास्तविक अर्थों को समझकर ही गीता को समझा जा सकता है।

श्री बालगंगाधर तिलक जी ने यज्ञ शब्द के विषय में बहुत ऊहापोह की है। सम्भवत: इसका कारण यह है कि मध्यकालीन विद्वानों की दृष्टि में यज्ञकर्म संकुचित अर्थवाला हो गया था। श्री तिलक जी लिखते हैं कि श्लोक (३ से ९)

के पहले चरण में मीमाँसकों और दूसरे में गीता का सिद्धान्त बताया गया है। अभिप्राय यह हुआ कि गीता का सिद्धान्त मीमाँसकों के सिद्धान्त से भिन्न है। किन्तु ऐसा नहीं है। सब भारतीय शास्त्र इन सब पर एकमत हैं। मतभेद कहीं नहीं है, न ही इस श्लोक में दो मत पाये जाते हैं।

श्लोक (३ से १०) में कहा है कि नियत कर्म करता जा, उनको छोड़ नहीं। नियत कर्म है स्नान, शौच, भोजन, वस्त्र पहनना। इसी प्रकार अन्य शरीर पालन के कर्म हैं। मीमाँसक हो अथवा कोई अन्य हो, ये कर्म सबको पालन करने होते हैं और अगले श्लोक में कहा है कि इन नियत कर्मों के अतिरिक्त जो कर्म हैं उनको यज्ञ भावना से करें। इस भावना से कर्म करने को मीमाँसक भी कहते है। तिलक जी का मीमाँसक से अभिप्राय है कि मीमाँसा दर्शन की परिपाटी पर विचार करने वाले। वस्तुत: गीता की परिपाटी और मीमांसकों की परिपाटी में भेद नहीं। दोनों यज्ञार्थ कर्म की महिमा मानते हैं।

मनुष्य का प्रत्येक कार्य यज्ञ रूप हो जाता है, जब वह सर्वहिताय किया जाये। वेद में मनुष्य के सब पुण्य कार्यों को यज्ञ कहा है। ऐसा ही गीता में भी माना है।

यहाँ 'देवता' का शाब्दिक अर्थ देने वाला भी है और दिव्यगुण युक्त पदार्थ तथा व्यक्ति भी है। यहाँ उन दिव्य गुणयुक्त प्राकृतिक शक्तियों से अभिप्राय है जिनसे इस पृथिवी पर मनुष्य चलता है। वायु, जल, सूर्य और पृथिवी के गर्भ में अनेकानेक पदार्थ जिनका मनुष्य उपभोग करता है- ये सब देवता कहे जाते हैं। यह जीवन इन दिव्य पदार्थों की ही देन है और यदि मनुष्य इस जीवन में प्राप्त सब का सब अपने स्वार्थ के लिए ही प्रयोग करे तो वह चोर माना जायेगा।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस बात को वेद के मंत्र से मिलाया है। वेद में लिखा है- **'केवलाघो भवति केवलादी'** (ऋग्वेद १०.११७.६) इस भाव को गीता ने इन शब्दो में दुहराया है-

'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्यात्मकारणात्।' वेद ने कहा- जो अकेला भोजन खाता है वह निरा पाप खाता है। गीता ने कहा- जो केवल अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे केवल पाप की हण्डियाँ पकाते हैं, बस इसका विपरीत है- यज्ञशेष खाना। सो लोक सेवा के लिए जीना और जीने के लिए खाना यज्ञ शेष खाना है। इसके विपरीत खाने के लिए जीना और जीने के लिए सेवा करना भोजन-शेष सेवा है। सेवा शेष भोजन यज्ञ है, भोजन-शेष सेवा केवल पाप की

हण्डिया है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।। १३

यज्ञाशिष्टाशिनः, सन्तः (यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले, श्रेष्ठ पुरुष), सर्वकिल्बिषैः, मुच्यन्ते (सब पापों से, मुक्त हो जाते हैं और), ये, पापाः आत्मकरणात्, पचन्ति (जो, पापी लोग, अपना शरीर पोषण करने के लिए ही [अन्न], पकाते हैं), ते, तु, अघम, भुञ्जते (वे, तो, पाप को ही खाते हैं)।

प्रश्न 10- कौन लोग पाप का अन्न खाते हैं?

उत्तर - यहाँ श्री कृष्ण जी यज्ञ के महत्व पर चर्चा करते हुए बताते हैं, ''जो सन्त लोग हैं वे यज्ञ के बाद बची हुई वस्तु 'यज्ञ शेष' का उपभोग करते हैं, वे सब पापों से मुक्त हो जाते हैं और जो यज्ञ न करके केवल अपने लिए ही भोजन पकाते हैं, खाते हैं वे सब पाप का भोजन करते हैं।''

सम्पूर्ण पापों का मूल कारण है - अविद्यायुक्त कामना! अतः अविद्या से युक्त कामनापूर्वक केवल अपने लिये कोई भी कर्म करना (चाहे भोजन का पकाना और खाना ही क्यों न हो) पाप (बन्धन) है, और निष्काम भाव से दूसरे के लिए कर्म करना (अर्थात् दूसरों को खिलाकर खाना) पुण्य है। पाप का फल दुःख है और पुण्य का फल सुख है। इसलिए स्वार्थभाव से अपने लिए कर्म करने वाले दुःख पाते हैं और निःस्वार्थ भाव से दूसरों के लिए कर्म करने वाले सुख पाते हैं।

श्री तिलक जी ऋग्वेद के (१०.११७.६) इस मन्त्र से '**केवलाघो भवति केवलादी**' (अकेला ही भोजन करने वाला पापी होता है) तथा मनुस्मृति के (३.११८) श्लोक का दृष्टान्त देते हैं- **अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचन्त्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते** अर्थात् जो मनुष्य अपने लिए ही अन्न पकाता है, वह केवल पाप का भक्षण करता है। यज्ञ करने पर जो शेष रह जाता है उसे अमृत और दूसरों के भोजन कर चुकने पर जो शेष रहता है, (भुक्तशेष) उसे 'विधस' कहते हैं (मनु. 3.285) और भले मनुष्यों के लिए वही अन्न विहित कहा गया है (गीता 4.31)

आनन्द मूर्ति गुरु माँ द्वारा इस श्लोक की बहुत सुन्दर व्याख्या की है- जीवन यज्ञ है, संसार और जगत् यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ है- दिव्य कर्म। यह ईश्वर का दिव्य खेल हो रहा है और इस दिव्य खेल में आपका जीवन, खाना-पीना,

आपके द्वारा किये गये सभी कर्म परमार्थ में होने चाहिये। आप इस धरती पर चेतना के उच्चतम स्तरों को प्राप्त करने के लिए आये है। जड़ता, मूढ़ता, अन्धकार और अज्ञान के नाश के लिए मनुष्य का जन्म मिला है। जीवन को यज्ञ मानो। भोजन करने से लेकर सोने तक, हर क्रिया इस दिव्य यज्ञ का हिस्सा है। इसलिए जो कुछ आप कमाओ, जो कुछ आहार लो, सबसे पहले देवताओं को समर्पित करो। पुराने समय में ऐसा आचरण रहता था कि घरों में दो व्यक्तियों के लिए भोजन अलग निकालकर रखते थे। क्यों? क्या पता कोई अतिथि आ जाये। पहली रोटी चिड़िया के लिए, दूसरी गाय के लिए, कुत्ते के लिए, फिर ब्राह्मण के लिए रखी जाती थी। ब्राह्मण उन्हीं लोगों को कहा जाता था जो विद्याध्ययन करते व करवाते थे।

श्री कृष्ण जी यहाँ कह रहे हैं कि जो कुछ हमें प्राप्त हुआ उसे हमने देवताओं को समर्पित करना चाहिए। देवता का अर्थ यह नहीं कि कोई मूर्ति बनाई और उसके सामने रख दिया। यहाँ देवता का अर्थ प्राकृतिक तत्त्व अथवा जिस किसी को इसकी आवश्यकता है, चाहे वह मनुष्य है या पशु या कोई और। जो कुछ भी तुम्हारे पास है, पहले उसे देवता को समर्पित करो और बचे हुए अन्न को खाओ। यह खाना भी यज्ञ हो जायेगा। भोजन कमाना यज्ञ है, भोजन बनाना यज्ञ है, भोजन खाना यज्ञ है पर खाने से पूर्व उसे समर्पित करो।

यहाँ पाप की गहरी परिभाषा दी है। जब आप चोरी करते हैं, डाका डालते हैं, क्या सिर्फ वही पाप है? वह पाप है ही लेकिन जब आप प्रार्थना किये बिना, देवताओं को समर्पित किये बिना अन्न खाते हैं, यह भी पाप है और ऐसा अन्न खाने वाले को चोर कहा गया है।

यही कारण है कि हमारे वैदिक विद्वान् यज्ञोपरान्त बलिवैश्वदेव यज्ञ करते हैं तथा कीड़े-मकौड़े, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, गाय, कुत्ते के लिए भाग निकलवाते हैं। इसका अर्थ भी यही है कि जो शेष भोजन बचे, उसे खाये, यह यज्ञशेष का खाना है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।। १४

भूतानि, अन्नात्, भवन्ति (सम्पूर्ण प्राणी, अन्न से, उत्पन्न होते हैं), अन्न सम्भवः, पर्जन्यात् (अन्न की उत्पत्ति, वृष्टि से होती है), पर्जन्यः, यज्ञात् भवति (वृष्टि, यज्ञ से होती है), यज्ञः कर्म समुद्भवः (यज्ञ, विहित कर्मों से उत्पन्न होने वाला

है)।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। १५

कर्म, ब्रह्मोद्भवम् (कर्म समुदाय को तू, वेद ज्ञान से उत्पन्न और), ब्रह्म (वेद ज्ञान को), अक्षर, समुद्भवम्, विद्धि (अविनाशी परमात्मा से, उत्पन्न, जान) तस्मात् (इससे सिद्ध होता है कि), सर्वगतम्, ब्रह्म (सर्वव्यापी, परम अक्षर परमात्मा), नित्यम् यज्ञे, प्रतिष्ठितम् (सदा ही, यज्ञ में प्रतिष्ठित है)।

प्रश्न 11- सृष्टिचक्र यज्ञ रूप साधन में किस प्रकार प्रतिष्ठित है ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी सृष्टिचक्र को यज्ञ से जोड़ते हुए कह रहे हैं, ''अर्जुन! (यज्ञ का इतना महात्म्य है कि हमारे भोजन का यह अन्न भी जब यज्ञ करता है, अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है, अपने आप को बलिदान कर देता है तब) इस अन्न से सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं (और यह अन्न कैसे पैदा होता है ?) जब पर्जन्य मानो यज्ञ करता हुआ अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है तब इससे अन्न की उत्पत्ति होती है, (और पर्जन्य कैसे उत्पन्न होता है ? पर्जन्य भी यज्ञ से उत्पन्न होता है (नदी-नालों के समुद्र के जल जब अपने आप को अर्पण कर देते हैं, जल से वाष्प बन जाते हैं, तब उन्हीं के यज्ञ रूप कर्म से पर्जन्य (बादल) का निर्माण होता है। यज्ञ का इतना महात्म्य है, परन्तु इस महामहिम यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है।'' (उस कर्म से जिसका वर्णन गीता में किया जा रहा है।)

कर्म की उत्पत्ति ज्ञान से (ब्रह्म शब्द का अर्थ वेद है, वेद का अर्थ ज्ञान है) होती है, ज्ञान की उत्पत्ति अक्षर, अविनाशी परमेश्वर से होती है। यह अन्दर सर्वव्यापी परमेश्वर सदा यज्ञ में विद्यमान रहता है।

इन दोनों श्लोकों की व्याख्या डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस प्रकार की है- ''यह सारा चक्र अक्षर- सर्वव्यापी- परमेश्वर से चला। परमेश्वर से 'ज्ञान' हुआ, 'ज्ञान' से 'कर्म' हुआ, 'कर्म' से 'यज्ञ' हुआ, 'यज्ञ' से 'पर्जन्य' हुआ, 'पर्जन्य' से 'अन्न' हुआ, 'अन्न' से 'प्राणी' का शरीर हुआ। प्रारम्भ से अन्त तक यह जो सारी प्रक्रिया हुई, सारा कर्म हुआ, उसका नाम गीता के कथनानुसार 'यज्ञ' है, तो इस सारी प्रक्रिया, इस सारे कर्म, इस सारे यज्ञ के भीतर वर्तमान इस प्रक्रिया को, कर्म को, यज्ञ को चलाने वाला कौन है ? इस सब को परमेश्वर के सिवाय कौन चला सकता है ? इसलिए गीता ने कहा- वह

नित्य सर्वव्यापी भगवान् सदा 'यज्ञ' में, सृष्टि के 'कर्म' में वर्तमान रहता है।''

इस सबसे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण जी अपने आपको परमेश्वर नहीं मानते। यदि ऐसा होता तो वह कहते कि मैं इस यज्ञ में रहता हूँ। ऐसा न कहकर उन्होंने अपने आप को एक मानव (मरणधर्मा) घोषित किया है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।। १६

पार्थ (हे अर्जुन!) यः, इहः, एवम्, प्रवर्तितम् (जो पुरुष, इस लोक में इस प्रकार परम्परा से, प्रचलित), चक्रम्, न, अनुवर्तयति (सृष्टि चक्र के अनुकूल नहीं बरतता अर्थात् अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता), सः (वह), इन्द्रियारामः, अघायुः (इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला, पापायु पुरुष), मोघम्, जीवति (व्यर्थ ही, जीता है)

प्रश्न 12- कौन व्यक्ति व्यर्थ जीता है ?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण जी सृष्टि क्रम के विरुद्ध चलने वालों के लिए कहते हैं, ''हे अर्जुन! संसार में जो इस प्रकार चलाये जा रहे यज्ञ के चक्र को आगे नहीं चलाता वह अघायु (अघ+आयु, पाप+जीवन अर्थात् उसका जीवन पापमय) है, वह इन्द्रियों के द्वारा भोगों में रमण करने वाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है अर्थात् वह संसार में व्यर्थ ही जीता है।''

सृष्टि क्रम के साथ ही हमें चलना होगा। सृष्टि क्रम हमारे साथ नहीं चलेगा। हमको प्रकृति के नियमों का पालन एवं सम्मान करना चाहिये, परन्तु जो केवल इन्द्रियों के द्वारा सुख भोगने के लिए संसार को प्रयोग करता है, वह केवल पाप भोगता है, उसका जीवन व्यर्थ है।

गीता ने जिस अर्थ में 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग किया है वह अर्थ है 'आत्मसमर्पण'। यहाँ 'यज्ञ' शब्द का प्रयोग एक व्यापक, दार्शनिक अर्थ में किया गया है। यह सम्पूर्ण संसार एक यज्ञ है, आत्मसमर्पण का नमूना है, निष्काम कर्म का जीता जागता दृष्टान्त है। प्रजापति ने, जो सृष्टि का रचयिता है, समर्पणात्मक यज्ञ किया और सम्पूर्ण ऐश्वर्य को प्रजाओं के लिए, प्राणी मात्र के लिए बिखेर दिया। यह सारी सृष्टि समर्पण को आधार बना कर चल रही है। सूर्य, पृथिवी, अग्नि, वायु, जल अपने लिये नहीं बल्कि प्राणी मात्र के लिए समर्पण कर रहे हैं। प्रजापति ने जब सृष्टि की प्रजाओं को उनके आधार में समर्पण की पुट देकर-यज्ञ की भावना को उनके बीच में डालकर- रचा तब

साथ ही कह दिया कि यह सृष्टि – चक्र यज्ञ की भावना से आगे बढ़ेगा। यज्ञ की भावना स्वार्थ की नहीं, परमार्थ की है।

परन्तु जो पुरुष आत्म समर्पण के बिना, निरे स्वार्थ से जीवन निर्वाह करता है, केवल अपने लिए जीता, अपने लिए खाता, अपने लिए सब कुछ करता है, केवल अपनी इन्द्रियों में ही रमा रहता है, उसका कर्म सकाम है और वह पापमय जीवन व्यतीत करता है।

सृष्टि का नियम ही निष्कामता है, यज्ञ है। यह यज्ञ-चक्र विश्व के कण-कण में रमा हुआ है। पानी की बूँद और अन्न के दाने से लेकर ब्रह्म तक निष्कामता ही निष्कामता से जगत् टिका हुआ है, ब्रह्म इस यज्ञ चक्र में बैठा हुआ है। जो व्यक्ति इस प्रकार चलाये हुए चक्र के अनुसार नहीं चलता, वह संसार में व्यर्थ ही जीता है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। १७

तु, यः, मानवः (परन्तु, जो, मुनष्य), आत्मरतिः, एव, च (आत्मा में ही रमण करने वाला, और), आत्मतृप्तः, च (आत्म में ही तृप्त, तथा), आत्मनि एवं सन्तुष्ट, स्यात् (आत्मा में, सन्तुष्ट, हो), तस्य, कार्यम् न, विद्यते (उसके लिए, कुछ करने को, नहीं होता।)

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।। १८

तस्य, इह, न (उस महापुरुष का, इस विश्व में, न तो), कृतेन, कश्चन अर्थः (कर्म करने से, कोई प्रयोजन रहता है, और), न, अकृतेन, एव (न, कर्मों के न करने से कोई प्रयोजन रहता है), च, सर्वभूतेषु, अस्य (तथा, सम्पूर्ण प्राणियों में भी, इसका), कश्चित्, अर्थव्यापाश्रयः, न (किंचितमात्र भी, स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं रहता)।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।। १९

तस्मात् सततम्, असक्त (इसलिए तू, निरन्तर, आसक्ति से रहित होकर, सदा), कार्यम्, कर्म, समाचर (कर्तव्य, कर्म को, भली भाँति कर), हि (क्योंकि), असक्तः (आसक्ति से रहित होकर), कर्म, आचरन्, पूरुषः (कर्म, करता हुआ, मनुष्य), परम् आप्नोति (परमात्मा को प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 13- आत्मज्ञानी की क्या स्थिति होती है ?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को आत्मज्ञानी की स्थिति बताते हुए 'उसे क्या प्राप्त होता है,' की चर्चा करते हुए कहते हैं, (क) ''हे अर्जुन! जो मनुष्य अपने आत्मा के अन्दर ही रति (आनन्द) अनुभव करता है, जो आत्मा से ही तृप्त है, आत्मा में ही सन्तुष्ट है, उसके लिए ऐसा कोई कार्य नहीं रह जाता] जिसे करना आवश्यक हो।''

यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने 'अपने' किया है तथा कुछ ने अपने 'जीवात्मा' में अर्थ किया है। ये दोनों ही अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होते। कारण यह कि जो अपने में ही संतुष्ट और अपने में ही तृप्त होगा, वह परम पद को प्राप्त नहीं कर सकेगा। श्लोक 3/15 में कहा है कि यज्ञ में प्रकृति को साधन मानकर कार्य करें। साध्य तो परमात्मा ही है। जो सब कुछ परमात्मा के लिए करता है, उसमें ही सन्तुष्ट होता है यही परम पद को पाता है। श्लोक 3.17 में आत्मा का अर्थ परमात्मा लगाने से भाव ठीक बनता है। यह इस प्रकार कि मनुष्य को चाहिये कि वह संसार के सब प्रकृति से बने पदार्थों को जीवन यज्ञ में साधन बनाये।

(ख) आत्मज्ञानी के लिए ऐसा कोई कर्म नहीं है जिसका करना आवश्यक हो। उसे कृत कर्म (प्रवृत्ति) से न तो कुछ पाना है, न अकृत कर्म (निवृत्ति) से कुछ लेना है, न किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिए समस्त प्राणियों में से अपने स्वार्थ के लिए किसी पर निर्भर रहना पड़ता है। वह किसी भी वस्तु के लिए न तो देवताओं पर निर्भर रहता है न मनुष्यों पर, किसी भी प्राणी पर उसका कोई प्रयोजन आश्रित नहीं, वह किसी से भी लाभ प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करता, कारण उसके लिए तो आत्मानन्द ही पूरी तरह तृप्तिदायक होता है, परन्तु फिर भी वह केवल भगवान् के लिए शुद्ध यज्ञ की भावना से, आसक्ति और कामना से रहित होकर कर्म करता है।

अर्जुन की प्रकृति, क्योंकि इस प्रकार की नहीं है, वह साँख्य-मार्ग का नाम भर ले रहा है, संन्यास की बात ही कर रहा है, क्षत्रिय होने के कारण उसकी प्रकृति तो कर्म-परक है, इसलिए श्री कृष्ण जी कहते हैं-

(ग) 'क्योंकि तू आत्म-रत, आत्म-तृप्त, आत्म-तुष्ट नहीं है, क्योंकि तू कृत-अकृत को अपने स्वभाव के कारण नहीं छोड़ सकता इसलिए तेरे सामने तो यही रास्ता रह जाता है कि तू अनासक्त होकर सदा करने योग्य कर्म, करता

हुआ रह। अनासक्त रहकर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को प्राप्त कर लेता है। इसका अर्थ है कि संसार में मनुष्य जो भी कार्य करे उसे यज्ञ रूप समझ कर करे। सांसारिक पदार्थों को यज्ञ में समिधा-सामग्री इत्यादि समझे और परमात्मा में ही प्रीति रख उसमें ही रत होकर यज्ञ करे तो उसके लिए संसार में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और उसे अति श्रेष्ठ पद प्राप्त होता है।

कर्म-योग पर फिर बल

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि।। २०

जनकादयः, कर्मणा, एव (जनकादि ज्ञानीजन भी, आसक्ति रहित कर्म द्वारा, ही), संसद्धिम् आस्थिताः (परम सिद्धि को, प्राप्त हुए थे), हि (इसीलिए), लोकसंग्रहम्, सम्पश्यन् (लोकसंग्रह को देखते हुए), अपि (तू भी), कर्तुम्, एव, अर्हसि (कर्म करने को ही योग्य है अर्थात् तुझे कर्म करना ही उचित है।

प्रश्न 14- श्री कृष्ण जी अर्जुन को किस का उदाहरण देते हुए कर्म करने की प्रेरणा दे रहे हैं?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को जनकादि का उदाहरण देकर कहते हैं, ''हे अर्जुन! देखो प्राचीन काल में जनकादि कर्म द्वारा ही सिद्धि तक पहुँचे थे। इसी कारण से जनक के पास बड़े-बड़े ऋषि-मुनि ज्ञान लेने आते थे। यह सिद्धि उन्होनें कर्मयोग के बल पर ही प्राप्त की थी, फिर प्रत्येक मनुष्य को यह भी विचार कर चलना चहिये कि 'मेरे इस आचरण का लोगों के संगठन पर क्या प्रभाव पड़ेगा? इस भावना को लोकसंग्रह कहते हैं। तू राज घराने का है, जन साधारण के समक्ष तुझे आदर्श स्थापित करना चाहिये'' जनक जी ने आजीवन इसी आदर्श का पालन किया।

यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन को अप्रत्यक्ष रूप से युद्ध कर्म करने की प्रेरणा ही दे रहे हैं। हे अर्जुन! तुम आज यदि युद्ध नहीं करोगे तो तुम्हारा क्षात्र-धर्म नष्ट हो जायेगा और संसार का प्रत्येक भीरू सैनिक युद्ध क्षेत्र में वैराग्य का बहाना करके भागना चाहेगा। इसलिए प्रथम तो क्षात्र धर्म का त्याग स्वयं तुम्हें उचित नहीं, फिर तुम इतने बड़े पद पर प्रतिष्ठित हो तथा ऐसे उच्च राजवंश में जन्मे हो कि तुम्हारी देखा-देखी सब ही सन्मार्ग को छोड़कर मैदान से भागने लगेंगे। इसलिए लोक संग्रह की भावना से भी तुम्हें युद्ध करना आवश्यक है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।। २१

श्रेष्ठः, यत्, यत्, आचरति (श्रेष्ठ पुरुष, जो-जो आचरण करता है), इतरः जनः, तत् तत्, एव (अन्य पुरुष भी, वैसा-वैसा ही आचरण करता है), सः, यत्, प्रमाणम्, कुरुते (वह, जो कुछ, प्रमाण कर देता है), लोकः तत्, अनुवर्तत (समस्त मनुष्य समुदाय, उसी के अनुसार चलने लगते हैं)।

प्रश्न 15- श्रेष्ठ मनुष्यों के आचरण का साधारण जन पर क्या प्रभाव पड़ता है?

उत्तर -श्री कृष्ण जी अर्जुन को एक उच्च राजघराने का श्रेष्ठ व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हुए कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! सुन, श्रेष्ठ व्यक्ति जिस प्रकार का आचरण करते हैं, साधारण व्यक्ति भी उसी प्रकार का आचरण प्रारम्भ कर देते हैं। श्रेष्ठ व्यक्ति जिसे प्रमाण मानता है, अन्य लोग भी उसे ही प्रमाण मानना प्रारम्भ कर देते हैं अर्थात् जैसा आदर्श श्रेष्ठ व्यक्ति प्रस्तुत करता है, साधारण जन भी उसी आदर्श पर चल देते हैं,'' जैसे स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेद को प्रमाण माना तो लाखों लोग उनके पीछे चल पड़े। वर्तमान में स्वामी रामदेव जी ने जिस प्रकार योग को पुनः स्थापित किया, लाखों लोग उसको आदर्श मानने लग गये।

स्वामी रामदेव जी ने गीतामृत में तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली 1, अनुवाक 11 के मन्त्र संख्या 3 को प्रस्तुत किया है- यह सब कर्तव्य कर्म करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसर पर कर्तव्य निश्चित करने में दुविधा उत्पन्न हो जाये, किसी विषय में अपनी बुद्धि से निर्णय न कर सको, किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाओ तो ऐसे समय में उत्तम विचार वाले, उचित राय देने में कुशल, सत्कर्म एवं सदाचार में तत्परतापूर्वक लगे हुए सबके साथ सद्व्यवहार करने वाले जो ब्रह्मवेत्ता विद्वान् हों, वे जिस प्रकार आचरण करते हैं, उन्हीं का अनुगमन करते रहो। उनका व्यवहार ही प्रमाण है। स्पष्ट है किंकर्तव्य विमूढ़ की स्थिति में लोग श्रेष्ठ आत्मज्ञानियों का ही अनुसरण करते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।। २२

पार्थ (हे अर्जुन), मे, त्रिषु, लोकेषु (मुझे, इन तीनों, लोकों में), न, किञ्चन, कर्तव्यम्, अस्ति (न तो कुछ, कर्तव्य, है), च, न अवाप्तव्यम्, अनवाप्तम् (और,

न कोई भी, प्राप्त करने योग्य वस्तु, अप्राप्त है, [तो भी मैं]), कर्मणि, एव, वर्ते (कर्म में, ही लगा हुआ हूँ)।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। २३

हि (क्योंकि), पार्थ (हे अर्जुन!) यदि, जातु, अहम् (यदि, कदाचित, मैं), अतन्द्रितः, कर्मणि न, वर्तेयम् (सावधान होकर, कर्मों में न बरतूँ [तो बड़ी हानि हो जाये, क्योंकि]), मनुष्याः (सबलोग), सर्वशः मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते (सब प्रकार से, मेरे ही, मार्ग का, अनुसरण करने लगेंगे।)

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। २४

चेत्, अहम्, कर्म, न, कुर्याम् (यदि, मैं, कर्म, न, करूँ तो), इमे, लोकाः, उत्सीदेयुः (ये सब, मनुष्य, नष्ट भ्रष्ट हो जाये), च, संकरस्य, कर्ता, स्याम् (और मैं, संकरता (अव्यवस्था) का करने वाला, हो जाऊँ), इमाः, प्रजाः, उपहन्याम् (इस, समस्त प्रजा को, नष्ट करने वाला बनूँ)।

प्रश्न 16- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपना उदाहरण किस हेतु दे रहे हैं?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपना उदाहरण देते हुए कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! मेरे लिए तीनों लोकों में कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जो करना आवश्यक हो और न कोई ऐसा पदार्थ है जो प्राप्त होना चाहिये और मुझे प्राप्त नहीं है, परन्तु फिर भी मैं कर्म में लगा ही रहता हूँ। इससे पहले कि श्री कृष्ण जी राजा जनक का उदाहरण दे ही चुके हैं। अब अपना उदाहरण दे रहे हैं कि मुझे कुछ नहीं चाहिये, फिर भी मैं कर्म कर रहा हूँ। मैं तुम्हारा सारथी बना हुआ हूँ। तुम युद्ध जीत जाओगे तो इसमें मुझे क्या लाभ? तुम युद्ध हार जाओगे तो मुझे क्या कष्ट है? श्री कृष्ण जी यहाँ यह कह रहे हैं कि जहाँ रहो, पूरी तरह रहो, पर अनासक्त होकर रहो, न कोई अपेक्षा, न कोई बन्धन।''

(ख) ''हे अर्जुन! यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो मेरा अनुसरण करने के कारण लोग भी कर्म करना छोड़ देंगे तो ये सब लोक नष्ट हो जायें तो मैं अव्यवस्था फैलाने वाला बन जाऊँगा और लोगों का विनाश हो जाएगा। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मुझे सारा जगत् देख रहा है। मेरे कर्मों को सब समझेंगे और मेरा अनुसरण न चाहते हुए भी करेंगे। इसलिए मुझे ऐसे कर्मों को करना है जिनसे त्याग, आर्दश और धर्म की प्रतिष्ठा बढ़े।''

इसी माध्यम से श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं कि कर्म से भागो नहीं। कर्म को चुनौती की तरह स्वीकार करो। यहाँ पर युद्ध करना ही तुम्हें अभीष्ट होना चाहिये, अन्यथा आने वाली पीढ़ियाँ तुम्हें एक कायर, नपुंसक, कर्महीन के रूप में स्मरण करेंगी।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्ताश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। २५

भारत (हे भरतवंशी अर्जुन!) कर्मणि, सक्ताः, अविद्वांसः (कर्म में, आसक्त हुए, अज्ञानीजन), यथा, कुर्वन्ति (जिस प्रकार कर्म करते हुए हैं), असक्तः, विद्वान् (आसक्ति रहित, विद्वान् भी), लोकसग्रंहम् (लोक संग्रह के लिए) चिकीर्षुः (करना चाहता हुआ), तथा कुर्वन्ति (उसी प्रकार कर्म करे)।

प्रश्न 17- ज्ञानी व्यक्ति को कैसे काम करना चाहिये?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को भरतवंशी कहकर उद्बोधित कर रहे हैं, ''हे अर्जुन! जिन अशुभ कर्मों को अविद्वान् लोग फल में आसक्त होकर करते हैं, लोक संग्रह की इच्छा वाले विद्वान् उन्हें असक्त हो कर करें। यथा- सन्ध्योपासन आत्मशुद्धि के लिए किया जाता है परन्तु साधारण जन तो मर्यादा-पालन, लोक दिखावा, ख्याति प्राप्ति आदि भावनाएँ भी इसमें मिला लेते हैं।''

श्री राम जी, श्री कृष्ण जी एवं स्वामी दयानन्द जी जैसे महापुरुष तो जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास से इस स्थान पर पहुँच सकते हैं कि उन्हें आत्मशुद्धि के लिए सन्ध्योपासन की आवश्यकता न रहे, तो भी प्रजा के सामने मर्यादा-पालन का आदर्श स्थापित करने के लिए उन्हें सन्ध्योपासन नहीं छोड़ना चाहिये। यह बात श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, ''इसलिए मैं सब कर्म ठीक-ठाक विधि से पालन करता हूँ।''

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।। २६

युक्तः (कर्म से युक्त हुआ), विद्वान् (ज्ञानी पुरुष को [चाहिये कि वह]), कर्मसंगिनाम्, अज्ञानाम् (कर्मों में आसक्तिवाले, अज्ञानियों की), बुद्धिभेदम्, न, जनयेत् (बुद्धि में भ्रम, दुविधा, कर्मों में अश्रद्धा, उत्पन्न, न, करें) [किन्तु, स्वयं], सर्वकर्माणि, समाचरेन् जोषयेत् (शास्त्र विहित समस्त कर्मों को, भलाभाँति करता हुआ [उनसे भी], करवावे)।

प्रश्न 18- ज्ञानियों को अज्ञानियों से कैसे वर्तना चाहिये?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं कि ज्ञानियों को किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। श्री कृष्ण जी कह रहे है, ''ज्ञानी व्यक्ति कर्म में 'आसक्त' अज्ञानी लोगों की बुद्धि में भेद, दुविधा, अश्रद्धा उत्पन्न न करें। ज्ञानी व्यक्ति स्वयं कर्म से युक्त सब कर्मों को स्वयं तो ठीक-ठाक करें ही, परन्तु दूसरों को भी प्रेमपूर्वक प्रेरणा देकर उनसे भी कर्म करावें।

यहाँ कहने का तात्पर्य है कि लोकसंग्रह के लिए स्वयं तो अपने कर्तव्य को अनासक्त भाव से पूरा करे ही, दूसरों से भी प्रसन्नतापूर्वक करावे। यदि उन्हें (अज्ञानी) फलासक्ति त्याग कर कर्म करने को न समझाया गया तो संभव है कि वे लोकसंग्रह के उस कर्म से विचलित होकर उस कर्म से ही हाथ खींच लेवें। इस प्रकार लोक संग्रह में विघ्न उत्पन्न हो जायेगा, जो कर्मयोगी का उद्देश्य नहीं है। कुछ लोग यह सम्मति देंगे कि स्थित प्रज्ञ स्वयं कर्म न करके लोकसंग्रह के लिए दूसरों को प्रेरित करें। जिन्हें सदाचरण का दृढ़ अभ्यास नहीं, यदि उन्हें उपदेशमात्र दिया जाये तो वे इस ज्ञान के निहितार्थ को न समझकर इसका दुरुपयोग कर सकते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।। २७

कर्माणि (सम्पूर्ण कर्म), सर्वशः (सब प्रकार से), प्रकृतैः, गुणैः, क्रियमाणानि (प्रकृति के, गुणों द्वारा, किये जाते हैं [तो भी]), अहंकार विमूढात्मा (अहंकार से विमूढ़ हो गया आत्मा जिसका), अहम्, कर्ता, इति, मन्यते (मैं, कर्ता हूँ, ऐसा, मानता है)

प्रश्न 19– अहंकार से विमूढ़ आत्मा क्या मानता है ?

उत्तर – प्रकृति के सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के प्रभाव से ही सब प्रकार के कर्म हुआ करते हैं, पर अहंकार से मोहित अज्ञानी पुरुष, "मैं स्वयं ही कर्ता हूँ"– ऐसा समझता है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है– मनुष्य के सब कर्म प्रकृति के अधीन होते हैं। प्रकृति के सब पदार्थ त्रिगुणात्मक सत्त्व, रजस्, तमस्, गुण वाले हैं। पदार्थों के रस अथवा विरस इन गुणों के कारण होते हैं, अतः इनके भोग में रुचि अथवा अरुचि भी इन गुणों के कारण करता है। इसी कारण यह कहा है कि प्रकृति के इन गुणों से प्रेरित हो मनुष्य संसार में रागद्वेषादि प्रवृत्तियां रखता है।

स्वामी रामसुखदास जी ने साधक संजीवनी में लिखा है–

'अहम्' दो प्रकार का होता है 1. वास्तविक (आधार रूप) 'अहम्' जैसे मैं 'मैं हूँ' (अपनी सत्ता मात्र) 2. अवास्तविक (माना हुआ) 'अहम्' जैसे मैं शरीर हूँ। 'वास्तविक' 'अहम्' स्वाभाविक एवं नित्य, और 'अवास्तविक अहम्' अवास्तविक एवं अनित्य होता है। अतः 'वास्तविक अहम्' विस्मृत तो हो सकता है पर मिट नहीं सकता और 'अवास्तविक अहम्' प्रतीत तो हो सकता है, परन्तु टिक नहीं सकता। मनुष्य से यह भूल होती है कि वह 'वास्तविक अहम्' (अपने स्वरूप) को विस्मृत करके 'अवास्तविक अहम्' (मैं शरीर हूँ) को सत्य मान लेता है।

यद्यपि सम्पूर्ण कर्म सब प्रकार से प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा ही किये जाते हैं, तथापि अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला अज्ञानी मनुष्य कर्मों का कर्ता अपने को मान लेता है। कारण कि वह अहंकार को अपना स्वरूप मान बैठता है, अहंकार के कारण ही मनुष्य शरीर, इन्द्रियाँ, मन आदि में 'मैं-पन' कर लेता है और उन (शरीरादि) की क्रियाओं का कर्ता अपने आप को मान लेता है। यह विपरीत मान्यता मनुष्य ने स्वयं की है।

जिस प्रकार समुद्र का ही अंश होने के कारण लहर और समुद्र में जातीय एकता है, उसी प्रकार संसार का ही अंश होने के कारण शरीर की संसार से जातीय एकता है। मनुष्य संसार को तो 'मैं' नहीं मानता, पर भूल से शरीर को 'मैं' मान लेता है। जिस प्रकार समुद्र के बिना लहर का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार संसार के बिना शरीर का अपना कोई अस्तित्व नहीं है। परन्तु अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला मनुष्य जब शरीर को 'मैं' (अपना स्वरूप) मान लेता है तब उसमें अनेक प्रकार की कामनाएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।। २८

तु, महाबाहो (परन्तु, हे महाबाहो), गुणकर्मविभागयोः, तत्त्ववित् ('गुण' और 'कर्म' इन दोनों के विभाग के जानने वाला, ज्ञान योगी), गुणाः, गुणेषु, वर्तन्ते (सम्पूर्ण गुण [ही] गुणों में, बरत रहे हैं), इति, मत्वा, न सज्जते (ऐसा, समझकर (उनमें), आसक्त नहीं होता)।

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।। २९

प्रकृतेः, गुणसम्मूढाः (प्रकृति के गुणों से अत्यन्त, मोहित हुए मनुष्य), गुणकर्मसु, सज्जन्ते (गुणों में और कर्मों में, आसक्त रहते हैं), तान् (उन), अकृत्स्नविद्ः, मन्दान् (पूर्णतया न समझने वाले, मन्दबुद्धि), कृत्स्नवित्, न, विचालयेत् (पूर्णतया जानने वाले ज्ञानी, विचलित न करें)।

प्रश्न 20- ज्ञानी व्यक्ति को अनासक्त होकर साधारण मनुष्यों के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये?

उत्तर - डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी इन दोनों श्लोकों की बहुत सुन्दर व्याख्या करते हैं- 1. हे महाबाहो अर्जुन! जो व्यक्ति तत्त्ववित् (ज्ञानी) है, तत्त्व को जानता है और 'गुण' तथा 'कर्म' इन दोनों के विभाग को, भेद को जानता है, वह यह जानकर कि मेरे सत्त्व-रज-तम- ये गुण ही प्रकृति के सत्त्व-रज-तम 'गुणों' पर क्रिया कर रहे हैं, कर्मफल में आसक्त नहीं होता।
2. जो व्यक्ति अपने सत्त्व-रज-तम इन तीनों गुणों को प्रकृति के सत्त्व-रज-तम-इन गुणों में क्रिया करते देखकर इस भ्रम में पड़ जाते हैं कि आत्मा स्वयं क्रिया कर रहा है, वे उन 'गुणों' द्वारा उत्पन्न 'कर्मों' में आसक्त होते हैं। व्यक्ति को चाहिये कि इन अज्ञानियों तथा मन्द-बुद्धि व्यक्तियों की बुद्धि को विचलित न करे, उनमें बुद्धि भेद न उत्पन्न करें, भले ही वह आसक्ति से कर्म करें, क्योंकि कर्म बिल्कुल न करने की अपेक्षा तो आसक्ति से कर्म करना अच्छा है, जो आसक्ति से कर्म करते हैं, उन्हें शनैः शनैः अनासक्ति के मार्ग पर डाला जा सकता है।

'मैं' कर्ता नहीं हूँ, गुण गुणों के साथ मिलकर सब काम कर रहे हैं' - इसका पंडित सातवलेकर जी ने गीता की अपनी 'पुरुषार्थ बोधिनी' टीका में बहुत उपयुक्त अर्थ किया है। वे लिखते हैं- कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, डाक्टर क्यों नहीं? क्योंकि कुम्हार में घड़ा बना सकने का गुण है, डाक्टर में यह गुण नहीं है। मिट्टी का गुण और कुम्हार का गुण मिलकर घड़ा बनता है, न सिर्फ मिट्टी के गुण से और न सिर्फ कुम्हार के गुण से घड़ा बन सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि एक के गुण दूसरे के गुणों के साथ मिलकर यह संसार चल रहा है। इसमें मिट्टी कहे कि मैंने घड़ा बनाया या कुम्हार कहे कि मैंने बनाया- दोनों का यह अहंकार मिथ्या है। इसलिए समझदारी इसी में है कि

कोई अपने को 'कर्ता' न समझे। 'कर्तृत्व' का घमण्ड त्याग दे और गुणों द्वारा गुणों के हेल-मेल से यह सब हो रहा है- ऐसा मानें और - 'मैं कर रहा हूँ' - ऐसा कह कर आसक्त न होवें।

स्वामी रामदेवजी के अनुसार श्लोक संख्या 28 में श्री कृष्ण जी का अर्जुन को 'महाबाहो' कहकर सम्बोधित करना भी अर्थपूर्ण है। इस सम्बोधन में धनुर्धारी के रूप में अर्जुन की अनेक उपलब्धियों का स्मरण होता है। जीवन संग्राम के सम्बन्ध में विचार किया जाये तो 'महाबाहो' शब्द सूचित करता है कि सच्चा और वीर पुरुष केवल वह नहीं होता जो किसी युद्ध में केवल कुछ शत्रुओं का वध कर डाले बल्कि जो निरन्तर मन में चल रहे युद्ध का अथक सामना करते हुए आसक्तियों के ऊपर विजय प्राप्त करता है, वही पुरुष वास्तविक वीर है। कर्म के युद्धक्षेत्र में परिस्थितियों पर आधिपत्य स्थापित करते हुए जो कार्य करता है वही अपराजेय है, अमर वीर है।

टिप्पणी - वैदिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म करने वाला आत्मा ही है, सत्त्व, रज, तम इन गुणों से प्रभावित होकर वह पाप पुण्य रूप कर्म करता है। यदि गुण ही कर्म करने वाला है तो फल भी गुणों को ही मिलना चाहिए किन्तु ऐसा तो है नहीं। यहाँ गुण कर्म करने वाले का तात्पर्य गुणों से प्रभावित होकर आत्मा कर्म करता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।। ३०

अध्यात्मचेतसा (आध्यात्मिक भावना के चित्त से), सर्वाणि, कर्माणि, मयि, संन्यस्य (सम्पूर्ण, कर्मों को, मुझ में, अर्पण कर), निराशीः, निर्ममः, विगतज्वरः, भूत्वा (आशा रहित, ममता रहित, सन्ताप रहित, होकर), युध्यस्व (युद्ध कर)।

प्रश्न 21- श्री कृष्ण अर्जुन को क्या-क्या त्याग कर युद्ध करने की प्रेरणा देते हैं?

उत्तर - यहाँ पर भगवान् श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, "हे अर्जुन! अध्यात्म भावना के चित्त से अर्थात् अध्यात्म बुद्धि से सम्पूर्ण कर्मों को मेरे प्रति समर्पित कर, किसी भी लौकिक इच्छा से रहित, ममता रहित और सन्ताप रहित होकर तू निश्चिन्त होकर युद्ध कर। जब तू कहता है कि 'मैं आपका शिष्य हूँ,' मुझ शरणागत को मार्ग दिखाईए तो तू अपनी पूरी आत्मिक शक्ति से, जो तेरी मुझ पर श्रद्धा है उसके बल से, स्वजन मोह को जीतकर और सारे कर्मों के बुरे-

भले का उत्तरदायित्व मुझ पर छोड़कर तथा फल की आशा को त्याग कर बिना झिझक के युद्ध कर।''

इस बात को हम पहले भी लिख चुके हैं कि गीता में 'मैं' 'मेरा' शब्द उसके प्रतीक ही समझे जाते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण जी जब कोई बात परमात्मा की ओर से कहते हैं तो वह परमात्मा के लिए ही 'मैं' 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसके ही अनुरूप इस श्लोक में यह कहा गया है कि अपने कल्याण के लिए अपने सब कर्म मुझमें (परमात्मा में) अर्पणकर दो। अपने लिए मोह, ममता और आशा का विचार छोड़कर युद्ध करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।। ३१

ये, मानवाः (जो कोई मनुष्य), अनसूयन्तः, श्रद्धावन्तः (दोष दृष्टि से रहित और श्रद्धायुक्त होकर), मे, इदम्, मतम् (मेरे, इस, मत का), नित्यम्, अनुतिष्ठन्ति (सदैव, अनुसरण करते हैं), ते, अपि, कर्मभिः, मुच्यन्ते (वे, भी, सम्पूर्ण कर्मों से, छूट जाते हैं।)

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।। ३२

तु, ये, अभ्यसूयन्तः (परन्तु, जो मनुष्य मुझ में, सब जगह दोष देखने वाले छिद्रान्वेषी), मे, एतत्, मतम् (मेरे, इस, मत के), न, अनुष्ठन्ति (अनुसार नहीं चलते हैं), तान्, अचेतसः (उन, मूर्खों को) [तू], सर्व-ज्ञान-विमूढान् (सब ज्ञानों के लिए मूढ़, गये बीते), नष्टान्, विद्धि (नष्ट हुए समझ)।

प्रश्न 22- कौन कर्मों से छूट जाते हैं और कौन नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर - यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन को कर्मों के विषय में बताते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! यह अनासक्ति योग का सिद्धान्त जिसे मैंने परम्परा से प्राप्त किया है और स्वयं भी मनन द्वारा निर्णय किया है। जो लोग श्रद्धावान् होकर दूसरों की निन्दा में ही समय न बिताकर मेरे इस उपदेश का निरन्तर पालन करते हैं वे ज्ञानीजन कर्मों के बन्धन से छूट जाते हैं अर्थात् कर्मफल की आसक्ति से मुक्त हो जाते हैं, परन्तु जो दूसरों की निन्दा करना ही जानते हैं, छिद्रान्वेषी हैं, दूसरों में दोष देखने वाले हैं और मेरे इस अनासक्ति सिद्धान्त के उपदेश के अनुसार नहीं चलते, समझ लो कि वे सब तरह के ज्ञान के लिए मूढ़ हैं, मूर्ख हैं, वे नष्ट होकर रहेंगे।''

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि उनके कहे अनुसार यदि अर्जुन अपने कर्म करेगा अर्थात् आशा, ममता छोड़कर, ईश्वरार्पण होकर कर्म करेगा तब वह कर्म-बन्धन से छूट जायेगा। कर्मफल भोगने के लिए ही पुनः इस संसार में अच्छे-बुरे जन्म मिलते हैं। यदि मनुष्य ईश्वरीय नियम का पालन करते हुए और किसी प्रकार के फल की आशा तथा किसी से मोह के कारण कर्म नहीं करेगा तो वह कर्मफलों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा, परन्तु जो कर्म बन्धनों में पड़ा रहेगा वह मूर्ख-मूढ़ आवागमन के चक्र में पड़ा रहेगा।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।। ३३

भूतानि, प्रकृतिम् (सभी प्राणी, प्रकृति [स्वभाव] को), यान्ति (प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव के परवश हुए कर्म करते हैं), ज्ञानवान्, अपि, स्वस्याः प्रकृतेः, सदृशम्, चेष्टते (ज्ञानी, भी अपनी प्रकृति [स्वभाव] के, अनुसार चेष्टा करता है।) [फिर इसमें किसी का], निग्रहः, किम्, करिष्यति (हठ, क्या करेगा)।

प्रश्न 23- क्या मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) बदलती है?

उत्तर - सब प्राणी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार काम करते हैं। प्रकृति को रोकना, स्वभाव का निग्रह करना, हठपूर्वक उसे बदलने का यत्न करना- इससे क्या होगा? मूर्ख तो मूर्ख, जो ज्ञानी है, वे भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार आचरण करते हैं।

प्रकृति या स्वभाव के अनुसार चलना पड़ता है, यही उचित है। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम अपने अच्छे-बुरे सब मनोवेगों के सामने झुक जायें। इसका अभिप्राय केवल यह है कि मनुष्य की जो प्रकृति है, उसे हमें पहचानना चाहिये, खोजना चाहिये। उसे खोज कर उसी के अनुसार चलना चाहिये, वही हमारा स्वधर्म है। यदि हम अपने स्वभाव के विरुद्ध चलेंगे तो प्रकृति इसे सहन नहीं करेगी। अर्जुन की प्रकृति शत्रुओं से युद्ध करने की थी, वह ऋषि, मुनियों की सी बातें करने लगा था। यह उसकी प्रकृति की बात नहीं थी, यह विवश होकर युद्ध करेगा।

इस श्लोक में कहा है कि सब प्राणी अपनी प्रकृति के अनुसार काम करते हैं। फिर निग्रह कौन करते हैं? यहाँ निग्रह का अर्थ 'संयम' नहीं बलात् 'इन्द्रियों का दमन' है। इन्द्रियों का संयम तो गीता को इष्ट है, पर गीता इन्द्रियों

की विषय कामना को हठपूर्वक दमन करने के विरुद्ध है। हठपूर्वक इन्द्रियों की वृत्ति को, जो कि स्वभाव के विरुद्ध है, मारना संभव नहीं है। मनुष्य कितना ही ज्ञानी हो, कर्म संन्यास को मानने वाला हो, भूख लगते ही भिक्षा माँगने को निकल पड़ता है। इसलिए चतुर व्यक्ति इन्द्रियविषयों के हठपूर्वक दमन के पक्ष में नहीं होते, उचित संयम द्वारा इन्द्रियों की स्वाभाविक वृत्तियों को लोक संग्रह के कार्य में लगाते हैं।

जीवन में कई बार ऐसे तात्कालिक अवसर भी आते हैं, जब व्यक्ति को अरुचि के काम भी करने पड़ते हैं, जिन्हें व्यक्ति पसन्द नहीं करता, पर न करे तो निर्वाह नहीं होता। ऐसे समय में ज्ञानी पुरुष तो समत्व बुद्धि से अपना कर्तव्य-निर्धारण कर कर्म करता है, जबकि अज्ञानी फलाशा में पड़कर कर्म करता है और पाप-पुण्य, सुख-दु:ख के चक्कर में पड़कर दु:ख पाता है। यही अन्तर ज्ञानी और अज्ञानी के कर्म करने में है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। ३४

इन्द्रियस्य, इन्द्रियस्य (इन्द्रिय-इन्द्रिय के), अर्थे (विषय में), रागद्वेषौ, व्यवस्थितौ (राग और द्वोष, स्थित है, निश्चित है), तयो:, वशम्, न, आगच्छेत् (उन दोनों के वश में नहीं होना चाहिये), हि, तौ, अस्य, परिपन्थिनौ (निश्चय से, वे दोनों, इसके [कल्याण मार्ग में] विघ्न करने वाले महान्, शत्रु हैं)।

प्रश्न 24- श्री कृष्ण जी अर्जुन को राग द्वेष से दूर रहने की प्रेरणा क्यों दे रहे हैं?

उत्तर - श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! प्रत्येक इन्द्रिय का जो विषय है उसमें राग और द्वेष निश्चित है। कान का विषय शब्द है। कान का राग मधुर शब्द पर होगा। कान का द्वेष कटु शब्द पर होगा। नेत्र का विषय रूप है। नेत्र का राग सुन्दर रूप पर होगा। नेत्र का द्वेष कुरूप पर होगा। यह नहीं हो सकता कि कान सुन्दर रूप पर राग करने लगे, कुरूप पर द्वेष करने लगे, न यह हो सकता है कि नेत्र मधुर शब्द पर राग (प्रेम) करे और कर्कश शब्द पर द्वेष करे। यही नियम अन्य इन्द्रियों पर लागू होता है। इन्द्रियों का जो विषय है, उसमें राग और द्वेष निश्चित है। ये राग-द्वेष ही मनुष्य के शत्रु हैं, इनके वश में न आवें अर्थात् उनसे बचें, क्योंकि ये दोनों कल्याण मार्ग से हटाने वाले हैं।

इन्द्रियों में जो राग, द्वेष (मोह और विरोध) है। अच्छे रुचिकर विषयों

के साथ राग (मोह) होता है और अरुचिकर विषयों के साथ द्वेष (विरोध) होता है। यह राग और द्वेष मनुष्य को विषयों के साथ बाँधते हैं। ये मनुष्य को अपने कल्याण से हटाने वाले हैं।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:।। ३५

स्वनुष्ठितात्, परधर्मात् (अच्छी प्रकार आचरण में लाये हुए, दूसरे के धर्म से), विगुण:, स्वधर्म:, श्रेयान् (गुण रहित भी, अपना धर्म, अति उत्तम है), स्वधर्मे निधनम्, श्रेय: (अपने धर्म में, मरना भी, कल्याण कारक है और), परधर्म: भयावह: (दूसरे का धर्म [प्रकृति] भय देने वाला है)।

प्रश्न 25- स्वधर्म पालन एवं परधर्म पालन से क्या मिलता है?

उत्तर - यहाँ पर जो प्रश्न अर्जुन ने उठाया था, कि ज्ञानी जीवन-निर्वाह के लिए युद्ध जैसे घोर कर्म करने की अपेक्षा खेती, भिक्षा माँगना आदि सौम्य कर्मों को क्यों न अपनाये, जिनमें हिंसा न करनी पड़े? इसी का उत्तर इस श्लोक में श्री कृष्ण जी ने दिया है, ''हे अर्जुन! अपनी प्रकृति और स्वभाव के विरुद्ध मनुष्य न चले- इस बात को दुहराते हुए कहते हैं कि अपना (वर्णाश्रम) धर्म गुणरहित होते हुए भी भलीभाँति पालन किया हुआ दूसरे के (वर्णाश्रम) धर्म से श्रेष्ठ होता है। अपने धर्म में मरना श्रेष्ठ है और दूसरे के धर्म में जीना भय का कारण है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने 'स्वधर्म' की बहुत सुन्दर व्याख्या की है। 'स्वधर्म' पर अविचल रहना- इस पर गीता ने विशेष बल दिया है। व्यापारी का 'स्वधर्म' तथा स्वकर्म व्यापार करना, डाक्टर का रोगियों का इलाज करना, शिक्षक का शिक्षा देना है। गीता का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी प्रकृति (स्वभाव) होती है, अपना-अपना गुण कर्म होता है। वही उसका धर्म है। वही उसका कर्म है, वही कुछ उसे करना चाहिये, उसी से उसे सिद्धि प्राप्त हागी, परन्तु वही करते रहे तो भगवान् को कैसे पा ले? उसका उपाय है अपने काम को ही आध्यात्मिकता में रंग देना। यह कैसे हो सकता है? गीता ने कहा है-

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन:'

अर्थात् जो कर्म करें यज्ञार्थ करें अर्थात् भगवान् को अर्पण करके करें। फिर कोई भी कर्म करें, व्यापार, डाक्टरी, अध्यापन करें, 'स्वधर्म' और 'स्वकर्म' कुछ भी क्यों न हो, वह कर्म आध्यात्मिक हो जायेगा वह स्वार्थ के लिए न होकर परार्थ

के लिए 'यज्ञार्थ' किया जाता है।

कल्पना कीजिए एक व्यापारी है, वह दिन-रात धन्धे में लगा रहकर खूब धन कमाये, परन्तु अपने प्रयोग में जो कुछ आयेगा उसका बचा हुआ देश तथा राष्ट्र हित में लगा देगा। गीता की परिभाषा में 'स्वधर्म' तथा 'स्वकर्म' का इस प्रकार पालन करने वाला व्यापारी जो अपना सब काम धन्धा यज्ञार्थ करता है, आध्यात्मिक पुरुष है, योगी है, साधु है, संन्यासी है। यदि वह व्यक्ति जिसकी मनोवृत्ति व्यापार की है, भगवान् को पाने के लिए 'स्वधर्म' और 'स्वकर्म' को छोड़कर साधु-संन्यासी हो जाता है, घर से भाग खड़ा होता है तो पहले तो वह ऐसा कर न सकेगा, उसकी वृत्ति बरबस उसे दुनियादारी की ओर खींचेगी। वह भगवा डाल कर भी किसी व्यापार- धन्धे में फँस जायेगा और यदि वह ठोक-पीटकर संन्यासी बना भी रहा तो वह संन्यास धर्म का पालन नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह उसके लिए 'स्वधर्म' तथा 'स्वकर्म' नहीं है। इस श्लोक के 'स्वधर्म' का अभिप्राय वर्णाश्रम धर्म है और आश्रम के कर्म, गुण तथा स्वभावानुसार ही होते हैं।

यहाँ गीता का अभिप्राय 'यज्ञार्थ कर्म' से है। हम अपने काम को दो दृष्टियों से कर सकते हैं 1. यज्ञार्थ दृष्टि- समाज सेवा की दृष्टि 2. अयज्ञार्थ दृष्टि- स्वसेवा की दृष्टि। आज हम जितने काम करते हैं, उन्हें स्वार्थ भाव से करते हैं। इसलिए हमारे कर्म में आध्यात्मिकता की पुट नहीं रहती, कर्म बन्धन का कारण बन जाता है। गीता का कहना है जो भी काम करो, छोटा हो, बड़ा हो, उसी में रम कर करो, तन्मयता से करो, कर्तव्य बुद्धि, समाज सेवा, परार्थ भावना से करो, इसमें आध्यात्मिकता की पुट आजायेगी, फिर कर्म बन्धन का कारण नहीं बनेगा। 'यज्ञार्थ' किया हुआ यह कर्म तुम्हें भगवान् के निकट ला कर खड़ा कर देगा। '**स्वधर्मे निधनं श्रेयः परमधर्मो भयावहः**' का यही अर्थ है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।। ३६

वार्ष्णेय (हे कृष्ण!), अथ, अयम्, पुरुषः (फिर, यह, मनुष्य, स्वयं), अनिच्छन्, अपि (न चाहता हुआ, भी), बलात् (बलपूर्वक), नियोजितः, इव (लगाये हुए की भांति), केन, प्रयुक्तः, पापम्, चरति (किस से, प्रेरित होकर, पाप का आचरण करता है)।

प्रश्न 26- पाप में प्रवृत होने का कारण क्या है?

उत्तर - गीताकार का कहना है- प्रकृति ही प्राणी का संचालन करती है, वह कर्मी है, मनुष्य तो अहंकारवश अपने को 'कर्त्ता' समझ बैठा है। अर्जुन को यह बात अनुभव से कुछ जंचती सी प्रतीत होती है, इसलिए उसने श्री कृष्ण जी से पूछा, ''हे वार्ष्णेय, वृष्णि- यादवों के काल में उत्पन्न कृष्ण! यह क्या वस्तु है जिससे प्रेरित होकर यह पुरुष न चाहता हुआ भी पापाचरण करता है, जैसे कोई बलपूर्वक उसे पाप में धकेल रहा है।''

'अनिच्छन्नपि' अपनी इच्छा के प्रतिकूल भी। अर्जुन को यही अनुभव होता है कि मनुष्य अपनी इच्छा के विपरीत भी कार्य करने के लिए विवश होता है। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। मनुष्य मौन रूप से अपनी सहमति दे देता है।

श्री कृष्ण उवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३७

रजोगुणसमुद्भवः (रजो गुण से उत्पन्न हुआ), एषः, कामः, क्रोध (यह, काम ही क्रोध है), एषः, महाशनः (यह, बहुत खाने वाला अर्थात्, भोगों से कभी न अघने वाला और), महापाप्मा (बड़ा पापी है), एनम्, इह, वैरिणम्, विद्धि (इसको तू इस विषय में, वैरी जान)।

प्रश्न 27- बलात् पाप कराने में कौन हेतु हैं?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन के उस प्रश्न कि मनुष्य बलात् पाप क्यों करता है का उत्तर देते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! रजोगुण से उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना ही पाप का कारण है। यह काम ही क्रोध में परिणत होता है। यह बहुत खाने वाला अर्थात् कभी सन्तुष्ट न होने वाला और महापापी है। इस विषय में तू इसको वैरी जान।''

'काम' अर्थात् 'कामना'। यह अविद्यायुक्त कामना सब पापों की जड़ है। गीता में पहले २/६२ में आया है कि विषयों का संग करते-करते 'कामना' उत्पन्न हो जाती है। कामना में बाधा आ पड़ने पर क्रोध उत्पन्न होता है। इस प्रवाह में पड़कर मनुष्य नष्ट हो जाता है। यह 'काम' ही सब पापों की जड़ है। काम ही हमारा सबसे बड़ा शत्रु है। यह 'काम' 'कामदेव' वाला काम नहीं, वह 'कामदेव' भी 'कामना' का ही एक रूप है, 'कामना', 'इच्छा', 'वासना' ही

'काम' है। कामना जब पूरी नहीं होती तब क्रोध उत्पन्न होता है। अत: श्री कृष्ण जी कहते हैं कि इस 'कामना' का ही जब वध करोगे तभी पाप से मुक्ति होगी। यह कामना 'महाशन' है, जितना इसे खिलाते जाओगे, यह खाती जायेगी, इसकी भूख नहीं मिटेगी। विषयों का भोग भोगने से विषय की भूख मिटती नहीं, बढ़ती है। अत: इस 'कामना' को अपना वैरी जान।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।। ३८

यथा, धूमेन, वह्निः (जिस प्रकार, धुएँ से, अग्नि), च, मलेन, आदर्शः, आव्रियते (और, मैल से, दर्पण ढका जाता है और), यथा, उल्बेन, गर्भः, आवृतः (जिस प्रकार, जेर से, गर्भ, ढका रहता है), तथा, तेन (वैसे ही, इस काम के द्वारा), इदम्, आवृतम् (यह [ज्ञान], ढका रहता है)

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।। ३९

च (और), कौन्तेय (हे अर्जुन!), एतेन, अनलेन, दूष्पूरेण (इस, अग्नि के समान, कभी न पूर्ण होने वाले), कामरूपेण (कामरूप), ज्ञानिनः (ज्ञानियों के), नित्यवैरिणा (नित्य वैरी के द्वारा मनुष्य का), ज्ञानम्, आवृतम् (ज्ञान, ढका हुआ है)।

प्रश्न 28- काम रूप वैरी से क्या और किस प्रकार ढका हुआ है ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! जैसे आग धुएँ से ढक जाती है, जैसे दर्पण मल से मैला (धुंधला) हो जाता है जैसे गर्भ जेर से आवृत रहता है, उसी प्रकार यह सब ज्ञान कामना से ढका रहता है और मनुष्य बलात् पाप की ओर धकेल दिया जाता है। यह काम ऐसा है जिसका पेट कभी नहीं भरता यह वासनायें और बढ़ती है ''और लाओ और लाओ'' की तरह व्यवहार करती हैं, यह आग की तरह सब कुछ को भस्म कर देती हैं। इनमें भोग की जितनी आहुति पड़ती है उतनी ही भोग की, कामना की लालसा बढ़ती जाती है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने कामना की तीन अवस्थाओं का मनोहारी दृष्टान्त प्रस्तुत किया है-

1. सूक्ष्म-आग को धुआँ ढकता है, परन्तु धुआं उड़ता जाता है, नया आता जाता है। ज्ञान का उदय होता है, परन्तु होता-होता कामना के धुएँ से ढकता जाता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की सूक्ष्म अवस्था है।

2. स्थूल दर्पण पर धूल जम जाती है, परन्तु कपड़ा लेकर उसे पौंछ दे तो धूल साफ़ हो जाती है। अन्त:करण का ज्ञान मल से आवृत हो जाता है, परन्तु प्रयत्न से शुद्ध रूप में आ जाता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की स्थूल अवस्था है।

3. अति-स्थूल-गर्भ को जेर आवृत कर देता है, गर्भ-स्थिति शिशु को हिलने-डुलने नहीं देती, उसे बाँध कर रख लेती है, जब तक जेर को काटकर फेंक न दिया जाये वह शिशु का ही अंग बना रहता है। यह कामना की ज्ञान को ढकने की अति-स्थूल अवस्था है इसमें अन्त:करण का ज्ञान कामना के शिकंजे में जबरदस्त जकड़ा रहता है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।। ४०

इन्द्रियाणि, मनः, बुद्धिः (इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सब), अस्य, अधिष्ठानम्, उच्यते (इसके, वास स्थान, कहे जाते हैं), एषः (यह काम [कामना]), एतैः (इन मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा ही), ज्ञानम्, आवृत्य (ज्ञान को आच्छादित करके), देहिनम्, विमोहयति (जीवात्मा को, मोहित करते हैं)।

प्रश्न 29- काम (कामना) के वास स्थान कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - इस काम (कामना) के तीन अधिष्ठान (वास स्थान) हैं- इन्द्रिय, मन और बुद्धि अर्थात् विवेकशक्ति। यह ज्ञान को ढककर इन तीन के द्वारा मति भ्रष्ट करता है अर्थात् मनुष्य की इन्द्रियाँ जहाँ आसक्त हो वहाँ अविद्यमान गुणों की कल्पना कर लेती हैं। मन उसकी स्मृति से कल्पना के महल खड़े करता रहता है और विवेक शक्ति बुरे काम को भी अच्छा सिद्ध करने के लिए युक्तियाँ ढूँढने लगती हैं।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।। ४१

तस्मात्, भरतर्षभ, त्वम् (इसलिए, हे अर्जुन! तू), आदौ, इन्द्रियाणि, नियम्य (पहले, इन्द्रियों को, वश में करके), एनम्, ज्ञानविज्ञानम् नाशनम् (इस, ज्ञान और विज्ञान का, नाश करने वाले), पाप्मानम् (महान पापी काम को) हि, प्रजहि (अवश्य ही, बलपूर्वक मार डाल)।

प्रश्न 30- इन्द्रियों को वश में करके किस को मारने का आदेश श्री कृष्ण जी अर्जुन को दे रहे हैं ?

उत्तर – श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! 'काम' तथा 'ज्ञान' का नित्य का वैर है। जहाँ 'काम' है वहाँ 'ज्ञान' नहीं, जहाँ ज्ञान है, वहाँ काम नहीं। 'काम' अर्थात् 'कामना' के नाश का एक ही उपाय है ज्ञान का उदय करना। इसलिए हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले-पहल इन्द्रियों का ही नियमन करके ज्ञान-विज्ञान के नाश करने वाली इस पापिनी कामना का वध कर या इसे दूर कर।''

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। ४२

इन्द्रियाणि (इन्द्रियों को [स्थूल शरीर से]), पराणि (पर अर्थात् श्रेष्ठ, बलवान् और सूक्ष्म), आहुः (कहते हैं), इन्द्रियेभ्यः, परम्, मनः (इन इन्द्रियों से, पर [श्रेष्ठ], मन है), मनसः, तु, परा, बुद्धिः (मन से भी पर [श्रेष्ठ] बुद्धि है), तु, यः, बुद्धिः (और, जो बुद्धि से भी), परतः सः (अत्यन्त पर [श्रेष्ठ], वह आत्मा है)।

प्रश्न 31- किस-किस से आत्मा को श्रेष्ठ माना गया है।

उत्तर – श्री कृष्ण जी आत्मा को श्रेष्ठतम बताते हुए कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! इस आत्मा को श्रेष्ठतम माना गया है कहते हैं कि 'इन्द्रियाँ' श्रेष्ठ है। इन्द्रियों की अपेक्षा 'मन' अधिक श्रेष्ठ है। मन की अपेक्षा 'बुद्धि' अधिक श्रेष्ठ है, परन्तु बुद्धि की अपेक्षा 'वह'- आत्मा- अधिक श्रेष्ठ है।''

डॉ. राधाकृष्णन् जी लिखते हैं कि यही बात कठोपनिषद में कही गई है १/३/१०-११

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुध्देरात्मा महान् परः।।

उपनिषद् के इस स्थल में 'बुद्धि से आत्मा (महान्) श्रेष्ठ है' – ऐसा कहा है। इसलिए गीता में भी 'बुद्धेः परतस्तु सः' इस स्थल में 'सः' वह का अर्थ आत्मा ही समझना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि 'आत्मा' सबसे श्रेष्ठ है, वही देह के साम्राज्य का राजा है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।। ४३

एवम्, बुद्धेः (इस प्रकार, बुद्धि से), परम् (पर अर्थात् सूक्ष्म बलवान् और अत्यन्त श्रेष्ठ आत्मा को), बुद्धवा (जानकर और), आत्मना, आत्मनम्, संस्तभ्य (बुद्धि के द्वारा, मन को वश में करके), महाबाहो (हे महाबाहो! {तू इस}, कामरूपम्, दुरासदम्, शत्रुम्, जहि (कामरूप, दुर्जय, शत्रु को, मार डाल)।

प्रश्न 32- श्री कृष्ण जी अर्जुन को काम को मारने की क्या विधि बताते हैं?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को काम को मारने की विधि इस प्रकार बहाते हैं, ''हे महाबाहो अर्जुन! इस प्रकार विवेककर्ता विवेक बुद्धि से भी परे कोई शक्ति है, यह विचार कर आत्मा का मैं स्वामी हूँ। बुद्धि रूप दासी, मन-रूप दास तथा इन्द्रिय रूप दासानुदासों से भी बड़ा हूँ इस प्रकार के आत्म बोध द्वारा वश में लाकर इस कठिनाई से आने वाली कामना रूपी शत्रु को मार डाल अर्थात् आत्मा से नियन्त्रण करके कामना रूपी दुर्जय शत्रु का वध कर दे।''

प्रश्न 33 – यहाँ आत्मा का आत्मा से नियन्त्रण करके – इसका क्या अर्थ है?

उत्तर – हम पहले इन्द्रियों को आत्मा समझने लगते हैं। उनका नियन्त्रण मन से होता है। फिर हम मन को आत्मा समझने लगते हैं। उसका नियन्त्रण बुद्धि से होता है फिर हम बुद्धि को ही आत्मा समझने लगते हैं। उसका नियन्त्रण आत्मा से होता है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि जिन्हें हम आत्मा समझते थे उनका अन्त में नियन्त्रण आत्मा से होता है। जब इन्द्रिय, मन, बुद्धि पर आत्मा का नियमन हो जाता है जब कामना रूपी दुर्जय शत्रु का नाश हो जाता है, मनुष्य निष्काम हो जाता है।

सारांश या सन्देश – इस अध्याय के तीसरे श्लोक में बताया गया है कि संसार में सृष्टि के आरम्भ से ही दो प्रकार की निष्ठायें प्रचलित हैं एक वे हैं जो यह मानते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए कर्म साधन हैं, व्यक्ति अच्छे कर्म करें और संसार चक्र का पालन करें और जब ज्ञान प्राप्त हो जाये या ज्ञान-प्राप्ति हेतु व्यक्ति में जब इच्छा उत्पन्न हो जाये, तब स्वयं की बुद्धि और मन को वश में करने हेतु इन्द्रिय -विषयों का दमन करने के लिए संसार से निवृत्त हो जाएँ अर्थात् संन्यास ले लें। कर्म बन्धन कारक होते हैं, अच्छे का अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है, तो सांसारिक कर्मों को त्यागकर बन्धन-मुक्त होने का प्रयत्न करें। जब कर्म ही छूट गये तो उसके साथ जुड़ा हुआ बन्धन भी न रहेगा, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी। बुद्धि और मन को नियंत्रित करने व ज्ञान-प्राप्ति हेतु अर्थात् जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए संन्यास आवश्यक है। ऐसी धारणा रखने वाले आज-कल प्रचलित मतों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। वे हैं बौद्ध

(हीनयान् एवं महायान्), ईसाई (सभी ग्रंथ), जैन आदि। वैदिक मतों में स्मार्त, (जो चार वर्ण और आश्रमव्यवस्था में विश्वास करते हैं।) इन सबका यही मानना है कि बिना संन्यास लिए व्यक्ति जीवन के ध्येय (मुक्ति) को नहीं पा सकता। दूसरी प्रकार की निष्ठा वाले यह मानकर चलते हैं कि इस सृष्टि के विधाता (ब्रह्मा) ने कर्म द्वारा यज्ञ के सहित प्रजा की रचना की है और जीवन-हेतु साधन उपलब्ध कराकर यह कहा है कि यज्ञ (कर्म) के द्वारा ही तुम वृद्धि को प्राप्त होओ और इस संसारचक्र (यज्ञचक्र) को चलाते हुए समृद्धि को प्राप्त होकर अपना ध्येय प्राप्त करो। मनुष्य कभी निष्कर्म हो ही नहीं सकता। यदि अन्य कर्म छोड़ भी दें तो भी शरीर की अनिवार्य आवश्यकताओं भूख, प्यास, ग्रीष्म व शीत से बचाव, वन्य जन्तुओं से रक्षा, इन सब के लिये (जीवन निर्वाह हेतु) कुछ न कुछ कर्म तो वन में भी करने ही होंगे, तो केवल इन्द्रिय-कामनाओं के बरबस दमन हेतु कर्मों (यज्ञ-चक्र) को क्यों त्यागा जाये ?

माना कि कर्म बन्धनकारक हैं पर कर्म-बन्धन के मूल में हैं कर्म करने की विशिष्ट भावना। जिस प्रकार की बुद्धि से कर्म किया जायेगा वैसा ही उसका फल होगा। स्वार्थमय संकुचित बुद्धि से तो निश्चित ही उसका फल बुरा होगा और उदार चित्त से भला। तो कर्म स्वयं में बँधन का कारक नहीं है। जब जीवन-निर्वाह-हेतु कर्म करना आवश्यक है तो लोकसंग्रह-हेतु उसको क्यों त्यागा जाये ? क्यों यज्ञचक्र को चालू रखने की, परमपिता की आज्ञा का उल्लंघन किया जाये ?

जब सभी कर्म करने ही हैं तो न उनके बंधन के मूल को ही काट दिया जाये ? उस मूल को काटने का उपाय यह है कि साम्यबुद्धि से स्थितप्रज्ञ बन सभी कर्मों को फलाशा त्याग कर कर्तव्य-रूप में करना। इस प्रसंग में ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मंत्र भी हमारा मार्गदर्शन करता है कि परब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, उसी ने सभी साधनों की रचना की है और वह उनमें व्याप्त भी हुआ-हुआ है - अत: मनुष्य को अपने जीवन-निर्वाह-हेतु प्राप्त साधनों का उपयोग तथा अपने सभी शास्त्रोक्त कर्मों (यज्ञचक्र) को भी निस्वार्थ: भाव से कर्तव्य समझकर पूर्ण करना चाहिए। भोग्य पदार्थ किसी की सम्पत्ति नहीं है। मनुष्य भूल से इसे अपना समझ बैठता है। मन्त्र है -

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।

इसी साम्यबुद्धि से जीवनपर्यन्त अपने स्वभाव के अनुसार अपने द्वारा चुने हुए कर्मों को करते रहना ही कर्मयोग निष्ठा है। कर्तव्य भावना से किये गये कर्म बन्धनकारक नहीं होते। अन्त में अर्जुन पूछता है कि इच्छा न होते हुए भी मनुष्य बुरे कर्मों में क्यों फँसता है ? श्रीकृष्ण जी ने उत्तर दिया - हे परन्तप! यह काम (कामनायें) ही है जो उसे पथभ्रष्ट करता है। काम ही उसका मुख्य शत्रु है। कामनाओं की अतृप्ति से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से बुद्धि नष्ट होती है। अत: इन्द्रिय-संयम द्वारा आत्मतत्त्व को पहचान कर उस शत्रु को नष्ट कर दो।

भगवद्गीता रूपी, उपनिषद् में जो ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'कर्म-योग' नामक यह तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः
ज्ञान-कर्म-संन्यास योग

प्रधान विषय –

(1) श्री कृष्ण जी का प्रभाव और निष्काम कर्म योग का विषय (श्लोक संख्या 1 से 18)।

(2) योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा (श्लोक संख्या 19 से 23)।

(3) फलसहित पृथक्-पृथक् यज्ञों का कथन (श्लोक संख्या 24 से 32)।

(4) ज्ञान की महिमा (श्लोक संख्या 33 से 42)।

भूमिका – कर्म से किसी को छूट नहीं है (कर्म किसी से छूटते भी नहीं हैं)। इसलिए निष्काम बुद्धि हो जाने पर भी कर्म करना ही चाहिये, परन्तु कर्म आसक्ति छोड़कर करने चाहियें। ज्ञान से स्वार्थ बुद्धि छूट जाये, तो भी कर्म नहीं छूटते। अतः ज्ञाता को भी निष्काम कर्म करने चाहियें। लोकसंग्रह के लिए यह आवश्यक है।

इस अध्याय में ज्ञान-कर्म-संन्यास इन तीनों पर प्रकाश डाला गया है। अर्जुन के हृदय में यह शंका उठनी स्वाभाविक थी कि क्या यह मार्ग जिसका श्री कृष्ण उपदेश कर रहे हैं श्री कृष्ण जी के मस्तिष्क की उपज है या प्राचीन परम्परा से चल रहा है? अपने देश में प्राचीन परम्परा से जो आ रहा हो उसे अधिक प्रमाण माना जाता है। मनुष्य का यह स्वभाव है, वह प्राचीन के सम्मुख सिर झुका देते हैं। भारतीय विचारकों के अनुसार नवीन संसार उन्नति करने के स्थान पर ह्रास का प्रतीक है। इसलिए अर्जुन अपने हृदय में सोच सकता है कि श्री कृष्ण की बात नवीन है, प्राचीन परम्परा की नहीं है, नवीन होने के कारण वह ठीक भी हैं या नहीं? इस सब को सोचकर श्री कृष्ण जी इस ब्रह्म विद्या की प्राचीन परम्परा का वर्णन करते हैं।

ब्रह्मविद्या की प्राचीन परम्परा

श्री कृष्ण उवाच

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।। १

अहम्, इमम्, अव्ययम्, योगम् (मैंने, इस, अविनाशी, योग को), विवस्वते (सूर्य से, विवस्वान् से), प्रोक्तवान् (कहा था), विवस्वान्, मनवे, प्राह (सूर्य [विवस्वान्] ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से, कहा था फिर), मनुः, इक्ष्वाकवे, अब्रवीत् (मनु ने, अपने पुत्र इक्ष्वाकु को, कहा)।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।। २

परन्तप (हे अर्जुन!), एवम्, परम्परा प्राप्तम् (इस प्रकार परम्परा से प्राप्त), इमम् (इस योग को), राजर्षयः विदुः (राजर्षियों ने जाना [किन्तु उसके बाद]), सः, योगः, महता कालेन (वह, योग, बहुतकाल से), इह, नष्टः (इस पृथ्वीलोक में लुप्तप्रायः हो गया)।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।। ३

[त्वम्=तू], मे, भक्तः, च, सखा, असि (मेरा, भक्त, और, सखा, है) इति, सः एव (इसलिए, वही), पुरातनः योगः (प्राचीन, योग), ते, प्रोक्तः (तुझे, कहा है), हि, एतत् (क्योंकि, यह), उत्तमम्, रहस्यम् (बड़ा ही उत्तम रहस्य है अर्थात् गुप्त रखने योग्य है)

प्रश्न 1– श्री कृष्ण जी ने कर्मयोग की परम्परा का क्या इतिहास सुनाया?

उत्तर – जो कर्मयोग अनादि होते हुए भी इस भूमण्डल पर जानने वाले विशेष पुरुष के न रहने से बहुत काल लुप्तप्रायः हो गया था, उसी कर्मयोग का वर्णन आरम्भ करते हुए श्री कृष्ण जी इन तीन श्लोकों में कर्मयोग की परम्परा बताकर उसकी अनादिता सिद्ध करते हैं। यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, "हे अर्जुन! इस अविनाशी योग का ज्ञान मैंने (यहाँ 'मैंने' से तात्पर्य परम पिता परमात्मा से है) विवस्वान् के प्रति कहा था। यहाँ पर विवस्वान् का अर्थ कुछ विद्वानों ने सूर्य भी लिया यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सूर्य नामक एक अति विद्वान् राजा था। उसने अपने एक प्रतापी पुत्र वैवस्वत मनु को यह ज्ञान दिया और मनु ने इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को बतलाया।"

"इस प्रकार परम्परा से प्राप्त (पुत्र को पिता से) चलता हुआ ज्ञान (अथवा गुरु से शिष्यों तक) राजर्षियों ने जाना और यह योग बहुत काल तक लोप हो गया। वही पुरातन योग मैंने आज तुझे बताया है, क्योंकि तू मेरा भक्त है, सखा है। इस कारण यह अति श्रेष्ठ तथा रहस्यपूर्ण बात तुझसे कहता हूँ।"

वह कर्मयोग जो प्राचीन काल से चला आ रहा था। राजर्षि लोग उसमें दीक्षित हुआ करते थे। राजाओं के इस योग विद्या (ब्रह्मविद्या) में दीक्षित होने का यह परिणाम निकला कि उस काल का सामाजिक जीवन आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत था। यहाँ पर श्री कृष्ण जी का यह कहना है कि जिस कर्म योग (ब्रह्म विद्या) का वर्णन मैं कर रहा हूँ, वह देश के विद्वानों की आदि काल से निधि रही है, जो अब लुप्तप्राय: सी हो गई है, परन्तु मुझे पूर्व जन्मों की स्मृति से वह ज्ञान स्मरण हो रहा है इसलिए मैं तुम्हें दे रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय सखा एवं जिज्ञासु हो।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

भवतः, जन्म, अपरम् (आप का जन्म तो, अभी का अर्थात् अर्वाचीन है), विवस्वतः, जन्म, परम् (और विवस्वान् का, जन्म, बहुत पुराना है), [तब मैं], इति, कथम्, विजानीयाम् (इस बात को, कैसे, जान लूँ, मान लूँ), त्वम्, आदौ एतत्, प्रोक्तवान्, (आप ही ने, आदिकाल में, यह योग कहा था)।

प्रश्न 2- श्री कृष्ण का जन्म अर्जुन के साथ होने से अर्जुन ने अपनी क्या शंका व्यक्त की ?

उत्तर - अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से शंका व्यक्त की "हे श्री कृष्ण जी! आप का जन्म और मेरा जन्म लगभग इस काल में हुआ है और आप कहते हैं कि मैंने यह ज्ञान विवस्वत नामक (सूर्य नामक राजा) राजर्षि से प्राप्त किया जबकि उसका जन्म तो आदि काल में हुआ था और आप का और मेरा जन्म तो आधुनिक काल में हुआ है, पर यह ज्ञान आप तक कैसे पहुँच गया? वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर श्री कृष्ण जी पिछले श्लोक में दे चुके हैं कि उन्हें यह ज्ञान परम्परा से प्राप्त हुआ, परन्तु यह ज्ञान तो लुप्त हो चुका था, फिर आपको यह कैसे प्राप्त हो गया?" इसका भी उत्तर यही है कि श्री कृष्ण जी स्वयं एक योगनिष्ठ आत्मा थे, योगियों को अपने कई जन्मों की स्मृति होती है।

श्री कृष्ण उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५

परन्तप, अर्जुन (हे अर्जुन!), मे, च, तव, बहूनि जन्मानि, व्यतीतानि (मेरे और तेरे, बहुत से जन्म हो चुके हैं), तानि, सर्वाणि, त्वम्, न, वेत्थ (उन, सबको, तू, नहीं, जानता), अहम्, वेद (मैं जानता हूँ।)

प्रश्न 3- अर्जुन की पिछले प्रश्न कि 'मैं और आप अभी जन्मे हैं, फिर यह ज्ञान आप को कैसे मिला' उसका उत्तर श्री कृष्ण जी कैसे देते हैं ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं, "हे परन्तप, अर्जुन! मेरे, तेरे अनेक जन्म हो चुके हैं, मैं उन सब को जानता हूँ, पर तू नहीं जानता।"

श्री कृष्ण योगनिष्ठ आत्मा थे और वह अनेक जन्म लेते रहे हैं। वैसे तो अर्जुन का आत्मा भी अनगिनत जन्म ले चुका था, परन्तु कृष्ण का जीवात्मा योगनिष्ठ होने से उन जन्मों की बात को जानता था और वे उन्हें स्मरण थे। यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह समझाना चाह रहे हैं कि योगी व्यक्ति कर्मों के फल में लिप्त नहीं होता। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि उन जन्मों के कुछ संस्कारों को मैं जानता हूँ, क्योंकि श्री कृष्ण जी आत्म तत्त्व में स्थित थे और अर्जुन को संसार चक्र के नियमानुसार उन पुराने जन्मों की स्मृति नहीं थी।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६

[अहम्=मैं], अजः (अजन्मा [और]), अव्ययात्मा (अविनाशी आत्मा वाला), सन्, अपि (होते हुए, भी तथा), भूतानाम्, ईश्वरः सन् (सब प्राणियों का, स्वामी, होते हुए), अपि (भी), स्वाम्, प्रकृतिम् अधिष्ठाय (अपनी, प्रकृति = स्वभाव को, वश में करके), आत्ममायया, सम्भवामि (अपनी ज्ञानमयी, संकल्पात्मिका शाक्ति से, जन्म लेता हूँ)।

प्रश्न 4- श्री कृष्ण जी अपने जन्म के बारे में अर्जुन को क्या सुनाते हैं ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी कहते हैं हे अर्जुन! मैं (मेरा आत्मा) अविनाशी होने पर सब भूतों (पंचभूतों) का स्वामी हूँ। मेरा वह आत्मा अपनी प्रकृति (स्वभाव) (भूतों) को अपने वश में करके अपनी ज्ञानमयी संकल्पात्मिका शाक्ति से जन्म लेता है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस पर बहुत सुन्दर टिप्पणी की है- श्री तिलक जी

भूतों का अर्थ प्राणी करते हैं। स्वामी शंकराचार्य जी ने भी 'भूतानामीश्वरः अपि' का अर्थ लिया है (भूतानां) ब्रह्मादिस्तम्ब, पर्यन्तानाम् अर्थात् ब्रह्मा, से लेकर स्तम्भ (लकड़ी के खम्भे) तक, सब का स्वामी ब्रह्म जगत् निर्माता माना जाता है।

ये दोनों अर्थ उपयुक्त नहीं है। भूत का अभिप्राय पंचमहाभूत हैं, जिनसे शरीर बना है। योगी न तो भूतों को अपने वश में कर सकता है और न ही योगी स्वेच्छा से जन्म लेता है क्योंकि सब जीव परमेश्वर की व्यवस्था से ही जन्म लेते हैं इस आधार पर योगी भी ईश्वर व्यवस्था के आधीन होकर जन्म लेता है स्वेच्छा से नहीं। ऐसा ही श्री कृष्ण जी ने अपने विषय में कहा है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है- हे अर्जुन! यद्यपि मैं अनादि हूँ, इसलिए अजन्मा हूँ तथा नित्य एक रस रहने वाला जीवात्मा हूँ तथा पाँचो महाभूत मुझे विवश नहीं कर सकते। मैं उनका स्वामी हूँ, वे मेरे स्वामी नहीं है तथापि अपने परोपकारी भाव से प्रेरित होकर मैं योगीजनोपार्जित अपनी निर्माण-शक्ति से जन्म ग्रहण करता हूँ अर्थात् मेरा यह जन्म भोगार्थ नहीं है, किन्तु अन्य लोगों को मोक्ष-मार्ग का उपदेश देने के लिए अपवर्गार्थ है।

योग दर्शन का सूत्र है- **'भोगाऽपवर्गार्थं दृश्यम्'** अर्थात् प्रकृति के दो उद्देश्य हैं- एक जीवों को नाना प्रकार के भोग दिलाना, जब तक जीवात्मा में सूक्ष्म से सूक्ष्म भोगवासना रहेगी, तब तक भोगार्थ जन्म होगा। परन्तु जब जीवात्मा अपनी कैवल्यावस्था में अर्थात् शुद्ध अपनेपन में पहुँच जाता है तब नाना नैमित्तिक कारणों से दबी हुई स्वाभाविक परोपकार की इच्छा शुद्ध रूप में प्रकट होती है और वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! आपकी कृपा से लब्ध इस पवित्र मार्ग का मैं कब अन्य जीवों को उपदेश करूँ? तब भगवान् अवधि की समाप्ति पर उसे अवसर देते हैं कि अपनी परोपकारेच्छा की पूर्ति के लिए उचित स्वयं प्रार्थित स्थान में जन्म ले। इस परोपकार से प्राप्त जन्म को आत्ममायया जन्म कहा गया है। वैसे तो सब ही जन्म अपने कर्मों का फल हैं, इसलिए आत्ममाया-जन्य कहला सकते हैं, किन्तु परोपकारार्थ जन्म तो माँग कर इस प्रकार लिया जाता है, जिस प्रकार वीर पुरुष किसी वीरोचित कार्य के लिए सेनापति से माँगकर वीर-सेवा का अवसर लेते हैं इसलिए कहा गया- 'आत्ममायया'।

टिप्पणी - आत्मा अपनी इच्छा से शरीर धारण नहीं करता और न ही कर सकता है। कर्मफल भोग और नये कर्म करने के लिए आत्मा ईश्वर की व्यवस्था से शरीर धारण करता है। कोई भी आत्मा केवल लोकोपकार की इच्छा से अपना शरीर धारण कर ले, यह सम्भव ही नहीं है।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। ७

भारत (हे अर्जुन!), यदा, यदा, धर्मस्य ग्लानिः (जब, जब धर्म की हानि और) अधर्मस्य अभ्युत्थानम्, भवति (अधर्म की वृद्धि होती है), तदा, तदा, हि, अहम् (तब-तब ही मैं), अत्मानम् (अपने को), सृजामि (रचता हूँ, प्रकट होता हूँ।)

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे।। ८।।

साधुनाम्- परित्राणाय, (साधु, सरल पुरुषों की रक्षा के लिए), दुष्कृताम् विनाशाय (पाप कर्म [दुष्ट] करने वालों को नष्ट करने के लिए), च (और) धर्मसंस्थापनार्थाय (धर्म की स्थापना करने के लिए), युगे-युगे-सम्भवामि (प्रत्येक युग में जन्म लेता हूँ)।

प्रश्न 5- श्री कृष्ण जी अपने जन्म का क्या उद्देश्य बताते हैं?

उत्तर - इस प्रश्न का उत्तर स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस प्रकार देते हैं- हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है तथा अधर्म का अभ्युत्थान होता है तब-तब मैं जन्म लेता हूँ अर्थात् लोककल्याणार्थ परमात्मा से माँग कर जन्म लेता हूँ।

यहाँ शंका हो सकती है कि यह वचन परमात्मा के हैं या श्री कृष्ण जी के। इसके उत्तर में कहा जायेगा कि श्री कृष्ण जी के। यदि श्री कृष्ण जी अपने को भगवान् मानते तो गीता के अन्त में -

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। गीता १८/६१
तमेव शरणं गच्छ गीता १८/६२

इस प्रकार न कहते। यहाँ कहा गया है कि हे अर्जुन! ईश्वर सब के हृदय में हैं, तू उसकी शरण में जा।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार- कुछ लोग इन श्लोकों के आधार पर अवतारवाद की पुष्टि करते हैं जो कि उनका अपना चिन्तन है। यदि ऐसा होता

तो महाभारत युद्ध के उपरान्त एक बार अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से गीता का उपदेश पुनः सुनने की इच्छा प्रकट की तो श्री कृष्ण जी ने कहा- महाभारत आश्वेधिक पर्व अध्याय १६/११-१२, १३

नूनमश्रद्दधानोऽसि दुर्मेधा ह्यसि पाण्डव।
न च शक्यं पुर्नवक्तुमशेषेण धनंञ्जय।। १६/११।।

हे पाण्डुनन्दन! निश्चय ही तुम श्रद्धाहीन हो और मन्द मति हो। हे अर्जुन! अब मैं उस उपदेश को ज्यों का त्यों नहीं कह सकता।

सः हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने।
न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः।। १६/१२।।

वह धर्म जो (गीता में वर्णन किया गया था) ब्रह्म पद को प्राप्त करने की सामर्थ्य रखता था। वह सारा का सारा धर्म उसी रूप में दुहरा देना मेरे वश की बात नहीं।

परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया।
इतिहासं तु वक्ष्यामि तस्मिन्नर्थे पुरातनम्।। १६/१३।।

मैंने उस समय योगयुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का वर्णन किया था। उसको बताने के लिए मैं एक प्राचीन इतिहास का वर्णन करता हूँ।

इससे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण स्वयं साक्षात् परमात्मा नहीं थे। उन्होंने गीता प्रवचन योगस्थ (परमात्मा से सम्बन्ध बनाये हुए) अवस्था में किया था। अतएव हम मानते हैं कि गीता में जहाँ भी 'मैं', 'मेरा', 'मुझे' इत्यादि सर्वनामों का प्रयोग किया है, वह श्री कृष्ण जी ने अपने लिए नहीं वरन् परमात्मा के लिए किया है। यहाँ कृष्ण का अवतार होना बिल्कुल सिद्ध नहीं होता।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। ९।।

अर्जुन (हे अर्जुन!) मे, जन्म, च, कर्म, दिव्यम् (मेरे, जन्म, और कर्म, दिव्य हैं) एवम्, यः, तत्वत्त, वेत्ति (इस प्रकार जो मनुष्य, तत्त्व से, जान लेता है), सः, देहम्, त्यक्तवा (वह, शरीर को, त्याग कर), पुनः, जन्म, न, एति (फिर, जन्म को, प्राप्त नहीं होता), माम्, एति (मुझे ही प्राप्त होता है)।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।। १०।।

वीतरागभय क्रोधाः (जिसके राग, भय और क्रोध सर्वथा नष्ट हो गये हैं), मन्मयाः (मुझ में लीन), माम्, उपाश्रिताः (मेरे आश्रित रहने वाले), बहवः (बहुत से भक्त), ज्ञान, तपसा, पूताः (ज्ञान रूप, तप से पवित्र होकर) मद्भावम्, आगताः (मेरे स्वरूप को, पा चुके हैं)।

प्रश्न 6- श्री कृष्ण जी किस प्रकार परमात्मा प्राप्ति की बात करते हैं?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझाते हुए कहते हैं, "हे अर्जुन! मेरे जन्म और मेरे कर्म भी दिव्य हैं। जो इस प्रकार तत्त्व से जानता है, देह त्यागने के उपरान्त जन्म नहीं लेता और वह मुझे (यहाँ मुझ से तात्पर्य परमात्मा से है) प्राप्त होता है, जो व्यक्ति राग, द्वेष, भय, क्रोध को छोड़कर मेरे आश्रय होकर (मेरे अनुसार कर्म कर) अनेक जन, ज्ञानरूप तप से शुद्ध होकर मेरे ही स्वरूप को पा चुके हैं, अर्थात् मेरे जैसे शुद्धात्मा हो चुके हैं।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार 10वें श्लोक में कुछ ऐसा ही प्रकट होता है कि श्री कृष्ण जी ने अपने को परमात्मा मानकर यह कहा है कि "मेरे जन्म और कर्म दिव्य होते हैं और जो इनके रहस्य को जान जाता है, वह जन्म बन्धन से मुक्त होकर और उसके परायण होकर उसमें ही मिल जाता है।"

योगीराज श्री कृष्ण जी का जन्म और उनके कर्म भी दिव्य थे, वे स्वयं राग, द्वेष, भय, क्रोध को पार कर चुके थे और जो व्यक्ति इस प्रकार बन जाता है वह मुझे प्राप्त होता है। यहाँ 'मुझे' से तात्पर्य परमात्मा से है। इन श्लोकों में श्री कृष्ण जी ने जो कहा है कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य है, तो वह परमात्मा के लिए नहीं कहा, वरन् अपने जन्मों के लिए कहा है। श्री कृष्ण जी ने अपने को मुक्त जीवात्मा मान कल्याण कार्य के लिए जगत् में आने का प्रयोजन बताया है।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।। ११।।

पार्थ (हे अर्जुन!), ये, माम्, यथा, प्रपद्यन्ते (जो भक्त, मुझे, जिस प्रकार, भजते हैं), अहम् , तान्, तथा एवं, भजामि (मैं भी, उनको, उसी प्रकार भजता हूँ), मनुष्याः, सर्वशः, मम (सभी मनुष्य, सब प्रकार से, मेरे ही), वर्त्म, अनुवर्तन्ते (मार्ग का, अनुसरण करते हैं)

प्रश्न 7- व्यक्तियों को अपने कर्मों का फल किस आधार पर मिलता है?

उत्तर - हे अर्जुन! जो व्यक्ति मुझे भजते हैं, अर्थात् मेरे पदचिन्हों पर चलते हैं, मैं उनको भजता हूँ अर्थात् उनको मैं (अर्थात् परमात्मा) खूब सुख, सुविधा, ऐश्वर्य प्रदान करता हूँ। जो मनुष्य मेरा अनुवर्तन करते हैं अर्थात् मेरे बताये मार्ग पर चलते हैं, परमात्मा भी ऐसे मनुष्यों को आनन्द प्राप्त कराता है, प्रत्येक

महापुरुष ऐसा कहता सुना जाता है कि मेरे कथनानुसार करोगे तो मुझ जैसे हो जाओगे। यही बात श्री कृष्ण जी कह रहे हैं।

हे अर्जुन! इस युग में परम्परा प्राप्त राजर्षि-सेवित कर्मयोग का प्रचार करना चाहता हूँ। मैंने इस भारतवर्ष में महाभारत साम्राज्य की स्थापना का बीड़ा उठाया है। इस पवित्र यज्ञ में जो जिस अवस्था में मेरी शरण में आता है, मैं उसका उसी रूप में उपयोग कर लेता हूँ, अर्थात् मैं किसी से घृणा नहीं करता, राग, द्वेष, क्रोध नहीं करता। हे अर्जुन! इस घृणा के अभाव तथा उत्साह वर्धन के कारण चारों ओर मनुष्य इस कार्य में मेरे अनुयायी हो गये हैं (और तू मेरा सखा होकर उस निष्काम सेवा के मार्ग को छोड़ रहा है और स्वजन हत्या की दुहाई दे रहा है।)

काङ्.क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।। १२।।

इह, मानुषे, लोके (इस, मनुष्य, लोक में), कर्मणाम्, सिद्धिम्, कांङ्न्तः (कर्मों के, फल को, चाहने वाले लोग), देवताः, यजन्ते (देवताओं का, पूजन किया करते हैं), हि (क्योंकि [उनको]), कर्मजा, सिद्धिः, क्षिप्रम्, भवति (कर्मों से उत्पन्न होने वाली, सिद्धि, शीघ्र मिल जाती है।)

प्रश्न 8- निष्काय कर्मी की क्या स्थिति है ?

उत्तर - कई लोग कर्मों का फल चाहते हैं। इसलिए वे देवताओं की यज्ञों द्वारा आराधना करते हैं क्योंकि मनुष्य को इस संसार में कर्मों के द्वारा उत्पन्न होने वाला फल शीघ्र मिल जाता है। यहाँ श्री कृष्ण जी का अभिप्राय सकाम कर्मों से है, परन्तु यज्ञ-यागदि सकाम कार्य हैं। गीता में निष्काम -कर्म को महत्त्व दिया गया है, श्री कृष्ण जी का कहना है कि सकाम तथा निष्काम दोनो प्रकार के कर्म करने वालों का लक्ष्य भगवान् की प्राप्ति ही है। उसी ओर सभी प्रयासरत हैं, परन्तु सकाम-कर्मियों की अपेक्षा निष्काम कर्मी ऊँचे सत्य की चट्टान पर खड़ा है।

इस संसार में सभी उन्नति करना चाहते हैं। वे इस संसार के देवताओं का भजन करते (ज्ञान प्राप्त करते) और उनका प्रयोग करते हैं। देवताओं से अभिप्राय प्राकृतिक शक्तियाँ ही है, जो इनका सदुपयोग करता है वह सफल होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्।। १३।।

चातुर्वर्ण्यम् (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का समूह), गुणकर्म-विभागशः, मया, सृष्टम् (गुणों और कर्मों के विभागपूर्वक, मेरे द्वारा रचे गये हैं), तस्य, कर्तारम्, अपि (उस [सृष्टि रचनादि कर्म] का, कर्ता होने पर भी), माम्, अव्ययम्, अकर्तारम् विद्धि (मुझ, अविनाशी को, अकर्ता ही, जान)।

प्रश्न 9- गुण, कर्म के विभाग के अनुसार चार वर्णों की सृष्टि करने के पश्चात् भी श्री कृष्ण जी अपने आप को क्या कह रहे हैं ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी कहते है कि मानव सृष्टि में मनुष्य को गुण कर्मानुसार कर्म करने में मैंने ही प्रवृत्त किया है, परन्तु मैं इस कर्म का कर्ता होते हुए भी मैं अकर्ता हूँ, क्योंकि मैंने यह कर्म निष्कामता से किया है।

मानव समाज में व्यवस्था रखने के लिए समाज के चार भाग किए गए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि एक मनुष्य कभी क्षत्रिय का कार्य करता हुआ ब्राह्मण का कार्य करने लगता है। सब मनुष्यकृत व्यवस्थाओं में ऐसा ही होता है। एक व्यक्ति चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी के रूप में कार्य करता हुआ अधिकारी बन सकता है। बचपन में उच्छृंखल स्वभाव रखता हुआ बड़ा होने पर ब्राह्मण हो सकता है। वेद में एक मंत्र है-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पदभ्याम् शूद्रोऽजायत।।

यजुर्वेद ३१/१३

मानव समाज में इन स्वभावों के मनुष्य देखे जाते हैं, परन्तु कौन ब्राह्मण है, कौन क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र, ये तो देश के विद्वान् ही निश्चय कर सकते हैं। श्री कृष्ण जी भी यही कह रहे हैं कि देश के विद्वान् ही चार वर्णों का विधान करते हैं, मैं इसका निश्चय नहीं करता। यद्यपि इस कर्म विभाग का कर्ता मैं हूँ तो भी तू यह समझ ले कि निष्कामता के कारण कर्ता होते हुए भी अव्यय, अकर्ता हूँ, क्योंकि इस चातुर्वर्ण्य का असली कर्ता तो वेद का कर्ता भगवान् है। मैं यद्यपि इस युग में इस गुणकर्मानुसारिणी वर्ण व्यवस्था को पुनर्जीवित करने वाला होने के नाते कर्ता कहलाता हूँ। इसका अव्यय कर्ता परमात्मा है, मैं नहीं।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। १४।।

कर्मफले, मे, स्पृहा, न (कर्मों के फल में, मेरी, इच्छा, नहीं है), माम्, कर्माणि,

न, लिम्पन्ति (मुझे, कर्म, लिप्त, नहीं करते), इति (इस प्रकार), यः, माम्, अभिजानाति (जो, मुझे, तत्त्व से जान लेता है), सः, कर्मभिः, न, बध्यते (वह भी, कर्मों से नहीं बँधता)।

प्रश्न 10– जो ईश्वर को जान लेता है, उसकी क्या स्थिति होती है ?

उत्तर – हे अर्जुन! जो मनुष्य यह समझ लेता है कि कर्मों की लिप्तता परमात्मा पर नहीं होती, कर्म के फल में उसकी इच्छा नहीं होती। जो परमात्मा को इस प्रकार जानता है और परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव के अनुसार चलता है, वह निष्काम और अनासक्त हो जाता है, वह कर्मों के बन्धन में नहीं आता।

गीता में कर्म शब्द का मुख्य अर्थ वह कर्म है, जिसे किसी मनुष्य ने चातुर्वर्ण्य कर्मों में से अपने लिए चुनकर–उस व्रत में दीक्षित होकर उस व्रत के पालनार्थ ग्रहण किया हो। हाँ, इन कर्मों को जो धन, कीर्ति, ऐश्वर्य आदि में आसक्त हुए बिना करता है, वह मुक्त हो जाता है, क्योंकि आसक्ति से छूटने का नाम ही तो मोक्ष है, शेष रहा शरीर बन्धन, सो वह भी तो शुभ कर्मों का फल है, उसमें भी आसक्त नहीं होना चाहिये।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।। १५।।

पूर्वैः, ममुक्षुभिः, अपि, एवम्, ज्ञात्वा (पूर्व काल के, मुमुक्षुओं ने, भी, इस प्रकार, जान कर ही), कर्म, कृतम् (कर्म, किए हैं), तस्मात् (इसलिए), त्वम्, पूर्वैः, पूर्वतरम्, कृतम् (तू भी, पूर्वजों द्वारा, सदा के किये जाने वाले), कर्म, एव, कुरु (कर्मों को, ही, करो)

प्रश्न 11– पूर्वजों द्वारा किये हुए किस कार्य की प्रेरणा श्री कृष्ण जी कर रहे हैं ?

उत्तर – श्री कृष्ण अर्जुन को पूर्वजों के सम्बन्ध में कहते हैं, ''हे अर्जुन! पुराने (पूर्वज) लोग जो मोक्ष पाने के अभिलाषी थे, वह सब गुप्त रहस्य को जानकर ही कर्म करते थे। इसलिए तू भी इस प्रकार कर्म कर जैसे तुम्हारे पूर्वजों ने पुराने काल से किया था अर्थात् क्षात्र धर्म का पालन स्वजन–सुख के आसक्त हुए बिना कर, यह आसक्ति मुक्ति पाना ही मुमुक्षुओं का मोक्ष मार्ग है।

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि वे स्वयं इस वर्ण विधान अथवा अन्य किसी भी कार्य में लिप्त नहीं होते, न ही उन्हें कर्मफल से मोह है। इस प्रकार जान कर पूर्व में महापुरुष कार्य करते थे। तुझ को भी चाहिये कि तू इस प्रकार अलिप्त

रहता हुआ, कर्मफल के मोह को छोड़कर कर्म कर।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। १६।।

कर्म, किम्, अकर्म, किम् (कर्म, क्या है और अकर्म, क्या है), इति (इस प्रकार इसका), अत्र, कवयः, अपि, मोहिताः (निर्णय करने में, बुद्धिमान् पुरुष, भी, भ्रम में पड़े हैं), तत्, कर्म, ते, प्रवक्ष्यामि (वह, कर्मतत्त्व, मैं तुझे, भली भाँति समझा कर कहूँगा), यत्, ज्ञात्वा, अशुभात्, मोक्ष्यसे (जिसे, जानकर तू, कर्मबन्धन से मुक्त हो जायेगा।)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।। १७।।

कर्मणः, अपि, बोद्धव्यम् (कर्म का स्वरूप, भी, जानना चाहिये), च (और), अकर्मणः बोद्धव्यम् (अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये), विकर्मणः बोद्धव्यम् (विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये), हि, कर्मणः, गति, गहना (क्योंकि, कर्म की, गति, गहन है)।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।। १८।।

यः कर्मणि, अकर्म, पश्येत् (जो मनुष्य, कर्म में, अकर्म, देखता है), च, यः, अकर्मणि, कर्म (और, जो, अकर्म में, कर्म देखता है), सः, मनुष्येषु, बुद्धिमान् (वह, मनुष्यों में, बुद्धिमान् है) सः, युक्तः, कृत्स्नकर्मकृत् (वह, योगी, समस्त कर्मों को करने वाला है)।

प्रश्न 12– कर्म, अकर्म, विकर्म क्या है, और उसके फल क्या है ?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं, ''हे अर्जुन! कर्म क्या है और अकर्म क्या है ? इस विषय में बुद्धिमान् मनुष्य भी भ्रम में पड़े हुए हैं। मैं तेरे लिए कर्म के तत्त्व को भली भाँति समझाऊँगा, जिसे जानकर तू कर्म के शुभ, अशुभ फल से बच जायेगा। कर्म, अकर्म और विकर्म के स्वरूप को जानना चाहिये, क्योंकि कर्मों की गति जानने में कठिन है, जो पुरुष कर्म में अकर्म को देखता है और जो अकर्म में कर्म को देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान् है, वह योगी है, वह सब कर्मों को भली भाँति करने वाला है।''

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार –

श्री तिलक जी 'कर्म', 'अकर्म' और 'विकर्म' की व्याख्या इस प्रकार

करते हैं– ''कर्म के फल का बन्धन न लगाने के लिए गीता शास्त्र के अनुसार साधन है कि नि:संग बुद्धि से अर्थात् फल की आशा छोड़कर निष्काम बुद्धि से कर्म किया जाये। अत: इस साधन का उपयोग कर नि:संग बुद्धि से जो कर्म किए जायें, वही गीता के अनुसार करणीय (सात्त्विक) कर्म हैं।''

हम समझते हैं कि यहाँ कर्म करने का अर्थ है करने योग्य कर्म, चाहे उसके फल से मोह हो जाये, चाहे न हो। फल से मोह होना अथवा न होना पृथक् बात है। यहाँ सामान्य रूप से करने योग्य कर्म को कर्म कहा गया है और इसके विपरीत न करने योग्य कर्म को विकर्म कहा गया है।

श्री तिलक जी कहते हैं कि तामस् कर्म मोह और अज्ञान हुआ करते हैं। इसलिए उन्हें विकर्म माना गया है। हमारा मत है कि राजसी कर्म भी कभी–कभी अकर्म हो सकते हैं अर्थात् वे कभी–कभी अकरणीय होते हैं। गीता में अध्याय १८ के १४वें श्लोक में कहा गया है कि ''जो कर्मफल की इच्छा से, अहंकार की तुष्टि के लिए बहुत परिश्रम से किया जाये (मैंने किया है– ऐसी भावना से किया जाए) वह कर्म राजसी कहा जाता है।''

संसार में इस प्रकार से किये गये कर्म भी कभी करणीय हो जाते हैं, जैसे भीम का दुर्योधन से गदायुद्ध के पूर्व का राजसी व्यवहार था, परन्तु दुर्योधन की हत्या करणीय थी। इस कारण यह कर्म ही था। और कभी–कभी राजसी कर्म अकरणीय भी हो जाता है जैसे हिटलर का मध्य-यूरोपीय राज्यों पर आक्रमण था।

कर्म वह है जो उपस्थित परिस्थितियों में करणीय हो और विकर्म वह है जो उपस्थित परिस्थितियों में न करने योग्य हो।

गीता के प्रवक्ता कहते हैं कि जो मनुष्य करने योग्य कर्म को करता हुआ उसे अकर्म (न किया कर्म) समझता है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है। इस प्रकार जो न करने योग्य कर्म (अकर्म) को न करता हुआ भी समझे कि वह कर्म कर रहा है, वह मनुष्यों में ज्ञानी है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी इसकी व्याख्या इस प्रकार कर रहे हैं – श्री कृष्ण जी के अनुसार जीवन को दो भागों में बाँटा जा सकता है– 'क्रिया' तथा 'अक्रिया।' 'क्रिया' का अर्थ है 'कर्म' और 'अक्रिया' का अर्थ है 'अकर्म'।

'कर्म' जीवन की वह क्रिया है जो हमें करनी चाहिये जिसे श्री कृष्ण जी ने 'स्वधर्म' 'निष्काम कर्म' कहा है। 'विकर्म' जीवन की वह क्रिया है जो

हमें नहीं करनी चाहिये।

'नित्य कर्म' वे हैं जो सब देश काल में हमें करने ही चाहियें, जिनमें अपवाद हो ही नहीं सकता जैसे माता–पिता की सेवा, शरीर रक्षादि। 'नैमित्तिक कर्म' वे हैं जो समय–समय पर आवश्यकता पड़ने पर हमें करने पड़ते हैं, जैसे स्नान करना, अतिथि सत्कार करना। 'काम्य कर्म' वे कर्म हैं जो हम किसी कामना के पूरा करने के लिए करते हैं जैसे नौकरी पाने के लिए प्रार्थना करना।

'कर्म–विकर्म'– 'अकर्म' में यह भ्रम पैदा हो जाता है कि हम समझते हैं कि हम 'कार्य' कर रहे हैं परन्तु हम वास्तव में 'विकर्म' कर रहे हों या 'अकर्म' कर रहे हों। यह भी हो सकता है कि हम समझते हैं कि हम 'अकर्म' कर रहे हैं, परन्तु वास्तव में हम 'कर्म' कर रहे हैं या 'विकर्म' कर रहे हों। यह कैसे ?

(क) 'कर्म' में विकर्म या अकर्म– एक व्यक्ति ईश्वर–भक्ति का 'नित्यकर्म' करता हुआ सन्ध्या में बैठा है उसके सामने कोई गोवध– करने लगा। उस समय वह यदि चुप बैठा रहता है तो उसका ईश्वर भक्ति रूपी कर्म विकर्म हो जाता है। इसी प्रकार यदि कोई नौकरी पाने के लिए किसी अफसर के पास प्रार्थना पत्र लेकर जाता है और अफसर के पूछ–ताछ करने पर कोई उत्तर नहीं देता तो उसका 'काम्य कर्म' अकर्म हो जाता है।

(ख) 'अकर्म' में कर्म या विकर्म– कर्म संन्यास का उपदेश देने वाले वेदान्तियों का कहना है कि कर्म तो बन्धन का ही कारण है, इसलिए कर्म का त्याग करने से ही मोक्ष मिल सकता है। ये लोग 'अकर्म' का उपदेश देते हैं, परन्तु श्री कृष्ण जी का कहना है कि कर्म छोड़कर बैठ जाने से 'अकर्म' नहीं हो जाता। कर्म छोड़ना स्वयं एक कर्म है। जो लोग शारीरिक कर्म छोड़कर बैठ जाते हैं, उनका मन संकल्प–विकल्पों में डूबा रहता है। यह तो अकर्म में 'कर्म' हुआ। इसके साथ अकर्म में 'विकर्म' भी जुड़ा रह सकता है जैसे हम आलस्यवश कुछ काम नहीं करते, यों ही पड़े रहते हैं, तब यों ही पड़े रहना विकर्म है, दूषित कर्म है।

यही कारण है कि श्री कृष्ण जी ने कहा कि 'कर्म'– 'अकर्म'– 'विकर्म' – ये पेचीदा बातें हैं। कर्म में अकर्म तथा विकर्म एवं अकर्म में कर्म तथा विकर्म से बचना है। यह तभी हो सकता है जब कर्म का रूप निष्काम कर्म हो।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।। १९।।

यस्य, सर्वे, समारम्भाः (जिसके, सम्पूर्ण कर्म [शास्त्र सम्मत],), कामसंकल्पवर्जिताः (बिना कामना और संकल्प के होते हैं तथा), ज्ञानग्निदग्धकर्माणम् (जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं), तम्, बुधाः, पण्डितम्, आहुः (उस, महापुरुष को, ज्ञानीजन भी, पण्डित कहते हैं)।

प्रश्न 13- किस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं?

उत्तर - मनुष्य को कर्म से अकर्म में तथा अकर्म से कर्म में आसक्ति घसीट ले जाती है। राष्ट्र पर शत्रुओं के आक्रमण होने पर शत्रु की ढाल बनी हुई गौवों को मारना यद्यपि देखने में अकर्म है, किन्तु वास्तव में भविष्य में होने वाले लाखों गो-भक्तों और गोवध को बचाने का साधन होने के कारण यह प्रत्यक्ष अकर्म गोवध वास्तव में कर्म है, किन्तु यह बात गोरक्षा में आसक्त होने वालों को नहीं सूझती, इसलिए जिस मनुष्य के सम्पूर्ण काम संकल्प अर्थात् व्यक्तिगत सुख-दु:ख की कामना के संकल्प से वर्जित होते हैं, उसे यह यर्थाथ ज्ञान हो जाता है कि जो कर्तव्य दिखता है, वह कब परित्याज्य है और जो कर्म अकर्तव्य दिखता है वह कब किन अवस्थाओं में ग्राह्य है इसलिए उसके कर्मों में फलासक्ति का अंश यथार्थ, ज्ञानरूप अग्नि से जलकर भस्म हो जाता है और वह हर कर्म को विवेक युक्त सीमा तक करता है, इस प्रकार के ज्ञानाग्नि-दग्ध कर्मा मनुष्य को बुद्धिमान् लोग पण्डित कहते हैं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्‍गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।। २०

कर्मफलासङ्‍गम् त्यक्त्वा (कर्म के फल की आसक्ति को त्यागकर), निराश्रयः (किसी पर आश्रित न रहकर), नित्यतृप्तः (सदा तृप्त रहकर), सः, कर्मणि, अभिप्रवृत्तः (वह, कर्मों में, लगा हुआ है) अपि, किंचित्, एव, न, करोति (भी [वास्तव में], कुछ भी नहीं करता)

प्रश्न 14- फलासक्ति के त्यागने वाले के बारे में क्या कहा गया है?

उत्तर - कर्मफल की आसक्ति छोड़कर जो सदैव सन्तुष्ट, निराश्रय है अर्थात् जो पुरुष कर्म करने के लिए फलासक्ति पर आश्रित नहीं रहता अर्थात् जिसका ऐसा आग्रह नहीं है कि 'अमुक प्रकार के कर्म से अमुक फल मिले ही', वह व्यक्ति

सब कुछ करते हुए भी अकर्ता है।

यहाँ एक शब्द है 'निराश्रय' जिसका संन्यासमार्गी अर्थ करते हैं कि गृहस्थ-पुत्र-पौत्रदि किसी आश्रय को न रख कर। निराश्रय का अर्थ है किसी के सहारे न बैठना। संसार का सहारा लेकर संसार में सफलता पाने की कामना एक भ्रान्ति है। जो दूसरों का सहारा टटोलते हैं उनके कर्म अधूरे ही रहते हैं। सहारा तो अपना और अपने भगवान् का लेना चाहिये। भक्ति सूत्र में कहा है- 'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता' सारे सहारों को अन्दर से छोड़ देने का नाम अनन्यता है। निराश्रय का अर्थ परिजनों को छोड़ देना नहीं।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।। २१।।

यतचित्तात्मा (जिसका मन तथा आत्मा वश में है), त्यक्तसर्वपरिग्रहः (जिसने समस्त भोग सामग्री का त्याग कर दिया है), निराशीः (आशा रहित पुरुष), केवलम्, शारीरम्, कर्म, कुर्वन् (केवल, शरीर सम्बन्धी, कर्म, करता हुआ भी), किल्विषम्, न, आप्नोति (पाप को, प्राप्त नहीं होता)।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।

समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।। २२।।

यदृच्छालाभसन्तुष्टः (जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ से सन्तुष्ट रहता है), विमत्सरः (जिसमें ईर्ष्या का सर्वथा अभाव हो गया है), द्वन्द्वातीतः (जो हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से परे पहुँचा हुआ हो गया है), सिद्धौ, असिद्धौ, समः (सफलता, और असफलता में, सम रहने वाला हो ऐसा कर्मयोगी), कृत्वा, अपि, न, बध्यते (कर्म करता हुआ, भी, उससे नहीं बँधता)

प्रश्न 15- कौन व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता?

उत्तर - जिस व्यक्ति ने (1) फल की आशा नहीं रखी है (2) चित्त (मन) तथा आत्मा को वश में रखा है (3) सम्पूर्ण भोगों को त्याग दिया है (4) जो बिना इच्छा के अपने आप प्राप्त हुए पदार्थ में सन्तुष्ट रहता है (5) जिसने ईर्ष्या का सर्वथा त्याग कर दिया है (6) जो सुख-दु:ख, लाभ हानि, जय पराजय से परे पहुँच गया है (7) जो सफलता, असफलता में समभाव रखता है। वही व्यक्ति शरीर से भले ही कार्य करता हुआ प्रतीत हो, तो भी उसमें कोई दोष नहीं लगता तथा वह कर्म करता हुआ भी कर्म बन्धन में नहीं पड़ता।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।। २३।।

गतसङ्गस्य (जिसकी आसक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है), मुक्तस्य (जो देहभिमान और ममता से रहित हो गया है), ज्ञानावस्थित चेतसः (जिस का चित्त निरन्तर परमात्मा के ज्ञान में स्थित रहता है)[ऐसे केवल], यज्ञाय, आचरतः (यज्ञ सम्पादन के लिए, कर्म करने वाले मनुष्य का), समग्रम्, कर्म, प्रविलीयते (सम्पूर्ण, कर्म, भली भांति विलीन हो जाते हैं)

प्रश्न 16- जो जीवन को एक प्रकार का यज्ञ समझते हैं, उन्हें क्या वस्तु पीड़ित नहीं करती?

उत्तर - कर्म में अकर्म ओर अकर्म में कर्म का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर जिसका चित्त व्यवस्थित हो चुका है, जिसकी फलासक्ति सर्वथा नष्ट हो गई है, जिन्हें कोई देह का अभिमान नहीं रह गया है, ममता से वे ग्रस्त नहीं हैं, उसे ही मुक्त पुरुष कहते हैं और क्योंकि वह जो कुछ करता है, यज्ञ के लिए अर्थात् लोक कल्याण के लिए करता है, व्यक्तिगत वासनाओं की पूर्ति के लिए नहीं इसलिए उसके सब कर्म यज्ञ में घुल जाते हैं, उसके व्यक्तित्व को कहीं बन्धन में नहीं बाँध सकते अर्थात् जो जीवन को एक प्रकार का यज्ञ समझकर कर्म करते हैं, उन्हें कर्म का बन्धन नहीं पड़ता।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। २४।।

अर्पणम् (घृत को यज्ञाग्नि में अर्पण करने वाला स्रुवा भी), ब्रह्म (ब्रह्म ही है) हविः, ब्रह्म (हवन किये जाने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है), ब्रह्माग्नौ, हुतम् (ब्रह्म द्वारा, ब्रह्मरूप अग्नि में, आहुति देना रूप क्रिया भी ब्रह्म है), तेन, ब्रह्मकर्म समाधिना (ब्रह्म कर्म में स्थित रहने वाले, योगी द्वारा), गन्तव्यम् (प्राप्त किये जाने योग्य [फल भी]), ब्रह्म, एव (ब्रह्म ही है)

प्रश्न 17- जो सब ओर ब्रह्म को देखकर कर्म करता है, उसे क्या मिलता है?

उत्तर - यज्ञ के दो रूप हैं (1) सामान्य (2) विशेष। इस श्लोक में यज्ञ का सामान्य रूप का वर्णन श्री कृष्ण जी अर्जुन के सम्मुख कर रहे हैं। स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-

यज्ञ का कोई भी विशेष रूप हो, किन्तु उसमें जो कर्म हैं, वे ब्रह्म को अंतिम

ध्येय बनाकर किये जायें। यह कर्म मात्र की ब्रह्म के साथ समाधि अर्थात् एकाग्रता रूप समन्वय यज्ञ-सामान्य का रूप है। इसके द्वारा हर कर्म ब्रह्म के अर्पण होता है, क्योंकि जीव के पास अपना तो कुछ भी नहीं, जो कुछ है उस परब्रह्म का है, उसकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य जो कर्म विशेष "मैं इस लोक कल्याणकारी काम को अपने जीवन में अवश्य पूरा करूँगा," इस प्रकार व्रत रूपेण वरण करता है, वह ब्रह्माग्नि है। उसमें ब्रह्मणा अर्थात् वेदोक्त विधान से उस पर ब्रह्म के दिए हुए प्राण, धनादि समस्त पदार्थों को ब्रह्म के लिए आहुत करता है तो वह अपने सर्वस्व को ब्रह्म-हवि बनाता है। 'हवि' शब्द दो धातुओं से बन सकता है। **'हु दानाऽयोः' तथा 'ह्वे ञ् आह्वाने' - (ये युध्यमाना अवसे हवन्ते)(ऋग्वेद २/१२/९)** सो हवि का अर्थ हुआ पूजार्थ श्रद्धापूर्वक अर्पण की हुई अपनी प्यारी वस्तु अथवा किसी को अपने पास बुलाने के लिए तैयार की हुई उसकी प्यारी वस्तु। सो प्रभु को यही प्यारी वस्तु है कि हम अपनी प्यारी वस्तु उसकी पूजा की सेवा के लिए अर्पण कर दें। सो जितना कुछ भी अपने प्यारे वैभव का भाग हमने प्रभु प्राप्ति हेतु प्रजा के कल्याणार्थ अर्पण कर दिया वह ब्रह्म हविः है। इसमें दोनों ही व्युत्पत्तियाँ समाविष्ट हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस श्लोक पर एक संक्षिप्त टिप्पणी की है- उसके लिए अर्पण करने का कार्य परमात्मा ही है, अर्पित की जाने वाली वस्तु भी परमात्मा है, परमात्मा द्वारा वह परामात्मा की अग्नि में अर्पित की जाती है अर्थात् जो मनुष्य अपने सब कार्यों में परमात्मा का अनुभव करता है, वह परमात्मा को ही प्राप्त होता है। यहाँ वैदिक यज्ञ का विस्तृततर आध्यात्मिक रूप में निरूपण किया गया है। यद्यपि यज्ञ करने वाला कर्म अवश्य करता है फिर भी वह उसके द्वारा बँधता नहीं है, क्योंकि उसके पार्थिव जीवन में एक शाश्वतता की भावना व्याप्त रहती है।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।। २५।।

अपरे, योगिनः (दूसरे, योगीजन), दैवम्, यज्ञम्, एव (देवताओं के पूजन रूप, यज्ञ का, ही), पर्युपासते (भली भाँति अनुष्ठान किया करते हैं), अपरे (अन्य योगीजन), ब्रह्माग्नौ (ब्रह्म रूप अग्नि में), यज्ञेन, एव (यज्ञ के द्वारा ही), यज्ञम्, उपजुह्वति (आत्म रूप यज्ञ का, हवन किया जाता है)।

प्रश्न 18- ब्रह्माग्नि यज्ञ क्या है?

उत्तर – इस श्लोक में यज्ञ विशेष का वर्णन किया गया है–

तृतीय अध्याय में कहा गया था कि यज्ञ की भावना से किया गया कर्म बन्धन का कारण नहीं बनता। यहाँ यज्ञ को अग्निहोत्र के अर्थों में प्रयुक्त न करके व्यापक अर्थो में प्रयुक्त किया गया है। गीता की परिभाषा में प्रत्येक कर्म जब निष्कामता से किया जाता है तब वह 'यज्ञ' कहलाता है। संसार में नई लहर चलाने वाले, नवीन विचारों को देने वाले महापुरुष अपने पुराने शब्दों में नया अर्थ भर देते हैं। श्री कृष्ण जी ने 'यज्ञ' शब्द के साथ वैसा ही किया है। उन्होंने भिन्न-भिन्न कामनाओं के लिए किये जाने वाले यज्ञों को निष्कामता के रंग में रंग दिया है। इस दिशा में अपने भावों को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं–

''कुछ योगी देवताओं को लक्ष्य में रखकर यज्ञ करते हैं, कोई दूसरे योगी ब्रह्माग्नि में यज्ञ द्वारा ही यज्ञ करते हैं।'' यहाँ ब्रह्माग्नि यज्ञ का अर्थ है यज्ञ स्वयं एक यज्ञ है, निष्काम कर्म है जिसे ब्रह्मरूप अग्नि के अर्पण किया जाता है।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।। २६ ।।

अन्ये, (अन्य योगीजन), श्रोत्रादीनि, इन्द्रियाणि (श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों को), संयमाग्निषु, जुह्वति (संयम रूपी अग्नि में, होम देते हैं), अन्ये, (दूसरे योगीजन), शब्दादीन् (शब्द आदि को), विषयान् (समस्त विषयों को), इन्द्रियाग्निषु, जुह्वति (इन्द्रियों की अग्नि में होम देते हैं)

प्रश्न 19– संयमाग्नि क्या है ?

उत्तर – सबसे पहला अभ्यास यहाँ से योगी योग-कर्म का आरम्भ करते हैं। श्रोत्रादि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं, कोई कान आदि इन्द्रियों को संयम की अग्नि में हवन करते हैं। संयम दो प्रकार का होता है–

अप्रिय शब्द को सुनकर सहन करना तथा प्रिय शब्द से भी कान को हटा लेना यह श्रोता का संयम है इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों का जानना।

इस प्रकार संयम से इन्द्रियों को वश में करके फिर योगी लोग शब्दादि विषयों को इन्द्रियाग्नि में हवन करते हैं अर्थात् योगी लोग शब्द अथवा रूप में आसक्त होकर उन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा लोक-कल्याणार्थ नाना तत्त्वों का अध्ययन करते हैं। एक रूपवती वेश्या के शरीर में जघन्य रोगों ने क्या विकार उत्पन्न किये हैं, यह अध्ययन करते समय वैज्ञानिक रूप का तथा गुप्त से गुप्त अंगों का अति सूक्ष्म निरीक्षण करता है, परन्तु फिर भी कामासक्त न होकर नाना प्रकार के

चिकित्सा सम्बन्धी तत्त्वों का आविष्कार करता है। इसका नाम है शब्दादि विषयों का इन्द्रियाग्नि में हवन करना। यह सब परब्रह्म की प्रजा के कल्याणार्थ है, इसीलिए प्रभु प्रीत्यार्थ है।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।। २७।।

अपरे, (दूसरे योगीजन), सर्वाणि, इन्द्रियकर्माणि (इन्द्रियों की सम्पूर्ण क्रियाओं को), प्राण, कर्माणि (प्राणों की समस्त, क्रियाओं को), ज्ञानदीपिते (ज्ञान से प्रकाशित), आत्मसंयम, योगाग्नौ (आत्मसंयम, योग रूप अग्नि में), जुह्वति (हवन [होम] करते हैं)।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।। २८ ।।

अपरे, (दूसरे योगीजन), द्रव्ययज्ञाः (द्रव्य सम्बन्धी यज्ञ करने वाले हैं [कितने ही], तपोयज्ञाः (तपस्यारूप यज्ञ करने वाले हैं), तथा (तथा [दूसरे कितने ही]), योगयज्ञाः (योगरूप यज्ञ करने वाले हैं), च (और, [कितने ही]), संशितव्रताः (अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त), यतयः (यत्नशील पुरुष) स्वाध्यायज्ञानयज्ञः (स्वध्यायरूप यज्ञ करने वाले हैं)।

प्रश्न 20– योगीजन किस-किस विधि से हवन करते हैं ?

उत्तर – यहाँ हवन करने का तात्पर्य सच्चिदानन्द परमपिता परमात्मा के सिवाय किसी और का चिन्तन न करना ही कहलाता है।

कुछ योगीजन इन्द्रियों के तथा प्राणों के साथ सब कर्मों को ज्ञान से प्रदीप्त आत्मसंयम की 'आत्मसंयमाग्नि' में होम कर देते हैं अर्थात् सब इन्द्रियों के कर्म और शरीर के सब प्राणों के कर्म भी पूर्ण शरीर को संयम में करके ज्ञान से दीप्त किये जाते हैं। अभिप्राय यह है कि पूर्ण शरीर की सामर्थ्य लोक-कल्याण में अर्पित कर दी जाये, यह भी एक प्रकार का यज्ञ है। मन-बुद्धि सहित सम्पूर्ण इन्द्रियों और प्राणों की क्रियाओं को रोककर समाधि में स्थित हो जाना 'समाधिरूप यज्ञ' है।

कुछ यति इस प्रकार तीक्ष्ण व्रत का आचरण करने वाले अपनी भौतिक, सम्पत्ति का होम करके 'द्रव्य यज्ञ' करते हैं। कुछ यति तपस्या करके 'तपोयज्ञ' करते हैं। कुछ यति विद्या का अभ्यास करके 'योगयज्ञ' करते हैं, कुछ यति स्वाध्याय करके 'ज्ञानयज्ञ' करते हैं।

मिली हुओं वस्तुओं को निष्काम भाव से दूसरों की सेवा में लगाना 'द्रव्य यज्ञ' है। स्वधर्म पालन में आने वाली कठिनाईयों को अनुकूल या प्रतिकूल फल की प्राप्ति में सम रहना 'योग यज्ञ' है। सत्-शास्त्रों का अध्ययन- मनन आदि करना स्वाध्याय रूप 'ज्ञान यज्ञ' है।

वे यति लोग धन कमाते हैं और संयम से धन का संचय करते हैं, वे इस धन का प्रयोग संसार के कल्याणार्थ रूपी यज्ञ में करते हैं। स्वाध्याय से जो ज्ञान अर्जन करते हैं उस ज्ञान को भी संसार के कल्याणार्थ वितरित कर देते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।२९।।

अपरे, (दूसरे कितने ही योगीजन), अपाने, प्राणम्, जुह्वति (अपान वायु में, प्राण-वायु को होम करते हैं), तथा, प्राणे, अपानम् (वैसे ही अन्य योगीजन, प्राणवायु में अपान वायु को होम करते हैं तथा), अपरे (अन्य कितने ही), प्राणापानगति (प्राण और अपान की गति को), रुद्धवा (रोक कर), प्राणायाम, परायण: (प्राणायाम के, अभ्यासी लोग।)

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।। ३०।।

अपरे, (दूसरे लोग), नियताहारा: (नियमित आहार करने वाले), प्राणान्, प्राणेषु (प्राणों को, प्राणों में), जुह्वति (होम किया करते हैं), एते, सर्वे, अपि (ये, सभी साधक) यज्ञक्षपित कल्मषा: (यज्ञमय जीवन द्वारा नष्ट हो गया है, पाप जिनका, निष्पाप), यज्ञविद: (यज्ञों के रहस्य को जानने वाले हैं) ?

प्रश्न 21- यज्ञों के रहस्य को जानने वाले कौन हैं ?

उत्तर - कुछ लोग जो प्राणायाम के अभ्यासी हैं वे प्राण तथा अपान की गति रोक कर प्राण का अपान और अपान को प्राण में होम करते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो आहार को नियमित करके प्राणों से प्राणों में आहुति देते हैं अर्थात् आहार इतना नियमित कर लेते हैं कि मानों प्राण यज्ञ द्वारा ही जीते हैं। ये सब यज्ञ विद् हैं, यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं और यज्ञमय जीवन द्वारा उनके पाप नष्ट हो जाते हैं। यहाँ पाप के नष्ट होने से अभिप्राय पाप करने की उनकी प्रवृत्ति नहीं होती।

प्राण और अपान की परिभाषा- प्राण को अन्दर खींचना 'पूरक' कहलाता है बाहर फेंकना 'रेचक' कहलाता है। इस प्रकरण में अन्दर आने वाले श्वास

को 'प्राण' तथा बाहर निकालने वाले श्वास को 'अपान' कहा है। यह भी प्राण-अपान का, पूरक-रेचक का एक प्रकार का गीता की परिभाषा में यज्ञ ही है। इसकी व्याख्या स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस प्रकार की है- नए शुद्ध वायु का नाम प्राण है तथा अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालने वाली वायु का नाम अपान है, सो कई लोग अवस्थानुसार जब शरीर में मल-संचय हो जाये तो प्राण शक्ति को अपान शक्ति में हवन करते हैं जिससे अपान शक्ति बलवान् होकर मल को बाहर फेंक देती है। इस क्रिया का थोड़ा बहुत ज्ञान मनुष्य मात्र को है, जब गुदा मार्ग में मल अटक जाय तो जो जोर लगाया जाता है, तो उस समय मनुष्य का प्राण का अपान में हवन करता है, परन्तु मल निकलने के तो मूत्र, प्रस्वेद, नासिका, कर्ण आदि अनेक मार्ग हैं। उन सब में प्राणायाम द्वारा शक्ति पहुँचा कर छिपे हुए मल को बाहर निकालना किसी प्राणायाम के विशेषज्ञ से ही सीखा जा सकता है, फिर जो पाचनादि शक्तिवर्धक क्रियायें हैं उनको अपान शक्ति द्वारा मल क्षय करने के पश्चात् बलवान् बनाकर सदा प्रथम भूख लगे, खाया हुआ पचे, चित्त प्रफुल्लित रहे, आनन्द के मारे रोमाँच हो जाये यह प्राण का अपान में हवन है।

यहाँ नियताहार द्वारा यज्ञ से तात्पर्य है कि अस्वादु से अस्वादु भोजन भी करना पड़े और स्वादु से स्वादु भोजन भी त्याग करना पड़े, यह बात वही कर सकता है जो अनासक्त भोजन करे। यही योगी जन यज्ञ के रहस्य को जानने वाले हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।। ३१।।

कुरुसत्तम, (हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन!), यज्ञशिष्टामृतभुज: (यज्ञ से बचे हुए अमृत का अनुभव करने वाले योगीजन), सनातनम्, ब्रह्म, यान्ति (सनातन, परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं और), अयज्ञस्य (यज्ञ न करने वाले मनुष्य के लिए), अयम्, लोक:, न, अस्ति (यह, मनुष्य लोक भी, सुखदायक नहीं है), अन्य:कुत: (परलोक कैसे सुखदायक हो सकता है) ?

प्रश्न 22- यज्ञशेष खाने वालों को क्या मिलता है ?

उत्तर - हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! जो लोग यज्ञ से अवशिष्ट अमृत रूपी भोजन का सेवन करते हैं, वे सनातन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं, जो व्यक्ति यज्ञ नहीं करता उसके लिए यह लोक तो नहीं के बराबर है, दूसरा लोक तो उसे कहाँ प्राप्त

हो सकता है ? अर्थात् जब भोजन का प्रत्येक ग्रास ब्रह्मकृपा का फल समझकर खाया जाता है तो उसमें जो स्वामी की आज्ञा का पालन का आनन्द है, वही इस यज्ञ का शेष है। तभी तो सभी यज्ञों में 'इदन्न मम' यह मेरा नहीं है, कहते-कहते मनुष्य के पास प्रभु कृपा के सिवाय कुछ भी नहीं बचता। यही यज्ञशेष अमृत है। इस अनासक्त भक्ति द्वारा यज्ञ करने वाले इस लोक और परलोक को सुखमय बना लेते हैं, परन्तु यज्ञ न करने वाले दोनों लोकों में दु:खी रहते हैं।

इस श्लोक की स्वामी रामदेव जी ने इस प्रकार व्याख्या की है- यज्ञ करो, कर्म करो, उद्योग करो, प्रयत्न करो- यज्ञ का कोई एक ही प्रकार नहीं होता। मनुष्य अपने स्वभाव व निष्ठा के अनुसार परब्रह्म की प्राप्ति हेतु अनेक प्रकार के यज्ञ करता है:- हवन करना भी यज्ञ है, ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वाध्याय भी यज्ञ है, इन्द्रिय नियमन के लिए इन्द्रिय विषयों का त्याग भी यज्ञ है। अहम् और ममत्व के त्याग की भावना को ध्यान में रखकर, जो अपने लक्ष्य परब्रह्म की प्राप्ति हेतु यज्ञ करता है, उसे निश्चय ही वह प्राप्त होता है। इसी प्रकार गृहस्थ भी पंचमहायज्ञ का भोजन करे तो वह भी गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ध्येय प्राप्त कर लेता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस सृष्टि के यज्ञ-चक्र को चलाने हेतु निष्काम भाव से जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे सब यज्ञ ही हैं। इस अर्थ में किया गया कोई भी कर्म बन्धन नहीं होता। समाज, राष्ट्र एवं सम्पूर्ण विश्व, सभी की रचना का आधार यह यज्ञ ही है। जब तक यह यज्ञ (उद्योग) कर्तव्य रूप में निष्काम भाव से सम्पन्न न होगा, तब तक हम कैसे समाज, राष्ट्र एवं विश्व के मंगल की आशा कर सकते हैं ?

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।। ३२

एवम्, (इस प्रकार) [और भी], बहुविधा: यज्ञा: (बहुत तरह के यज्ञ), ब्रह्मण:, मुखे वितता: (वेद की, वाणी में, विस्तार से कहे गये हैं), तान्, सर्वान् (उन सबको तू) कर्मजान् (कर्म से उत्पन्न हुए), विद्धि (जान), एवम् (इस प्रकार), ज्ञात्वा (जानकर), [उसके अनुष्ठान द्वारा तू कर्मबन्धन से सर्वथा], विमोक्ष्यसे (मुक्त हो जायेगा)।

प्रश्न 23- वेद वाणी में किस बात को जानने की बात कही गई है ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को यज्ञों के विस्तार को इस प्रकार बताते हैं, ''हे अर्जुन! वेद वाणी में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन है। ये सब यज्ञ कर्म से

उत्पन्न हुए हैं- ऐसा जानने का आदेश श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को दिया। ऐसा जान लेने पर साधक मुक्त हो जायेगा अर्थात् कर्म के बन्धन से छूट जायेगा, क्योंकि उसे समझ आ जायेगा कि ये सब यज्ञ, निष्काम-कर्म के प्रतीक हैं। परन्तु हे अर्जुन! तू क्षात्र-धर्म को छोड़कर अकर्मण्य होकर पड़ा है। इसलिए कर्महीन मत बन। हाँ, स्वजनों में आसक्ति छोड़कर निष्काम भाव से क्षात्र धर्म का पालन कर, इसी में तुझे मोक्ष मिलेगा।''

श्री लोकमान्य तिलक जी ने इस प्रकरण की व्याख्या इस प्रकार की है- ज्योतिष्टोम आदि द्रव्यमय श्रौत्रयज्ञ अग्नि में, हवन करके किये जाते हैं। शास्त्रों में कहा है कि अग्नि ही देवताओं का मुख होता है। इसलिए ये यज्ञ देवताओं को मिल जाते हैं, परन्तु यदि कोई शंका करे कि देवताओं के मुख-अग्नि में उक्त लाक्षणिक यज्ञ नहीं होते, अत: इन लाक्षणिक यज्ञों से श्रेय प्राप्ति कैसे होगी तो उसे दूर करने के लिए कहा कि वे साक्षात् ब्रह्म के ही मुख होते हैं। दूसरे चरण का भावार्थ यह है कि जिस व्यक्ति ने यज्ञ के व्यापक स्वरूप को जान लिया, उसकी बुद्धि संकुचित नहीं रहती, किन्तु वह ब्रह्म के स्वरूप को जानने का अधिकारी हो जाता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद् यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।। ३३

परन्तप, पार्थ, (हे अर्जुन!), द्रव्यमययज्ञात् (द्रव्यमय यज्ञ की अपेक्षा), ज्ञानयज्ञ:, श्रेयान् (ज्ञान यज्ञ, अत्यन्त श्रेष्ठ है), अखिलम्, सर्वम् (सब), कर्म (कर्म), ज्ञाने, परिसमाप्यते (ज्ञान में ही समाप्त हो जाते हैं)

प्रश्न 24- श्री कृष्ण जी ने किस यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कहा है ?

उत्तर - अब तक श्री कृष्ण जी ने कर्म-अकर्म, विकर्म, निष्काम-कर्म तथा यज्ञ की एकरूपता की चर्चा की। अब श्री कृष्ण जी 'कर्म' तथा 'ज्ञान' इन दोनों की पारस्परिक तुलना करते हैं। इन दोनों मार्गों में कौन-सा श्रेष्ठ है ? श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे परन्तप अर्जुन! 'द्रव्य यज्ञ' जिसका सब से पहले वर्णन किया गया, उसकी अपेक्षा 'ज्ञान यज्ञ' जिसका सबसे अन्त में वर्णन किया गया, अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि सब 'कर्म' जा कर 'ज्ञान' में समाप्त हो जाते हैं।''

यहाँ पर श्री कृष्ण जी का यह आशय है - क्योंकि 'द्रव्ययज्ञ' में जो 'कर्म' किया जाता है, उसका ध्येय तो ब्रह्म की प्राप्ति है ही, परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति उसके स्वरूप के ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। 'द्रव्ययज्ञ' का अर्थ है अपनी सम्पत्ति

का लोक-कल्याण के लिए होम कर देना 'ज्ञानयज्ञ' का अर्थ है 'अविद्या' का होम कर देना। इन दोनों में 'ज्ञान यज्ञ' श्रेष्ठ है। तभी तो हमारे वैदिक विद्वान् कहते हैं कि पहले ईश्वर को जानो और फिर उसको मानो अर्थात् ज्ञान के माध्यम से ईश्वर के स्वरूप को जानकर उसको मानो अन्यथा अन्धी श्रद्धा के गहरे कुएँ में जा पड़ोगे।

यद्यपि गीता ने ज्ञान को श्रेष्ठता प्रदान की है पर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् कर्म त्याग का समर्थन गीता ने नहीं किया है, बल्कि यह कहा है कि ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भी लोक संग्रह हेतु (समाज को नियम व मर्यादाओं में व्यवस्थित रखने हेतु) स्थित-प्रज्ञ बन कर्तव्य रूप में कर्म कर।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।। ३४।।

तत्, (उस ज्ञान को [तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर]), विद्धि (समझ [उनको]), प्रणिपातेन (भली भाँति दण्डवत् प्रणाम करने से [उनकी]), सेवया (सेवा करने से), परिप्रश्नेन (प्रश्न तथा शंका समाधान करने से), ते (वे) तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (तत्त्वदर्शी और ज्ञानी लोग), [तुझे, उस], ज्ञानम् उपदेक्ष्यन्ति (तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे)।

प्रश्न 25- तत्त्वदर्शी ज्ञान लोग तुम्हें कैसे ज्ञान का उपदेश करेंगे ?

उत्तर - स्वामी रामसुख दास जी ने गीता प्रबोधनी में इस प्रश्न का उत्तर एवं व्याख्या इस प्रकार की है- हे अर्जुन! उस तत्त्वज्ञान को, तत्त्वदर्शी ज्ञानी महापुरुषों के पास जा कर समझ। उनको साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और सरलतापूर्वक प्रश्न पूछने एवं शंका समाधान करने से वे तत्त्वदर्शी (अनुभवी), ज्ञानी (शास्त्रज्ञ) महापुरुष तुझे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

व्याख्या- तत्त्वज्ञान की प्रचलित प्रणाली का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण जी मानो यह कहना चाहते हैं कि केवल गुरु बनाने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। यदि कोई अनुभवी महापुरुष के पास जाकर उन्हें प्रणाम करे अर्थात् अपने आपको उनके समर्पित कर दे, उनकी आज्ञा के अनुसार काम करे और उनके सामने प्रश्नों के माध्यम से जिज्ञासा प्रकट करे अर्थात् शंका समाधान करे तो वे गुरु शिष्य का संबंध जोड़े बिना भी तत्त्वज्ञान का उपदेश दे देंगे।

जिससे तत्त्वज्ञान का उपदेश लिया जाय, उस महापुरुष का अनुभवी और शास्त्रज्ञ होना आवश्यक है। यदि वह अनुभवी तो हो पर शास्त्रज्ञ नहीं हो तो

जिज्ञासु की अनेक शंकाओं का समाधान न कर सकेगा। यदि वह शास्त्रज्ञ तो हो, पर अनुभवी नहीं हो तो उसके वचन वैसे ठोस एवं प्रभावशाली नहीं होंगे, जिनसे जिज्ञासु को बोध हो जाये अर्थात् उपदेशकर्ता अनुभवी और शास्त्रज्ञ होना चाहिए।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है।

ज्ञानी लोग हमें सत्य का उपदेश तभी करेंगे, जब कि हम उनके पास सेवा की भावना औार आदरपूर्वक जिज्ञासा के साथ जाएँ। जब तक हम अपने अन्दर स्थित परमात्मा को अनुभव न कर लें, तब तक हमें उन लोगों की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिये, जिन्होंने परमात्मा का अनुभव प्राप्त कर लिया है। यदि हम केवल शास्त्रों में कही गई या गुरु द्वारा बताई गई बातों को बिना विचार किए, केवल विश्वास द्वारा मानते चले जाएँ, तो उतने से काम नहीं चलेगा। तर्क को भी सन्तुष्ट किया जाना चाहिये। ''जिस व्यक्ति को स्वयं व्यक्तिगत रूप से ज्ञान नहीं हुआ है, बल्कि जिसने केवल बहुत-सी बातों को सुन-भर लिया है, वह शास्त्रों के अर्थ को ठीक उसी प्रकार नहीं समझ सकता, जैसे चमचे को दाल के स्वाद का पता नहीं चलता।'' हमें गुरु के प्रति श्रद्धा को स्वतन्त्र परख और पूछताछ के अधिकतम अनियन्त्रित अधिकार के साथ सम्मिश्रण करना चाहिये। किसी बाह्य प्राधिकार के प्रति अन्ध-आज्ञापालक का खण्डन किया गया है। आजकल बहुत से गुरु हैं, जो अपने अनुयायियों से कहते हैं कि वे उनके वचनों का बिना विचारे पालन करें। उनका यह विश्वास प्रतीत होता है कि आत्मा के जीवन के लिए बुद्धि की मृत्यु आवश्यक शर्त है। बहुत-से अन्धविश्वासी और सरलचित्त वाले व्यक्ति उनकी ओर आकर्षित होते हैं, परन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्तियों के कारण उतना नहीं, जितना कि उनके एजेण्टों के प्रचार द्वारा और नवीनता, कुतूहल और उत्तेजना के प्रति मानवीय दुर्बलता के कारण। यह हिन्दुओं की उस परम्परा के प्रतिकूल हैं, जिसमें जिज्ञासा अर्थात् जाँच-पड़ताल पर, मनन या चिन्तन, या गीता के शब्दों में, प्रतिप्रश्न पर ज़ोर दिया गया है।

परन्तु केवल बौद्धिक ज्ञान से भी काम नहीं चलेगा। बुद्धि हमें केवल परब्रह्म की केवल आंशिक झाँकी दिखा सकती है; परन्तु यह परब्रह्म की चेतना उत्पन्न नहीं कर सकती। हमें वैयक्तिक सम्पर्क स्थापित करने के लिए अपने सम्पूर्ण आन्तरिक अस्तित्व को खोलकर रखना होगा। शिष्य को आन्तरिक मार्ग पर चलना होगा। सर्वोच्च प्रामाणिकता आन्तरिक प्रकाश है, जिसका इच्छा के

प्रलोभन के साथ घपला नहीं किया जाना चाहिये। सेवा और आत्मविलोप के गुणों द्वारा हम बाधा डालने वाले संस्कार को चूर-चूर कर देते हैं और ज्ञान के आलोक को अपने तक पहुँचने देते हैं। स्वयं उपलब्ध किया गया सत्य गुरु द्वारा सुझाए गए सत्य से भिन्न होता है। अन्ततोगत्वा, जो कुछ शास्त्रों में प्रकट किया गया है (प्रणिपात-श्रवण), जो कुछ मन द्वारा विचारा गया है (परिप्रश्न-मनन) और जो कुछ सेवा और ध्यान द्वारा आत्मा से अनुभव किया गया है (सेवानिदिध्यासन) इन तीनों में ठीक मेल बैठना चाहिये। हमें अतीत के महान् विचारकों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिये, उसके विषय में तर्क-वितर्क करना चाहिए और अन्तर्दृष्टि द्वारा उनमें जो कुछ स्थायी मूल्य की वस्तु है, उसे हृदयंगम करना चाहिए।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि आध्यात्मिक जीवन में पहले श्रद्धा आती है, फिर ज्ञान और उसके बाद अनुभव आता है।

जिन लोगों ने सत्य का अनुभव कर लिया है, उनसे आशा की जाती है कि वे हमें मार्ग दिखलाएँगे। जिन्होंने तत्त्व के दर्शन कर लिए हैं, उनका अपने अपेक्षाकृत कम भाग्यशाली बन्धुओं के प्रति कुछ कर्तव्य हो जाता है और वे उन्हें उस ज्ञान के आलोक को प्राप्त करने का मार्ग दिखाएँ हैं जिस तक वे स्वयं पहुँच चुके हैं।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।। ३५

यत्, ज्ञात्वा, पुनः (जिसको, जानकर, फिर [तू]), एवम्, मोहम्, न, यास्यसि (इस प्रकार, मोह को प्राप्त नहीं होगा), पाण्डव (हे अर्जुन!), येन (जिस ज्ञान को द्वारा), भूतानि (सम्पूर्ण प्राणियों को), अशेषेण (सम्पूर्णतया), आत्मनि (अपने में और), अथो (उसके पश्चात्) मयि, द्रक्ष्यसि (मुझ में देखेगा)।

प्रश्न 26- तत्त्वज्ञान का क्या फल होता है?

उत्तर - श्री कृष्ण जी को तत्त्व ज्ञान के विषय में बताते हैं, ''हे अर्जुन! जब तुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायेगा तब तू इस ज्ञान को जानकर मोह में नहीं पड़ेगा। यह ज्ञान ऐसा होगा कि जिससे तू सब प्राणियों को अपने में और सब प्राणियों को मुझ में (परमात्मा) देखेगा अर्थात् प्राणी-प्राणी में भेद-बुद्धि के कारण जो तू मोह में पड़ा हुआ है, ज्ञान की आँख खुल जाने पर तेरी यह भेद बुद्धि समाप्त हो जाएगी। (गीता श्लोक ६-३०)

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है-

हे अर्जुन! जिस तत्त्व को जानकर फिर तू स्वजन मोह में न फँसेगा। हे पाण्डव! तू भी क्षत्रिय है और मैं भी क्षत्रिय। सब अन्यायग्रस्त प्राणी तुझे और मुझे इस आशा से देख रहे हैं। मैं तो यह नहीं भूला, परन्तु तू भूल गया है। मुझे क्षात्र धर्म स्मरण है, परन्तु तुझे स्वजन मोह सता रहा है। देख, ये संसार भर के अन्याय पीड़ित प्राणी तुझ पर और मुझ पर दृष्टिपात किये हुए हैं। इन सब का भविष्य तेरे और मेरे हाथ में है, इसलिए तू मुझमें और अपने में मेरे और अपने व्यक्तित्व को मत देख, प्राणीमात्र के हित को सम्मुख रख कायरता त्याग और क्षत्रियोचित कार्य को करते हुए इस तत्त्वज्ञान का उपयोग कर।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। ३६

चेत्, (यदि [तू अन्य]), सर्वेभ्यः, पापेभ्यः, अपि (सब, पापियों से भी), पापकृत्तमः, असि (अधिक पाप करने वाला है [तो भी, तू]), ज्ञानप्लवेन, एव (ज्ञान रूपी नौका द्वारा, निःसन्देह), सर्वम्, वृजिनम्, सन्तरिष्यसि (सम्पूर्ण, पाप समुद्र से, भली भाँति तर जायेगा)।

प्रश्न 27- ज्ञान रूपी नौका द्वारा किस का उद्धार होता है?

उत्तर - जो संसार भर के सब पापकर्मियों से भी बड़ा पापकर्मी है तो भी निष्काम भाव से लोकसेवा अर्थात् यज्ञमय जीवन व्यतीत करता है फिर वह इस ज्ञान रूपी नौका पर सवार होकर सम्पूर्ण पाप समुद्र से भली-भाँति तर जायेगा।

यहाँ पर भगवान् श्री कृष्ण जी ज्ञान के महत्त्व को बताते हैं कि यदि ज्ञान हो जायेगा तो सभी पापों से व्यक्ति धीरे-धीरे दूर हटता जायेगा। इसलिए किसी भी मनुष्य को अपने कल्याण के विषय में निराश नहीं होना चाहिए, क्योंकि मनुष्य मात्र ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।। ३७

अर्जुन, (हे अर्जुन!), यथा, समिद्ध, अग्निः (जैसे, प्रज्वलित, अग्नि), एंधासि भस्मसात्, कुरुते (इन्धनों को, भस्म, कर देता है), तथा, ज्ञानाग्निः (वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि), सर्वकर्माणि, भस्मसात्, कुरुते (सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है)

प्रश्न 28- ज्ञान को किस के कर्मों को भस्म करने वाला कहा है?

उत्तर – जिस प्रकार प्रदीप्त अग्नि इन्धनों को राख का ढेर बना देती है, उसी प्रकार मानव समाज के सामूहिक हित के लिए निष्काम बलिदान का ज्ञान सब पाप कर्मों को भस्म कर देता है, क्योंकि जब लोकहित की भावना ने स्वार्थ की भावना को भस्म कर दिया तो पाप कर्मों की जड़ ही कट गई अर्थात् तब कर्म फल नहीं देते। यह कथन कि सब पाप फल नहीं देते, इसको समझाने के लिए इस प्रकार व्याख्या की गई है– यह उस व्यक्ति के लिए कहा गया है, जो अपने सब कर्मों को यज्ञरूप अर्थात् लोक-कल्याण के लिए निमित्त करने लगता है। ऐसा व्यक्ति जब किसी प्रकार का कर्म करने लगता है जिसे सामान्य मनुष्य पाप समझते हैं, इस पर भी यदि वह भली प्रकार जानकर कर्म के मूल को समझता हुआ, उसे लोक-कल्याण के लिए करता है, तो वह कार्य के दूषित फल को प्राप्त नहीं होता। उसकी यज्ञ की भावना ही फल देने वाली होती है (यहाँ यज्ञ से तात्पर्य केवल अग्निहोत्र न करके सर्वहिताय कल्याण की भावना से है।)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।। ३८

इह, ज्ञानेन, सदृशम् (इस संसार में, ज्ञान के समान), पवित्रम्, हि, न, विद्यते (पवित्र करने वाला, नि:सन्देह कुछ भी नहीं है), तत्, कालेन (उस ज्ञान को कितने ही काल से), योगसंसिद्धः (कर्मयोग से सिद्ध हुआ), स्वयम्, आत्मनि, विन्दति (अपने आप ही, आत्मा में, पा लेता है)।

प्रश्न 29– ज्ञान को कैसी वस्तु माना गया है ?

उत्तर – 'समुदाय के लिए व्यक्ति का बलिदान' रूपी ज्ञान के सदृश कोई पवित्र वस्तु नहीं है, परन्तु यह ज्ञान उपदेश से नहीं मिलता। जब मनुष्य कर्मयोग में प्रवृत्त होकर इस प्रकार का बलिदान करता है तो समय पाकर उसे स्वयं इस ज्ञान की पवित्रता का साक्षात्कार हो जाता है और बड़े से बड़ा पापी भी इस मार्ग पर चलकर अपने अन्दर एक चमत्कार पाता है। स्वामी श्रद्धानन्द और भगत अमीचन्द इसके स्पष्ट उदाहरण हैं जो महापापी होते हुए भी जब पवित्र ज्ञान की प्राप्ति हुई तो उन्होंने सर्वहिताय समुदाय के लिए अपना जीवन आहुत कर दिया।

श्री अनिल विद्यालंकार जी ने इस पर इस प्रकार टिप्पणी की है– जो कुछ भी हम मन के द्वारा जानते हैं, वह केवल जानकारी है, ज्ञान नहीं है। जानकारी कभी भी स्थायी नहीं होती, वह निरन्तर बदलती रहती है। विज्ञान के सिद्धान्त भी व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी जानकारी ही दे सकते हैं, क्योंकि उनका

निर्माण मनुष्य ने किया है। सच्चा ज्ञान वह है जहाँ मनुष्य अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से ऊपर उठकर समष्टि के साथ तादात्म्य अनुभव करते हुए सत्य का साक्षात्कार करता है, परन्तु वह ज्ञान कुछ ही दिनों में प्राप्त नहीं किया जा सकता इसके लिए लम्बी साधना और धैर्य आवश्यक है।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। ३९

संयतेन्द्रिय, तत्परः, श्रद्धावान् (जितेन्द्रिय, कार्य के लिए सदैव तैयार तथा श्रद्धावान्, मनुष्य), ज्ञानम्, लभते (ज्ञान को प्राप्त होता है तथा), ज्ञानम्, लब्ध्वा (ज्ञान को, प्राप्त होकर बह), अचिरेण (बिना किसी विलम्ब के, तत्काल ही), परम्, शान्तिम्, अधिगच्छति (परम, शान्ति को, प्राप्त हो जाता है)

प्रश्न 30– ज्ञान का पात्र कौन है तथा ज्ञान से क्या प्राप्त हो जाता है ?

उत्तर – जो व्यक्ति जितेन्द्रिय है, प्रत्येक कार्य के लिए सदैव तत्पर है तथा श्रद्धावान् है, वही व्यक्ति ही ज्ञान को प्राप्त कर सकता है। जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तो उस व्यक्ति को तत्काल परम शान्ति प्राप्त हो जाती है।

डॉ. राधा कृष्णन् जी मानते हैं कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा आवश्यक है। श्रद्धा से युक्त मनुष्य को ही ज्ञान प्राप्त होता है, परन्तु श्रद्धा का अर्थ अन्ध विश्वास नहीं है। यह आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्त्वाकांक्षा है। यह ज्ञान के उस अनुभवगम्य आत्मा का प्रतिबिम्ब है, जो हमारे अस्तित्व के गम्भीरतम स्तरों में निवास करता है। यदि श्रद्धा स्थिर हो, तो यह ज्ञान की प्राप्ति तक पहुँचा देती है। ज्ञान परम ज्ञान के रूप में सन्देहों से रहित होता है, जबकि बौद्धिक ज्ञान में, जिसमें हम इन्द्रियों द्वारा प्रदान की हुई जानकारी पर और तर्क से निकले निष्कर्षों पर निर्भर करते हैं, तब सन्देहों और अविश्वासों का स्थान रहता है। ज्ञान इन साधनों द्वारा प्राप्त नहीं होता उसकी वास्तविकता तक पहुँचना होता है। उस तक पहुँचने का मार्ग श्रद्धा और आत्मसंयम से होकर है।

'परां शान्तिम्' का अर्थ है सर्वोच्च शान्ति। नीलकण्ठ का कथन है कि जब वह कर्म, जो चालू हो गया था, अपना मार्ग पूरा कर चुकता है, तब वह आनन्द की सर्वोच्च अवस्था में पहुँच जाता है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।। ४०

अज्ञः, च, अश्रद्दधानः, संशयात्मा (विवेकहीन [जो कुछ नहीं जानता] और

श्रद्धारहित, संशययुक्त मनुष्य), विनश्यति (नष्ट हो जाता है), संशयात्मनः (संशययुक्त मनुष्य के लिए) न, अयम्, लोकः, अस्ति (न, यह, लोक है), न, परः (न, परलोक है) च न सुखम् (और, न, सुख ही है।)

प्रश्न 31- संशयात्मा कौन है और उसको क्या प्राप्त नहीं होता ?

उत्तर - जो व्यक्ति संशय से युक्त है वह विवेकहीन है। जो श्रद्धा से रहित है, उसके लिए न यह लोक है और न ही परलोक है, ऐसे व्यक्ति को सुख तो कभी प्राप्त हो ही नहीं सकता।

यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि तेरे मस्तिष्क में संशय आ गया है और जो व्यक्ति संशयालु होता है, उसका विवेक उसका साथ ही नहीं देता, ऐसा व्यक्ति श्रद्धारहित हो जाता है, ऐसा संशयालु व्यक्ति का नाश हो जाता है उसका न तो इस लोक में यश रहता है और न ही परलोक में, उसे सुख तो बिल्कुल प्राप्त होता ही नहीं। अतः हे अर्जुन! संशय को छोड़ और अपने क्षात्र धर्म का पालन करते हुए युद्ध के लिए तैयार हो जा।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।। ४१

धनञ्जय (हे अर्जुन!) योगसंन्यस्तकर्माणं (जिसने कर्मयोग की विधि से समस्त कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर दिया है) ज्ञानसञ्छिन्न संशयम् (जिसने विवेक द्वारा समस्त संशयो का नाश कर दिया है ऐसे), आत्मवन्तम् (जिसने अपने अन्तःकरण को अपने वश में कर लिया है) [ऐसे पुरुष को], कर्माणि, न निबध्ननन्ति (कर्म नहीं बाँधते)।

प्रश्न 32- कर्मबन्धन किसे नहीं बाँधते ?

उत्तर - जिसने श्रद्धावान् होकर अपने कर्मों को निष्काम कर्मयोग द्वारा प्रभु अर्पण कर दिया, जिसकी धरोहर थी उसको संन्यस्त कर दी अर्थात् यथावत् सौंप दी। उसके पश्चात् जिसे साक्षात्कार द्वारा कर्मयोग की महिमा का ज्ञान होने से उसके संशय छिन्न-भिन्न हो गये और अनासक्ति के अभ्यास से कौन सा कर्म कहाँ तक करना उचित है और कब अनुचित है, यह जानकर उस ज्ञान को कार्य में परिणत करने के लिए आत्मबल प्राप्त हो गया, उसे कोई कर्म बाँध नहीं सकता। जब हिंसा कर्तव्य है, तब अहिंसा उसे बाँध नहीं सकती और जब अहिंसा कर्तव्य है तो बदले की भावना उससे हिंसा नहीं करा सकती, वह अपने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किसी साधन भूत कर्म के बन्धन में न

आकर व्यावसायात्मिका बुद्धि से साध्य की ओर अग्रसर हो जाता है।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।। ४२

तस्मात्, (इसलिए), भारत (हे भरतवंशी, अर्जुन, तू), हृत्स्थम् (हृदय में स्थित), एनम्, अज्ञानसम्भूतम् (इस, अज्ञानजनित), आत्मनः, संशयम् (अपने संशय का), ज्ञानासिना (ज्ञान रूपी तलवार द्वारा), छित्त्वा (छेदन करके), योगम् (योगमार्ग को), आतिष्ठ (जुट जा), उत्तिष्ठ ([युद्ध के लिए], खड़ा हो जा)।

प्रश्न 33- श्री कृष्ण जी इस श्लोक के माध्यम से अर्जुन को क्या आदेश दे रहे हैं ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को आदेश दे रहे हैं, ''हे भरतवंशी अर्जुन! ज्ञान की तलवार से अपने हृदय में स्थित सन्देह को जो अज्ञान के कारण उत्पन्न हुआ है छिन्न-भिन्न करके योग में जुट जा और युद्ध के लिए उठ खड़ा हो।''

यहाँ अर्जुन से ज्ञान और एकाग्रता की सहायता से कर्म करने को कहा गया है। उसके हृदय में संशय यह है कि युद्ध करना अज्ञान की उपज है या युद्ध से विरत हो जाना। यह संशय ज्ञान द्वारा नष्ट हो जायेगा, तब उसे पता चल जायेगा कि उसके लिए क्या करना उचित है।

सारांश- इस अध्याय में गीता के प्रवक्ता ने कर्म और कर्मफल की व्याख्या की है। किया कर्म जीवात्मा पर संस्कार छोड़ जाता है और वह संस्कार जीवात्मा को भावी जन्म में अच्छे-बुरे फलों से लपेटता रहता है।

कर्म के दो रूप हैं- कर्म और विकर्म। अकर्म का स्वतन्त्र कोई महत्त्व नहीं है। वह कर्म तथा विकर्म का सहायक ही होता है। इस कारण कर्म और विकर्म को ही समझने की बात है। इसके समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है। प्रत्येक कर्म का मूल ज्ञान में है और उसे जानने से ही यह समझा जा सकता है कि कर्म क्या है तथा विकर्म क्या है ? इस पर भी यदि मनुष्य निष्काम भाव से यज्ञरूप होकर कर्म करे तो फिर घोर-से-घोर विकर्म भी उसे पाप में लिप्त नहीं करता। अतः कर्म के मूल ज्ञान को जानना आवश्यक है। उसे जानकर संशय रहित होकर कर्म करने वाला इस लोक के बन्धनों में लिप्त नहीं होता।

भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'ज्ञान-कर्म-संन्यास-योग' नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ पंचमोऽध्याय:
कर्म-संन्यास - योग अर्थात् कर्मयोग (योग-मार्ग)

प्रधान विषय -

(1) साँख्ययोग और निष्काम कर्मयोग का निर्णय (श्लोक संख्या 1 से 6 तक)।

(2) साँख्ययोगी और निष्काम कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा (श्लोक संख्या 7 से 12 तक)।

(3) ज्ञान योग का विषय (श्लोक संख्या 13 से 26 तक)।

(4) भक्ति सहित ध्यान योग का वर्णन (श्लोक संख्या 27 से 29 तक)।

भूमिका :- चतुर्थ अध्याय में 'ज्ञानयोग' और 'कर्म संन्यास योग' - इन दोनों की प्रशंसा की गई है। 'योग' अर्थात् मार्ग। 'कर्म-संन्यास' का अर्थ है- कर्मों को त्याग देना, कर्मों का अर्थात् कर्मों के फलों की कामना का, सकामता का त्याग करना। यह एक योग हुआ 'कर्मयोग' वह योग- वह मार्ग, जिसमें कर्म तो किया जाता है, परन्तु फल भगवान् के अर्पण कर दिया जाता है।

दूसरा 'योग-मार्ग'- 'ज्ञान योग' हुआ जिसमें कर्म ही नहीं किया जाता, ज्ञान द्वारा कर्म को भस्म कर दिया जाता है। इन्हीं दो योगों के कारण चतुर्थ अध्याय को 'ज्ञान-कर्म-संन्यास' कहा है- ज्ञान योग द्वारा कर्म का संन्यास अर्थात् छोड़ देना तथा कर्म करते हुए भी कर्मयोग द्वारा अर्थात् निष्कामता द्वारा कर्मफल का संन्यास अर्थात् छोड़ देना।

श्री कृष्ण जी ने चौथे अध्याय के ३३ से ३७ वें श्लोक तक कर्म तथा पदार्थों का स्वरूप से त्याग करके तत्त्वदर्शी (विद्वान्) महापुरुष के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करने सम्बन्धी प्रचलित प्रणाली की प्रशंसा की और इसके लिए ४/३४ में अर्जुन को आज्ञा दी। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की इस प्रणाली में कर्मों का स्वरूप से त्याग करके एकान्त में परमात्मतत्त्व का मनन करना आवश्यक है। अर्जुन के मन में पहले से ही युद्ध न करने का भाव था, क्योंकि वे अपना कल्याण चाहते थे और

युद्ध को पाप समझते थे। अत: अर्जुन ने समझा कि श्री कृष्ण जी मेरे लिए इस प्रकार कर्मों का स्वरूप से त्याग करके ज्ञान-प्राप्ति के लिए साधन करने को कहते हैं।

फिर ३८वें श्लोक में श्री कृष्ण जी ने कहा कि उसी तत्त्वज्ञान को साधक कर्म योग के द्वारा अपने आप में प्राप्त कर लेता है। इससे स्पष्ट ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति में कर्मयोग की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है।

इस प्रकार अर्जुन ने ३३वें तथा ३४वें श्लोक में ज्ञान प्राप्त करने की प्रचलित प्रणाली की प्रशंसा सुनी, ३४वें श्लोक में 'विद्धि' पद से उस प्रणाली से ज्ञान प्राप्त करने की अपने लिए विशेष आज्ञा मानी, फिर ३८वें और ४१वें श्लोक में कर्मयोग की प्रशंसा सुनी, ४२वें श्लोक में श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को **'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ'** पद से कर्मयोग की विधि से युद्ध करने की आज्ञा दी। इस प्रकार ज्ञान योग और कर्मयोग- दोनों की प्रशंसा सुनकर तथा दोनों के लिए आज्ञा प्राप्त होने पर अर्जुन यह निर्णय नहीं कर सके कि इन दोनों में कौन सा साधन मेरे लिए श्रेष्ठ है ? अत: इसका निर्णय श्री कृष्ण जी से कराने के उद्देश्य से अर्जुन प्रश्न करते हैं-

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।। १

कृष्ण (हे कृष्ण!) कर्मणाम्, संन्यासम् (कर्मो के संन्यास की), च, पुन: (और, फिर), योगम् शंससि (कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं [इसलिए],) एतयो: (इन दोनों में से), यत्, एकम्, मे (जो, एक मेरे लिए), सुनिश्चितम्, श्रेय: (भली भाँति निश्चित, कल्याणकारक साधन हो), तत्, ब्रूहि (उसको कहिये)।

प्रश्न 1 साँख्य योग और कर्मयोग की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में अर्जुन का क्या प्रश्न था ?

उत्तर :- अर्जुन बोले - हे श्री कृष्ण जी, आप कभी 'कर्मयोग' की प्रशंसा करते हो तो कभी 'ज्ञान योग' की। इन दोनों में से एक मार्ग को बतलाओ कि इन दोनों में से निश्चित रूप से श्रेष्ठ कौन सा है ? क्योंकि इस प्रकार तो मेरी बुद्धि भ्रमित हो रही है।

'संन्यास' का अर्थ है, त्याग देना, योग का अर्थ है जोड़ देना। गीता में संन्यास मार्ग का अर्थ है- कर्मों का त्याग देना। इसे संन्यास-मार्ग, साँख्य-मार्ग,

ज्ञान योग भी कहा गया है। गीता में योगमार्ग का अर्थ है– कर्मों के फलों का त्याग करके कर्मों से जुड़ जाना, कर्म करना, परन्तु प्रभु अर्पण करके एवं 'इदन्न मम' की भावना से करना। इसे निष्काम कर्म का नाम दिया गया है।

श्री कृष्णोवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।। २।।

संन्यासः (कर्म संन्यास=ज्ञान योग अर्थात् मन, इन्द्रियों और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कर्मों में कर्तापन का त्याग), च (और), कर्मयोगः (कर्मयोग अर्थात् समत्व बुद्धि से भगवदर्थ कर्मों का करना), उभौ (ये दोनों ही), निःश्रेयसकरौ (परम कल्याण के करने वाले हैं), तु (परन्तु), तयोः (इन दोनों में भी), कर्मसंन्यासात् (ज्ञान योग से) कर्मयोगः (कर्मयोग [साधन में सुगम होने, से]), विशिष्यते (विशेष है, श्रेष्ठ है, अधिक अच्छा है)।

प्रश्न 2– श्री कृष्ण जी ने अर्जुन की दुविधा को दूर करने के लिए किस योग को श्रेष्ठ माना है?

उत्तर – श्री कृष्ण जी ने कहा, ''हे अर्जुन! ज्ञान योग और कर्मयोग– ये दोनों ही परम कल्याण करने वाले हैं, परन्तु इन दोनों में से कर्म को त्याग देने वाले ज्ञान योग की अपेक्षा कर्मयोग (निष्काम कर्म), अधिक श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके साधनों में सुगमता है।''

व्याख्या :– इस प्रसंग में कर्मसंन्यास उस मनोवृति का नाम है, जिसका फल अनासक्त कर्मयोग है। यह मनोवृत्ति जड़ पदार्थ के इतना निकट है कि कर्म संन्यासी तथा जड़ पदार्थ में भेद ही कर्मयोग उत्पन्न करता है। जो मनुष्य कर्म संन्यासी होकर कर्मयोगी बनेगा वह किसी कर्म के जो साधन भूत है, साध्य के लिए घातक अंश तक नहीं करेगा। भोजन साधन है, स्वास्थ्य साध्य है, जो जितनी मात्रा में जिस प्रकार का भोजन आवश्यक है, उसी प्रकार का उचित मात्रा में लेना तब ही सम्भव है जब भोजन करने वाले की न किसी रस में आसक्ति हो और न हो किसी मात्रा में। इसी प्रकार स्वास्थ्य लोक कल्याण का साधन है। लोक कल्याण के लिए प्राण–विसर्जन आवश्यक हो तो वह भी कर देना चाहिये और यदि स्वास्थ्य–रक्षा न हो तो साधारण रूप से लोक–कल्याण हो ही नहीं सकता। बस आसक्ति का लक्षण है **''साध्य-प्रतिपक्ष-साधने पक्षपातः''**। सो उस पक्षपात रहित अवस्था को प्राप्त करने के लिए जिस

मनोवृत्ति की अपेक्षा है, उसका अगले श्लोक में वर्णन करते हैं। यह विचार स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी के हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्‌क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।। ३।।

महाबाहो (हे महाबाहु अर्जुन!), यः न, द्वेष्टि (जो, पुरुष न किसी से द्वेष करता है), न, काङ्‌क्षति (न किसी की आकांक्षा करता है), सः, नित्यसंन्यासी, ज्ञेयः (वह कर्मयोगी सदा संन्यासी ही समझने योग्य है), हि, निर्द्वन्द्वः (क्योंकि, राग–द्वेषादि द्वन्द्वों से रहित पुरुष), सुखम् (सुखपूर्वक), बन्धात् प्रमुच्यते (संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है)

प्रश्न 3– कौन व्यक्ति कर्म के बन्धनों से मुक्त हो जाता है?

उत्तर – श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे महाबाहु अर्जुन! जो व्यक्ति किसी से द्वेष नहीं करता, जो किसी प्रकार की इच्छा या कामना नहीं रखता, उस व्यक्ति को नित्य कर्म करते रहने पर भी नित्य संन्यासी समझना चाहिये। वह व्यक्ति सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय, राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हो गया है। वही व्यक्ति अनायास ही कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। वही व्यक्ति कर्मयोगी है, निष्काम कर्म करने वाला है, उसे ही ज्ञान योगी समझो।

सांख्योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।। ४।।

सांख्ययोगौ (साँख्य मार्ग तथा योग मार्ग), बालाः, पृथक, प्रवदन्ति (मूर्ख लोग, पृथक्–पृथक् फल देने वाला कहते हैं), न, पण्डिताः (न कि, पण्डित जन), हि (क्योंकि [दोनों में से]), एकम्, अपि (एक में भी), सम्यक् आस्थितः (सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष), उभयोः, फलम्, विन्दते (दोनों के फल रूप परमात्मा को पा लेता है)।

यात्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।। ५।।

सांख्यैः (ज्ञान–योग द्वारा), यत्, स्थानम्, प्राप्यते (जो परमधाम प्राप्त किया जाता है), योगैः, अपि, तत्, गम्यते (कर्मयोगियों द्वारा भी वही, प्राप्त किया जाता है), [इसलिए], यः (जो पुरुष), सांख्यम्, च, योगम्, एकम्, पश्यति (ज्ञानयोग और कर्मयोग को, एक, देखता है), सः, च, पश्यति (वही यथार्थ में देखता है)।

प्रश्न 4- क्या सांख्य योग कर्म योग भिन्न-भिन्न हैं और उनका फल क्या है ?

उत्तर - अर्जुन बहुत भ्रमित है कि वह किस मार्ग को अपनाये, ज्ञान योग को या कर्मयोग को, क्योंकि दोनों को श्रेष्ठ माना है अत: श्री कृष्ण जी अर्जुन की इस दुविधा को इस प्रकार दूर करते हैं, "हे अर्जुन! बाल-बुद्धि के लोग (अज्ञानी) ज्ञान-योग तथा कर्मयोग को पृथक्-पृथक् समझते हैं, पण्डित लोग नहीं। जो व्यक्ति इन दोनों में से किसी एक पर सम्यक् प्रकार से चल पड़ता है, वह दोनों का फल पा लेता है, क्योंकि साँख्य-मार्ग वाले (कर्मों को त्यागने वाले), ज्ञान-योगी जिस स्थिति को पाते हैं, योग-मार्ग वाले (कर्मों को करने वाले) कर्मयोगी भी उस स्थिति को पहुँचते हैं। जो व्यक्ति ज्ञान और कर्म दोनों को एक देखता है, वही ठीक-ठीक देखता है।

संन्यास पर डॉ. राधा कृष्णन् जी ने महाभारत का एक प्रसंग दिया है- महाभारत में शान्ति पर्व ३१५:१९,३१६:४ में मिलता है-

यदेव योगाः पश्यन्ति तत्सांख्यैरपि दृश्यते।
एकं सांख्य च योगं च यः पश्यति स तत्त्ववित्।।

संन्यासी वह नहीं है जो पूर्णतया निष्क्रिय रहता है अपितु वह है जो अनासक्ति की भावना से कर्म करता है। संन्यास एक मानसिक वृत्ति है, कर्म की इच्छा को त्याग देना; सच्चा कर्म सब इच्छाओं को त्यागकर किया जाने वाला कर्म है। इन दोनों में कोई विरोध नही है। तुलना कीजिए 'जब ज्ञानी या मूर्ख कर्म कर रहे होते हैं, तब शरीर तो (अर्थात् बाह्यकर्म) दोनों का एक ही जैसा' होता है, परन्तु आन्तरिक भावना भिन्न होती है-

प्रज्ञस्य मूर्खस्य च कार्ययोगे, समत्वमेति तर्नुन बुद्धिः।

महाभारत में कहा गया है कि भागवत् धर्म गुणों की दृष्टि से साँख्य धर्म के बराबर है

'सांख्ययोगेन तुल्यो हि धर्म एकान्तसेवितः'
शान्तिपर्व ३४८:७१

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति।। ६ ।।

तु (परन्तु), महाबाहो (हे अर्जुन!), अयोगतः (बिना कर्मयोग के), संन्यासः (ज्ञान योग), आप्तुम्, दुःखम् (प्राप्त होना, कठिन है), मुनिः (भगवत्स्वरूप को मनन करने वाला), योगयुक्तः (कर्मयोगी), ब्रह्म, नचिरेण, अधिगच्छति (परब्रह्म परमात्मा को, शीघ्र ही, प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 5- कौन (ज्ञान-योगी, कर्म-योगी) ब्रह्म को शीघ्र प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर - हे अर्जुन! बिना कर्मयोग के संन्यास की मनोवृति पाना कठिन है क्योंकि उसने ठीक मनोवृत्ति प्राप्त की है, वा नहीं इसकी परीक्षा तो कर्मयोग में ही होती है। कर्मयोग के क्षेत्र में प्रवेश किये बिना संन्यास में मिथ्या सन्तोष का अति प्रबल भय बना रहता है। दूसरी ओर कर्मयोग में भूलों की नित्य पड़ताल होते रहने से योग-युक्त मुनि अतिशीघ्र ब्रह्म को पा लेता है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।। ७

विजितात्मा (जिसका मन अपने वश में है), जितेन्द्रियः (जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है), विशुद्धात्मा (जिसका आत्मा शुद्ध है), सर्वभूतात्मभूतात्मा (जो सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझता है ऐसा), योगयुक्तः (कर्मयोगी), कुर्वन्, अपि, न, लिप्यते (करता हुआ, भी, लिप्त, नहीं होता)।

प्रश्न 6- कर्मयोगी कैसा होता है ?

उत्तर - जिसका मन अपने वश में है, जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है अर्थात् जो इन्द्रियों के वशीभूत नहीं है। जिसकी आत्मा शुद्ध हो चुकी है, जो सब प्राणियों को अपने समान समझता है, ऐसा कर्मयोगी व्यक्ति सब कुछ करता हुआ भी कर्म में लिप्त नहीं होता।

श्री गुरुदत्त जी ने 'भूतात्मा भूतात्मा' पद की व्याख्या इस प्रकार की है- भूत का अर्थ प्राणी भी है की और भूत का अर्थ पंच-भौतिक जगत् भी है। अत: इस पद का अर्थ बनता है- जो सब प्राणियों में आत्मा को संसार का आत्मा मानता है। यहाँ आत्मा का अर्थ कार्य करने वाली शक्ति है। इसे प्राण कहते हैं।

इस प्रकार 'भूतात्मभूतात्मा' का अर्थ होगा वह शक्ति जो पूर्ण संसार का संचालन कर रही है। वह ही प्राणियों में कार्य करने की शक्ति है। प्राण परमात्मा की शक्ति है और वह जहाँ पूर्ण संसार का संचालन करती है, वहाँ प्राणी में भी कार्य करती है।

जो मनुष्य ऐसा जानता है और कर्मयोगी अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करने वाला है। वह मनुष्य सब प्रकार के कर्म करता हुआ भी कर्मफलों में बँधता नहीं।

ऐसे मनुष्य के कर्म का लक्ष्य किसी को हानि पहुँचाना नहीं हो सकता। यथा सम्भव सबके कल्याण में ही वह कार्य करेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि गीता के काल में कर्मत्याग की महिमा श्रेष्ठ समझी जाने लगी होगी। वह कर्म संन्यास के विषय को मानता तो है, परन्तु उसमें तथा 'कर्मफल त्याग' में कुछ अन्तर नहीं समझता।

अन्तर केवल शब्दावली में है। एक शब्द है निष्काम। दूसरा है कर्मफल-त्याग। गीता का प्रवक्ता दोनों को पर्यायवाची कहता है।

नैव किञ्चत्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपन् श्वसन्।।८
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।।९

तत्त्ववित् (तत्त्व को जानने वाला), युक्तः (कर्मयोगी) पश्यन्, शृष्वन्, स्पृशन्, जिघ्रन्, अश्नन्, गच्छन्, स्वपन, श्वसन् (देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, स्वप्न लेता हुआ, साँस लेता हुआ), प्रलपन्, विसृजन्, गृह्णन्, उन्मिषन्, निमिषन् (बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आंखों को खोलता हुआ, आंखों को मूंदता हुआ), अपि (भी), इन्द्रियाणि, इन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते (सब इन्द्रियाँ, अपने अपने विषयों में, बरत रही है), इति, धारयन् (इस प्रकार समझ कर), एव, इति, मन्येत (निःसन्देह ऐसा माने [कि मैं]), किंचित न करोमि (कुछ भी नहीं करता हूँ)।

प्रश्न 7- योग मार्गी अपने आप को कैसा समझता है?

उत्तर - जो योग मार्गी है (कर्मयोगी है) वह तत्त्व को जान जाता है वह देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, चलता हुआ, स्वप्न लेता हुआ, साँस लेता हुआ, बोलता हुआ, त्याग करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ, आँखों को बन्द करता हुआ यह समझता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा, वह यह समझता है कि वे सब इन्द्रियाँ अपने विषयों में बरत रही हैं।

लोकमान्य तिलक जी ने इस प्रश्न का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि ''मैं कुछ नहीं करता'' - ''इन्द्रियाँ ही अपने विषयों में बरत रही हैं''- इसका अभिप्राय यह नहीं कि इन्द्रियों को जो चाहे करने दें। अभिप्राय इतना ही

है कि 'मैं कर रहा हूँ'- इस अहंकार बुद्धि के छूट जाने से अचेतन इन्द्रियाँ अपने ही आप कोई बुरा काम नहीं कर सकती, वे आत्मा के वशीभूत रहती हैं। आसक्ति से ही तो बुरा काम होता है, सुख-दुःख भी आसक्ति का परिणाम हैं। यही कर्म का बन्धन कहलाता है। अहंकारयुक्त आसक्ति छूट जाने से इन्द्रियाँ विषयों में ऐसे चलती है, जैसे कोई मशीन चल रही हों। उसमें आसक्ति के कारण पैदा होने वाले द्वन्द्व नहीं होते।

टिप्पणी -वैदिक सिद्धान्तानुसार योगी जो भी कुछ करता है, वह जान रहा होता है कि मनादि तो जड़ है, करने वाला तो मैं (आत्मा) ही हूँ।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।। १०

यः, कर्माणि (जो पुरुष, सब कर्मों को), ब्रह्मणि, आधाय (परमात्मा में, अर्पण करके), सङ्गम्, त्यक्त्वा (आसक्ति को, त्याग करके), [कर्म], करोति (करता है), सः, अम्भसा पद्मपत्रम्, इव (वह पुरुष, जल से, कमल के पत्ते की, भाँति), पापेन, न, लिप्यते (पाप से, लिप्त, नहीं होता)।

प्रश्न 8- कौन पुरुष पाप में लिप्त नहीं होता?

उत्तर - जो पुरुष आसक्ति मोह को छोड़कर अपने कर्मों को ईश्वरार्पण कर देता है अर्थात् जो पुरुष ''मैं ब्रह्म की आज्ञानुसार उसका निमित्त मात्र बन कर काम कर रहा हूं, इसमें मेरा कुछ नहीं'' इस प्रकार ब्रहार्पण करके मोह छोड़कर कर्म करता है वह पाप से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार जल में रहता हुआ कमलपत्र। कारण यह है कि वह 'तत्त्ववित्' तथा 'युक्त' है। पाप में प्रवृति दो ही कारणों से होती है एक अज्ञानी होने से दूसरी व्यक्तिगत सुख में आसक्त होने से किन्तु वह पुरुष लोक कल्याण से युक्त है, तत्त्ववित है तथा संग छोड़ चुका है। अब लिप्त किधर से हो?

यहाँ पर श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि शरीर में रहता हुआ भी जीवात्मा यदि मन से मोह छोड़ देता है तो वह परम सुख पाता है। डा. राधाकृष्णन् जी के अनुसार - गीता हमसे कर्मों का त्याग करने को नहीं कहती, अपितु उन्हें भगवान के प्रति, जो कि एकमात्र अमरता है, समर्पित करके उन्हें करते रहने को कहती है। जब हम सीमित अहंकार के प्रति अपने राग और द्वेष को उसकी रूचियों और अरुचियों को त्याग देते हैं और अपने कर्मों को शाश्वत ब्रह्म के प्रति समर्पित कर देते हैं, तब हमें सच्चा संन्यास प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार

का संन्यासी अपने क्षणिक सीमित आत्मा के लिए कार्य नहीं करता, अपितु उस आत्मा के लिए कार्य करता है, जो हम सबमें विद्यमान है।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्‌गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।। ११

योगिन: (कर्मयोगी लोग), केवलैः (केवल), इन्द्रियैः, मनसा, बुद्ध्या, कायेन (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और शरीर द्वारा), अपि (भी), सङ्‌गम्, त्यक्त्वा (आसक्ति को त्यागकर), आत्मशुद्धये (अन्त:करण की शुद्धि के लिए), कर्म, कुर्वन्ति (कर्म, करते हैं)।

प्रश्न 9- कर्मयोगी किस लिए कर्म करते हैं ?

उत्तर - कर्मयोगी लोग 'मैं कर्म करता हूं' इस अहंकार बुद्धि का त्याग करके शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति रहित होकर आत्मशुद्धि के लिए कर्म किया करते हैं।

लोकमान्य तिलक जी ने इसका स्पष्टीकरण यह किया है कि अहंकार के न रहने से कर्मयोगियों के जो कर्म होते हैं, वे केवल इन्द्रियों के होते हैं और क्योंकि काया, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियाँ सभी प्रकृति के विकार हैं इसलिए उनका कर्ता आत्मा नहीं, इन्द्रियाँ ही हैं क्योंकि आत्मा इन कर्मों का कर्ता नहीं। इसलिए कर्म बन्धन के कारण भी नहीं होते।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।। १२।।

युक्त: (कर्मयोगी लोग), कर्मफलम् त्यक्त्वा (कर्मों के फल का त्याग करके), नैष्ठिकीम्, शान्तिम्, आप्नोति (निष्ठा वाली, परम शान्ति को, प्राप्त होता है), अयुक्त: (सकाम पुरुष, जो कर्मयोगी नहीं है), कामकारेण फले, सक्त: (कामना की प्रेरणा से, फल में, आसक्त होकर) निबध्यते (बँधता है)।

प्रश्न 10- कर्मयोगी तथा सकाम पुरुष को क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर - कर्मयोगी फल-प्राप्ति के लिए हाय-हाय न करके स्थिर शान्ति प्राप्त करता है, क्योंकि वह फल प्राप्ति रूपी कामना से रहित होता है, इसके विपरीत सकाम पुरुष (योग-रहित पुरूष) नाना प्रकार की कामनाओं में आसक्त होने के कारण कर्म बन्धन में बँधा रहता है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं- जो लोग ज्ञान-योग की बात करते हैं, वे कहते हैं कि कर्म का त्याग करना

चाहिये, कर्म से ही संन्यास ले लेना चाहिये ताकि कर्म का बन्धन न पड़े। ऐसे लोगों को लक्ष्य में करके श्री कृष्ण जी कहते हैं कि ज्ञान-योगी तो बाह्य कर्म का त्याग करता है, परन्तु बाह्य कर्म के त्याग से कुछ नहीं बनता, वास्तविक कर्म-त्याग तो मन से होता है। कर्मयोगी, क्योंकि कर्म तो करता है, परन्तु मन में बसी कर्मफल की कामना का त्याग कर देता है इसलिए वह ज्ञान-योगी से अधिक श्रेष्ठ है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यास्यात्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्।। १३

वशी, देही (मन को वश में करने वाला, पुरुष), न, कुर्वन्, न, कारयन्, (न, करता हुआ, और न, करवाता हुआ), एव (ही), नवद्वारे (नौ द्वारों वाली [2 आँखें, 2 कान, 2 नासिका, 1 मुख, मूत्रेन्द्रिय, गुदा]), पुरे (नगरी में), सर्वकर्माणि, मनसा, संन्यस्य (सब कर्मों को, मन से, त्याग कर), सुखम्, आस्ते (आनन्द पूर्वक परमात्मा के स्वरूप में, स्थित रहता है)।

प्रश्न 11- नौ द्वारों वाली नगरी में रहने वाला पुरुष आनन्दपूर्ण स्थिति में कब रहता है ?

उत्तर - जिसने अपने मन, इन्द्रियाँ और शरीर को अपने वश में कर लिया है, ऐसा पुरुष इस नौ द्वार (दो आँखें, दों कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, एक मूत्रेन्द्रिय, एक गुदा) वाले शरीर में रहता हुआ मन से सब कर्मों को छोड़कर आनन्दपूर्ण स्थिति में रहता है। वह इस देह रूप नवद्वार वाली नगरी में न कुछ करता है, न करवाता है। सब कुछ उससे ब्रह्म करवाता है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् कर्ता बन जाता है, बल्कि वह कर्मयोगी सब कर्मों को करता हुआ उन्हें ईश्वर का कार्य समझ कर करता है। उसमें उसका अहंभाव नहीं आता और न ही फल की इच्छा होती है।

जैसे कोई किसी के घर में जाकर अतिथि रूप में रहे, वह वहाँ द्रष्टा बनकर साक्षी बन कर तो रहता है, परन्तु उस घर का स्वामी बनकर नहीं रहता। इसलिए वह घर के किसी पचड़े में नहीं पड़ता। इसी तरह हमें इस देह रूपी नगरी में मन से ही यहाँ के कर्मों में नहीं फँसना चाहिये और सुख पूर्वक यहाँ इस शरीर में अतिथिरूप में रहना चाहिये।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते।। १४।।

प्रभुः (परमेश्वर), लोकस्य, न, कर्तृत्वम् (मनुष्यों के, न तो, कर्तापन की), न, कर्माणि (न, कर्मों की और), न कर्मफल संयोगम् (न, कर्मफल के संयोग आसक्ति की ही), सृजति (रचना करते हैं), तु स्वभावः प्रवर्तते (किन्तु मनुष्य के स्वभाव या प्रकृति प्रवृत्त होता है)।

प्रश्न 12– मनुष्य प्रकृति अर्थात् स्वभाव के कारण अपने आप को क्या समझ लेता है ?

उत्तर – हम अपने आप को 'कर्ता' समझ कर कर्मफल का त्याग नहीं करते। श्री कृष्ण जी यहाँ कह रहे हैं, ''प्रभु ने न तो किसी को 'कर्ता' बनाया है और न किसी को 'कर्म' बनाया है, न कर्मफल के संयोग अर्थात् उसके प्रति आसक्ति ही प्रभु ने बनाई है, यह तो मनुष्य का स्वभाव है कि वह अपने आप को कर्ता मान बैठा है। यही स्वभाव हम सब में प्रवृत्त हो रहा है। अपने स्वभाव के कारण हम अपने को कर्ता मानते रहते हैं। अपने को कर्ता न मानें तो कर्म अपने आप निष्काम हो जाते हैं। स्वभाव का अर्थ प्रकृति भी किया जाता है। गीताकार ने इस प्रसंग विशेष में ये भाव प्रकट किये हैं, अन्यथा वेद में जीवात्मा को क्रतु कहा है अर्थात् कर्ता कहा है।''

''प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वभाव है, जो संसार में चल रहा है। इसलिए अभ्यास द्वारा अपना स्वभाव बदलना होगा, तब ही हम ब्रह्मार्पण होकर ब्रह्म प्रेरणा से काम करेंगे। अभी तक तो कामनाओं की प्रेरणा से चलते रहे हैं।''

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।। १५।।

विभुः (सर्वव्यापी परमेश्वर), न, कस्यचित्, पापम् (न, किसी के, पाप कर्म को), च, न, सुकृतम्, एव (और, न ही, किसी के शुभकर्म को, ही), आदत्ते (ग्रहण करता है, किन्तु), अज्ञानेन, ज्ञानम्, आवृतम् (अज्ञान के द्वारा, ज्ञान, ढका हुआ है), तेन, जन्तवः, मुह्यन्ति (उसी से, सब अज्ञानी मनुष्य, मोहित हो रहे हैं)।

प्रश्न 13– क्या परमात्मा किसी के पाप-पुण्य को ग्रहण करता है ?

उत्तर – वह परमात्मा न तो किसी के पापों को अपने ऊपर लेता है न किसी के पुण्य छीनता है फिर भी लोग 'परमात्मा हमारे पापों के बदले अवतार लेकर कष्ट भोगेगा अथवा हमारे अमुक मन्त्रोच्चारण से अमुक पुण्यात्मा के पुण्य नष्ट होकर वह भी नष्ट हो जायेगा'। इस प्रकार के मिथ्या विश्वास में पड़े रहते हैं।

परन्तु यह ज्ञान अज्ञान से ढका हुआ है इसलिए प्राणी मोह जाल में फँस जाते हैं।

पाप और पुण्य की भावना मनुष्य के धार्मिक जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। नरक में जाने के डर से मनुष्य पाप करने से बचता है और पुण्य के काम करके स्वर्ग जाने की आशा करता है, पर पाप-पुण्य और स्वर्ग- नरक का भेद भी मनुष्य के मन की ही रचना है। जिस काम को एक सम्प्रदाय पाप मानता है दूसरे सम्प्रदाय वालों को उसमें कोई पाप नहीं दिखाई देता है। तर्क, चिन्तन या विवाद के द्वारा हम पाप और पुण्य के बारे में किसी निर्णय पर नहीं पहुँच सकते। पापी और पुण्यात्मा दोनों ही अपने-अपने स्वभाव के अनुसार आचरण करते हैं। परमज्ञान की अवस्था पर पहुँचने के लिए गीता सबको समान दृष्टि से देखने को कहती हैं।

श्री गुरुदत्त जी ने इस पर विशेष टिप्पणी की है– इस अध्याय के ७वें श्लोक में 'भूतात्मभूतात्मा' का अर्थ हमने बताया है– परमात्मा की प्राणशक्ति, जो सब में विद्यमान कर्म करने की शक्ति परमात्मा की है तो परमात्मा ही सब अच्छे बुरे कर्म करता है। यहाँ १४वें, १५वें श्लोक में यह बताया है कि यद्यपि सबमें कार्य करने की शक्ति परमात्मा की है, तो भी कार्य परमात्मा नहीं करता, न पाप कर्म, न ही अच्छे कर्म, न ही वह कर्म का फलों से संयोग करता है। शक्ति परमात्मा की है, उसका प्रयोग जीवात्मा करता है, इस कारण पाप-पुण्य का उत्तरदायी जीवात्मा है, परमात्मा नहीं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।। १६।।

तु, येषाम् (परन्तु, जिनका), तत्, अज्ञानम् (वह, अज्ञान) आत्मनः ज्ञानेन, नाशितम् (परमात्मा के, तत्त्वज्ञान द्वारा, नष्ट कर दिया गया है), तेषाम्, ज्ञानम्, (उनका वह, ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्य के सदृश), तत्परम्, प्रकाशयति (उस को, प्रकाशित कर देता है अर्थात् परमात्मा के स्वरूप को साक्षात् कराता है)

प्रश्न 14– जिनका अज्ञान नष्ट हो जाता है उसे क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर – जिस व्यक्ति ने अपने ज्ञान विवेक के द्वारा उस अज्ञान का नाश कर लिया है, उसका वह ज्ञान परमात्मा को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे अन्धकार नष्ट होने पर सूर्य प्रकाशित होता है।

अपनी सत्ता को और शरीर को अलग-अलग मानना ज्ञान है और एक मानना अज्ञान है। जिसने विवेक को जागृत करके 'मैं'– 'मेरे पन' के सम्बन्ध

का विच्छेद कर दिया है उसका वह विवेक (परमात्मा के स्वरूपको)प्रकाशित करा देता है अर्थात् अनुभव करा देता है।

'प्रकाशयति' पद का तात्पर्य है कि सूर्य के उदय होने पर नयी वस्तु का निर्माण नहीं होता प्रत्युत अन्धकार से ढके जाने के कारण जो वस्तु दिखाई नहीं दे रही थी, वह दीखने लग जाती है। इसी कारण परमात्म तत्त्व स्वत: सिद्ध है, पर अज्ञान के कारण उसका अनुभव नहीं हो रहा था। सूर्य रूपी विवेक द्वारा अज्ञान (अन्धकार) के मिटते ही उस स्वत: सिद्ध परमात्म तत्त्व का अनुभव होने लगता है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।। १७।।

तदात्मनः (जिसका मन तद्रूप हो रहा है), तद्बुद्धयः (जिसकी बुद्धि तद्रूप हो रही है), तन्निष्ठाः, (जिसकी परमपिता परमात्मा में ही निरन्तर निष्ठा से स्थिति है ऐसे), तत्परायणाः (उसके आश्रय में अपने को छोड़ देने वाले), ज्ञाननिर्धूत कल्मषाः (ज्ञान से धुल गये हैं, पाप या दोष, जिनके), अपुनरावृत्तिम्, गच्छन्ति (पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते हैं, अर्थात् परम गति को प्राप्त हो जाते हैं)।

प्रश्न 15- कौन परम गति को प्राप्त होते हैं या किन का पुनर्जन्म नहीं होता ?

उत्तर - जिसका बुद्धि और मन परमात्मा में लीन है, जिसकी परम पिता में निरन्तर निष्ठा है जो परमपिता परमात्मा के आश्रय में अपने आप को छोड़ देते हैं, ऐसे पुरुष का आत्मा ज्ञान से पाप रहित हो जाता है। ऐसा पुरुष पुर्नजन्म को प्राप्त नहीं करता अर्थात् परमगति को प्राप्त कर लेता है।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।। १८।।

पण्डिताः (ज्ञानीजन), विद्याविनय, सम्पन्ने, ब्राह्मणे (विद्या और विनय से, युक्त, ब्राह्मण में), च (और), गवि, हस्तिनि, शुनि, च, श्वपाके (गाय, हाथी, कुत्ते और चाँडाल में), सम्दर्शिनः, एव (समदर्शी, ही होते हैं)।

प्रश्न 16- ज्ञानी पुरुष (कर्मयोगी पुरुषों) की दृष्टि कैसी होती है ?

उत्तर - जब कर्मयोगी की बुद्धि परम ब्रह्म में रम जाती है, उसका अन्तः करण ब्रह्म में लीन हो जाता है। उसका अज्ञान जाता रहता है वह समदर्शी हो जाता है, सबको एक दृष्टि से देखता है। विद्या तथा विनय से युक्त ब्राह्मण में, गाय, हाथी,

कुत्ते तथा चाण्डाल में उसकी भेद-बुद्धि नहीं रहती, वह सबको समान देखता है।

स्वामी रामसुख दास जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- ब्राह्मण और चाण्डाल में तथा गाय, हाथी एवं कुत्ते में व्यवहार की विषमता अनिवार्य है। इनमें समान बर्ताव शास्त्र भी नहीं कहता, उचित भी नहीं और कर सकते भी नहीं। जैसे विद्या-विनय युक्त ब्राह्मण का पूजा-सत्कार किया जाता है न कि चाण्डाल का। दूध, गाय का ही पीया जाता है नाकि कुतिया का, सवारी हाथी की ही हो सकती है न कि कुत्ते की। इन पाँचों प्राणियों का उदाहरण देकर भी कृष्ण जी यह कह रहे हैं कि इनमें व्यवहार की समता सम्भव न होने पर भी तत्त्वत: सबमें एक ही परमात्मा तत्त्व परिपूर्ण है। महापुरुषों की दृष्टि उस परमात्म तत्त्व पर ही सदा-सर्वदा रहती है। इसलिए उनकी दृष्टि कभी विषम नहीं होती। उन ज्ञानी पुरुषों के मस्तिष्क में सदैव यह बात रहती है-

सर्वे भवन्तुः सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तुः मा कश्चिद् दुःख भाग् भवेत्।।

सभी सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभी भद्र भाव से देखें, किसी को भी दुःख प्राप्त न हो।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।। १९।।

येषाम्, मनः, साम्ये, स्थितम् (जिनका, मन, सम अवस्था में, स्थित है), तैः, इह, एव, सर्गः, जितः (उनके द्वारा, यह लोक अर्थात् इस जीवित अवस्था में, ही, सम्पूर्ण रूप से, जीत लिया है), हि (क्योंकि), ब्रह्म, निर्दोषम्, समम् (परमात्मा निर्दोष और सम अवस्था वाला है), तस्मात्, ते (इससे, वे) ब्रह्मणि, स्थिताः (ब्रह्म में ही स्थित रहते हैं)।

प्रश्न 17- किस ने इस संसार को जीत लिया है ?

उत्तर - जिनका मन ज्ञान द्वारा साम्यावस्था में स्थिर हो जाता है, वे यहीं के यहीं, इस पृथ्वी पर ही संसार को जीत लेते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही निर्दोष तथा सम है, सबमें एक ही समान है। इसलिए ये साम्य बुद्धि वाले व्यक्ति ब्रह्म में स्थिर रहते हैं।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।। २०।।

प्रियम्, प्राप्य, न, प्रहृष्येत् (प्रिय वस्तु को, प्राप्त होकर, हर्षित, नहीं होता), च (और), अप्रियम्, प्राप्य, न, उद्विजेत् (अप्रिय वस्तु को, प्राप्त करके, उद्विग्न, नहीं होता), स्थिर बुद्धिः, असम्मूढ, ब्रह्मवित् (स्थिर बुद्धि, संशय रहित, ब्रह्मवेता पुरुष), ब्रह्मणि, स्थितः (ब्रह्म में स्थित है)

प्रश्न 18- कौन व्यक्ति ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में स्थित रहता है ?

उत्तर - जो व्यक्ति प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर प्रसन्न नहीं होता और अप्रिय वस्तु को प्राप्त कर उद्विग्न नहीं होता। इस प्रकार के व्यक्ति की बुद्धि स्थिर हो जाती है। उसकी सब प्रकार की भ्रान्तियाँ मिट जाती हैं। वह व्यक्ति ब्रह्म को जानकर ब्रह्म में ही स्थित हो जाता है, अर्थात् मनुष्य जीवन के परमलक्ष्य परमगति (मोक्ष) को पा लेता है।

श्री अनिल विद्यालंकार जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- मनुष्य की सभी अनुभूतियाँ शुद्ध, चैतन्य और आनन्द के सागर ब्रह्म से आती हैं, पर क्योंकि वह केवल प्रिय अनुभूतियों को पाना चाहता है और अप्रिय से दूर भागना चाहता है, इसलिए वह सत्य को न जानकर सदा अशान्ति और भ्रान्ति में पड़ा रहता है। लहरों के सतही जीवन से हटकर ही सागर की शान्त गहराई तक पहुँचा जा सकता है। जब मनुष्य बाहर की दुनिया में प्रिय और अप्रिय दोनों को समान भाव से ले, तभी उसकी प्रवृत्ति अपने अन्दर विद्यमान शुद्ध चैतन्य स्वरूप ब्रह्म की ओर होगी, जिसे जानकर उसकी बुद्धि स्थिर और भ्रान्तिरहित हो सकेगी। समत्व की भावना मनुष्य को ईश्वर के निकट ले जाती है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। २१ ।।

बाह्य स्पर्शेषु (बाहर के विषयों के सम्पर्क में), असक्तात्मा (जो आसक्त नहीं है), आत्मनि (आत्मा में स्थित), यत् (जो ध्यानजनित=सात्त्विक), सुखम् (आनन्द है)[तत्=उसको], विन्दति, (प्राप्त होता है) सः (वह), ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्म के साथ युक्त होने वाला), अक्षयम्, सुखम्, अश्नुते (अक्षय, आनन्द को, प्राप्त करता है)।

प्रश्न 19- अक्षय सुख का उपभोग कौन करता है ?

उत्तर - जिस व्यक्ति की रुचि इन्द्रियों और उनके विषयों के बाहरी स्पर्शों में नहीं होती उसे अपने अन्दर सुख मिलता है। ऐसे व्यक्ति की आत्मा ब्रह्म से युक्त हो जाती है और उसे कभी न नष्ट होने वाला (अक्षय) सुख प्राप्त होता है।

गीता मनुष्य को सुख न चाहने के लिए नहीं कहती। वह उसे स्थायी सुख पाने का मार्ग दिखाती है। जब मनुष्य यह जान लेता है कि बाहरी विषयों में स्थायी सुख नहीं है, तब वह स्वभावतः सुख पाने के लिए अन्दर की ओर मुड़ता है। योग की साधना से मनुष्य की आत्मा ब्रह्म से युक्त हो जाती है। उस ब्रह्म को पाकर ही मनुष्य को ऐसा सुख मिलता है जो कभी नष्ट नहीं होता। गीता के अनुसार मनुष्य ब्रह्म को पाकर इसी जीवन में शाश्वत सुख पा सकता है किन्तु वह सुख उसे तभी मिलेगा जब वह अपने मन को अपने अन्दर आत्मा की ओर ले जायेगा।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। २२ ।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!) ये, संस्पर्शजा, भोगाः (जो ये, इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले, भोग हैं) ते (वे [यद्यपि विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं तो भी]), हि, दुःख, योनयः, एव (निःसन्देह, दुख के, हेतु, ही हैं और), आद्यन्तवन्तः (आदि तथा अन्तवाले हैं अर्थात् अनित्य हैं), बुधः, तेषु, न, रमते (बुद्धिमान् पुरुष, उसमें, नहीं, रमता)।

प्रश्न 20- बुद्धिमान् विवेकी पुरुष किस में नहीं रमते ?

उत्तर - जो इन्द्रियों और विषयों के संयोग से उत्पन्न होने वाले भोग (सुख) हैं, वे चाहे विषयी पुरुषों को सुखरूप भासते हैं, वे निःसन्देह दुःख देने वाले ही हैं, क्योंकि उनका आदि व अन्त होता है। जो सुख अस्थिर है वह निश्चित रूप से दुःख का हेतु है। अतः विवेकशील पुरुष इस अस्थिर सुख में रमण नहीं करते।

गीता प्रबोधनी में इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- संसार के सभी सुख, दुःख की अपेक्षा से हैं। कोई भी सुख निरन्तर नहीं रहता, क्योंकि सांसारिक सुखों में निरन्तर सुख देने की शक्ति ही नहीं है। निरन्तर सुख देने की शक्ति केवल मोक्ष के अखण्ड रस में ही है। संसार के प्रत्येक सुख भोग का परिणाम दुःख होता है- यह नियम है।

सांसारिक सुख स्वयं का भी साथी नहीं है। इसलिए विवेकी साधक सांसारिक भोगों की प्राप्ति में सुखी और अप्राप्ति में दुःखी नहीं होता।

सांसारिक सुखभोग से थकावट आती है और पारमार्थिक सुख से विश्राम मिलता है। सांसारिक सुख सापेक्ष और पारमार्थिक सुख निरपेक्ष है। जब मनुष्य को नींद आती है तब वह बड़े से बड़े सांसारिक सुख का त्याग करके सो

जाता है सोने से उसकी थकावट मिटती है, विश्राम मिलता है और ताज़गी आती है। यदि वह सोये नहीं तो पागल हो जाये। इसी प्रकार मोक्ष का सुख जब मिलता है तब वह सुख विश्राम आनन्द देता है, जो स्थायी होता है। इस लिए विवेकी पुरुष सांसारिक सुख के स्थान पर पारमार्थिक सुख की प्राप्ति में आनन्दित होते हैं।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।। २३

यः (जो साधक), इह (इस मनुष्य शरीर में), शरीर, विमोक्षणात्, प्राक्, एव (शरीर का, नाश होने से, पहले-पहले, ही), काम-क्रोधोद्भवम्, वेगम् (काम-क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को) सोढुम्, शक्नोति (सहन करने में, समर्थ हो जाता है), सः, नरः, युक्तः (वही, पुरुष, योगी है), सः, सुखी (वही, सुखी है)।

प्रश्न 21- मनुष्य किस वेग को सहन करने से सुखी होता है?

उत्तर - श्री कृष्ण जी ने जिस प्रकार के 'कर्मयोगी' का चित्र खींचा है, क्या वह इस जन्म में सम्भव है- इस शंका का अर्जुन के मन में उठना स्वाभाविक है। इसलिए श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''शरीर के छूटने से पहले, जो 'काम' और 'क्रोध' से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर सकता है अर्थात् काम और क्रोध के वशीभूत नहीं होता, वही योगी है और वही मनुष्य सुखी है।''

'काम' और 'क्रोध' का नाम यहाँ विशेष प्रयोजन से लिया गया है। हमारी सब इच्छाएँ, कामनाएँ तो 'काम' हैं। इच्छाओं की पूर्ति में जब रुकावट होती है, तब 'क्रोध' उत्पन्न होता है। कर्म-योगी का लक्ष्य इन दोनों को वश में कर लेना है। जो व्यक्ति इन दोनों को वश में कर लेता है वही योगी है, वही ही सुखी है।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। २४।।

अः (जो पुरुष), एव (निश्चय करके), अन्तः सुखः (अपने अन्दर सुख मानने वाला), अन्तरारामः (आत्मा में ही रमण करने वाला है), तथा यः, अन्तर्ज्योतिः (तथा जो, अपने भीतर ही ज्योति देखने वाला है), सः, ब्रह्मभूतः (वह, ब्रह्ममय हुआ), योगी (योगी), ब्रह्मनिर्वाणम्, अधिगच्छति (महान् मुक्ति को, पा जाता है)

प्रश्न 22- कौन योगी ब्रह्म-निर्वाण को पा जाता है?

उत्तर - जो व्यक्ति बाहर के विषयों में सुख खोजने के स्थान में अपने भीतर ही सुख पा जाता है, अपने अन्तर में रमण करता है, अपने भीतर ही ज्योति को पा लेता है वह योगी, जिस प्रकार अग्नि-प्रविष्ट लोह-गोलक अग्निमय हो जाता है, जिस प्रकार सूर्य-प्रतिबिम्बित दर्पण सूर्य-भाव को प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार ब्रह्मभूत होकर ब्रह्मनिर्वाण पाता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। २५।।

क्षीणकल्मषाः (जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं), छिन्नद्वैधाः (जिसके सब संशय ज्ञान के द्वारा निवृत्त हो गये हैं, अर्थात् जिनकी द्वैध बुद्धि छूट गई है, जो सब में समान बुद्धि से बरतते हैं), सर्वभूतहिते, रतः (जो सब प्राणियों के हित में, लगे रहते हैं), यतात्मानः (जिनका जीता हुआ मन निश्चल भाव से परमात्मा में स्थित है), ऋषयः (ऋषि लोग), ब्रह्मनिर्वाणम्, लभन्ते (महान् मुक्ति को, प्राप्त करते हैं)

प्रश्न 23- परमात्मा के परम आनन्द को कौन पा लेते हैं?

उत्तर - जिनका शरीर मन-बुद्धि-इन्द्रियों सहित वश में है, जो सम्पूर्ण प्राणियों के हित में लगे रहते हैं, जिनके सम्पूर्ण संशय मिट गये हैं, जिनके सम्पूर्ण पाप धुल (नष्ट)गये हैं, वे विवेकी साधक परमात्मा के परम आनन्द को पा लेते हैं।

डॉ. राधा कृष्णन् जी ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है-

''सर्वभूतहिते रतः'' जो आत्मा ज्ञान और शान्ति को प्राप्त कर लेती है वही आत्मा प्रेममयी और करुणामयी हो जाती है। जो मनुष्य सारे अस्तित्व को परमात्मा में देखता है, वह पतितों तथा अपराधियों में भी ब्रह्म को देखता है। वह उनके साथ भी गम्भीर प्रेम और सहानुभूति करते हुए उनके पास होता है। वह पण्डित और चाण्डाल दोनों में भेद नहीं मानता।

दूसरों का भला करना, उन्हें भौतिक सुविधायें प्राप्त कराना या उनके रहन-सहन के स्तर को उठाना नहीं है। यह दूसरों को उनकी सच्ची प्रकृति को पहचानने और उन्हें सच्चा सुख प्राप्त करने में सहायता देना है। उस शाश्वत ब्रह्म का, जिसमें हम सब निवास करते हैं, चिन्तन अपने साथी प्राणियों की सेवा की भावना का उत्साह और पुष्टि प्रदान करता है। सारे कार्य भगवान् के लिए हैं।

गीता में धर्म के वैयक्तिक और सामाजिक दोनों पक्षों पर जोर दिया

गया है। वैयक्तिक रूप से हमें अपने अन्दर ब्रह्म की खोज करनी चाहिये और उसे मानव में रमने देना चाहिये। सामाजिक दृष्टि से समाज को ब्रह्म के प्रति समर्पित होने का भाव समझाना चाहिये। व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्रता और विलक्षणता में पनपना चाहिये और उसे प्रत्येक व्यक्ति के, यहाँ तक कि क्षुद्रतम व्यक्ति के गौरव को भी पहचानना चाहिये। मनुष्य को केवल आत्मा के जगत् तक ऊपर आरोहण नहीं करना है, अपितु जन्तु-जगत् तक नीचे भी उतरना है।

इसी उद्देश्य को सम्मुख रखते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने आर्य समाज का नौवां नियम लिखा है- हमें केवल अपनी उन्नति में ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये बल्कि सब की उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। २६ ।।

काम क्रोधवियुक्तानां (जो काम तथा क्रोध से रहित हो गये हैं), यतचेतसाम् (जिन्होंने अपने चित्त को संयत वश में कर लिया है), विदितात्मनाम् (जिन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया है अर्थात् आत्मदर्शी), यतीनाम् (ज्ञानी पुरुषों के लिए), अभितः (सब ओर से), ब्रह्मनिर्वाणम्, वर्तते (महान् मुक्ति, होती है)।

प्रश्न 24- परमात्मा का परम आनन्द (ब्रह्म निर्वाण) किन के निकट विद्यमान रहता है?

उत्तर - जिन तपस्वी आत्माओं (यतियों) ने अपने आप को काम और क्रोध से मुक्त कर लिया है, जिन्होंने अपने मन को अपने वश में कर लिया है और जिन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया है, परमात्मा का परम आनन्द (ब्रह्मनिर्वाण) उनके निकट ही विद्यमान् रहता है, अर्थात् वे आत्मा की चेतना में जीवित रहते हैं। यहाँ इस संसार में ही आनन्दमय अस्तित्व की सम्भावना सूचित की गई है।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।। २७।।

बाह्यान्, स्पर्शान् (बाहर के विषय भोगों का न चिन्तन करता हुआ), बहिः, एव, कृत्वा (बाहर, ही, निकालकर), च (और) चक्षुः, भ्रुवोः, अन्तरे (नेत्रों की दृष्टि को, भृकुटी के, मध्य में स्थित करके तथा) नासाभ्यन्तर-चारिणौ (नासिका में विचरने वाले),प्राणापानौ, समौ (प्राण और अपान वायु को, सम), कृत्वा (करके)।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।। २८।।

यतेन्द्रियमनोबुद्धिः (जिसने मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों को जीत लिया है), यः (जो), मोक्षपरायणः, मुनिः (मोक्ष के लिए कटिबद्ध, परमेश्वर को सदा मनन करने वाला), विगतेच्छाभयक्रोधः, सः (वह इच्छा, भय, क्रोध से विगत हट गया है), सदा, मुक्तः, एव (सदा, मुक्त, ही है)।

प्रश्न 25- सदा मुक्त कौन होता है?

उत्तर - डॉ. राधा कृष्णन् जी ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया है - सब बाह्य विषयों को बाहर ही रोककर, दृष्टि को भौहों के बीच में स्थिर करके नासिका में चलने वाले अन्दर आने, जाने और बाहर निकलने वाले श्वासों को समान करके, इन्द्रियों, मन और बुद्धि को वश में कर लेने वाला, मोक्ष पाने के लिए कटिबद्ध तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित मुनि सदा मुक्त ही रहता है।

"जब मनुष्य अपने ध्यान को दोनों आँखों के बीच मध्य बिन्दु पर केन्द्रित करता है, तब ज्योति अपने आप फूट पड़ती है" यह बुद्धि के साथ संयोग का प्रतीक है, जिससे आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है।

स्वामी रामदेव जी के अनुसार :- उपर्युक्त दो श्लोकों में जिस स्थिति का वर्णन है, वह संन्यासमार्गी के लिए ज़्यादा उपयुक्त है। कर्मयोगी भी इसे करे तो उससे कोई विरोध नहीं। वस्तुतः दोनों का ध्येय एक ही है।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।। २९

माम् (मुझ को), यज्ञतपसाम्, भोक्तारम् (सब यज्ञ और तपों को, भोगने वाला), सर्वलोकमहेश्वरम् (सब लोगों के महेश्वर को), सर्वभूतानाम्, सुहृदम् (सब प्राणियों का, सुहृद), ज्ञात्वा, शान्तिम्, ऋच्छति (जानकर, शान्ति को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 26- शान्ति कौन प्राप्त करता है?

उत्तर - यहाँ पर श्री कृष्ण जी अपने मित्र अर्जुन को यह बताना चाह रहे हैं कि "मैं क्यों इतना सुखी हूँ, मुझे इतनी शान्ति क्यों प्राप्त है?" श्री कृष्ण जी कह रहे हैं-

"हे अर्जुन! आज इस युग में मेरे सहस्रों अनुयायी हैं, उनमें तू भी एक है (**भक्तोऽसि मे सखा चेति** गीता ४/३) तुम देखो कि मैं कितना सुखी हूँ और

मुझे कितनी शान्ति प्राप्त है, समाज इस बात को देख कर उत्साहित होगा, उन्हें भी शान्ति प्राप्त होगी, इसलिए कहता हूँ-

''मैं अपने यज्ञ और तपों का फल इसी लोक में प्राप्त कर रहा हूँ। आज के जितने भी लोक नायक हैं, मैं उनका महानायक हूँ। यह लोकनायकता मुझे इसलिए प्राप्त हुई है कि मैं प्राणीमात्र का सुहृद हूँ। इस प्रकार मेरे हृदय की शान्ति को देखकर वे भी प्राणीमात्र के हितैषी बनकर अनासक्ति-योग से शान्ति प्राप्त कर सकेंगे। जो भी इस मार्ग पर चलता है, वह शान्ति पाता है।''

पं. तुलसी राम स्वामी जी ने अपने गीता भाष्य में इस श्लोक के सम्बन्ध में यह लिखा है- श्री कृष्ण चन्द्र जी ने अपने को यज्ञ और तप के फल का भोगने वाला और सब लोगों से अधिक ऐश्वर्य वाला और प्राणी मात्र का मित्र कहा है और यह भी कहा है कि जो लोग मुझको ऐसा जानते हैं, वे शान्ति को प्राप्त होते हैं, इससे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण जी अपने को ईश्वर नहीं कहते, बल्कि यज्ञ और तप के फलों का भोक्ता (जीव) जानते हैं। उपनिषदों में और वेदों में जीवों को भोक्ता और ईश्वर को अभोक्ता एवं केवल साक्षी कहा है। जैसा कि ''**तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति**'' जिसका अर्थ यह है कि जीवात्मा - परमात्मा भेद से दो आत्माएँ हैं उन दोनों में से एक स्वाद मानकर फल को भोगता है और दूसरा परमात्मा फल को न भोगता हुआ केवल साक्षीमात्र है। यह वचन ऋग्वेद, श्वेताश्वतरोपनिषद् तथा अन्य भी कई स्थानों में उपलब्ध है तथा गीता में भी इसी आशय के श्लोक हैं। अब रही यह बात कि यदि कृष्ण जी अपने को ईश्वर नहीं समझते तो उन्होंने क्यों कहा कि ''मुझको जानकर शान्ति मिलती है'' इसका उत्तर यह है कि भ्रम में पड़े हुए अशान्तचित्त संसारी जनों को जब कभी ऐसे पुरुष मिलते हैं, जो पूर्व जन्मों में यज्ञ और तप कर आये हैं जिनका सामर्थ्य सर्वसाधारण से अधिक है, जो सर्वसाधारण का हित करने वाले मित्र हैं, जैसे कि श्री कृष्ण जी, इसके पथ प्रदर्शक पाकर ही तो वास्तव में अशान्त पुरुष को शान्ति मिलती है।

'यज्ञ' उस काल के प्रचलित कर्मकाण्ड का सूचक है। 'तप' उस काल के प्रचलित ज्ञान काण्ड का सूचक है।

सारांश या सन्देशः- संन्यास व कर्मयोग दोनों की ही महत्ता का श्रवण अर्जुन को संशययुक्त कर देता है कि जीवन में श्रेय प्राप्ति के लिए वह संन्यास का अवलम्बन करे अथवा कर्मयोग के अनुसार युद्ध रूपी कर्तव्य में डटा रहे।

वस्तुतः संन्यास के उचित स्वरूप को न जान पाने के कारण सांख्य (संन्यास) और योग (कर्मयोग) इन दोनों मार्गों का लक्ष्य एक ही है इस तत्त्व को न समझ पाने के कारण ही अर्जुन अपने कर्तव्य का निर्धारण नहीं कर पा रहा है।

अतः श्री कृष्ण जी उसकी सहायता करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! कर्मयोग संन्यास से सरल व श्रेष्ठतर है। कर्मयोग द्वारा तू अपना प्रत्येक कर्म ब्रह्म के लिए अर्पित करता हुआ शीघ्र ही परा शान्ति को प्राप्त कर सकता है। साथ ही इस अध्याय में यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म-संन्यास का अर्थ कर्मत्याग नहीं वरन् कर्मबन्धन से मुक्ति है अर्थात् कर्म करते हुए भी कर्मयोगी किस प्रकार अकर्ता या संन्यासी होता है। इसी के विवेचन में, अन्त में प्राणायाम द्वारा (श्लोक संख्या 27) चित्त को स्थिर करने के बारे में उल्लेख किया गया है।

गीता के समय कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड का पारस्परिक विवाद चल रहा था। कर्मकाण्डी ज्ञानकाण्डियों का खण्डन करते थे, ज्ञानकाण्डी कर्मकाण्डियों का खण्डन करते थे। गीता के बहुत बाद भी यह विवाद जारी रहा। आचार्य शंकर ज्ञानकाण्डी थे, उन्होंने गीता की ज्ञानपरक व्याख्या की। मण्डनमिश्र आदि मीमाँसक कर्मकाण्डी थे, वे यज्ञादि पर बल देते रहे। गीता के समय और बाद में भी देश में ये दो पक्ष बने रहे। ज्ञानकाण्डी कहते कि बिना 'ज्ञान' के 'मोक्ष' नहीं, कर्मकाण्डी कहते कि बिना 'कर्मकाण्ड' के 'स्वर्ग' नहीं।

गीता का विचार समन्वयात्मक रहा। श्री कृष्ण जी ने 'कर्मकाण्ड' के 'कर्म' के विचार को ले लिया , यह स्वीकार किया कि कर्म के बिना जीवन नहीं चल सकता, यह भी स्वीकार किया कि जीवन ही कर्ममय है, यज्ञमय है, परन्तु क्योंकि कर्म बन्धन में डाल देता है, इसलिए उन्होंने 'ज्ञानकाण्ड' से कर्म के फल को त्याग देने के विचार को, संन्यास के विचार को ले लिया और इस प्रकार कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का समन्वय करके 'निष्काम कर्म' के एक नवीन विचार को जन्म दिया।

श्री गुरुदत्त जी ने इस पाँचवें अध्याय के बारे में अपने विचार इस प्रकार रखे हैं-

इस पाँचवें अध्याय में प्रवचन का आरम्भ कर्मों के संन्यास तथा निष्काम भाव से कर्म करने में विवाद से किया गया है। गीता के प्रवक्ता ने अन्त में यह बताया है कि कर्म छूट नहीं सकते। इस कारण कर्म करने वाला मन को बुद्धि से नियन्त्रण में कर, उसे परिश्रम से यज्ञरूप में कार्य करने पर लगा दिया जाए तो

इस जीवन में ही मोक्ष जैसा शान्ति और सुख प्राप्त हो सकता है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'कर्म-संन्यास-योग' नामक पंचम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ षष्ठोऽध्यायः
ध्यान - योग या आत्म-संयम-योग

प्रधान विषय -

(1) निष्काम कर्मयोग का विषय और योगारूढ़ पुरुष के लक्षण। (श्लोक संख्या 1 से 4 तक)।

(2) आत्मोद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत्प्राप्तिवाले पुरुष के लक्षण। (श्लोक संख्या 5 से 10 तक)।

(3) विस्तार से ध्यानयोग का विषय (श्लोक संख्या 11 से 32 तक)।

(4) मन के निग्रह का विषय (श्लोक संख्या 33 से 37 तक)।

भूमिका :- गीता के टीकाकार तीन दृष्टियों को लेकर चले हैं। शंकराचार्य आदि विद्वान् गीता को ज्ञान योग का ग्रन्थ मानते हैं। रामानुजाचार्य, माध्वाचार्य आदि विद्वान् गीता को भक्तियोग का ग्रंथ मानते हैं और तिलक जैसे विद्वान् गीता को कर्मयोग का ग्रन्थ कहते हैं। वास्तव में गीता में इन तीनों मार्गों का प्रतिपादन किया गया है और तीनों द्वारा जीवन में शान्ति की प्राप्ति होती है और जो लोग इन मार्गों में विरोध समझते हैं वे गीता के तत्त्व को नहीं समझते।

प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक रचना भिन्न-भिन्न होती है। कोई ज्ञान मार्ग को, कोई भक्ति मार्ग को, कोई कर्ममार्ग को सरल समझता है। जिसकी रूचि जिस मार्ग की ओर है, वह उसी की ओर चले, क्योंकि संसार के सब जीव कर्म करते हैं, कर्म से विरत होना कठिन है, इसलिए कर्मयोग सबसे अधिक व्यावहारिक है। उसी कर्मयोग का पहले अध्यायों में वर्णन किया गया है। इस अध्याय में यह बतलाया गया है कि 'कर्मयोग' का साधन क्या है ? 'कर्मयोग' का अर्थ है- 'काम' तथा 'क्रोध' को त्याग देना। यह तभी सम्भव है जब इन्द्रियों का निग्रह किया जाये और और निग्रह 'ध्यान' से किया जा सकता है। 'ध्यान कैसे किया जाये' इसका वर्णन इस अध्याय में किया गया है। इसी कारण छठे अध्याय का शीर्षक 'ध्यान योग' या 'आत्मसंयम योग' है।

श्री कृष्णोवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।। १।।

यः, कर्मफलम्, अनाश्रितः (जो पुरुष, कर्मफल का, आश्रय न लेकर), कार्यम्, कर्म, करोति (करने योग्य, कर्म, करता हैं), सः संन्यासी, च, योगी (वह, संन्यासी तथा योगी है), च (और केवल), निरग्निः, न (अग्नि का त्याग करने वाले संन्यासी नहीं हैं),च, अक्रियः न (और, न, केवल क्रियाओं का त्याग करने वाला योगी है)

प्रश्न 1- संन्यासी या योगी कौन है?

उत्तर - जो मनुष्य कर्मफल की इच्छा न करता हुआ उस काम को करता रहता है, जो उसे करना चाहिये (अर्थात् जो शास्त्र विहित है) ऐसा व्यक्ति संन्यासी या योगी है। वह संन्यासी नहीं जो यज्ञ की अग्नि जलाना बन्द कर देता है और सभी कर्मों को छोड़ देता है, वह संन्यासी या योगी नहीं है।

यहाँ पर श्री कृष्ण जी उन निठल्ले बैठ कर कोई कर्म भी न करने वालों को लताड़ते हुए कहते हैं कि वह संन्यासी योगी नहीं है, जो अग्निहोत्र आदि कार्य भी छोड़ देता है और सभी प्रकार के धार्मिक कार्यों को भी छोड़ देता है अर्थात् कर्मफल में अनासक्त होकर अपने कर्तव्य का पालन करने वाले को ही संन्यासी या योगी कहा है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।। २।।

पाण्डव (हे अर्जुन!) यम्, संन्यासम्, इति, प्राहुः (जिस बात को, संन्यास, ऐसा, कहते हैं), तम्, योगम्, विद्धि (उसी को, तू, योग जान), हि (क्योंकि), असंन्यस्तसंकल्पः (संकल्प को न त्यागने वाला), कश्चन, योगी, न, भवति (कोई भी, योगी, नहीं, होता)।

प्रश्न 2- क्या संकल्पों का त्याग किये बिना मनुष्य योगी हो सकता है?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं, ''हे अर्जुन! लोग जिसको संन्यास - ऐसा कहते हैं, उसी को तुम योग समझो (क्योंकि संन्यासी सभी संकल्पों के फल की आशाओं को, कर्म का त्याग करके छोड़ देता है तभी वह संन्यासी कहलाता है) कोई भी कर्म योगी जब तक संकल्पों का त्याग नहीं करता, तब तक वह कर्म-योगी नहीं होता।''

''जब तक मनुष्य के अन्तःकरण में संसार की सत्ता, महत्ता और अपनापन है, तब तक वह संकल्पों का त्याग नहीं कर सकता। संकल्पों का त्याग किये बिना मनुष्य योगी नहीं हो सकता।''

लोक व्यवहार में धन, पुत्र प्राप्ति आदि कर्म करने के लिए जब यजमान यज्ञ प्रारम्भ करता है, तब संकल्प वाक्य पढ़ता है- **'अमुक-फल-सिद्धयर्थम् अमुक कर्म करिष्ये'** यह संकल्प कहलाता है। संन्यास में इस प्रकार के संकल्प का भी त्याग करना पड़ता है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।। ३।।

योगम् (योग में = कर्मयोग को), आरुरुक्षोः (ऊपर चढ़ने की इच्छा वाले), मुनेः (मननशील व्यक्ति के लिए) कर्म (निष्काम भाव से करना ही), कारणम् (कारण) उच्यते (कहा जाता है), [और योगारूढ़ हो जाने पर], तस्य, योगारूढस्य, (उस, योगारूढ़ पुरुष का), शमः (कर्मफल के संकल्पों का शमन), एव (ही) [कल्याण में] कारणम्, उच्यते (कारण कहा जाता है)।

प्रश्न 3- साधक योगारूढ़ होकर क्या प्राप्त करता है?

उत्तर - जब साधक 'कर्मयोग' के लक्ष्य को पाने के लिए ऊपर चढ़ रहा होता है, तब उसका साधन 'कर्म' होता है। जब वह लक्ष्य पर आरूढ़ हो जाता है, वहाँ तक पहुँच जाता है तब वहाँ टिके रहने का साधन शम अर्थात् शान्ति होता है।

'कर्म' तो रजोगुण का प्रतीक है, 'शम' सत्त्वगुण का प्रतीक है। 'कर्म' में चंचलता है, शम में स्थिरता है। लक्ष्य पर पहुंचने के बाद 'कर्म' नहीं रहता, 'कर्म' का 'शमन' हो जाता है। 'कर्म' में अशान्ति है, परन्तु उसका लक्ष्य शान्ति है।

जब कर्म करेगा तभी कर्म के फल का त्याग कर सकेगा। यदि कर्म ही नहीं करेगा तो किस के फल का त्याग करेगा? इसी कारण गीता के प्रवक्ता कहते हैं कि कर्म के हेतु फल का त्याग करोगे तो तुम्हारा पद कर्मयोगी का हो जायेगा। फल की इच्छा का त्याग ही चित्त की शान्ति का कारण हो जाता है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।। ४।।

यदा (जब), न, इन्द्रियार्थेषु (न तो, इन्द्रियों के भोगों में), न, कर्मसु, हि (न,

कर्मों में, ही), अनुषज्जते (आसक्त होता है), तदा (तब), सर्वसंकल्पसंन्यासी (सब संकल्पों का त्याग देने वाला पुरुष), योगारूढः उच्यते (कर्मयोग पर पहुँचा हुआ, कहा जाता है)।

प्रश्न 4- योगारूढ़ पुरुष के क्या लक्षण हैं? या मुनि योगारूढ़ कब कहलाता है?

उत्तर - जिस समय, साधक न इन्द्रियों के विषय में आसक्त होता है और न कर्मों में ही आसक्त होता है, उस समय वह समस्त संकल्पों का त्यागी योगारूढ़ कहा जाता है।

जिस प्रकार भूख मिट जाने पर भोज्य पदार्थों का थाल भरा हुआ सामने पड़ा हो तो भी खाने की इच्छा नहीं होती। इसी प्रकार पूर्वोक्त ब्रह्म निर्वाण पाने वाले के सब संकल्प सब प्रकार की भूख (शरीर यात्रा के अतिरिक्त) मिट जाती है वह आप्तकाम हो जाता है। इस सर्व-संकल्प-संन्यास का ही नाम शम है। इसको प्राप्त हो जाने वाले पुरुष को उस समय, योगारूढ़ कहते हैं।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।। ५

आत्मना, आत्मानम् (अपने द्वारा, अपना), उद्धरेत् (उद्धार करे और), आत्मानम्, न, अवसादयेत् (अपने को, अधेगति में, न डाले), हि (क्योंकि), आत्मा एवं, आत्मनः, बन्धुः (आप, ही तो, अपना, मित्र है), आत्मा, एव, आत्मनः, रिपुः (आप, ही, अपना, शत्रु है)।

प्रश्न 5- आत्मोद्धार कैसे किया जाता है?

उत्तर - मनुष्य को चाहिये कि वह अपना उद्धार अपने-आप ही करे, अपने-आपको कभी नीचे न गिरने दे। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है, स्वयं ही अपना शत्रु है।

इस श्लोक में मैं श्री कृष्ण जी के इस कथन से सहमत हूँ कि मनुष्य अपना उद्धार स्वयं करे, अपने आप को नीचे न गिरने दे। वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु है। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि मनुष्य अपने सुख-दुःख का स्वयं ही उत्तरदायी है तो ईश्वर की उसे तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती। फिर ईश्वर भक्ति, साधना, यज्ञ, पूजा आदि का क्या महत्त्व है? प्रश्न यह है कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है या परतन्त्र? इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीव कर्म करने में स्वतंन्त्र है, परन्तु यह स्वतन्त्रता अमर्यादित नहीं है,

वह मर्यादित है, इसलिए जीवात्मा अपना उद्धार करता है तो अपना मित्र है और नहीं करता है तो अपना शत्रु है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।। ६।।

येन (जिसने) आत्मना, आत्मा, जितः (आत्मा से, आत्मा को, जीत लिया है), तस्य, आत्मन, आत्मा एव, बन्धुः (उस, जीवात्मा का, तो वह मित्र है), तु (और) अनात्मनः (जिसने आत्मा को नहीं जीता), आत्मा, एव (आप, ही) शत्रुवत्, शत्रुत्वे, वर्तेत (शत्रु के सदृश, शत्रुता में, वर्तता है)।

प्रश्न 6- जीवात्मा अपना मित्र और शत्रु कैसा है?

उत्तर - जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है, उसका तो वह अपने आप ही मित्र है और जिसके द्वारा मन तथा इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है, उसके लिए वह आप ही शत्रु के सदृश शत्रुता में बर्तता है।

इन्द्रियों के विषय में अनासक्ति और फिर उन विषयों को प्राप्त करने में यत्न करना ये दोनों कार्य मनुष्य स्वयं करता है, इसमें कोई दूसरा उसकी सहायता नहीं करता। इसे ही संयम कहते हैं। यह संयम बाहर से मनुष्य पर बलात् नहीं लगाया जा सकता। इस कारण गीता के प्रवक्ता श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मनुष्य स्वयं ही अपना कल्याण कर सकता है। जो संयम बाहर से आरोपित होता है, वह संयम नहीं कहाता। यह दासता है। इससे मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता। संयमी मनुष्य ही कर्म योगी कहा जाता है। इसी कारण कहा है कि मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र, स्वयं ही अपना शत्रु हो जाता है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।। ७।।

शीतोष्णसुखदुःखेषु (सर्दी, गर्मी और सुख-दुःख आदि में), तथा (और), मानापमानयोः (मान और अपमान में), प्रशान्तस्य (जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ भली भाँति शान्त हैं ऐसे), जितात्मनः (जिसने मन को जीत लिया है), परमात्मा, समाहितः (परमात्मा, जिसमें सम्यक प्रकार से स्थित है)।

प्रश्न 7- शरीर, मन, इन्द्रियादि को जीतने का फल क्या है?

उत्तर - जिसने अपने आप पर (शरीर, इन्द्रियों और मन पर) नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है। जिसका मन शान्त (कामनाओं से रहित) हो चुका है, जो व्यक्ति सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान-अपमान में एक समान अनुभव करता है, वह

परमात्मा में स्थित माना जाता है।

परमात्मा में स्थित का अभिप्राय यह है कि वह जीवात्मा बाहरी संसार से पृथक् होकर अपने में स्थित परमात्मा से युक्त हो जाता है।

परमात्मा सर्वव्यापक होने से प्राणी के शरीर में मन, बुद्धि के स्थान के समीप एक छोटे से स्थान पर रहता है। उस स्थान को गुहा कहते हैं। परमात्मा सर्वव्यापक होने से उस स्थान पर भी हैं, परन्तु जो जीवात्मा बाहर की इन्द्रियों के द्वारा बाहर के संसार से सम्बन्ध रखता है, वह समीप उपस्थित परमात्मा की ओर ध्यान नहीं कर सकता। जब जीवात्मा का इन्द्रियों द्वारा संसार से सम्पर्क छूट जाता है तो वह अपने ही समीप उपस्थित परमात्मा में युक्त हो सकता है। वही परमात्मा में स्थित होना है।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।। ८

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा (ज्ञान तथा विज्ञान से जिसका अन्तःकरण तृप्त है), कूटस्थः (जिसकी स्थिति विकार रहित है), विजितेन्द्रियः (जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है), समलोष्टाश्म काञ्चनः (जो मिट्टी के ढेले, पत्थर तथा स्वर्ण को समान समझता है), योगी, युक्तः, इति, उच्यते (वही, योगी, भगवान् के साथ जुड़ा हुआ, ऐसे, कहा जाता है।)

प्रश्न 8– परमात्मा को प्राप्त हुए पुरुष के क्या लक्षण हैं?

उत्तर – जिस योगी की आत्मा ज्ञान और विज्ञान द्वारा तृप्त हो गई है और जो कूटस्थ है अर्थात् अपरिवर्तनशील है, और जिसने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसके लिए मिट्टी का ढेला, पत्थर और स्वर्ण-खण्ड एक जैसे हैं, उसे योगयुक्त कहा जाता है। यही परमात्मा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।

ज्ञान तथा विज्ञान में श्री शंकराचार्य जी ने यह भेद किया है कि पुस्तकस्थ ज्ञान को 'ज्ञान' कहा है, उसी ज्ञान के व्यवहार में आने को विज्ञान कहा है,

कूटस्थ का अर्थ है– 'कूट' की तरह रहने वाला। कूट लुहार के उस लोहे को कहते हैं, जिस पर रखकर गर्म लोहा तपा कर कूटा जाता है। तपा लोहा ढल जाता है, परन्तु कूट नहीं ढलता, वह वैसे का वैसा बना रहता है। आत्मा भी जब इन्द्रियों के वेग से प्रभावित नहीं तब कूट की तरह अडिग रहने वाला कहलायेगा।

योगी को युक्त या योगमग्न तब कहा जाता है जब वह संसार के परिवर्तनों के ऊपर भगवान् में ध्यान लगाये हुए हो। इस प्रकार का योगी प्रतीतियों के पीछे

विद्यमान वास्तविकता के ज्ञान और अनुभव से तृप्त हुआ रहता है। वह संसार की वस्तुओं और घटनाओं से अप्रभावित रहता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।। ९।।

सुहृन्मित्रार्युदासीन (अच्छे हृदय वाला, मित्र, शत्रु और उदासीन), मध्यस्थ (दोनों पक्षों को मान्य) द्वेष्यबन्धुषु (जिससे द्वेष किया जाये और बन्धुगणों में) साधुषु, (धर्मात्मा, पुरुषों में) च, पापेषु, अपि (और, पापियों में, भी), समबुद्धिः, विशिष्यते (समान भाव रखने वाला, अत्यन्त श्रेष्ठ है)

प्रश्न 9– विशेष व्यक्ति किसे समझना चाहिये?

उत्तर – सुहृद् (हितैषी), मित्र, शत्रु, पक्षपात रहित, दोनों पक्षों को मान्य अर्थात् मध्यस्थ, दुनिया भर का द्वेष का पात्र (जो हम से द्वेष करे, वह शत्रु तथा हम जिससे द्वेष करें, वह द्वेष्य कहलाता है), बन्धु, सज्जन तथा पापी इन सबके प्रति समबुद्धि रखता है उसी व्यक्ति को विशेष व्यक्ति समझना चाहिये।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।। १०।।

यतचित्तात्मा (जिसने चित्त तथा आत्मा को वश में कर लिया है), निराशीः (आशा रहित और), अपरिग्रहः (संग्रह रहित), योगी (योगी), एकाकी, रहसि, स्थित (अकेला ही, एकान्त स्थान में, स्थित होकर), आत्मनम् (अपने मन को), सततम्, युञ्जीत (निरन्तर, लगावे)

प्रश्न 10– ध्यान योग की साधना कैसे करनी चाहिये?

उत्तर – योगी को चाहिये कि एकान्त में अकेला बैठकर अपने चित्त तथा आत्मा को वश में रखकर, वासना से रहित होकर, परिग्रह की भावना को छोड़कर, अपने मन को परमात्मा के साथ जोड़े।

ध्यान योग का अधिकारी वह है, जो अपने सुखभोग के लिए विभिन्न वस्तुओं का संग्रह नहीं करता, जिसके मन में भोगों की कामना नहीं है और जिसका अन्तःकरण तथा शरीर उसके वश में है। तात्पर्य है कि ध्यान योग के साधक का उद्देश्य केवल परमात्मा को प्राप्त करने का हो, लौकिक सिद्धियों को प्राप्त करने का नहीं।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अर्जुन को ध्यान योग का उपदेश देने का क्या औचित्य है? वह इसलिए कि अर्जुन पाप से डरते थे, युद्ध से नहीं। उन्हें युद्ध

से अधिक अपने कल्याण (श्रेय) की चिन्ता थी। गीता में (२/७, ३/२, ५/१) के अनुसार कल्याण के जितने मुख्य साधन है, उन सबका श्री कृष्ण जी गीता में वर्णन करते हैं। इसी कारण गीता मानव मात्र के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।। ११।।

शुचौ, देशे (शुद्ध, स्थान में), चैलाजिनकुशोत्तरम् (कुशा, मृगशाला और वस्त्र बिछे हैं जहाँ), न अत्युच्छ्रितम् (न बहुत ऊँचा है और), न, अतिनीचम् (न बहुत नीचा है), आत्मनः (अपने), आसनम्, स्थिरम्, प्रतिष्ठाप्य (आसन को, स्थिर, स्थापन करके)।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।। १२।।

तत्र, आसने, उपविष्य (उस, आसन पर, बैठकर) यतचिन्तेन्द्रिय, क्रियः (चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को, वश में रखकर), मनः, एकाग्रम्, कृत्वा (मन को, एकाग्र करके), आत्मविशुद्धये (अन्तःकरण की शुद्धि के लिए), योगम् युञ्ज्यात् (योग का अभ्यास करें)।

प्रश्न 11- ध्यान करने के उद्देश्य से योगी को कैसा आसन एवं कैसी स्थिति बनानी चाहिये ?

उत्तर – योगी को चाहिये कि वह स्वच्छ स्थान पर अपना स्थिर आसन बिछाकर ऐसी जगह जो न अधिक ऊँची हो, न अधिक नीची हो और आसन पर पहले कुशा, फिर मृगछाला और उस पर वस्त्र बिछाकर वहाँ मन को एकाग्र कर चित्त तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को रोक कर, आसन पर बैठकर आत्मशुद्धि अर्थात् अन्तःकरण या मन की शुद्धि के लिए योग में जुट जाये।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।। १३।।

कायशिरोग्रीवम्, समम्, अचलम्, धारयन् (शरीर, सिर और गले को समान, अचल धारण करके), च, स्थिरः (और, स्थिर होकर), स्वम् (अपनी), नासिकाग्रम् (नासिका के अग्रभाग पर), सम्प्रेक्ष्य (दृष्टि जमाकर), दिशः (दिशाओं को), अनवलोकयन् (न देखता हुआ)।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।। १४

ब्रह्मचारिव्रते (ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित), विगतभीः (भय रहित और), प्रशान्तात्मा (भली भाँति शान्त अन्तःकरण वाला), युक्तः (सावधान योगी), मनः (मन को), संयम्य (रोककर) मच्चितः (मुझ में चित्त वाला और), मत्परः (मेरे परायण होकर), आसीत (स्थित होवे)

प्रश्न 12- ध्यान योग की क्या विधि होनी चाहिये ?

उत्तर – ध्यान योगी को चाहिये कि वह अपने शरीर, सिर और ग्रीवा को एक समान अर्थात् आगे व पीछे झुका न हो इस प्रकार निश्चल धारण करता हुआ स्थिर होकर चारों और दिशाओं को न देखता हुआ अपनी नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर रखे। वह ध्यान योगी प्रशान्तात्मा रहे अर्थात् भली भाँति शान्त अन्तःकरण वाला होवे। वह किसी से भयभीत न हो। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करे। मन को संयम में करे। श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि जिस प्रकार मैंने प्रभु भक्ति से शान्ति तथा निर्भयता प्राप्त की है और जिस प्रकार मैं आज भी अपने कर्तव्य पालन में तत्पर हूँ, उसी प्रकार, हे अर्जुन! तुम भी मेरा अनुकरण करने में तत्पर हो जाओ अर्थात् अपने कर्तव्य को पहचानो और युद्ध कार्य के लिए उद्यत हो जाओ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।। १५।।

नियतमानसः (वश में किए हुए मन वाला), योगी (योगी) एवम् (इस प्रकार), आत्मानम् (अपने को) सदा (सदा)[परमात्मा में], युञ्जन् (लगाता हुआ) मत्संस्थाम् (मुझमें स्थित को) निर्वाणपरमाम् (परम निर्वाण वाली), शान्तिम्, अधिगच्छति (शान्ति को प्राप्त होता है)

प्रश्न 13- ध्यानयोग का फल क्या है ?

उत्तर – श्री कृष्ण जी अर्जुन को अन्तिम ध्येय के बारे में बताते हुए कहते हैं, '' हे अर्जुन! इस प्रकार अपने आपको सदा समाहित करता हुआ मन को वश में करने वाला योगी उस शान्ति को प्राप्त कर लेता है, जो योग साधन द्वारा मेरे अन्दर विद्यमान है और अन्त में उसे निर्वाण रूप अन्तिम ध्येय की प्राप्ति होती है।''

श्री गुरुदत्त जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है – योग का लक्ष्य है

जीवात्मा की सामर्थ्य को उन्नत करना। जैसे एक सैनिक की सामर्थ्य उसके उत्तम शस्त्रास्त्रों के होने से होती है और फिर उन शस्त्रास्त्रों को प्रयोग करने की विधि पर निर्भर होती है वैसे ही एक योगयुक्त आत्मा की सामर्थ्य है उसके करणों का उन्नत होना। आत्मा के करण है मन तथा बुद्धि। मन ज्ञान का संचय स्थान है और बुद्धि उस ज्ञान को कार्य-दिशा देने का यन्त्र है। जब दोनों उन्नत होते हैं तो जीवात्मा का सामर्थ्य उन्नत होता है। यह उन्नत होते हैं तो जीवात्मा का सामर्थ्य उन्नत होता है। इस उन्नत सामर्थ्य से जीवात्मा निर्भय होकर परमात्मा में स्थित होता है और फिर परमात्मा के आश्रय होकर परमशान्ति (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

गीता में ३/४२, ३/४३ में ही कहा जा चुका है कि इन्द्रियों से मन प्रबल है, मन से बुद्धि प्रबल है और बलवान् बुद्धि से मन को जीतकर कामनाओं पर काबू पाओ।

यहाँ, इस अध्याय में तदनुसार करने का उपाय बताया है। उपाय है योग। मन तथा बुद्धि को श्रेष्ठ बनाकर अर्थात् मन को श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त और बुद्धि को ठीक दिशा में ज्ञान का प्रयोग करने वाली बनाकर जीवात्मा को आनन्द स्वरूप परमात्मा में स्थित करने से जीवात्मा परम आनन्द को प्राप्त करता है।

वेदान्त दर्शन में कहा है- **आनन्दमयोभ्यासात्**- (ब्रह्मसूत्र १-१-१२) अर्थात् योगाभ्यास से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।। १६।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), योगः, न, तु, अति, अश्नतः (योग, न, तो, बहुत खाने वाले का), च (और), न, एकान्तम्, अनश्नतः (न, बिल्कुल न खाने वाले का), च (और), न, अति स्वप्नशीलस्य (न, बहुत, सोने के स्वभाव वाले का), च (और), न, जाग्रतः, एव, अस्ति (न, सदा, जागने वाले का, ही, सिद्ध होता है)।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।। १७

दुःखहा (दुःखों का नाश करने वाला), योगः (योग तो), युक्ताहारविहारस्य (जिसका, आहार तथा विहार नियमित है उसका), कर्मसु, युक्तचेष्टस्य (कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाला का), युक्तस्वप्नाव बोधस्य (जिसका सोना तथा

जागना नियमित है), भवति (होता है)।

प्रश्न 14- ध्यानयोगी के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर - डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सुन्दर ढंग से इस प्रकार दिया है -

हे अर्जुन! योग उसके लिए नहीं जो बहुत खाता है, न उसके लिए है जो बिल्कुल खाता ही नहीं है। यह उसके लिए भी नहीं है जो अत्यधिक सोता है, न उसके लिए है जो अधिक जागता रहता है। योग उसके लिए है जिसका आहार-विहार नियमित हो, जिसकी चेष्टायें नियमित हों, जिसका सोना-जागना नियमित हो, योग (ऐसे व्यक्ति में इस प्रकार का अनुशासित जीवन भर देता है जिससे वह) उसके दुःख दूर कर देता है।

'युक्ताहार विहार' का अर्थ है- इन्द्रियों का संयम। गीता की दृष्टि से इन्द्रियों के संयम का यह अर्थ नहीं है कि इन्द्रियों को विषयों से भूखा मार दिया जाय। जो लोग इन्द्रियों के संयम या इन्द्रिय निग्रह का अर्थ इन्द्रियों से काम न लेना मान लेते हैं, वे गीताकार के अभिप्राय को नहीं समझते। गीता तो 'युक्त' शब्द पर बल देती है। मनुष्य इन्द्रियों से काम ले, परन्तु कितना? इतना जितने को 'युक्त', - 'ठीक-ठीक' कहा जा सके। न इन्द्रियों का दास हो जाए, न इन्द्रियों को तरसाता ही रहे। जो व्यक्ति इन्द्रियों को विषयों से बचाने के लिए वन में भाग जाता है, वह जितेन्द्रिय नहीं पराजितेन्द्रिय है, वीर नहीं, कायर है। किसी ने ठीक ही कहा है- होंठ सी लेने से, जीभ काट लेने से मौन अवश्य सिद्ध हो सकता है, परन्तु वह सच्चा मौन नहीं है। सच्चा मौनी वही है जो वाक्-शक्ति अविकल होते हुए भी मुख से व्यर्थ के शब्द नहीं निकालता। गीता में 'युक्त-आहार-विहार' का यही अर्थ है।

स्वामी रामसुखदास जी ने इस पर बहुत सुन्दर टिप्पणी की है- इस श्लोक में मुख्य रूप से चार बातें कही हैं : (1) युक्त आहार-विहार, (2) युक्त कर्म (3) युक्त सोना (4) युक्त जागना। हमारे पास दिन में 24 घंटे होते हैं। इन चौबीस घण्टों की चार से भाग देने पर प्रत्येक कार्य के लिए छः-छः घंटे मिल जाते हैं।

(1) आहार विहार अर्थात् भोजन करना, घूमना फिरना एवं अन्य शारीरिक क्रियायें

(2) कर्म अर्थात् खेती, व्यापार, नौकरी आदि जीविका सम्बन्धी कार्यों के

लिए

(3) युक्त सोना अर्थात् उचित मात्रा में सोना।

(4) जागने अर्थात् भगवद्प्राप्ति के लिए जप, ध्यान, साधन-भजन आदि के लिए।

इन चार बातों के भी दो-दो बातें के दो विभाग हैं- एक विभाग 'उपार्जन' अर्थात् कमाने का है और दूसरा विभाग व्यय का है। युक्त कर्म और युक्त जागना- ये दो बातें उपार्जन की हैं। युक्त आहार-विहार और युक्त सोना- ये दो बातें व्यय की हैं। उपार्जन और व्यय- इन दो विभागों के लिए हमारे पास दो प्रकार की पूँजी हैं। (1) सांसारिक धन-धान्य (2) आयु

मनुष्य के पास पूंजी

धन धान्य		आयु	
व्यय	उपार्जन	व्यय	उपार्जन
आहार विहार	जीविका सम्बन्धी कर्म	सोना	जागना (साधना)

पहली पूँजी-धन-धान्य पर विचार किया जाये तो उपार्जन अधिक करना तो चल जायेगा पर उपार्जन की अपेक्षा अधिक व्यय करने से काम नहीं चलेगा। इसलिए आहार विहार में छः घंटे न लगाकर, चार घंटे से ही काम चला लें और खेती, व्यापार आदि में 8 घंटे लगा दें। तात्पर्य है कि आहार-विहार का समय कम करके जीविका सम्बन्धी कार्यों में अधिक समय लगा दें।

दूसरी पूँजी-आयु पर विचार किया जाये तो सोने में आयु व्यर्थ व्यय होती है अतः सोने में 6 घंटे न लगाकर 4 घंटे लगा दें और भजन ध्यान आदि में 8 घंटे लगा दें। तात्पर्य है कि जितना कम सोने से काम चल जाये, उतना चला ले, और नींद का बचा हुआ समय भगवान् के भजन ध्यान आदि में लगा दे। इस उपार्जन की मात्रा तो दिन प्रतिदिन बढ़ती ही रहनी चाहिये, क्योंकि हम यहाँ सांसारिक धन-वैभव आदि कमाने के लिए नहीं आये हैं बल्कि परमात्मा की प्राप्ति के लिए आये हैं।

दूसरी बात, जीविका सम्बन्धी कर्म करते समय भी भगवान् को स्मरण रखें और सोते समय भी भगवान् को स्मरण रखें। सोते समय यह समझे कि अब तक चलते-फिरते बैठकर भजन किया है। अब लेटकर भजन करना है। लेटकर भजन करते-करते नींद आ जाये तो आ जाय, पर नींद के लिए नींद नहीं लेनी है। इस प्रकार लेटकर भगवत्स्मरण करने का समय पूरा हो गया तो फिर उठकर

भजन-ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय करें और भगवत्स्मरण करते हुए भी काम-धन्धे में लग जाएँ, तो सबका सब काम-धन्धा भजन हो जायेगा।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। १८।।

विनियतम्, चित्तम् (अत्यन्त वश में किया हुआ, चित्त) यदा (जब), आत्मनि (अपने में), एव (ही), अवतिष्ठते (भली भाँति स्थित हो जाता है), तदा, (तब) सर्वकामेभ्यः, निस्पृहः (सब कामनाओं से, आकांक्षा रहित), युक्तः, इति, उच्यते (योगयुक्त है, ऐसा, कहा जाता है)।

प्रश्न 15- ध्यान योग की अन्तिम स्थिति को प्राप्त हुए पुरुषों के लक्षण क्या हैं?

उत्तर - जब अपने वश में किया हुआ चित्त केवल आत्मा में स्थित हो जाता है, तब वह सब कामनाओं से निस्पृह हो जाता है (उसे किसी कामना की आकांक्षा नहीं रहती)। ऐसे व्यक्ति को युक्त कहा जाता है (युक्त अर्थात् ध्यान से युक्त, ध्यान योगी कहलाता है)।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। १९।।

यथा (जिस प्रकार), निवातस्थः, दीपः (वायु रहित स्थान में स्थित, दीपक), न इङ्गते (चलायमान नहीं होता), सा (वैसी ही), उपमा (उपमा), आत्मनः, योगम्, युञ्जतः (आत्मा के, ध्यान योग में, जुड़े हुए) योगिनः (योगी के) यतचित्तस्य, स्मृता (जीते हुए चित्त की, कही गई है)।

प्रश्न 16- योगी के चित्त की स्थिति का दृष्टान्त श्री कृष्ण जी ने किस से किया है?

उत्तर - जैसे वायुविहीन स्थान में दीपक की लौ हिलती नहीं, वैसे ही योग में लगे हुए योगी का चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त को स्थिर करने के लिए योग ही साधन है। योगदर्शन में कहा है-

''योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'' चित्त की वृत्तियों को रोकना योग है। अतः चित्त की वृत्तियों को नियन्त्रित करने से चित्त आत्मा के कल्याण में स्थित हो जाता है। जैसे दीपक की लौ निश्चल वायु में डोलती नहीं वैसे ही योगी की आत्मा स्थिर हो जाती है। अतः यहाँ श्लोक संख्या १८में **'आत्मन्येव अवतिष्ठते'** तथा **'आत्मनः योगम् युञ्जतः'** से अभिप्राय जीवात्मा से है। कुछ भाष्यकारों ने

इन शब्दों से अभिप्राय परमात्मा लिया है, ऐसा करना ठीक नहीं है।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।। २०

योगसेवया, निरुद्धम्, चित्तम् (योग के अभ्यास से, वश में किया हुआ, चित्त), यत्र (जिस अवस्था में), उपरमते (उपराम हो जाता है), च, यत्र (और, जहाँ), आत्मना, आत्मानम्, पश्यन् (आत्मा के द्वारा, परमात्मा को देख कर), आत्मनि, एव, तुष्यति (आत्मा में, ही, सन्तुष्ट रहता है)।

प्रश्न 17- योगी का चित्त कैसे सन्तुष्ट होता है ?

उत्तर - जहाँ योगाभ्यास द्वारा वश में किया हुआ चित्त लक्ष्य तक पहुँच गया ऐसा अनुभव करता है। जहाँ अपने अन्दर अपने आपको अथवा परमात्मा को देखता हुआ सन्तुष्ट होता है।

जिस तत्त्व की प्राप्ति ध्यान योग से होती है, उसी तत्त्व की प्राप्ति कर्मयोग से होती है। परन्तु इन दोनो साधनों में थोड़ा अन्तर है। ध्यान योग में जब साधक का चित्त समाधि के सुख से भी उपराम हो जाता है, तब वह अपने आप में सन्तुष्ट हो जाता है।

ध्यान योग में अपने स्वरूप में मन लगने से जब मन स्वरूप में तदाकार हो जाता है, तब समाधि लगती है। उस समाधि से भी जब मन उपराम हो जाता है, तब योगी का चित्त से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।

कर्मयोग में मन, बुद्धि, इन्द्रियों शरीर आदि पदार्थों का और सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रवाह केवल दूसरों की हित की ओर हो जाता है, तब मनोगत सम्पूर्ण कामनाएँ छूट जाती हैं। कामनाओं का त्याग होते ही मन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और वह अपने-आप में सन्तुष्ट हो जाता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। २१

अतीन्द्रियम् (इन्द्रियों से प्राप्त न होने वाला), बुद्धिग्राह्यम् (बुद्धि से प्राप्त होने वाला), यत्, आत्यन्तिकम् सुखम् (जो, अनन्त, आनन्द है), तत् (उसको), यत्र (जिस अवस्था में), वेत्ति (अनुभव करता है), च (और), स्थितः, अयम् (स्थित, यह योगी), तत्त्वतः, न, एव, चलति (तत्त्व से, विचलित होता, ही, नहीं)।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। २२।।

यम् लाभम्, लब्ध्वा (जिस लाभ को, प्राप्त होकर), ततः अधिकम्, अपरम् (उससे, दूसरा अधिक, कुछ भी लाभ), न, मन्यते (नहीं मानता), च (और), यस्मिन्, स्थितः (जिस अवस्था में, स्थित योगी), गुरुणा, दुःखेन (बड़े भारी, दुःख से) अपि, न, विचाल्यते (भी, विचलित, नहीं होता)

प्रश्न 18- ध्यान योग के द्वारा परमात्मा को प्राप्त हुए पुरुष के अन्य लक्षण क्या हैं ?

उत्तर - जो सुख अतीन्द्रिय, आत्यन्तिक और बुद्धिग्राह्य है, साधक उस सुख का जिस अवस्था में अनुभव करता है, उस सुख में स्थित हुआ यह ध्यान योगी तत्त्व से फिर कभी विचलित नहीं होता।

जिस लाभ की प्राप्ति होने पर उससे अधिक दूसरा कोई लाभ उसकी तुलना में नहीं आता उसमें स्थित होने पर वह भारी दुःख से भी विचलित नहीं होता।

व्याख्या - गीता प्रबोधनी के अनुसार इस प्रकार है-

ध्यान योगी को जिस अविनाशी सुख का अनुभव होता है, वह प्रकृतिजन्य गुणों से अतीत है। इसलिए उस सुख को 'आत्यन्तिक' अर्थात् सात्त्विक सुख से विलक्षण, 'अतीन्द्रिय' अर्थात् तामस् सुख से विलक्षण, और 'बुद्धिग्राह्य' बताया गया है। ध्यान योगी को जड़ता से सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है, अतः वह तत्त्व से विचलित नहीं होता।

'जिस सुख के लाभ का तो अन्त नहीं है और हानि की सम्भावना ही नहीं है, तथा जिसमें दुख का लेशमात्र आभास भी नहीं है'- ऐसे अखण्ड सुख के प्राप्त होने में ही सभी साधनों की पूर्णता है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। २३।।

दुःखसंयोगवियोगम् (दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है तथा), योग संज्ञितम् (जिसका नाम योग है), तम्, विद्यात् (उसको, जानना चाहिये), सः, योगः (वह, योग), अनिर्विण्णचेतसा (बिना उकताये हुए अर्थात् धैर्य और उत्साहयुक्त चित्त से) , निश्चयेन, योक्तव्यः (निश्चय पूर्वक, करना कर्तव्य है)।

प्रश्न 19- किस स्थिति को योग के नाम से जानना चाहिये ?

उत्तर - जिसमें दुःख के संयोग का ही वियोग है, उसी को योग नाम से जानना

चाहिये। (वह योग जिस ध्यान योग का लक्ष्य है) उस ध्यान योग का अभ्यास बिना उकताये हुए चित्त से, निश्चयपूर्वक करना चाहिये।

'संयोग' तथा 'वियोग' का विभाग अलग और 'योग' का विभाग अलग है। शरीर-संसार के संयोग का वियोग तो अवश्यम्भावी है, पर परमात्मा के योग का कभी वियोग होता ही नहीं, कारण कि शरीर संसार हमारे साथ रहते ही नहीं और परमात्मा हमारा साथ कभी छोड़ते ही नहीं। परमात्मा का यह योग सभी साधकों का साध्य है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।। २४।।

संकल्पप्रभवान् (संकल्प से उत्पन्न होने वाली), सर्वान्, कामान्, अशेषतः, त्यक्त्वा (सम्पूर्ण, कामनाओं को, सर्वथा, त्यागकर और), मनसा, इन्द्रियग्रामम् (मन के द्वारा, इन्द्रियों के समुदाय को), समन्ततः, एव, विनियम्य (सभी ओर से, भली भाँति, रोक कर)।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चदपि चिन्तयेत्।। २५।।

शनैः, शनैः, उपरमेत् (धीरे-धीरे, उपराम को पा जाये तथा), धृतिगृहीतया, बुद्ध्या (धैर्ययुक्त बुद्धि के द्वारा), मनः आत्मसंस्थम् (मन को, आत्मा से स्थित), कृत्वा (करके), किंचित्, अपि, न, चिन्तयेत् (कुछ, भी, चिन्ता न, करे)।

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।। २६।।

एतत्, अस्थिरम्, चंचलम्, मनः (यह, स्थिर न रहने वाला, और चंचल, मन), यतः, यतः (जिस, जिस शब्दादि विषय के निमित्त से संसार में), निश्चरति (विचरता है), ततः, ततः (उस, उस विषय से), नियम्य (हटाकर), आत्मनि (आत्मा में), एव, वशम्, नयेत् (ही, निरुद्ध करें)।

प्रश्न 20- परमात्मा के ध्यान की विधि क्या है?

उत्तर - संकल्प से उत्पन्न होने वाली सब कामनाओं का पूर्ण रूप से त्याग करके, मन से ही सब इन्द्रियों को सब ओर से नियम में लाकर (वश में करके) धैर्ययुक्त बुद्धि से धीरे-धीरे शान्त हो जाये और मन को आत्मा में पिरोकर अन्य किसी वस्तु का भी विचार न करें। जहाँ-जहाँ चंचल और अस्थिर मन भागे वहाँ-वहाँ से उसका नियमन (वश) करके उसे आत्मा के अपने वश में ले

आये।

श्लोक संख्या २५ एवं २६ में मन को योगाभ्यास से इन्द्रियों के विषय से उपराम करने की बात कही गई है। **'आत्मसंस्थ' और 'आत्मनि एव वशं नयेत्'।** इन दोनों स्थानों पर आत्म शब्द से अभिप्रायः जीवात्मा से है। कुछ भाष्यकारों ने इन स्थानों पर जीवात्मा का अर्थ परमात्मा लिया है। यह गीता का मत नहीं है। गीता में पहले भी बता चुके हैं कि इन्द्रियों को मन से, मन को बुद्धि से और बुद्धि को जीवात्मा से नियन्त्रित करें। योगाभ्यास भी जीवात्मा के लिए ही किया जाता है। इसमें आत्मा का कल्याण बुद्धि को तीक्ष्ण और सात्त्विक करने से होता है। इस सात्त्विकी बुद्धि से अपने मन के पूर्ण संकल्पों को आत्मा के कल्याण के लिए लगा दो।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।। २७।।

हि (क्योंकि), प्रशान्तमनसम् (जिसका मन भली प्रकार शान्त है), अकल्मषम् (जो पाप से रहित है और) शान्तरजसम् (जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे), एनम् (इस), ब्रह्मभूतम् (जो ब्रह्म के साथ एक हो गया है), योगिनम् (योगी को) उत्तमम्, सुखम् उपैति (उत्तम, आनन्द, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 21- किस योगी को उत्तम सुख (आनन्द) प्राप्त होता है?

उत्तर - जिस योगी का मन सर्वथा शान्त हो गया है, जिसके सब पाप नष्ट हो गये हैं, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसे इस ब्रह्मरूप बने हुए योगी को निश्चित ही उत्तम (सात्त्विक सुख) प्राप्त होता है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। २८

विगतकल्मषः, योगी, एवम्, सदा (पाप रहित, योगी, इस प्रकार, निरन्तर), आत्मानं (आत्मा को [परमात्मा में]), युञ्जन् (लगाता हुआ), सुखेन (सुखपूर्वक), ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्म प्राप्ति से उत्पन्न को), अत्यन्तम् (अनन्त), सुखम्, अश्नुते (आनन्द का, अनुभव करता है)।

प्रश्न 22- किस योगी को अनन्त सुख प्राप्त होता है?

उत्तर - इस प्रकार अपने-आपको सदा परमात्मा में लगाता हुआ, पाप रहित योगी सुखपूर्वक ब्रह्म प्राप्ति रूप अत्यन्त (अनन्त) सुख का अनुभव करता है।

अपने आप को परमात्मा में लगाने का तात्पर्य है- कुछ भी चिन्तन न करना

अर्थात् बाहर-भीतर से चुप, शान्त हो जाना। कुछ भी चिन्तन न करने से स्वतः साधक की स्थिति परमात्म तत्त्व में होती है।

इन्द्रियों के विषय से स्पर्श द्वारा उत्पन्न सुख इन्द्रिय-संस्पर्श-सुख कहलाता है, किन्तु आत्मा का परमात्मा के साथ अतीन्द्रय सम्पर्क ब्रह्म-संस्पर्श कहलाता है जिससे योगी विधिपूर्वक सुख पा लेता है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।। २९।।

योगयुक्तात्मा (योग युक्त व्यक्ति), सर्वत्र, समदर्शनः (सब में, समभाव से देखने वाला योगी), आत्मानम्, सर्वभूतस्थम् (आत्मा को, सब प्राणियों में स्थित को), च (और), सर्वभूतानि, आत्मनि, ईक्षते (सभी प्राणियों को, आत्मा में, देखता है अर्थात् समदर्शी है)।

प्रश्न 23- योगयुक्त व्यक्ति सब प्राणियों को कैसे देखता है ?

उत्तर - योगयुक्त (योगाभ्यास से युक्त) आत्मा अर्थात् जीवात्मा सब को समान भाव से देखता हे, वह सब प्राणियों को अपने में और अपने को सब प्राणियों में देखता है। ऐसा योगी स्वतः परमात्मा के सम्पर्क में आ जाता है। वास्तव में जीवात्मा परमात्मा के सम्पर्क में तो सदा रहता है, परन्तु उसका ध्यान इन्द्रियों के विषयों की ओर रहने से वह परमात्मा को अनुभव नहीं करता। जब जीवात्मा इन्द्रियों के विषयों से अलिप्तता अनुभव करता है तो फिर उसे परमात्मा का अनुभव होने लगता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।। ३०।।

यः, सर्वत्र, माम्, पश्यति (जो, सब स्थानों पर, मुझे देखता है), च, सर्वम्, मयि, पश्यति (और, सबको, मुझ में देखता है), तस्य, अहम्, प्रणश्यामि (उसके लिए मैं, नष्ट नहीं होता हूँ), च, सः, मे, न प्रणश्यति (और, वह, मेरे लिए, नष्ट, नहीं होता है)।

प्रश्न 24- जो व्यक्ति ईश्वर को सर्वव्यापक मानता है, उसे क्या मिलता है ?

उत्तर - श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं कि, हे अर्जुन! जो परमात्मा को सर्वव्यापक मानता है अर्थात् सब वस्तुओं को ईश्वर की कृति मानता है, ईश्वर भी उससे ओझल नहीं होता अर्थात् ईश्वर उसका कल्याण करने के लिए सदैव

तैयार रहते हैं।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस पर बहुत सुन्दर टिप्पणी की है-

गीता यह कल्पना करके लिखी गई है कि इसका उपदेश स्वयं भगवान् कर रहे हैं। गीता का उपदेश तो महर्षि व्यास का दिया हुआ है। श्री कृष्ण जी के मुख से यह उपदेश दिया जा रहा है और श्रीकृष्ण जी अपने को भगवान् मानकर यह उपदेश दे रहे हैं। इसलिए भगवान् के तौर पर जो कुछ कहना चाहिये वह अपने नाम से कहते हैं परन्तु इतने से श्री कृष्ण जी को स्वयं भगवान् मान लेना युक्ति युक्त नहीं है। श्री कृष्ण जी तो व्यास महर्षि के रचे गीता के भगवान् का पार्ट अदा करने वाले पात्र हैं। भगवान् का पार्ट अदा करने की दृष्टि से श्री कृष्ण जी का अपने प्रति तथा अर्जुन का श्री कृष्ण जी के प्रति भगवान का-सा भाव धारण करना और श्री कृष्ण जी की भगवान् के रूप में अपनी बात कहना, युक्ति संगत है। यह तो उसी प्रकार है जिस प्रकार हम में से कुछ लोग रामलीला में जिसका पार्ट अदा करते हैं लोग हमें उसी रूप में देखते हैं।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।। ३१

यः, एकत्वम्, आस्थितः (जो, एकत्वबुद्धि में, स्थित हुआ), सर्वभूतस्थितम् (सब प्राणियों में स्थित रहने वाले को), माम् (मुझ को अर्थात् परमात्मा को), भजति (भजता है), सः, योगी (वह, योगी), सर्वथा, वर्तमानः (सब प्रकार से बरतता हुआ), अपि (भी), मयि, (मुझ में अर्थात् परमात्मा में ही), वर्तते (बरतता है)।

प्रश्न 25- जो सब प्राणियों में परमात्मा को देखता है, उसे क्या मिलता है ?

उत्तर - जो सब प्राणियों में एकमय होकर परमात्मा का भजन करता है, ऐसा योगी किसी प्रकार रहता हुआ भी सब प्रकार से परमात्मा के अनुकूल व्यवहार करता है।

भगवान् का भक्त अपने शरीर के सहित सम्पूर्ण संसार को भगवान् का ही स्वरूप समझता है। इसलिए वह नित्य निरन्तर भगवान् में ही रहता है और भगवान् में ही सब बर्ताव करता है। उसके भाव में ये पाँच बातें रहती हैं- (1) मैं भगवान् का हूँ (2) मैं जहाँ भी रहता हूं, भगवान् के दरबार में ही रहता हूँ। (3) मैं जो भी शुभ कार्य करता हूँ, भगवान् का ही कार्य करता हूँ। (4) मैं शुद्ध-सात्विक जो भी पाता हूँ, भगवान् का ही प्रसाद पाता हूँ (5) भगवान् के

दिये प्रसाद से भगवान् के ही जनों की सेवा करता हूँ। जैसे शरीर से सम्बन्ध मानने वाला मनुष्य सब क्रियायें करता हुए भी निरन्तर शरीर में ही रहता है, ऐसे ही भक्त सब क्रियाएँ करता हुआ भी निरन्तर भगवान् में ही रहता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।। ३२।।

अर्जुन (हे अर्जुन!) यः, (जो योगी), आत्मौपम्येन (अपनी उपमा से), सर्वत्र, समम्, पश्यति (सम्पूर्ण प्राणियों में, सम, देखता है), वा, सुखम् (और, सुख), यदि, वा (अथवा), दुःखम् (दुःख को भी सब में सम देखता है), सः, योगी, परमः, मतः (वह, योगी, परमश्रेष्ठ, माना गया है)।

प्रश्न 26– कौन योगी परम श्रेष्ठ समझा जाता है?

उत्तर – जो योगी अपने को सब के सदृश आत्मवान् जान कर सब स्थान पर समान देखता है वह सबके सुख में सुखी है और सब के दुःख में दुःखी समझता है, वह परमश्रेष्ठ योगी है।

जैसे सामान्य मनुष्य अपने को शरीर में देखता है और शरीर के सभी अँगों को सुख पहुंचाने का तथा उनका दुःख (पीड़ा) दूर करने का स्वाभाविक प्रयत्न करता है, वैसे ही सबमें भगवान् को देखने वाला भक्त सभी प्राणियों को सुख पहुँचाने की तथा उनका दुःख दूर करने की स्वाभाविक चेष्टा करता है, ऐसा करने में उसके भीतर किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं होता।

'आत्मौपम्य दृष्टि' का अर्थ है– अपनी उपमा देकर देखना अर्थात् किसी को दुःख हुआ तो अपने को दुःख हुआ यह सोचना। जो इस प्रकार दूसरों के सुख-दुःख में अपने को डाल कर सोच सकता है, उसकी दृष्टि 'आत्मौपम्य-दृष्टि' है अर्थात् वह परम योगी है।

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।। ३३।।

मधुसूदन (हे कृष्ण), यः, अयम्, योगः (जो, यह, योग), त्वया, साम्येन प्रोक्तः (आपने, समभाव के रूप में, कहा है) [मन के], चंचलत्वात् (चंचल होने से), अहम्, एतस्य, स्थिराम्, स्थितिम् (मैं, इसकी, नित्य स्थिर, स्थिति को), न, पश्यामि (नहीं, देखता हूँ)।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। ३४

हि (क्योंकि), कृष्ण (हे कृष्ण!) मनः, चंचलम्, प्रमाथि, दृढम्, बलवत् (मन, बड़ा चंचल, मथ डालने वाला, बड़ा दृढ़ और बलवान् है, इसलिए), तस्य, निग्रहम् (उसका, वश में करना), अहम्, वायोः, इव (मैं, वायु को रोकने की भाँति) सुदुष्करम्, मन्ये (अत्यन्त दुष्कर, मानता हूँ)।

प्रश्न 27– अर्जुन किस कारण से समत्व भाव को कठिन मानता है?

उत्तर– अर्जुन ने कहा, ''हे कृष्ण! आपने श्लोक संख्या ८ (समलोष्टाश्मकाञ्चनः), श्लोक संख्या ९ (समबुद्धिर्विशिष्यते), श्लोक संख्या १३ (समकायशिरोग्रीवधारयन्), श्लोक संख्या २९ (सर्वत्र समदर्शनः), श्लोक संख्या ३२ (आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति) में 'सम' शब्द द्वारा जिस साम्य योग की ओर निर्देश किया है, वह जमेगा कैसे? मन तो चंचल है। प्रति क्षण इसकी रागद्वेष की मात्रा बदलती रहती है। इस विषम मन से साम्य योग किस प्रकार प्राप्त होगा ? मुझे तो इस योग की स्थिति डावाँडोल प्रतीत होती है।''

''हे श्री कृष्ण जी! मन क्योंकि बड़ा चंचल है, बड़ी ज़बरदस्त शक्ति से मनुष्य को मथ डालता है, इसलिए उसका नियन्त्रण मुझे ऐसा ही अति कठिन दिखता है, जैसे वायु को नियन्त्रित करना।''

आचार्य डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने मन के विषय में टिप्पणी की है।

मन चंचल है उसका निग्रह करना कठिन है। कई टीकाकार इसका यह अर्थ कर देते हैं कि मन का स्वभाव ही चंचलता का है। यदि मन का स्वभाव चंचलता हो तो उसके निग्रह का कोई अर्थ नहीं रहता। स्वभाव तो 'स्वभाव' है, 'अपना' स्वरूप है उसका निग्रह कैसा? निग्रह में तो उसे बदलना होगा। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाये, तो चंचलता मन का स्वभाव नहीं है, मन का स्वभाव 'स्थिरता' है। कमल के पत्ते पर पानी कितना चंचल दिखाई देता है, कहीं टिकता नहीं, परन्तु क्या चंचलता पानी का स्वभाव है। पानी तो स्थिरता ढूँढ रहा है। उसकी चंचलता स्थिरता ढूढँने के लिए है। जहाँ उसे जगह मिली वहीं वह स्थिर होकर टिक जाता है। इस प्रकार मन अपनी स्थिरता को ढूँढने के लिए चंचल दिखाई देता है, जहाँ उसे बैठने की जगह मिली, वहीं स्थिर हो जाता है। पानी कमल के पत्ते के कारण चंचल दिखाई देता है, मन संसार की

वासनाओं के कारण, चंचल दिखाई देता है, ज्यों ही वह वासनाओं को छोड़ता है, त्यों ही वह स्थिर स्वभाव में आ जाता है।

श्री कृष्णोवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।। ३५।।

महाबाहो (हे विशाल भुजाओं वाले अर्जुन!), असंशयम् मनः, चलम्, दुर्निग्रहम् (निःसन्देह, मन, चंचल और कठिनता से वश में होने वाला है), तु, कौन्तेय (परन्तु, अर्जुन!), अभ्यासेन, च, वैराग्येण, गृह्यते (अभ्यास, और, वैराग्य से, वश में होता है)।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।। ३६।।

असंयतात्मना (जिसका मन वश में किया हुआ नहीं है, ऐसे पुरुष द्वारा), योगः, दुष्प्रापः (योग प्राप्त कर सकना कठिन है अर्थात दुष्प्राप्य है), तु (और), वश्यात्मना, यतता (वश में किए हुए मन वाले प्रयत्नशील पुरुष द्वारा), उपायतः (उपाय से), अवाप्तुम्, शक्यः (प्राप्त होना सहज है), इति, मे, मति (ऐसा, मेरा, मत है)।

प्रश्न 28- मन को वश में करने का क्या उपाय है, वश में न किये जाने पर क्या हानि है ?

उत्तर- गीता में इतना ही कहा है कि मन चंचल है, यह नहीं कहा कि मन का स्वभाव ही चंचलता का है। मन की चंचलता वासनाओं के कारण है, इसलिए वासनाओं को दूर करने के लिए वैराग्य की आवश्यकता पर बल देते हुए गीता में ही कृष्ण जी कहते हैं-

हे विशाल भुजाओं वाले, कुन्ती के पुत्र अर्जुन! निःसन्देह मन बड़ा चंचल है, कठिनता से वश में आने वाला है, परन्तु यदि व्यक्ति इसको वश में करने का निरन्तर अभ्यास करे और मन में वैराग्य की भावना रखे तो यह वश में किया जा सकता है,परन्तु जिसने अपने मन को संयमित नहीं किया तो उसके लिए योग प्राप्त करना कठिन है, ऐसा मेरा विश्वास है, किन्तु जिसने कम से कम अपने-आपको इतना वश में कर लिया हो कि वह सच्चे हृदय से प्राप्ति के लिए यत्न करे तो वह अभ्यास और वैराग्य जैसे उपायों से योग-साधन को प्राप्त कर सकता है।

योगदर्शन के सूत्र संख्या १/१२ में कहा है- ''**अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**'' श्री कृष्ण जी यहाँ बतलाते हैं कि हे अर्जुन! चंचल मन को अभ्यास पड़ा होता है कि वह अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करें, परन्तु उसे वैराग्य और अभ्यास के द्वारा नियन्त्रित किया जा सकता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।। ३७।।

कृष्ण (हे श्री कृष्ण जी!), श्रद्धया, उपेतः (जो योग में श्रद्धा रखने वाला है किन्तु), अयतिः (पूरा यत्न न करने वाला है या संयमी नहीं है), योगात्, चलितमानसः (जिस का मन योग से, विचलित हो गया है ऐसा साधक), योगसंसिद्धिम् (योग की सिद्धि को), अप्राप्य (प्राप्त न होकर), काम्, गतिम्, गच्छति (किस, गति को, प्राप्त होता है) ?

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।। ३८।।

महाबाहो (हे महाबाहु श्री कृष्ण जी!), कच्चित, ब्रह्मणः, पथि (कहीं, ब्रह्म प्राप्ति के, मार्ग में), विमूढः, अप्रतिष्ठः (मोहित और कहीं न टिका हुआ अर्थात् आश्रय रहित पुरुष) छिन्नाभ्रम, इव (छिन्न-भिन्न बादल, की तरह), उभयविभ्रष्टः (दोनों ओर से भ्रष्ट होकर)न, नश्यति (नष्ट तो, नहीं हो जाता?)

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।। ३९।।

कृष्ण (हे कृष्ण!) मे, एतत्, संशयम् (मेरे, इस संशय को), अशेषतः छेत्तुम्, अर्हसि (आप ही सम्पूर्ण रूप से छेदन करने के, योग्य हो), हि, त्वदन्यः (क्योंकि, आपके अतिरिक्त दूसरा), अस्य, संशयस्य, छेत्ता (इस, संशय का छेदन करने वाला), न, उपपद्यते (मिलना सम्भव नहीं है)।

प्रश्न 29- योग में पूरा प्रयत्न न करने वाले की क्या गति होती है ?

उत्तर- अर्जुन अपनी स्थिति को प्रकट करता हुआ कहता है, '' हे श्री कृष्ण जी! यदि कोई श्रद्धावान् परन्तु दुर्बल मन वाला, योग करता हुआ व्यक्ति शिथिल हो जाता है, भटक जाता है या पूरा प्रयत्न नहीं कर पाता और वह योग को सिद्ध नहीं कर पाता तो वह साधक किस गति को प्राप्त होता है?''

''पुनः स्वयं अर्जुन ही अपनी बात को दूसरे रूप में पूछते हैं कि हे कृष्ण

जी! क्या महान् अर्थात् कल्याण के मार्ग पर चलते हुए किंकर्तव्य विमूढ़ व्यक्ति या मोहित व्यक्ति, वायु से छिन्न-भिन्न बादलों की भाँति दोनों सांसारिक सुख और योग सिद्धि से भ्रष्ट तो नहीं हो जाता? कहीं दोनों ओर से स्थान भ्रष्ट हुआ दोनों में से किसी भी ओर न जमा हुआ, ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर किंकर्तव्य विमूढ हुआ-हुआ, वह बादल की तरह नष्ट तो नहीं हो जाता? वे बादल आयें तो सही लेकिन धरती पर बरसने के स्थान पर वायु द्वारा आकाश में ही छिन्न-भिन्न कर दिये जायें, न इधर के रहे और न उधर के ही बन सकें। क्या ऐसे मार्ग पर चल पड़ना, जिसे मनुष्य पा न सके, उचित है या ऐसे मार्ग पर पग ही न धरे?''

''हे कृष्ण! मेरे संशय के निवारण करने में आप समर्थ हैं। आपसे अधिक (समर्थ) संशय निवारण करने वाला मिलना संभव नहीं है।''

श्री कृष्णोवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति।। ४०।।

पार्थ (हे पृथा के पुत्र अर्जुन!), तस्य, न, इह, विनाशः विद्यते (उस पुरुष का, न तो, इस लोक में, विनाश होता है), न, अमुत्र, एव (और न ही परलोक ही), हि (क्योंकि), तात (हे प्यारे अर्जुन!), कल्याणकृत् (कल्याण करने वाला), कश्चित्, दुर्गतिम्, न, गच्छति (कोई भी मनुष्य, दुर्गति को, प्राप्त नहीं होता)।

प्रश्न 30- अर्जुन की शंका के उत्तर में योगभ्रष्ट की दुर्गति का विवेचन श्री कृष्ण जी किस प्रकार करते हैं?

उत्तर- पिछले श्लोकों में अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से यह शंका की थी कि कोई साधक श्रद्धावान हो परन्तु आगे चलकर भटक जाये तो क्या उसकी दुर्गति होती है ? उसके उत्तर में श्री कृष्ण जी कहते हैं-

हे मेरे प्रिय अर्जुन! उस पुरुष का न तो इस लोक में और न ही परलोक में अर्थात् न वर्तमान में और न आने वाले जन्म में नाश होता है, क्योंकि शुभ कर्म करने वाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता।

जैसे कोई यात्री यात्रा पर निकले तो वह रात्रि होते-होते जहाँ पर पहुँच चुका है, प्रातः उठने के पश्चात् वहीं से यात्रा प्रारम्भ करता है। रात्रि को सोने पर पुनः अपने घर नहीं पहुँच जाता। ऐसे ही ध्यान योगी जिस स्थिति तक पहुँच चुका है, मरने पर वह उस स्थिति से नहीं गिरता। उसका किया हुआ साधन नष्ट नहीं होता। कारण यह है कि उसका उद्देश्य, अपने कल्याण का बन चुका है।

अब वह दुर्गति में नहीं जा सकता। इसलिए परमात्मा प्राप्ति के मार्ग में निराश होने का कोई स्थान नहीं है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।। ४१

योगभ्रष्टः (योगभ्रष्ट पुरुष), पुण्यकृताम्, लोकान्, प्राप्य (पुण्यवानों के, लोकों को, पाकर), शाश्वतीः समाः, उषित्वा (बहुत, वर्षो तक, निवास करके फिर) शुचीनाम्, श्रीमताम्, गेहे, अभिजायते (शुद्ध आचरण वाले, श्रीमान् पुरुषों के, घर में, जन्म लेता है)।

प्रश्न 31- योगभ्रष्ट पुरुष किन लोगों को प्राप्त होता है?

उत्तर- योगभ्रष्ट व्यक्तियों के विषय में श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझाते हैं कि उनकी दुर्गति नहीं होती बल्कि पहले की हुई यात्रा से वे आगे बढ़ते हैं। वे कहते हैं कि हे अर्जुन! जो व्यक्ति योग के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है, वह पुण्यात्माओं के लोक में जाता है और वहाँ अनेकानेक वर्षो तक निवास करने के पश्चात् पवित्रात्मा और समृद्ध लोगों के घरों में जन्म लेता है।

इस श्लोक में 'शुचीनां श्रीमतां' की जो व्याख्या स्वामी राम सुखदास जी ने की है उसका कुछ अंश इस प्रकार है-

जिनका धन शुद्ध कमाई का है, जो कभी पराया हक नहीं लेते, जिनका आचरण तथा भाव शुद्ध है, जिनके अन्तःकरण में भोगों का और पदार्थों का महत्त्व, उनकी ममता नहीं है, जो सम्पूर्ण पदार्थ घर, परिवार आदि को साधन-सामग्री समझते हैं, जो भोग बुद्धि से किसी पर अपना व्यक्तिगत आधिपत्य नहीं जमाते, वे 'शुद्ध श्रीमान्' कहे जाते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।। ४२।।

अथवा (अथवा, वैराग्यवान् पुरुष उन लोकों में न जाकर) धीमताम्, योगिनाम्, एव, कुले, भवति (ज्ञानवान्, योगियों के ही, कुल में, जन्म लेता है, परन्तु), ईदृशम्, यत्, एतत्, जन्म (इस प्रकार, जो, यह, जन्म है, सो), लोके हि, दुर्लभतरम् (अत्यन्त दुर्लभ है)।

प्रश्न 32- योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध आचरण वाले बुद्धिमानों के अतिरिक्त किन लोकों को प्राप्त होते हैं?

उत्तर- श्लोक संख्या ४१ में योगभ्रष्ट लोगों के शुद्ध कमाई वाले बुद्धिमानों के

घरों में जन्म की बात कही गई है। इस श्लोक में यह कहा गया है-

"वह पुरुष बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। बुद्धिमान् लोगों के स्थान में योगियों के कुल में ही जो जन्म लेना है वह तो इस संसार में और भी दुर्लभ है।"

शास्त्रों में मनुष्य जन्म को दुर्लभ बताया गया है, पर मनुष्य जन्म में महापुरुषों का संग मिलना और भी दुर्लभ है। महापुरुषों का संग किसी भी तरह से मिल जाये, वह कभी निष्फल नहीं जाता। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों का संग मिलने की दृष्टि से उपर्युक्त दोनों साधकों को 'दुर्लभतर' कहा गया है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।। ४३।।

तत्र (वहाँ), तम् (उस), पौर्वदेहिकम् (पूर्व जन्म के), बुद्धिसंयोगम् (बुद्धि के संयोग को), लभते (प्राप्त हो जाता है) च (और), कुरुनन्दन (हे अर्जुन!), ततः, भयः (उसके प्रभाव से वह फिर), संसिद्धौ, यतते (सिद्धि के लिए पहले से भी बढ़कर प्रयत्न करता है)

प्रश्न 33- योगियों के कुल में जन्म लेकर फिर साधक क्या करता है?

उत्तर- योगियों के कुल में जन्म लेकर साधक को पिछले मनुष्य जन्म साधन-सम्पत्ति (अनायास ही) प्राप्त हो जाते हैं। फिर उससे वह साधन की सिद्धि के विषय में पुनः विशेष यत्न करता है।

योगियों के कुल में जन्म लेने वाले साधक की बुद्धि में पूर्वजन्म के बैठे हुए संस्कार स्वतः जाग्रत हो जाते हैं। पहले किया हुआ उसे बिना परिश्रम प्राप्त हो जाता है। सांसारिक सम्पत्ति तो मरने पर सर्वथा छूट जाती है, पर पारमार्थिक सम्पत्ति मरने पर भी साथ जाती है। कारण कि सांसारिक सम्पत्ति बाह्य है और पारमार्थिक सम्पत्ति आन्तरिक। वह नष्ट नहीं होती।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।। ४४।।

सः (वह बुद्धिमान् के घर में जन्म लेने वाला [योगभ्रष्ट]), अवशः, अपि (पराधीन, हुआ भी), तेन, पूर्वाभ्यासेन, एव हि (उस पहले के अभ्यास से, ही, निःसन्देह) [भगवान् की ओर], ह्रियते (खिंचता है), योगस्थ, जिज्ञासुः, अपि (योगमार्ग का जिज्ञासु, भी), शब्दब्रह्म, अतिवर्तते (जिस ब्रह्म की केवल शाब्दिक चर्चा है, उससे भी परे निकल जाता है)।

प्रश्न 34- पूर्वजन्म के अभ्यास के कारण वह योग की किस स्थिति को प्राप्त कर लेता है?

उत्तर- योगभ्रष्ट हुआ योगी अपने पिछले जन्म के अभ्यास के द्वारा विवश-सा होकर योग की ओर खिंचता है और एक साधारण सा जिज्ञासु होकर जो योग का ग्रन्थ पढ़ने बैठता है तो शब्द ब्रह्म को लाँघकर परब्रह्म से जा मिलता है अर्थात् शास्त्र के गूढ़ अर्थ उसे अनायास समझ में आने लगते हैं और अपने प्यारे ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है।

यहाँ कहा है कि योग का जिज्ञासु 'शब्द ब्रह्म' से आगे निकल जाता है। 'शब्द ब्रह्म' क्या है? 'ब्रह्म' दो प्रकार का है- 'शब्दब्रह्म' तथा 'परब्रह्म'। शब्दब्रह्म तो वह जिसकी वेद मन्त्रों में, विधि-विधान में, अनुष्ठान में, केवल शब्दों में चर्चा है, परब्रह्म वह है जो विधि-विधान से, यज्ञ-योग आदि से, शब्दों से परे हैं, आगे है, जिसकी केवल शाब्दिक चर्चा नहीं है। गीता का कहना है कि योगी तो क्या, योग का जिज्ञासु तक भी, जो 'परब्रह्म' को पाने के लिए चल पड़ा है, ब्रह्म की केवल शाब्दिक चर्चा करने वाले से आगे पहुँचा हुआ है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।। ४५।।

तु (परन्तु), प्रयत्नात्, यतमानः, योगी (प्रयत्नपूर्वक, अभ्यास करने वाला, योगी तो), अनेक जन्मसंसिद्धः (पिछले अनेक, जन्मों के संस्कार बल से, इसी जन्म में संसिद्ध होकर), संशुद्ध, किल्बिष (सम्पूर्ण पापों से रहित हो), ततः (फिर तत्काल ही), पराम्, गतिम्, याति (परम, गति को प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 35- योगियों के कुल में जन्म लेने वाला कैसे परम गति को पा लेता है?

उत्तर- योगियों के कुल में जन्म लेने वाला योगी वहाँ से आगे प्रयत्न से योग के लिए परिश्रम करता हुआ पाप से छूटकर अनेक जन्म-जन्मान्तरों में अपने-आप को पूर्ण बनाता हुआ परमगति को प्राप्त कर लेता है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस की इस प्रकार व्याख्या की है-

भले ही वह इस जीवन में अपनी दुर्बलताओं के कारण लक्ष्य तक पहुँचने में सफल न हो पाये, फिर भी उस का प्रयत्न मृत्यु के पश्चात् भी उसके साथ रहेगा और दूसरे जन्मों में प्रगति हेतु उसकी तब तक सहायता करता रहेगा, जब तक वह अपने लक्ष्य तक न पहुँच जाये (गीता हमें सबके उद्धार के विषय में

एक आशापूर्ण विश्वास दिलाती है)।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।। ४६।।

योगी, तपस्विभ्यः, अधिकः (योगी, तपस्वियों से, श्रेष्ठ है) ज्ञानिभ्यः, अपि, अधिकः, मतः (शास्त्र, ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है)च (और), कर्मिभ्यः,योगी अधिकः (सकाम कर्म करने वालों से योगी श्रेष्ठ है) तस्मात् (इससे), अर्जुन, योगी, भव (हे अर्जुन! तू योगी हो जा)।

प्रश्न 36- योगाभ्यासी (योगी) को किस-किस से श्रेष्ठ माना गया है?
उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को योगी होने को इसलिए कहते हैं कि- योगी तपस्वियों से बड़ा है, वह ज्ञानियों से भी बड़ा है। योगी कर्मकाण्डियों से भी बड़ा है, इस लिए हे अर्जुन! तू योगी हो जा।

इस श्लोक का रहस्य समझने के लिए कर्मी और कर्मयोगी इन दो शब्दों में भेद समझना आवश्यक है, फिर सब स्पष्ट हो जायेगा। एक मनुष्य, अध्यापक, सैनिक अथवा व्यापारी है। वह अध्यापन, न्याय रक्षा अथवा, व्यापार करते समय कर्मयोगी होता है। कर्मयोग के समय विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में उसका मन कर्तव्य-पथ से न डिगे इसके लिए जो भजन, कीर्तन, जप, योग, अनुष्ठानादि कर्म करता है, उस समय वह कर्मी होता है। सत्य आदि की महिमा स्वाध्याय द्वारा जानता है, उस समय वह ज्ञानी होता है। अपने कर्तव्य पालन में क्षमता उत्पन्न करने के लिए वह शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन रूप तप करता है। इन सबकी परीक्षा अन्त में कर्मयोग में होती है। यदि वहाँ वह सत्यमार्ग से नहीं डिगा तो उसके ज्ञान, तप तथा कर्म सच्चे हैं अन्यथा नहीं। यह विचार इस उत्तर के सम्बन्ध में स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी के हैं। इसलिए यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं कि तू योगी बन अर्थात् दुष्टों को मार, क्षात्र-धर्म का पालन कर।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।। ४७।।

सर्वेषाम्, योगिनाम्, अपि, यः, श्रद्धावान् (सम्पूर्ण, योगियों में, भी, जो, श्रद्धावान् योगी), मदगतेन (मुझ में लगे हुए), अन्तरात्मना, माम्, भजते (अन्तरात्मा से, मुझको, निरन्तर भजता है), सः, मे (वह योगी, मुझे), युक्ततमः, मतः (परमश्रेष्ठ, मान्य है)।

प्रश्न 37- श्री कृष्ण जी को सबसे प्रिय कौन व्यक्ति लगता है?
उत्तर- स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस श्लोक का उत्तर इस प्रकार देते हैं-

हे अर्जुन! मैं सच्चे हृदय से उस प्रभु की शरण में जाता हूँ। जो मेरी तरह श्रद्धा से उस प्रभु का भजन करता है उसे तो मैं अपना भक्त मानता हूँ और जो केवल मेरे गीत गाते हैं, उन्हें मैं खुशामदी मानता हूँ, जो मेरी भक्ति का अनुकरण करें, वह तो मेरा भक्त है, और जो मेरे प्यारे प्रभु के गीत गाना छोड़कर मेरे गीत गाये वह मेरा भक्त नहीं है। इसलिए कहा कि योगियों में से भी जिस प्रकार मैं श्रद्धावान् होकर अन्तरात्मा से प्रभु का भजन करता हूँ, इसी प्रकार की अवस्था अपने अन्तरात्मा में उत्पन्न करके श्रद्धावान् प्रभु-भक्त उस पद को पाता है, जो पद मैंने पाया है। मेरी दृष्टि से यह युक्ततम है।

श्री गुरुदत्त जी ने 'मद्गतेन' शब्द का अर्थ किया है जिसका अर्थ है मेरी गति अर्थात् मेरे कर्मों के अनुकूल। भगवद् गीता में 'मम', 'मयि' इत्यादि शब्दों का अर्थ परमात्मा के व्यवहार के अनुसार किया है, परन्तु यहाँ हमने वैसा नहीं किया। इसमें कारण है।

परमात्मा सांसारिक प्राणियों के समान कर्म नहीं करता। इस कारण 'मद्गतेन' से यदि परमात्मा के व्यवहार का अर्थ लेंगे तो योगाभ्यास, कामनाओं का त्याग इत्यादि का अभिप्राय परमात्मा के सम्बन्ध में लेना होगा।

चतुर्थ अध्याय में गीता के प्रवक्ता ने जब यह कहा था कि मैं इक्ष्वाकु इत्यादि की धर्म मीमाँसा का उपदेश दे रहा हूँ, तब वहाँ मैं का अभिप्राय यदुवंशी कृष्ण से ही था, परमात्मा से नहीं।

व्याख्या अथवा भाष्य करने का नियम यह है कि अर्थ प्रसंग के अनुसार लगाये जाते हैं। यदि सांसारिक प्राणियों तथा उनके व्यवहार का तो वहाँ परमात्मा का प्रसंग हो व्यवहार करने वाला नहीं बताया जा सकता।

इस श्लोक में 'मद्गतेन' का अर्थ यह भी हो सकता है कि परमात्मा के अधीन। परन्तु जब भिन्न-भिन्न प्रकार के योगियों में भेद करने की बात हो तब अनुकरण करने के लिए कोई सांसारिक प्राणी ही बताया जा सकता है, परमात्मा नहीं।

सारांश या संन्देश - स्वामी रामदेव जी के अनुसार - इस अध्याय में भगवान् कृष्ण जी ने किस प्रकार इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर आत्म-नियन्त्रण कर एकाग्रता प्राप्त कर योग के मार्ग पर बढ़ा जाये, इसका विवेचन किया है।

इसके लिए पातंजल योग का साधन-रूप में वर्णन किया है। इन्द्रियों और मन पर नियन्त्रण पाकर समत्व बुद्धि प्राप्त कर परब्रह्म का ध्यान और प्राप्ति, साँख्य एवं कर्मयोगी दोनों के लिए समान है, पर ब्रह्मभूत होने के पश्चात् (ज्ञान प्राप्ति के बाद) भी कर्मयोगी लोकहितार्थ कर्म जारी रखता है, किन्तु साँख्य संन्यासी लोक से संन्यास ले लेता है। यही अन्तर संन्यास और कर्मयोग में है। अर्जुन ने शंका की है कि मन पर नियन्त्रण न कर पाने व प्रकृति वश-स्वभाव वश इस जीवन में लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहने पर कहीं वह पतन के गर्त में गिर कर नष्ट तो नहीं हो जायेगा? श्री कृष्ण जी ने आश्वस्त किया है कि कर्मयोगी यदि इस जीवन में सफल नहीं हो पाता तो भी इस पथ पर बढ़ा पग कभी व्यर्थ नहीं जाता है और अगले जन्म में संस्कारवश इसी राह पर चाहे-अनचाहे बढ़ता चला जाता है तथा अन्त में मुक्ति को प्राप्त होता है। अध्याय के अन्त में योगी को श्रेष्ठ बताया गया है एवं उस परब्रह्म के तत्त्व को हृदयंगम कर स्मरण करने वाले योगी को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार- ध्यान योग के लिए चित्त की एकाग्रता, संयम तथा समत्व आवश्यक है, परन्तु इन सब को सिद्ध कैसे किया जाये? इसका उत्तर देते हुए गीता में कहा है-

''**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते**'' गीता ६/३५

अर्थात् अभ्यास तथा वैराग्य से एकाग्रता हो सकती है, संयम हो सकता है, समत्व हो सकता है। इन दोनों साधनों के अतिरिक्त एक तीसरा साधन है श्रद्धा। तभी गीता में कहा है-

''**श्रद्धावान्भजते यो माम्**''

अर्थात् जो श्रद्धा से मेरा भजन (अर्थात् मेरा अनुकरण) करता है, वह मेरा प्रिय है। इन तीनों के विषय में कुछ लिखना उपयुक्त होगा।

(क) अभ्यास- हमारे काम दो तरह के होते हैं

(1) विध्वंसक (Destructive) (2) विधायक (Constructive) खेत में से झाड़-झँकाड़ निकालना 'विध्वंसक' कार्य है, उसकी जगह भगवान् का चिन्तन करना 'विधायक' कार्य है। योगदर्शन में भी कहा है-

''**अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः**''

अर्थात् अभ्यास और वैराग्य से चित्त को वश में किया जा सकता है। इनमें से अभ्यास के लिए योगदर्शन में लिखा है-

''**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः**'' अर्थात् चित्त की सात्विक स्थिति में यत्न करते रहना अभ्यास है। अगर निरन्तर चित्त को एकाग्र करते रहने का यत्न किया जायेगा तो मन वश में आ जायेगा। बुरे मार्ग में बार-बार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है। उसी प्रकार ही अच्छे मार्ग में बार-बार जाने से उसका अभ्यास हो जाता है। यह कहना कि मन को हम वश में नहीं कर सकते, गलत है। गीता का कहना है कि हम अभ्यास करें तो मन वश में हो जाता है।

(ख) वैराग्य- 'विधायक' कार्य को गीता में 'अभ्यास' कहा है। विध्वंसक कार्य को वैराग्य कहा है। वैराग्य से भी एकाग्रता, संयम तथा समत्व सिद्ध होता है। जैसे मिठाई खाने को सब ललचाते हैं, परन्तु अगर पता चल जाये कि मिठाई में विष मिला है तो उससे एकदम वैराग्य हो जाता है। संसार में विषयों के प्रति भी सब की लालसा है, परन्तु अगर यह समझ आ जाये कि इन विषयों में फँसकर व्यक्ति रोगों से घिर जाता है, तब विषय वैराग्य को उत्पन्न कर देते हैं।

(ग) श्रद्धा- चित्त को एकाग्र करने का तीसरा साधन है 'श्रद्धा' गीता ३/३१ में कहा है-

''**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि, कर्मभिः**''

श्रद्धा से युक्त लोग कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। गीता ६/४७ में कहा है- '**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः**' जो श्रद्धा से मेरा भजन करता है वह मेरे साथ जुड़ा हुआ है अर्थात् प्रभु से जुड़ा है - यह अर्थ है। श्रद्धा का सम्बन्ध हृदय के साथ है। भगवान् के प्रति जो अपने को हृदय से समर्पित कर देता है, उसका चित्त एकाग्र रहता है। वह संयमी होता है, उसके लिए समत्व की भावना बुद्धि का नहीं बल्कि हृदय का भाव होता है।

भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद का ध्यान-योग (आत्म-संयम-योग) नाम षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ सप्तमोऽध्यायः
ज्ञान-विज्ञान-योग

प्रधान विषय -

(1) विज्ञान सहित ज्ञान का विषय (श्लोक संख्या 1 से 7 तक)।

(2) सम्पूर्ण पदार्थों में कारण रूप से भगवान् की व्यापकता का कथन (श्लोक संख्या 8 से 12 तक)।

(3) आसुरी स्वभाववालों की निन्दा और भगवद् भक्तों की प्रशंसा (श्लोक संख्या 13 से 19 तक)।

(4) ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना का विषय (श्लोक संख्या 20 से 23 तक)।

(5) अज्ञान के कारण ईश्वर के विषय में भ्रम का विषय (श्लोक संख्या 24 से 28 तक)।

(6) ज्ञान के कारण मोक्ष प्राप्ति (श्लोक संख्या 29 से 30 तक)।

भूमिका :- गीता के 18 अध्याय हैं। पहले 6 अध्यायों में 'कर्मयोग', अध्याय 7 से 12 तक के भक्ति योग तथा अध्याय 13 से 18 तक ज्ञान योग का वर्णन है। इस प्रकार गीता तीन षट्कों में बंटी हुई है। इसका यह अर्थ नहीं कि कर्मयोग में भक्ति या ज्ञान का समावेश नहीं, भक्ति योग में कर्म या ज्ञान का समावेश नहीं तथा ज्ञान योग में कर्म या भक्ति का समावेश नहीं। गीता का मार्ग समन्वय का मार्ग है। इसलिए गीता में कई स्थानों पर आया है कि साँख्य और योग को बाल-बुद्धि के लोग ही पृथक्-पृथक् कहते हैं, तत्त्वतः सब मार्ग एक ही हैं। गीता सब मार्गों का समन्वय का कारण होने के कारण कर्म की बात के साथ भक्ति और ज्ञान की बात कह जाती है और भक्ति के साथ कर्म और ज्ञान और ज्ञान के साथ कर्म की बात आ जाती है। इसलिए पाठक भ्रम में पड़ जाता है कि यह मिली-जुली बात क्यों कह दी? गीता का यह मिलाजुलापन उसकी समन्वयात्मक दृष्टि के कारण है।

श्री कृष्ण उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।। १ ।।

पार्थ (हे अर्जुन!), मयि (मुझ में), आसक्तमनाः (आसक्त किये हुए मन वाला), मदाश्रयः (मेरे आश्रय वाला), योगम्, युञ्जन (योग में, लगा हुआ तू), यथा (जिस प्रकार से) समग्रम्, माम् (पूर्ण रूप से, मुझको), असंशयम्, ज्ञास्यसि (संशय रहित, जानेगा), तत्, शृणु (उसको, सुन)

प्रश्न 1- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपने अनुसार चलने को किस प्रकार कहते हैं?

उत्तर- पिछले अध्याय में कहा गया था-

'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'

जो श्रद्धापूर्वक परमात्मा का भजन करता है, परमात्मा भी उसके साथ जुड़ जाता है, इसी भूमिका में भक्तियोग के सूत्र को उठाकर यह सातवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है श्री कृष्ण जी कहते हैं- हे अर्जुन! मुझ (परमात्मा) में लीन मन वाला पुरुष और मेरे (परमात्मा) के आश्रय रहता हुआ, योग में लगा हुआ, मेरे (परमात्मा के), समग्र रूप को कैसे जानेगा, यह तू मुझ से सन्देह रहित हो कर सुन।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया है। -

हे अर्जुन! तू सदा कहता है (और भी मेरे बहुत से भक्त इसी प्रकार कहते हैं) कि हम तो परमात्मा परब्रह्म कुछ नहीं जानते, हम तो तेरे आश्रय में है। तेरे ही सहारे योगाभ्यास तथा परमात्मा को जानेंगे। हे अर्जुन! भक्तों की इस प्रकार की आसक्ति मुझ में अच्छी नहीं, क्योंकि आसक्ति से ही छूटना है। इस आसक्ति से छूटने का उपाय मैं तुझे बताता हूँ। तू मेरे एक अंश को मत देख। मेरे समग्र रूप को देख। मुझ में तीन भाग हैं -(1) देह (2) जीवात्मा (3) सबसे मुख्य परमात्मा जिसकी निष्काम भक्ति द्वारा मैंने अपनी सत्ता उसमें समर्पित कर दी है। यदि तू मुझ में आसक्त है तो भक्ति द्वारा तू भी ब्रह्ममय हो जा। वह आसक्ति क्या जो मेरे अति क्षुद्र अंश को तो पकड़ ले और मुख्य अंश को छोड़ दे। सो मेरा देहांश तो तेरे सारथि का काम कर रहा है। मेरा जीवांश अपने आपको परब्रह्म के समर्पण किये हुए है और वह परब्रह्म प्रतिक्षण मुझे अपना स्वरूप दिखा रहा है

और बता रहा है कि मैं क्या हूँ? अत: देह+जीव+महाजीव (परमात्मा) इनमें से जो परमात्मा मुख्य है, उसको भुलाकर मेरे अति तुच्छ अंश (देह) में आसक्ति की तो क्या किया? प्रेम करना है तो मेरे समग्र रूप से प्रेम कर। तेरे सब संशय मिट जायेंगे।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते।। २।।

अहम्, ते (मैं, तेरे लिए), इदम्, सविज्ञानम्, ज्ञानम् (इस, विज्ञान सहित, तत्त्वज्ञान को), अशेषतः, वक्ष्यामि (सम्पूर्णतया, कहूँगा), यत् (जिसको), ज्ञात्वा (जान कर) इह, भूयः, अन्यत् (संसार में, फिर, और कुछ भी), ज्ञातव्यम्, न, अवशिष्यते (जानने योग्य, शेष, नहीं रह जाता)।

प्रश्न 2– श्री कृष्ण जी अर्जुन को विशेष रूप से क्या बताना चाहते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा, "मैं तुझे सारा विज्ञान सहित ज्ञान बतलाऊँगा जिसे जान लेने के बाद और कुछ शेष नहीं रह जाता।"

इस श्लोक में श्री कृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं कि परमात्मा में लीन व्यक्ति को चाहिये कि भली प्रकार परमात्मा को जानने के लिए ज्ञान और विज्ञान दोनों को समग्र रूप से प्राप्त करें। सहस्रों में से कुछ ही इस ज्ञान–विज्ञान के रहस्य को जान सकते हैं और उनमें भी कोई–कोई ही परमात्मा को जान सकता है।

इस श्लोक में ज्ञान–विज्ञान शब्द एक साथ आये हैं। शंकराचार्य जी ने शास्त्रों के आधार पर जो ज्ञान हो उसे 'ज्ञान' तथा आत्म साक्षात्कार के आधार पर जो ज्ञान हो उसे 'विज्ञान' का नाम दिया है।

परमेश्वरीय ज्ञान के सामान्य ज्ञान को ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान को 'विज्ञान' शब्द से समझ सकते हैं।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।। ३।।

सहस्रेषु, मनुष्याणाम् (हज़ारों, मनुष्यों में), कश्चित्, सिद्धये (कोई, सिद्धि के लिए), यतति (यत्न करता है और उन), यतताम्, सिद्धानाम् (यत्न करने वाले, योगियों में), अपि (भी), कश्चित्, माम् (कोई, मुझे), तत्त्वतः, वेत्ति (तात्त्विक रूप में, यथार्थ रूप में, जानता है)।

प्रश्न 3– क्या योग की सिद्धि सभी को प्राप्त होती है?

उत्तर– हज़ारों मनुष्यों में से कोई एक योग की सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है

और जो लोग प्रयत्न करते हुए योग की सिद्धि कर लेते हैं, उनमें से कोई ही परमात्मा को तत्त्व रूप में जानता है, श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, "हे अर्जुन! मैं धर्मोद्धार तथा धर्म– साम्राज्य–स्थापना रूप जिस महान् उद्देश्य को लेकर आया हूँ उसे दुर्योधन, कंस, शिशुपाल, जरासन्ध जैसे सैंकड़ों लोग मुझे न समझ कर मुझ से द्वेष करते हैं। कुछ लोग मुझ में आसक्त होकर मुझे ही प्रभु मानने लगते हैं। वे भ्रम में हैं। मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, ईश्वर की प्रेरणा से ही कर रहा हूँ। इसलिए जिन्होंने मेरे प्रभु समर्पण और ईश्वर प्राणिधान को जाना है, उन्होंने ही मेरा तत्त्व जाना है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। ४।।

भूमि, आपः, अनलः, वायुः, खम्, मनः, बुद्धिः च, अहंकार, एव (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार भी), इति, इयम्, अष्टधा (इस प्रकार, यह, आठ, प्रकार से) भिन्ना, मे, प्रकृतिः (विभाजित, मेरी, प्रकृति है)।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।। ५।।

इयम्, तु (यह [आठ प्रकार के भेदों वाली], तो), अपरा (अपरा अर्थात् जड़ प्रकृति है और), महाबाहो (हे अर्जुन!), इतः, अन्याम् (इससे, अन्य), यया इदम्, जगत् (जिससे, यह, सम्पूर्ण जगत्), धार्यते (धारण किया जाता है), मे, जीवभूताम् (मेरी, जीव रूप), पराम् (चेतन), प्रकृतिम्, विद्धि (प्रकृति को जान)।

प्रश्न 4– श्री कृष्ण जी ने ईश्वर का क्या स्वरूप बताया है?

उत्तर– हे अर्जुन! यह आठ प्रकार की प्रकृति तो अपरा अर्थात् प्रत्यक्ष प्रकृति है वह है पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार। दूसरी जीव भूतों (प्राणियों) की भी है उसे अप्रत्यक्ष या परा प्रकृति कहते हैं। परमात्मा ने दोनों प्रकार की सृष्टि से सम्पूर्ण जगत् को धारण किया है।

संसार में जड़ तथा चेतन – ये दो तत्त्व दिखलाई देते हैं। जड़ का रूप अष्टधा प्रकृति है। चेतन का रूप संसार में अनन्त जीव हैं। ये दोनों मिलकर ईश्वर का रूप बनते हैं, इनमें हम ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते हैं। जड़, चेतन रूप इस सृष्टि का दर्शन ही ईश्वर का आभास कराता है। इसमें जड़ प्रकृति ईश्वर का 'अपर' (प्रत्यक्ष) रूप है। अर्थात् दृष्य जगत् को देखकर इसके

बनाने वाले का ज्ञान होता है। चेतन जीव के अन्दर ईश्वर का पर (अप्रत्यक्ष) रूप है। यथार्थ में ईश्वर का निज रूप 'पर' तथा 'अपर' से परे है।

स्वामी रामदेव जी के अनुसार यहाँ पर 'मे अर्थात् मेरी' शब्द से अभिप्राय है पुरुषोत्तम, परमपुरुष, परमात्मा, विश्वातीत आत्मतत्त्व। परा प्रकृति से अभिप्राय है परमात्मा की आद्या सनातन प्रकृति और उसकी परा उत्पादिका शक्ति। पराप्रकृति स्वयं-सत् परमात्मा की अनन्त, काल रहित चेतन शक्ति है जिसमें से विश्व के समस्त भूत प्रकट होते हैं और कालातीत सत्ता से काल में आते हैं, परन्तु इस विविध प्रकार की सृष्टि को विश्व में आध्यात्मिक आधार प्रदान करने के लिए वह पराप्रकृति जीव रूप बनी हुई है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।। ६।।

इति, उपधारय (ऐसा समझ कि), सर्वाणि, भूतानि (सम्पूर्ण प्राणी), एतद्योनीनि (इन दोनों, प्रकृतियों से उत्पन्न होने वाले हैं और), अहम् (मैं=परमात्मा) कृत्स्नस्य, जगतः (सम्पूर्ण, जगत् का), प्रभवः तथा प्रलयः (प्रभव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ)।

प्रश्न 5- संसार के सब प्राणी किससे उत्पन्न होते हैं और इनका अधिष्ठाता कौन है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को कहते हैं कि परमात्मा सब कामों का मूल है। हे अर्जुन! तू यह समझ ले कि संसार के सब प्राणी इन दोनों से (जड़ प्रकृति तथा चेतन जीव से) उत्पन्न होते हैं और मैं (परमात्मा) इस सम्पूर्ण जगत् का 'प्रभव' अर्थात् मूल हूँ , मैं (परमात्मा ही) इस सम्पूर्ण जगत् का प्रलय अर्थात् अन्त हूँ। इस जड़ चेतन का अधिष्ठाता परमात्मा है, जैसे शरीर में आत्मा है, वह शरीर का अधिष्ठाता है वैसे इस जड़ चेतन का अधिष्ठाता परमात्मा है जैसे आत्मा का दर्शन इस शरीर द्वारा ही होता है, वैसे परमात्मा का दर्शन इस जड़ चेतनमयी सृष्टि द्वारा ही होता है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस पर टिप्पणी करते हैं-

यदि श्री कृष्ण जी अपने को परमात्मा कहते तो 'एतद्योनीनि' के स्थान में 'मद्योनीनि' ऐसा कहते अर्थात् सब प्राणी इससे पैदा हुए हैं, ऐसा न कहकर 'मुझसे पैदा हुए हैं,' ऐसा कहते। सो यह 'एतत्' से 'अहम्' में बदलना अर्थात् पूर्वार्ध में 'एतद्योनीनि' और श्लोक के उत्तरार्ध में '**अहम् कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा**' इस प्रकार कहना तभी ठीक समझ में आ सकता है, जब हम 'एषा परा प्रकृतिः कथयति' इतना अध्याहार कर लें।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।। ७।।

धनंजय (हे अर्जुन!), मत्तः, अन्यत (मुझ से, भिन्न दूसरा) किंचित, परतरम्, न, अस्ति (कोई भी, परमकारण, नहीं है), इदम्, सर्वम् (यह, सम्पूर्ण जगत्), सूत्रे, मणिगणाः, इव (मुझमें, मणियों के सदृश), मयि, प्रोतम् (मुझ में गुँथा हुआ है)।

प्रश्न 6- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा के बारे में किस प्रकार पिरोया हुआ बताते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा की सर्वव्यापकता के बारे में बताते हैं, "हे धन को जीतने वाले धनंजय, अर्जुन! ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो परमात्मा से उच्चतर हो। जो कुछ भी इस संसार में है, वह सब परमात्मा में इस प्रकार पिरोया हुआ है जैसे मणियाँ धागे में पिरोई जाती है।"

"ईश्वर से उच्चतर और कोई मूल तत्त्व नहीं है। वह ईश्वर ही सब वस्तुओं को बनाता है। संसार की सत्ताएँ परमात्मा द्वारा उसी प्रकार मिलाकर रखी जाती है, जैसे कि धागा मणियों को आपस में मिलाकर रखता है।"

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।। ८

कौन्तेय (हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन!), अहम्, अप्सु, रसः (मैं, जल में, रस हूँ), शशिसूर्ययोः, प्रभा, अस्मि (चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ), सर्ववेदेषु, प्रणवः (सम्पूर्ण वेदों में, ओंकार हूँ), खे, शब्दः (आकाश में शब्द हूँ और) नृषु, पौरुषम् (पुरुषों में, पुरुषत्व हूँ)।

प्रश्न 7- श्री कृष्ण जी परमात्मा को, जल चन्द्रमा, सूर्य, सम्पूर्ण वेदों, आकाश एवं पुरुषों में किस रूप में व्यापक बताते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी परमात्मा की व्यापकता का वर्णन करते हुए कहते हैं, हे अर्जुन! (परमात्मा) जलों में रस है, चन्द्रमा तथा सूर्य में प्रकाश है, सब वेदों में ओंकार रूप में है, आकाश में शब्द है और सभी पुरुषों में पुरुषत्व है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस की व्याख्या में कुछ इस प्रकार वर्णन किया है-

यहाँ साँख्य दर्शन में वर्णित एक रहस्य का उल्लेख है। जब सत्त्व, रजस्

और तमस् की साम्यावस्था भंग होती है तो गुण बर्हिमुख हो आस-पास के परमाणुओं को आकर्षित करते हैं। इससे परमाणु-समूह रूप बन जाते हैं। ये आप: कहलाते हैं। ये परमाणु- समूह तीन प्रकार के होते हैं (1) सत्त्वगुण प्रधान - इन्हें वैकारिक अहंकार कहते हैं। (2) तेजस गुण प्रधान होते हैं, उन्हें तेजस अहंकार कहते हैं (3) तमस गुण प्रधान इन्हें भूतादि अहंकार कहते हैं। इन आप: (अहंकारों) में जो प्रधानगुण है, वह इन अहंकारों का रस कहाता है। गीता में इन गुणों को ही आप: का रस कहा है।

शतपथ ब्राह्मण (६-१-१-१,२) में परमाणुओं के भीतर ही इस शक्ति को इन्द्र कहा है। इन्द्र जब बहिर्मुख हो जाता है तो सात भागों में बँट जाता है फिर शतपथ ब्राह्मण (६-१-१-६,७,८) में कहा है कि ये सात भाग इन्द्र के सात प्राण कहाते हैं। जब एकत्रित हो जाते हैं तो पुरुष (प्रजापति) कहाता है। यही अभिप्राय गीता का भी है, अत: उसके प्रवक्ता श्री कृष्ण जी कहते हैं कि पुरुष में पुरुषत्व परमात्मा ही है।

पुण्यो गन्ध: पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।। ९।।

पृथिव्याम्, पुण्य:, गन्ध: (पृथ्वी में पवित्र गन्ध हूँ, यहाँ 'गन्ध' शब्द से अभिप्राय शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से इस प्रसंग में कारण रूप तन्मात्राओं का ग्रहण है, इस बात को स्पष्ट करने के लिए उनके साथ पवित्र शब्द जोड़ दिया गया है) च, विभावसौ, तेज:, अस्मि (और, अग्नि में, तेज हूँ), च, सर्वभूतेषु, जीवनम् (और सम्पूर्ण भूतों प्राणियों में, उनका जीवन हूँ), च, तपस्विषु तप:, अस्मि (और तपस्वियों में, तप हूँ)।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।। १०।।

पार्थ (हे अर्जुन!), सर्वभूतानाम्, सनातनम्, बीजम् (सम्पूर्ण प्राणियों का, सनातन, बीज), माम्, विद्धि, (मुझ को ही जान), अहम्, बुद्धिमताम्, बुद्धि: (मैं, बुद्धिमानो की, बुद्धि और), तेजस्विनाम्, तेज:, अस्मि (तेजस्वियों का तेज हूँ)।

प्रश्न 8- श्री कृष्ण जी, परमात्मा को पृथ्वी, अग्नि, सम्पूर्ण, प्राणियों, तपस्वियों उन सबका बीज किस प्रकार कहते हैं?

उत्तर- यहाँ पर श्री कृष्ण जी अपने आपको परमात्मा का प्रतिनिधि मानकर

ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हैं- हे अर्जुन! उत्तम शुभभावनोत्तेजक पुण्य सुगन्ध, जिन्हें फल रूप में मिलता है, सो मुझ (परमात्मा) से मिलता है। चाँद और सूर्य की शोभा तो मैं (परमात्मा) हूँ ही सूर्य तथा अग्नि में प्रताप भी मैं (परमात्मा) ही उत्पन्न करता हूँ। सब प्राणियों को जीवन सामग्री पहुँचाने वाला तथा सत् पुरुषों में उत्साह भरने वाला मैं (परमात्मा) ही हूँ। तपस्वी लोग मेरे (परमात्मा के) ही उपदेश तथा दृष्टान्त से तप करते हैं।

हे अर्जुन! सब प्राणियों का सनातन बीज मुझे (परमात्मा को) ही जान। बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज मैं ही हूँ।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार प्राणियों का सनातन बीज से अभिप्राय है जीवन को आरम्भ करने वाला कारण। आरम्भ में जीवन का कारण परमाणु में छुपी त्रिगुणात्मक शक्ति ही है जिसे शतपथ ब्राह्मण ने इन्द्र और प्राण कहा है। यही जीवन का स्रोत है और वही उत्तरोत्तर प्राणियों में जीवन के रूप में चला आता है। यहाँ जीवन शक्ति और जीवात्मा में भेद समझ लेना चाहिये-

त्रिगुणात्मक शक्ति प्रकृति में है। गीता में इसका ही उल्लेख किया जा रहा है, परन्तु प्राणी में इस शक्ति का प्रयोग करने वाला एक चेतन तत्त्व शक्ति से पृथक् है। शक्ति स्वयं जीवन-रहित होने से अपने कार्य का स्थान इसकी दिशा तथा इसका समय निश्चित नहीं कर सकती।

इसको निश्चय करने वाला कोई चेतन तत्त्व होना चाहिये। वह शक्ति से पृथक् है।

शक्तिमान् शक्ति से पृथक् है। प्राण तो प्राकृतिक शक्ति है जो परमात्मा की करनी से प्रकट होती है, परन्तु उस शक्ति को दिशा देने वाला चेतन तत्त्व जीवात्मा है।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। ११।।

भरतर्षभ (हे भरत श्रेष्ठ!), अहम् (मैं), बलवताम्, (बलवानों का), कामराग, विवर्जितम् (आसक्ति और कामनाओं से, रहित), बलम् (बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ), च (और) भूतेषु (सब प्राणियों में) धर्माविरुद्ध, (धर्म [शास्त्र] के अनुकूल) काम: अस्मि (काम हूँ)।

प्रश्न 9- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपनी शक्ति का किस प्रकार वर्णन करते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं, ''हे अर्जुन! मैं बलवानों का बल (सामर्थ्य) हूँ, परन्तु इनकी कामनाओं और विषयों की आसक्ति से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और सब प्राणियों को धर्मविरुद्ध कार्य करने को मैं नहीं कहता।''

यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह समझाना चाह रहे हैं कि जो भी मनुष्य काम और राग से पराधीन होकर पशुवत् व्यवहार करते हैं, मैं उन्हें ब्रह्मचर्य का उपदेश करता हूँ, उन्हें धर्मयुक्त व्यवहार करने की प्रेरणा देता हूँ। प्रभु का उपदेश प्रजा तक पहुँचाने वाला होने के कारण मैं भी वैसा ही हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।। १२

च, एव, ये (और भी, जो), सात्त्विकाः भावाः (सात्त्विक भाव है और), ये (जो), राजसाः च, तामसाः (रजोगुण तथा तमोगुण से होने वाले भाव है) तान् (उन सबको) [तू] मत्तः, एव, इति, विद्धि (मुझ से, ही, होने वाले हैं, ऐसा जान), तु (परन्तु, वास्तव में), तेषु (उनमें), अहम् (मैं) [और], ते, मयि, न (वे मुझ में नहीं है)।

प्रश्न 10– श्री कृष्ण जी अर्जुन को सत्त्व, रज और तम का सम्बन्ध परमात्मा से कैसे बताते हैं ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा की सामर्थ्य को बताते हैं, ''हे अर्जुन! और ये जो सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण से होने वाले व्यवहार हैं, वे सब परमात्मा से दिए हुए सामर्थ्य से होते हैं। इस पर भी उनमें मैं नहीं हूँ , न ही वे मुझ में हैं।''

सत्त्व, रज और तम–परमात्मा की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं, परमात्मा के आश्रय से रहते हैं, उनके आश्रय से टिके हुए हैं, सत्त्वादि के आश्रय से परमात्मा टिका हो, ऐसी बात नहीं है। जैसे– राजा की शक्ति से उसके राजकर्मचारी टिके होते हैं, राज–कर्मचारियों की शक्ति से राजा नहीं टिका होता। तभी कहा, ये मुझ में टिके रहते हैं, ये मुझ में है, मैं इनमें नहीं। 'ये मुझ में हैं' – इसका अर्थ है ये मेरे आश्रय से टिके हैं, 'मैं इनमें नहीं' – इसका अर्थ है, मैं इनके आश्रय पर टिका हुआ नहीं।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।। १३।।

गुणमयैः (गुणों के कार्यरूप सात्त्विक, राजस और तामस) एभिः, त्रिभिः, भावैः

(इन, तीन प्रकार के भावों से।,) इदम्, सर्वम्, जगत्, मोहितम् (यह, सारा, प्राणिसमुदाय, मोहित हो रहा है), एभ्यः, परम् (इन, तीन गुणों से परे), माम्, अव्ययम् (मुझ, अविनाशी को), न, अभिजानाति (नहीं, जानता)।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।। १४।।

हि, एषा (क्योंकि, यह), दैवी, गुणमयी (दिव्य गुण वाली अलौकिक, त्रिगुणमयी) मम, माया, दुरत्यया (मेरी, माया [प्रकृति], दुस्तर है), ये, माम् एव (जो, मुझ को, ही), प्रपद्यन्ते (शरण में आते हैं), ते, एताम्, मायाम्, तरन्ति (वे, इस, माया को, तर जाते हैं)]

प्रश्न 11– श्री कृष्ण जी किन लोगों के इस मोह माया से तरने की बात कर रहे हैं ?

उत्तर– यहाँ पर श्री कृष्ण जी परमात्मा के स्वरूप को प्रकट करते हुए कहते हैं– सभी लोग सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों के कारण मोहित हो रहे हैं। इन गुणों से परे परमात्मा के अविनाशी भाव को लोग नहीं जानते हैं, क्योंकि वे भ्रम में हैं। इस त्रिगुणमयी शक्ति से बचना बहुत ही दुस्तर है। वे लोग जो परमात्मा का चिन्तन करते हैं, वे इस माया जाल से पार हो जाते हैं।

त्रिगुणात्मक (सत्त्व, रजस्, तमस्) प्रकृति के गुण प्राणियों में भी आ जाते हैं और प्राणी उन गुणों से प्रेरित हो कार्य करते हैं। उन गुणों को प्रकृति से युक्त करने वाला परमात्मा है। इससे जितने भी त्रिगुणात्मक कार्य होते हैं, वे परमात्मा की शक्ति से ही होते हैं, परन्तु गीता का प्रवक्ता कह रहा है कि, उनसे जो सात्त्विक, राजसी तथा तामसी कार्य होते हैं वे परमात्मा के करने से नहीं होते। परमात्मा इनके उद्देश्यों में सम्मिलित नहीं है। परमात्मा द्वारा विमुक्त हुई शक्ति का प्रयोग करने वाला कोई अन्य है। वह है जीवात्मा।

जो मनुष्य इस शक्ति के प्रलोभनों में फँस जाते हैं, वे इससे पार नहीं हो सकते। इसे पार करना अति दुष्कर है। इसे पार करने के लिए परमात्मा का चिन्तन ही सहायक है। इस चिन्तन से मनुष्य जान जाता है कि त्रिगुणात्मक शक्ति क्या है और इसका परमात्मा से क्या सम्बन्ध है? इससे यह माया (त्रिगुणात्मक शक्ति) के जाल से बच सकता है।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।। १५।।

मायया (माया के द्वारा), अपहृतज्ञाना: (जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, ऐसे), आसुरम्, भावम्, आश्रिताः (आसुर, स्वभाव को, धारण किये हुए), नराधमाः (मनुष्यों में नीच), दुष्कृतिनः, मूढाः (दूषित कर्म करने वाले, मूढ़ लोग) माम् न, प्रपद्यन्ते (मुझ को, नहीं, प्राप्त करते हैं)।

प्रश्न 12- कौन लोग परमात्मा को प्राप्त नहीं करते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह समझा रहे हैं कि- वह लोग जो इस रचना रूपी माया के फेर में पड़े रहते हैं और सामूहिक कल्याणार्थ यज्ञ रूप कर्म न करके 'मेरा-मेरा' करने वाले आसुरी भाव में पड़े हुए अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति में जीवन व्यतीत करते हैं, जिनके मनुष्य जीवन का उद्देश्यभूत यज्ञभावनामय ज्ञान (परोपकारी जीवन) इस भौतिक संसार-द्वारा अपहरण कर लिया जाता है, वे भाग्यहीन मूढ़ नराधम परमात्मा की शरण में नहीं जाते।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।। १६।।

भरतर्षभ अर्जुन (हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन!), चतुर्विधाः, जनाः, माम्, भजन्ते (चार प्रकार के लोग मुझको भजते हैं), आर्तः, जिज्ञासुः, अर्थार्थी, च सुकृतिनः (दुःखी, जिज्ञासु, सांसारिक पदार्थों की चाह वाला [अर्थाथी], सुकर्मी [ज्ञानी])।

प्रश्न 13- श्री कृष्ण जी ने कितने प्रकार के भक्त बताये हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने कहा कि हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन! चार प्रकार के भक्त परमात्मा का भजन करते हैं (यह उपदेश भगवान् ने मुझे दिया और मैं तुझे सुना रहा हूँ) (क) आर्त (दुःखी) (ख) उस दुःख से छूटने का उपाय जानने की प्रबल इच्छा वाले जिज्ञासु (ग) प्रत्येक बात में अर्थ देखने वाला अर्थात् सांसारिक पदार्थों की चाह करने वाला अर्थार्थी (घ) ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।। १७।।

तेषाम् (उन सब में), नित्ययुक्तः (सदा ब्रह्म के साथ युक्त हुआ-हुआ), एकभक्तिः (अनन्य भक्ति वाला), ज्ञानी (ज्ञानी भक्त), विशिष्यते (सब से श्रेष्ठ है), हि (क्योंकि),ज्ञानिनः (ज्ञानी को), अहम् (मैं) अत्यर्थम् प्रियः (अत्यन्त

प्रिय हूँ), च (और) सः, मम, प्रियः (वह ज्ञानी मुझे, अत्यन्त प्रिय है)।

प्रश्न 14- श्री कृष्ण जी के अनुसार सब से श्रेष्ठ भक्त कौन सा है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ज्ञानी व्यक्ति को सब से श्रेष्ठ भक्त मानते हैं। श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि - हे अर्जुन! जो ज्ञानी है वह परमात्मा के साक्षात्कार से उसकी सम्पूर्ण प्रजा के दुःख को अपना दुःख जानता है। वह **'कामये दुःखतप्तानाम् प्राणिनामार्तिनाशनम्'** इस भावना के कारण प्राणि मात्र के दुःख दूर करने तथा सुख प्रदान की प्रबल अभिलाषा से वह सदा ही प्रभु- स्मरण करता है। इसलिए वह नित्ययुक्त है। उसकी भक्ति एक-रस-भक्ति होती है। उस भक्ति के कारण वह मुझे अत्यन्त प्रेम करता है। इसलिए मैं उसे प्रेम करता हूँ (हे अर्जुन इसी प्रभु प्रेम से मैं प्रभु का प्यारा बना हूँ, और तू भी अन्यायियों को मार कर प्रभु का प्यारा बन)।

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।। १८।।

एते, सर्वे, एव, उदाराः (ये, सभी, ही, उदार है), तु (परन्तु), ज्ञानी (ज्ञानीभक्त), आत्मा, एव (मेरा आत्मा, ही है) मे, मतम् (ऐसा मेरा, मत है), हि (क्योंकि), सः (वह ज्ञानी भक्त), युक्तात्मा (ब्रह्म में युक्त हुआ-हुआ), अनुत्तमाम्, गतिम् (अत्यन्त उत्तम, गति को), माम् एव, अस्थितः (मुझ में, अच्छी प्रकार स्थित है)।

प्रश्न 15- श्री कृष्ण जी ज्ञानी भक्त को कैसा मानते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि - हे अर्जुन! वैसे तो सभी भक्त श्रेष्ठ हैं परन्तु ज्ञानी भक्त को मैं अपनी आत्मा ही मानता हूँ, क्योंकि वह अपनी आत्मा को परमात्मा से जोड़कर, परमात्मा में स्थित होकर अति उत्तम गति को प्राप्त होता है।

इस श्लोक में ज्ञानी को सर्वश्रेष्ठ इसलिए कहा है क्योंकि 'आर्त' तो अपने मानसिक कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् को भजता है, 'अर्थार्थी' सांसारिक लाभ के लिए भगवान् को भजता है, ''जिज्ञासु'' बौद्धिक लाभ के लिए भगवान् का आश्रय लेता है, परन्तु ज्ञानी भक्त तो किसी लाभ का आश्रय न लेकर भगवान् का आश्रय लेता है, क्योंकि वह 'युक्तात्मा' है। भगवान् के प्रति उसने अपने को निःस्वार्थ तथा निष्काम भाव से अर्पित कर दिया है। दूसरे भक्त माँगते हैं, यह कुछ नहीं माँगता, अपने को ही अर्पण कर देता है, इसलिए वह सर्वोत्तम है।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।। १९।।

बहूनाम्, जन्मनाम्, अन्ते (बहुत, जन्मों के, अन्त के जन्म में), ज्ञानवान् (ज्ञानवान्), सर्वम्, वासुदेवः (सब कुछ वासुदेव है, जो सब प्राणियों में वास करता है।), इति, माम्, प्रपद्यते (इस प्रकार जो मुझ (भगवान् को) भजता है), सः, महात्माः, सुदुर्लभः (वह, महात्मा, अत्यन्त दुर्लभ है)।

प्रश्न 16- ज्ञानी को श्री कृष्ण जी ने दुर्लभ क्यों बताया है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते है कि - हे अर्जुन! देखो जिधर मै जाता हूँ "वासुदेव कृष्णः" अर्थात् कृष्ण वसुदेव का पुत्र है, यही ध्वनि सुनता हूँ किन्तु यह तो उनकी भारी भूल है, घर-घर में बसने वाला वह प्रभु ही वासुदेव है, मैं नहीं। यह सारा ब्रह्माण्ड ही उसकी सन्तान है। इसलिए जो प्राणिमात्र को वासुदेव अर्थात् परमात्मा की सन्तान समझता है, वह ज्ञानवान् जन्म-जन्मान्तर की साधना के पश्चात् इस अवस्था को पहुँचता है और इस प्रकार प्राणि-मात्र को प्रभु की सन्तान होने के नाते अपना भाई समझने वाला महात्मा अति दुर्लभ है।

'वासुदेवः सर्वम्' वासुदेव सब कुछ है। वासुदेव जीवन का स्वामी है, जो हम सब में निवास करता है। इस वाक्यांश का अर्थ आचार्य रामानुज ने यह लगाया है कि 'वासुदेव मेरा सर्वस्व है' इसका संकेत परमात्मा के उस अनश्वर गौरव की ओर है, जो विनीत और विश्वासी भक्त को अपने हृदय में अनुभव होता है। परमात्मा सब कुछ है, जबकि हम कुछ भी नहीं है। अन्य सब वस्तुओं की भाँति मनुष्य का अस्तित्व परमात्मा के बिना नहीं रह सकता, जबकि परमात्मा का अस्तित्व सदा बना रहता है। हम विश्वास पूर्वक अपने-आप को परमात्मा के हाथों में यह विश्वास करते हुए सौंप देते हैं कि वह सब कुछ है।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।। २०।।

तैः, तैः, कामैः (उन, उन भोगों की कामना द्वारा), हृतज्ञानाः (जिनका ज्ञान हरा जा चुका है, वे लोग) स्वया, प्रकृत्या (अपने, स्वभाव से), नियताः (प्रेरित होकर), तम्, तम् नियमम् (उस, उस, नियम को), आस्थाय (आश्रय लेकर), अन्य, देवताः, प्रपद्यन्ते (अन्य, देवताओं को, प्राप्त होते हैं, उपासना करते हैं)।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।। २१।।

यः, यः, भक्तः (जो जो, सकाम भक्त), याम्, याम्, तनुम् (जिस-जिस, शरीर को), श्रद्धया, अर्चितम्, इच्छति (श्रद्धा से, पूजना, चाहता है) तस्य, तस्य, श्रद्धाम् (उस-उस, भक्त की श्रद्धा को), अहम् (मैं), ताम्, एव, अचलाम्, विदधामि (उस देवता के प्रति, ही, स्थिर करता हूँ)।

प्रश्न 17- ईश्वर के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासकों के विषय में श्री कृष्ण जी का क्या कथन है ?

उत्तर- जो अपने को भगवान् के अर्पण नहीं करते, उन्हीं की भक्ति में सराबोर नहीं रहते, वे भगवान् के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न कामनाओं के उद्देश्य से अन्य देवताओं की उपासना में लगे रहते हैं। कामनाओं की पूर्ति के उद्देश्य से भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवताओं के उपासकों के विषय में गीता में कहा है-

अपने स्वभाव से प्रेरित भोगों की कामना करते हुए, हीन ज्ञान वाले (जिनका ज्ञान हरा जा चुका है), मनुष्य परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं को भजते हैं। जो-जो पुजारी जिस-जिस देवता के शरीर की श्रद्धा से पूजा करना चाहता है वह उसी देवता के प्रति श्रद्धा स्थिर कर लेता है।

जो व्यक्ति परमात्मा को छोड़ अन्य देवताओं का भजन करने लगते हैं वे ऐसा अपने स्वभाव से करते हैं। आजकल के वैज्ञानिक एवं विभिन्न मतों वाले इसी श्रेणी के भक्त हैं। वे परमात्मा को छोड़ विद्युत्, अग्नि, सूर्य, तारागण इत्यादि प्राकृतिक जड़ शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करने में लगे हैं। गीता का प्रवक्ता उन्हें हीन ज्ञान वाला कहता है।

ऐसे लोग भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना करते हैं। अमुक् कामना अमुक् नियम के अनुसार पूरी होनी चाहिये- इसी उधेड़बुन में पड़कर लोग भगवान् में दिल लगाने के स्थान पर कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवताओं की उपासना करने लगते हैं और संसार में भिन्न-भिन्न मतवादों को खड़ा कर देते हैं।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने अपनी व्याख्या में डॉ. राधा कृष्णन् जी के विचारों को उद्धृत किया है, उनके अनुसार, "आत्मा अपने संघर्ष में जितना ऊँचा उठ जाता है, परमात्मा उसे कृतार्थ करने के लिए ठीक उतना ही नीचे झुकता है। परमात्मा जिन रूपों में प्रकट हो उनकी संख्या असीम है। जैसे छाया अपने मूल-तत्त्व की प्रकृति को प्रतिबिम्बित करती है, वैसे भगवान् अपनी मूल प्रकृति में रहता हुआ भी जो व्यक्ति विकास की सतह पर होता है उसी सतह पर

जब वह भगवान् को अपनी किसी भी कामना के लिए स्मरण करता है, तो भगवान् अपनी छाया डाल देता है। अपना आशीर्वाद पहुँचा देता है। डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं, गीता के अनुसार सब प्रकार की पूजा ऊँचा उठाती है। चाहे हम किसी भी वस्तु पर श्रद्धा क्यों न करें,यदि हमारी श्रद्धा मन के भीतर उपजी है, तो यह प्रगति में सहायक होती है। गीता के ये वाक्य प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के द्योतक है। हमें किसी भी धर्म के प्रति हीन भावना नहीं रखनी चाहिये।"

मुझे लगता है कि डॉ. राधाकृष्णन जी एक ओर भगवान् को साकार और दूसरी ओर असीम बतलाते हैं, वे ऊहापोह की स्थिति में हैं, और भूल से भी मतों को धर्म मानने लगे हैं, जबकि वेद के अतिरिक्त जितनी भी विचारधारा है वे मतमतान्तरों के कारण है। डॉ. राधाकृष्णन् जी श्रद्धा के प्रति आदर भाव प्रकट करते हैं, यह तो ठीक है परन्तु वह श्रद्धा भी अन्ध श्रद्धा नहीं होनी चाहिये। इसी अन्ध श्रद्धा के कारण विभिन्न मत इस संसार में उत्पन्न हो गये, जिससे एक दूसरे के प्रति द्वेष, अपने मत को श्रेष्ठ घोषित करने की परम्परा चल पड़ी है, परन्तु श्री कृष्ण जी का उद्देश्य यहाँ पर स्पष्ट है कि जो लोग भगवान् के अतिरिक्त अन्य देवताओं की उपासना करते हैं उनकी सकाम भावनायें एवं भौतिक इच्छायें पूर्ण हो सकती है। मोक्ष की प्राप्ति में वे सहायक नहीं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान्।। २२।।

सः, तया, श्रद्धया, युक्तः (वह पुरुष, उस, श्रद्धा से युक्त होकर), तस्य, आराधनम्, ईहते (उस, देवता का पूजन, करता है), च (और), ततः, मया, एव (उस देवता से, मेरे द्वारा, ही), विहितान् (विधान किये हुए), तान्, कामान् (उन, इच्छित भोगों को), हि, लभते (निःसन्देह, प्राप्त करता है)।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।। २३।।

तु (परन्तु), तेषाम्, अल्पमेधसाम् (उन अल्पबुद्धिवालों का) तत्, फलम् (वह फल), अन्तवत् भवति (नाशवान है तथा वे) देवयजः (देवताओं की पूजा करने वाले), देवान्, यान्ति (देवताओं को प्राप्त होते हैं)मद्भक्ताः (मेरे भक्त), माम्, अपि यान्ति (मुझ को ही, प्राप्त होते हैं)

प्रश्न 18- श्री कृष्ण जी सकाम भक्तों की गति क्या बताते हैं ?

उत्तर- जो भक्त सकाम भावना से किसी देवता की आराधना करता है इससे वह अपनी कामनाओं को पा लेता है, परन्तु वह कामनायें नाशवान् होती हैं। जो निष्काम भाव से परमात्मा के कार्यों में लगा रहता है, वह ही परमात्मा को प्राप्त होता है।

जो मनुष्य सकामभाव रखने वाले तथा देवताओं को भगवान् से भिन्न समझने वाले हैं, उन्हें नाशवान् फल की प्राप्ति होती है। जीते-जी तथा मृत्यु के बाद उन्हें जो पदार्थ लोक आदि में मिलते हैं, वे सभी नाशवान् हैं। ऐसे कामनाओं को पूर्ण करने वाले मनुष्य अपने को कितना ही बुद्धिमान् क्यों न समझें, पर वास्तव में वे अल्पबुद्धि हैं।

यहाँ देवताओं में और भगवान् में भेद किया गया है। गीता के समय का कर्मकाण्ड देवताओं की पूजा पर बल देता है। गीता ने कर्मकाण्ड को भी स्वीकार किया है, परन्तु गीता का यहाँ कहना है कि कर्मकाण्ड से संसार की कामनायें पूर्ण होती हैं, परन्तु भगवान् नहीं मिलते। कर्मकाण्ड से भी जो मनोकामनायें पूर्ण होती हैं, उनके पूर्ण करने में भी भगवान् का हाथ होता है। इसलिए यथार्थ दृष्टि सकामता को छोड़कर निष्कामता से अपने को भगवान् के प्रति अर्पण कर देने की ही है।

इन श्लोकों से स्पष्ट है कि सब पदार्थों में कार्य करने वाली शक्ति परमात्मा है। सूर्य, अग्नि विद्युतादि देवताओं में सामर्थ्य परमात्मा का ही है। इस कारण जो देवताओं के बाहरी स्वरूप (तन) की स्तुति करते हैं, वे देवताओं को तो प्राप्त करते हैं जैसे वैज्ञानिक विद्युत शास्त्र का अध्ययन कर अनेक यन्त्र कलाओं का भौतिक सुख प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु वह सुख भी स्वार्थबुद्धि के कारण युद्ध का कारण बन कर अपना अन्त स्वयं कर लेता है। जल देवता के वश में करने से अनेक नहरें बनकर अन्न तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होता है, परन्तु वही अन्न भोक्ताओं के कलह का कारण बनकर वह भी दुःख का हेतु हो जाता है।

अतः इन देवताओं की प्राप्ति से परमात्मा की प्राप्ति नहीं हो पाती। देवताओं के स्वरूप का ज्ञान मनुष्य के मरने पर समाप्त हो जाता है, परन्तु परमात्मा का ज्ञान जिसे प्राप्त होता है, उसका फल स्थायी है।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।। २४।।

अबुद्धयः (बुद्धिहीन पुरुष) मम (मेरे), अनुत्तमम्, अव्ययम् (सर्वोत्तम को,

अविनाशी को), परम्, भावम्, अजानन्तः (परमभाव को न जानते हुए), अव्यक्तम् (मन, इन्द्रियों से परे) माम् (मुझ को अर्थात् परम पिता परमात्मा को), व्यक्तिम् (व्यक्ति, देवता के रूप में), आपन्नम्, मन्यन्ते (प्राप्त हुआ मानते हैं)।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।। २५।।

योगमायासमावृतः (प्रकृति के तीन गुणों [सत्त्व, रजस्, तमस्] के योग रूपी माया से ढका हुआ), अहम् (मैं अर्थात् परमात्मा), सर्वस्य, प्रकाशः, न (सबके, प्रत्यक्ष नहीं होता इसलिए), अयम् (यह), मूढः, लोकः (अज्ञानी, जन) माम् (मुझ अर्थात्, परमात्मा को), अजम्, अव्ययम्, न (जन्म रहित, अविनाशी परमेश्वर को, नहीं), अभिजानाति (जानता अर्थात् मुझको जन्म मरण वाला समझता है)।

प्रश्न 19- अज्ञान के कारण ईश्वर के विषय में क्या भ्रम है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझाते हुए परमात्मा की वास्तविकता को बताते हैं-

हे अर्जुन! बुद्धिहीन लोग मुझ अर्थात् परमात्मा (अविनाशी को देवता के रूप में) व्यक्ति हुआ मानने लगते हैं तभी वे भगवान् की भिन्न-भिन्न देवताओं के रूप में, व्यक्ति रूप में उपासना करते हैं। परम पिता परमात्मा अविनाशी है, जिसके सम्मुख दूसरा कोई नहीं है वे इस रूप के स्थान पर भगवान् को व्यक्ति (साकार) रूप में मानते हैं, यह बुद्धिहीन लोगों का भ्रम है।

श्लोक संख्या २४ में 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्' का 'अव्यक्त' को 'व्यक्त' हुआ समझना- यह अर्थ भी हो सकता है, अर्थात् बुद्धिहीन लोग जो 'अप्रकट' है उसे 'प्रकट' मानने लगते हैं। यहाँ क्योंकि 'व्यक्तिमापन्नम्' आया है, इसलिए इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जो 'अव्यक्त' है उसे निबुर्द्धि लोग 'व्यक्ति' विशेष 'देवता'- विशेष मानने लगते हैं।

श्लोक संख्या २५ में योगमाया का अर्थ है सत्त्व, रजस्, तमस् इन तीन गुणों के योग से जो माया बनती है उससे ब्रह्म का वास्तविक रूप ढका रहता है, ऐसा वेद में भी कहा है-

'हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्'

अर्थात् सुन्दर चमकदार पात्र का मुख बन्द है जिसमें अविनाशी तत्त्व छिपा हुआ है।

'अज' और 'अव्यय' ब्रह्म की सत्ता के दो पक्ष हैं जो पैदा नहीं होता वह 'अज' और जो नष्ट नहीं होता वह 'अव्यय'।

इस पूर्ण वक्तव्य का अभिप्राय यह है कि परमात्मा अनन्त तत्त्व है। उसका दिखाई देने वाला अथवा इन्द्रियों से अनुभव होने वाला कोई रूप नहीं है। जो ऐसा देखते हैं, वे संसार में परमपिता परमात्मा को नहीं जानते।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।। २६।।

अर्जुन (हे अर्जुन!) समतीतानि (जो पूर्व में व्यतीत हो चुके हैं), च (और), वर्तमानानि, च, भविष्याणि (वर्तमान में स्थित तथा आगे होने वाले), भूतानि (सब प्राणियों को), अहम् (मैं अर्थात् परमात्मा), वेद (जानता हूँ), तु (परन्तु), माम् (मुझ परमात्मा को), कश्चन (कोई भी श्रद्धा-भक्ति रहित पुरुष), न, वेद (नहीं, जानता)।

प्रश्न 20- श्री कृष्ण जी परमात्मा के वास्तविक रूप को अर्जुन को किस प्रकार समझाते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा के वास्तविक रूप को बताते हैं, ''हे अर्जुन! परमात्मा का मनुष्य मात्र के प्रति क्या उपदेश है तू सुन! भूतकाल में जितने प्रकार के प्राणी हुए हैं, वर्तमान में कितने प्रकार के प्राणी हैं और भविष्य में कितने प्रकार के प्राणी हो सकते हैं, यह मैं (परमात्मा) जानता हूँ किन्तु प्रकृति जड़ होने के कारण तथा जीव अल्पज्ञ होने के कारण परमात्मा को पूर्ण रूप में कोई नहीं जानता।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।। २७।।

भारत, परन्तप (हे भरतवंशी, परम तपस्वी अर्जुन!) सर्गे (संसार में), इच्छा, द्वेष, समुत्थेन (इच्छा और द्वेष से, उत्पन्न), द्वन्द्वमोहेन (सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के मोह [भ्रम] से), सर्वभूतानि (सम्पूर्ण प्राणी), सम्मोहम् (भ्रम को), यान्ति (प्राप्त हो रहे हैं)।

प्रश्न 21- संसार के सब प्राणी अज्ञानता को क्यों प्राप्त कर रहे हैं?

उत्तर- यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन के मोहग्रस्त होने के कारण उसे बता रहे हैं कि ये संसार के सब प्राणी इच्छाओं (कामनाओं), द्वेष (वैरभाव) से उत्पन्न हर्षशोकादि द्वन्द्वों के मोह से अज्ञानता को प्राप्त हो रहे हैं। इसी प्रकार तुम उन

सभी प्राणियों की भाँति अज्ञानतावश मोहग्रस्त हो रहे हो। मोह को छोड़ और अपनी वास्तविकता को पहचान।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।। २८।।

तु (परन्तु), पुण्य, कर्मणाम् (निष्काम भाव से, श्रेष्ठ कर्मों का आचरण करने वाले) येषाम्, जनानाम् (जिन प्राणियों का), पापम्, अन्तगतम् (पाप, नष्ट हो गया है), ते (वे), द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (सुख-दुःखादि द्वन्द्वों के भ्रम से मुक्त हुए-हुए) दृढ़व्रताः (दृढ़ निश्चयी भक्त), माम् (मुझ अर्थात् परमात्मा को), भजन्ते (भक्ति करते हैं)।

प्रश्न 22- परमात्मा की भक्ति कौन करते हैं?

उत्तर- जिन पुण्यकर्मी (निष्काम भाव से श्रेष्ठ कर्म का आचरण करने वाले) मनुष्यों का पाप अन्त को पहुँच जाता है, वे द्वन्द्वों में आसक्ति से छूटकर तथा लोक-कल्याणार्थ दृढ़व्रत हो परमात्मा की सेवा करते हैं। अर्थात पुण्य के कर्म करते हैं। वे परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं।

इस श्लोक में भजन का अभिप्राय बताया है कि जो परमात्मा का भजन करता है अर्थात् परमात्मा के बताये मार्ग पर चलता है वह दृढ़व्रती कहा जाता है। वह पाप रहित हो कामना और द्वेष से मुक्त हो जाता है। भजन करना, राम-राम, कृष्ण-कृष्ण या किसी मन्त्र शब्द का बार-बार दोहराना नहीं वरन् पापों से रहित हो काम, मोहादि दोषों से मुक्त होना है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी इस की व्याख्या इस प्रकार करते हैं-

पाप किसी विधान या रूढ़ि का उल्लघंन नहीं है, अपितु यह सारी सीमितता, अज्ञानी जीव की उस स्वाधीनता के आग्रह का, जो दूसरों को हानि पहुंचाकर लाभ निकालना चाहती है। जब इस पाप को त्याग दिया जाता है, जब इस अज्ञान पर विजय पा ली जाती है, तब हमारा जीवन उस भगवान् की सेवा में बीतता है, जो सब में विद्यमान है। इस प्रक्रिया से भक्ति गम्भीर से गम्भीरतर होती जाती है और परमात्मा का ज्ञान तब तक बढ़ता जाता है, जब तक कि वह सर्वव्यापी परमात्मा के दर्शन तक नहीं पहुँच पाता, वह जीवन, जन्म और मरण से मुक्ति है।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।। २९।।

ये, माम् (जो मेरे अर्थात् परमात्मा के), आश्रित्य (शरण होकर), जरामरणमोक्षाय, यतन्ति (जरा तथा मरण से छूटने के लिए, यत्न करते हैं), ते (वे पुरुष), तत्, ब्रह्म (उस, ब्रह्म को), कृत्स्नम्, अध्यात्म् (सम्पूर्ण, अध्यात्म को), च, अखिलम् कर्म (तथा, सम्पूर्ण, कर्म को), विदुः (जानते हैं)।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः।। ३०।।

ये (जो पुरुष), साधिभूताधिदैवम् (अधिभूत और अधिदेव के साथ), च, साधियज्ञम् (तथा, अधियज्ञ के सहित), माम् (मुझे अर्थात् परमात्मा को), प्रयाणकाले, अपि, विदुः (अन्तकाल में, भी, जानते हैं), ते (वे), युक्तचेतसः, माम् (युक्त, चित्त वाले पुरुष परमात्मा को), च, विदुः (ही, जानते हैं अर्थात् प्राप्त हो जाते हैं)।

प्रश्न 23- कौन लोग परमात्मा के रहस्य को जानकर मृत्यु के समय में भी स्मरण करते हैं?

उत्तर- जो यौवन में आसक्त है उन्हें जरा दुःख देती है, जो जीवन में आसक्त है, उन्हें मरण दुःख देता है, किन्तु जो यौवन तथा जीवन दोनों को प्रभु की प्रजा की निष्काम सेवा का साधन समझते है उन्हें जरामरण दोनों से उत्पन्न होने वाले दुःख से मोक्ष प्राप्त हो जाता है तथा प्रभु प्रीत्यार्थ यौवन और जीवन दोनों का दान करने से प्रभु-सेवा जन्य अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द की प्राप्ति के लिए जो परमात्मा की शरण पाकर यत्न करते हैं, उन्होंने समझो मुमुक्षु के जानने योग्य जो ब्रह्मज्ञान है, वह पूरा पा लिया और सम्पूर्ण अध्यात्म कर्म पा लिया।

जो पुरुष अधिभूत और अधिदैव के सहित और अधियज्ञ के साथ परमात्मा को जानते हैं वे युक्त चित्त वाले पुरुष मृत्यु के समय में भी प्रभु को ही जानते हैं, ऐसा समझो।

जो व्यक्ति वेद में कहे अधिभूत और अधिदैव को जानता है और उसके साथ अधियज्ञ को जानता है ऐसा व्यक्ति मृत्यु से निर्भय होकर, परमात्मा में चित्त, लगाकर, उसका स्मरण करता हुआ देह छोड़ता है।

सारांश या सन्देश - श्री गुरुदत्त जी के अनुसार इस अध्याय में परमात्मा और प्राकृतिक जगत का सम्बन्ध बताया है। प्रकृति के निर्मित रूप का उल्लेख कर उसके निर्माण में कारण परमात्मा की शक्ति (प्राण) का वर्णन किया है।

परमात्मा के तेज से ये प्राण बहिर्मुख हो जाते हैं, तब परमाणुओं में आकर्षण-विकर्षण होने लगता है और संसार के अनेकानेक पदार्थ बनने लगते हैं।

इस प्रक्रिया का प्रारम्भ परमात्मा के तेज से ही होता है। वेद में इसका वर्णन है-

''यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम्''

(ऋग्वेद १०/१२९/३)

अर्थात् (और सब तम से आवृत था) जो यह तपस् के महान् सामर्थ्य वाला एक प्रकट हुआ।

यह तेज त्रिगुणात्मक परमाणुओं की साम्यावस्था भंग करने वाला हुआ। इस तेज से ही सब पदार्थ बने हैं। परमात्मा तो अदृश्य है, परन्तु उसके तेज से विनिर्मुक्त शक्ति (माया) से जगत् के सब पदार्थ बने हैं। उन सब पदार्थों को देख जो मनुष्य उनको ही परमात्मा मानने लगते हैं, वे बुद्धिहीन तथा मूढ़ हैं।

स्वामी रामदेव जी के अनुसार-

सब पदार्थ के मूल में ब्रह्म है। सारा वर्णन उत्तम पुरुष में हैं। मैं से तात्पर्य श्री कृष्ण नामी व्यक्ति से नहीं बल्कि परब्रह्म से है। एक परा प्रकृति (पर ब्रह्म) और अपरा प्रकृति अर्थात् पंचभूत- पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश और अहंकार मन तथा बुद्धि इन्हीं से सम्पूर्ण प्राणी जगत् का अविर्भाव हुआ। पृथ्वी से तात्पर्य पृथ्वी नहीं वरन् ठोस तत्त्व से है, जिसे अंग्रेजी में Mass से सम्बोधित करते हैं। इस जगत् के सभी उत्तम पदार्थों में गुण-धर्म का आधार परब्रह्म है और सन्तानोत्पत्ति के लिए (वासना हेतु नहीं) काम की भावना भी परब्रह्म ही है, पर यह गुण अव्यक्त ब्रह्म का नहीं है। परब्रह्म का स्तवन चार प्रकार के मनुष्य करते हैं, उनमें ज्ञानी भक्त सर्वश्रेष्ठ है। संसार में लोग सांसारिक भोगों, कामनाओं की प्राप्ति हेतु विभिन्न देवी-देवताओं का स्तवन करते हैं। उनको कर्मानुसार फल मिलते हैं। सभी का अवसान, परब्रह्म में ही है। मूर्ख, निर्बुद्धि उसे व्यक्त समझते हैं पर उनका मूल स्वरूप अव्यक्त और अव्यय ही है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों को परब्रह्म ही जानता है। समग्र रूप में उसे कोई नहीं जानता वह कल्पनातीत है। जो इस प्रकार परब्रह्म को हृदयंगम कर स्मरण करता है, वह पुनर्जन्म के बन्धन से छूटकर उसी को प्राप्त हो जाता है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है,

उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्रीकृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का ज्ञान-विज्ञान-योग नामक सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ अष्टमोऽध्यायः
अक्षर-ब्रह्म-योग

प्रधान विषय –

(1) ब्रह्म, अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के 7 प्रश्न और उनका उत्तर (श्लोक संख्या 1 से 7 तक)।

(2) भक्तियोग का विषय – (श्लोक संख्या 8 से 22 तक)।

(3) शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय – (श्लोक संख्या 23 से 28 तक)।

अक्षर ब्रह्मयोग

भूमिका :– मनुष्य का जीवन जिज्ञासा से भरा हुआ है। जब तक जीवित रहता है, मनुष्य के अन्दर जिज्ञासा अवश्य रहती है, कुछ जानने की इच्छा। बालक जैसे ही उत्पन्न होता है, बोल नहीं सकता, परन्तु देखता है, होश सँभालता है तो उसकी जिज्ञासा बढ़ जाती है। जब बोलने लगता है तो प्रत्येक वस्तु के लिए यह क्या है ? कैसा है ? किस तरह है ? किसके लिए है ? कहाँ से आया ? न जाने कितने सारे प्रश्न बच्चा किया करता है, और वही प्रश्न ही उसके ज्ञान की अभिवृद्धि करते हैं। जैसे –जैसे हमारी जिज्ञासायें शान्त होने लग जाएँ या जिज्ञासाओं को हम उठा न पायें तो मानना चाहिए कि हमने जानने के द्वार बन्द कर दिये। अपने जानने के द्वार कभी बन्द मत होने दीजिये।

गीता का यह ८वां अध्याय अर्जुन के प्रश्नों से आरम्भ हुआ और अर्जुन ने जितने सुन्दर ढंग से जिज्ञासा प्रस्तुत की तो पता चलता है कि अर्जुन जैसा जिज्ञासु होना भी परम सौभाग्य की बात है।

सातवें अध्याय के अन्त में यह कहा गया है कि जो 'ब्रह्म तथा कर्म' आदि को जान जाते है वे जन्म–मरण से मुक्त हो जाते हैं। इसलिए इस अध्याय में ब्रह्म आदि की व्याख्या की गई है।

अर्जुन ने इस अध्याय में 'ब्रह्म'– 'कर्म' – 'अध्यात्म' – 'अधिभूत'– 'अधिदैव' – 'अधियज्ञ' तथा 'अन्तकाल' इन सात विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न

उठाये है। श्री कृष्ण जी ने पहले छः प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दिया है। श्री कृष्ण जी के अनुसार 'कर्म' – 'अध्यात्म' – 'अधिभूत'– 'अधिदैव' – 'अधियज्ञ' ये पाँचों ब्रह्म के ही रूप हैं। ये पाँच और 'ब्रह्म' कुल छह हो गये। सातवां प्रश्न अन्तकाल के सम्बन्ध में हैं, जिसका वर्णन सारे अध्याय में किया गया है।

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।। १।।

पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम कृष्ण!) तत्, ब्रह्म, किम् (वह, ब्रह्म, क्या है ?), अध्यात्म, किम् (अध्यात्म, क्या है ?), कर्म, किम् (कर्म, क्या है ?), अधिभूतम्, किम् (अधिभूत, क्या है ?), प्रोक्तम् (कहा गया है), च, अधिदैवम्, किम्, उच्यते (और, अधिदेव, किसे, कहते हैं ?)

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।। २।।

मधुसूदन (हे मधु सूदन!) अत्र, अधियज्ञः, कः (यहाँ, अधियज्ञ, कौन है, {और वह}), अस्मिन्, देहे, कथम् (इस, शरीर में, कैसे हैं), च, नियतात्मभिः (तथा, युक्त चित्त वाले पुरुषों में), प्रयाणकाले, कथम् (अन्त समय में आप, किस प्रकार), ज्ञेयः, असि (जानने में, आते हैं)।

प्रश्न 1– अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से कौन से सात प्रश्न पूछे हैं ?

उत्तर– अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से निम्नलिखित सात प्रश्न पूछे–

(1) ब्रह्म (2) अध्यात्म (3) कर्म (4) अधिभूत (5) अधिदैव (6) अधियज्ञ (7) जो नियतात्मा है जिसने अपने आप को वश में कर लिया है वह इस संसार से प्रस्थान करते समय परमात्मा को किस प्रकार जान सकता है ?

वास्तव में इस संसार को और सब मनुष्यों की पूर्ण क्रिया कलाप को समझने के लिए ये प्रश्न उपस्थित किये गये हैं ?

संस्कृत में किसी शब्द के साथ 'अधि' उपसर्ग लगने से उस शब्द का अर्थ हो जाता है– 'उससे सम्बन्ध रखने वाला' 'उस विषय का' अधिभूत का अर्थ हुआ– पँच महाभूतों तथा प्राणियों (जड़–चेतन) से सम्बन्ध रखने वाला। अर्जुन का प्रश्न यह है कि हे श्री कृष्ण! ब्रह्म क्या है ? उसका आत्मा से क्या सम्बन्ध है ? उसका जड़–चेतन भूतमात्र से क्या सम्बन्ध है ? उसका देवताओं से क्या सम्बन्ध है ? उसका यज्ञ से क्या सम्बन्ध है ?

श्री कृष्ण उवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।। ३।।

परमम्, अक्षरम्, ब्रह्म (परम, अक्षर ब्रह्म है), स्वभावः (स्व अर्थात् निज भाव अर्थात् सत्ता), अध्यात्मम्, उच्यते (अध्यात्म नाम से, कहा जाता है), भूतभावोद्भवकरः (जड़-चेतन दोनों को उत्पन्न करने वाला जो) विसर्गः (सृष्टि व्यापार करना है वह) कर्मसञ्जितः (कर्म नाम से कहा गया है)।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।। ४।।

क्षरः, भावः, अधिभूतम् (उत्पत्ति-विनाश धर्म वाले सब पदार्थ अधिभूत हैं), पुरुषः, अधिदैवतम् (जीवरूप, अधिदैव है), च, देहभूताम्, वर (हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन!) अत्र, देहे, अहम्, एव, अधियज्ञ (इस, शरीर में, परमात्मा, ही, अधियज्ञ है।)

प्रश्न 2- श्री कृष्ण जी ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ से संबंधित अर्जुन की जिज्ञासा को किस प्रकार शान्त करते हैं?

उत्तर- यहाँ जो प्रश्न और उत्तर है, वह सूत्रों की भाषा है। भारत देश में जितने भी ग्रन्थ लिखे गये आध्यात्मिक ग्रन्थों में सूत्रों के माध्यम से लिखे गये हैं, कुछ श्लोकों के माध्यम से, वेद आदि शास्त्र मन्त्रों के रूप में हैं। दर्शनशास्त्रों में सभी सूत्र ही हैं। यहाँ श्री कृष्णार्जुन संवाद भी सूत्र रूप में हैं। यह सूत्र बीज की तरह हैं। बीज में जिस प्रकार वृक्ष छिपा होता है, वैसे ही सूत्रों में बहुत ही रहस्य छिपे हैं।

अर्जुन के सारे प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री कृष्ण जी ने ब्रह्म के छः रूपों का वर्णन किया है। ब्रह्म के सृष्टि में छह रूप हैं- अक्षर-भाव, स्व-भाव, भूत-भाव, क्षर-भाव, पुरुष-भाव, तथा यज्ञ-भाव। ये सब भिन्न-भिन्न रूप हैं, परन्तु सब ब्रह्म के ही रूप हैं, इन्हीं को क्रमशः 'ब्रह्म', 'अध्यात्म', 'कर्म', 'अधिभूत', 'अधिदैवत', 'अधियज्ञ' कहते हैं। श्री कृष्ण जी ने इन सब प्रश्नों का उत्तर एक ही दिया है। 'अहमेवात्र' मैं अर्थात् परमात्मा सबमें है और ये सब परमात्मा के ही रूप हैं।

(1) परम अक्षर तत्त्व ब्रह्म है। (2) उस ब्रह्म का स्व-भाव अर्थात् सत्ता के रूप में संसार के पदार्थों में विद्यमान रहना, अध्यात्म कहलाता है (3) उस ब्रह्म का 'भूत-भाव' अर्थात् जड़-चेतन दोनों को उत्पन्न करने वाले सृष्टि व्यापार करने को 'कर्म' का नाम दिया जाता है (4) सृष्टि के मूल-तत्त्व का 'अ-क्षर' में व्याप्त रूप तो ब्रह्म ही है। परन्तु संसार में अक्षर के अतिरिक्त जो 'क्षर' (प्रकृति) रूप है वह अधिभूत कहाता है (5) इन प्राणियों में रहने वाला मेरा (परमात्मा का) पुरुष रूप 'अधिदैवत' है। (6) इस देह में परमात्मा ही अधियज्ञ है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।। ५।।

यः, अन्तकाले, च (जो पुरुष अन्तकाल में भी) माम्, एव, स्मरन् मुझ (परमात्मा) को, ही, स्मरण करता हुआ), कलेवरम्, मुक्तवा, प्रयाति (शरीर को त्याग कर जाता है), सः, मद्भावम्, याति (मेरे (परमात्मा)स्वरूप को प्राप्त होता है), अत्र, संशयः, न, अस्ति (इसमें, कुछ, संशय, नहीं है)

प्रश्न 3- जो पुरुष देह त्याग के समय प्रभु को स्मरण करता है, उसे क्या प्राप्त होता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अन्तकाल के समय की स्थिति बताते हैं- हे अर्जुन! मैंने अनेक जन्मों में अन्तकाल में प्रभु को स्मरण करके सद्गति पाई है। जो मेरा अनुयायी है, मेरी इस भक्ति भावना को अन्तकाल तक स्मरण रखता है तथा उस समय में भी मेरे आचरण को स्मरण करके मेरी तरह प्रभु स्मरण करता है और इस प्रकार संसार से जाता है। वह मेरी तरह ही आनन्दमयी अवस्था को प्राप्त होकर मेरे समान प्रभु-भक्ति - सास्वादात्मकता तथा आनन्दमयता को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं। **'मदभावं याति'** अर्थात् जैसा मैं प्रभु-भक्त हूँ, वैसा ही वह हो जाता है।

यदि श्री कृष्ण जी का अभिप्राय यह न होता और मेरे स्मरण का अभिप्राय मेरे आचरण के स्मरण के स्थान में मेरा नाम स्मरण अर्थात् कृष्ण-कृष्ण करना उच्चारण होता तो वे १३वें श्लोक **'ओमित्येकाक्षरम् ब्रह्म'** में ब्रह्म का स्मरण करने की बात न कहते, इसलिए मेरे स्मरण का अर्थ मेरे प्रभु-भक्त रूप का स्मरण ही लेना चाहिये।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।। ६

कौन्तेय (हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन!) [यह मनुष्य], अन्ते (अन्तकाल में), यम्,

यम्, वा, अपि (जिस-जिस, भी), भावम् स्मरन् (भाव को स्मरण करता हुआ), कलेवरम्, त्यजति (शरीर का, त्याग करता है) तम्-तम्, एव (उस-उसको, ही) एति (प्राप्त होता है) [क्योंकि वह], सदा, तद्भावभावित: (सदा उसी भाव से भावित रहा है)।

प्रश्न 4- मनुष्य जीवन में जिस भाव को रखता है, क्या अन्त काल में वह उस भाव को प्राप्त होता है ?

उत्तर- जिस-जिस भावना को स्मरण करते हुए मनुष्य अन्त काल में शरीर को छोड़ता है, उस-उस भावना में रंगा होने के कारण अगले जन्म में वैसे ही शरीर को प्राप्त करता है।

पाँचवें श्लोक में मरणकाल में स्मरण का महत्त्व बतलाया गया है। इससे कोई यह न समझ ले कि मरणकाल में अन्त समय में ही तो उसका ध्यान करना है। जीवन के अंतिम काल में कर लेंगे, अभी तो बहुत समय जीना है। अत: क्यों न सांसारिक भोगों का रस ले लिया जाये? इसलिए छठे श्लोक में बताया गया है कि जिस रंग में व्यक्ति जीवन भर रंगा रहता है, अन्त काल में उसी भाव का स्मरण आता है। प्रथम तो जन्म-मरण का समय निश्चित नहीं। न जाने किस समय मृत्यु आकर उपस्थित हो जाये। देहधारी है, इसलिए मृत्यु निश्चित है, पर किन परिस्थितियों और किस दशा में होगी, किस समय होगी, यह कोई नहीं जानता? अत: यह सोचकर कि मृत्यु अवश्यम्भावी है और पूर्व संकेत दिये बिना ही उपस्थित हो जाती है, प्रारम्भ से ही अर्थात् प्रत्येक पल ब्रह्म के स्वरूप को हृदयंगम कर मानसिक स्मरण करते रहना चाहिये।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्।। ७।।

तस्मात् (इसलिए हे अर्जुन तू), सर्वेषु, कालेषु (प्रत्येक काल में निरन्तर) माम्, अनुस्मर (मेरा, स्मरण करो) च, युध्य (और युद्ध भी कर इस प्रकार) मयि, अर्पितमर्नोबुद्धि: (मुझ में, अर्पण किए हुए मन बुद्धि से युक्त होकर तू), असंशयम्, माम्, एव, एष्यसि (नि:संदेह, मुझ को, ही, प्राप्त होगा)।

प्रश्न 5- श्री कृष्ण जी अर्जुन को भक्ति के साथ-साथ किस प्रकार की प्रेरणा दे रहे हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को प्रेरणा देते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! तेरा कर्तव्य है कि तू भक्ति में अपने मन को लगा, परन्तु उसके साथ-साथ युद्ध रूपी कर्म

से अपने को अलग मत कर। मन और बुद्धि का उचित समन्वय कर। यदि तूने ऐसा किया तो निश्चय ही तू परम पिता परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

जिन लोगों की यह सोच है कि गीता में केवल भक्ति को ही प्रमुखता दी है, उन्हें इस ७वें श्लोक पर ध्यान देना चाहिये, जहाँ श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को उस परम पुरुष का ध्यान हृदय में रखते हुए भी युद्ध करने को कहा है। गीता का सिद्धान्त है कि स्वधर्मानुसार जो भी कर्म प्राप्त हो, जीवन पर्यन्त निष्काम बुद्धि से करते रहना चाहिये। इसलिए कहा है कि 'मेरा चिन्तन कर और युद्ध भी कर।'

श्री कृष्ण जी का कहना है कि परमात्मा के स्वरूप को ही प्राप्त हो जाओगे। इसका अर्थ कुछ भाष्यकार यह करते हैं कि जीवात्मा परमात्मा हो जाता है, परन्तु 'एष्यसि' का अर्थ है परमात्मा जैसा लगने लगेगा। यही अर्थ ही ठीक प्रतीत होता है।

जीवात्मा परमात्मा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो यह भी मानना पड़ेगा कि जीवात्मा बनने से पहले वह परमात्मा ही था। तब यह भी बताना पड़ेगा कि परमात्मा का वह अंश जो जीवात्मा हो गया और अज्ञानी बन गया, वह ऐसा क्यों हो गया? क्यों परमात्मा का एक अंश सुख-दु:ख भोगता है और क्यों दूसरा सुख-दु:ख नहीं भोगता?

इस प्रकार यह कहा जाता है कि सुख-दु:ख चित्त, बुद्धि और मन को होता है। जीवात्मा निर्मल बीच में बैठा रहता है। अर्थात् उसे सुख-दु:ख नहीं होता। तो फिर वह जीवात्मा क्यों मन तथा बुद्धि को अर्पण करे? वह तो निर्मल सुख-दु:ख से परे ही है।

वे सब लोग जो जीवात्मा परमात्मा ही हो जाता है, ऐसा मानते हैं, इस प्रकार एक बन्द गली में पहुँच जाते हैं, तब वे कह देते हैं कि यह सब परमात्मा की माया है।

अत: हमारा मत है कि जीवात्मा ऊपर कही अवस्था में परमात्मा जैसा (परमात्मा नहीं) हो जाता है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। ८।।

पार्थ (हे अर्जुन!), अभ्यासयोगयुक्तेन (जो व्यक्ति 'अभ्यास-योग' से चित्त को एकाग्र कर दूसरी जगह भागने नहीं देता), नान्यगामिना (दूसरी ओर न जाने वाले), चेतसा (चित्त से), अनुचिन्तयन् (निरन्तर चिन्तन करता हुआ मनुष्य),

परमम्, दिव्यम्, पुरुषम्, याति (परम, दिव्य पुरुष अर्थात् परमेश्वर को ही, प्राप्त होता है)

प्रश्न 6 श्री कृष्ण जी किस विधि से परम पिता परमात्मा को प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं ?

उत्तर– जो व्यक्ति 'अभ्यास योग' से चित्त को एकाग्र कर उसे कहीं दूसरी जगह भागने नहीं देता। ऐसा निरन्तर चिन्तन करने से साधक उस परम दिव्य पुरुष अर्थात् परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

'योग युक्तेन' का अभिप्राय है, वे लोग जो योगाभ्यास करने वाले हैं। यह माना जाता है कि योगाभ्यास करने से और जो इस मार्ग को छोड़कर दूसरे मार्ग पर नहीं जाते, वे परमात्मा को पा जाते हैं। परमात्मा को पा जाने का अर्थ है उसके स्वरूप को पा जाना।

मृत्यु शय्या पर किया जाना वाले पश्चात्ताप (मृत्यु शय्या पर गीता को सुनने मात्र से) हमारी रक्षा नहीं कर सकेगा, अपितु निरन्तर अभ्यास और भगवान् के प्रति अविचल समर्पण द्वारा हमारा उद्धार होगा।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।। ९ ।।

सः (जो पुरुष), कविम्, पुराणम्, अनुशासितारम् (सर्वज्ञः, अनादि, सबके नियन्ता), अणोः, अणीयांसम् (सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म), सर्वस्य, धातारम् (सब के, धारण-पोषण करने वाले), अचिन्त्यरूपम् (अचिन्त्य स्वरूप वाला), आदित्यवर्णम् (सूर्य के समान तेजस्वी) तमसः, परस्तात् (अविद्या से दूर), अनुस्मरेत् (स्मरण करता है)।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। १० ।।

सः, भक्त्या, युक्तः (वह, भक्तियुक्त, पुरुष), प्रयाणकाले (अन्तकाल में भी) योगबलेन (योगबल से), भ्रुवोः,मध्ये (भृकुटी के, मध्य में), प्राणम्, सम्यक्, आवेश्य (प्राणों को, अच्छी प्रकार, स्थापित करके), च (फिर) अचलेन, मनसा (निश्चल, मन से स्मरण करता हुआ), तम्, दिव्यम्, परम्, पुरुषम् (उस, दिव्यरूप, परमपुरुष परमात्मा को), एव, उपैति (ही, प्राप्त होता है)

प्रश्न 7– श्री कृष्ण जी अर्जुन को ब्रह्म का कैसा स्वरूप बताते है तथा चिन्तन की क्या विधि बताते हैं ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को चिन्तन की निम्नलिखित विधि बताते हैं, ''हे अर्जुन! जो मनुष्य अन्तकाल में इन्द्रिय निग्रह व चित्तवृत्ति निरोध और कर्मफल में आसक्ति के त्यागरूप योग के सामर्थ्य से, भक्ति युक्त होकर मन को स्थिर करके, दोनों भृकुटी के बीच प्राणवायु को भली भाँति रखकर, कवि अर्थात् सर्वज्ञ, अनादि, सब के नियन्ता, सूक्ष्म में भी अति सूक्ष्म, सबको धारण-पोषण करने वाले अर्थात् पालनकर्ता, अचिन्त्य (जिसका चिन्तन संभव नहीं, बुद्धि से अगम्य) और अन्धकार से परे, सूर्य के समान तेजस्वी (प्रकाशवान्) पुरुष का स्मरण करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष (परमात्मा) को पा लेता है।''

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये।। ११ ।।

वेदविदः (वेद के जानने वाले विद्वान्), यत् (जिसे), अक्षरम् (अविनाशी कहते हैं), वीतरागाः, यतयः (आसक्ति रहित, यत्नशील संन्यासी महात्माजन), यत् (जिसमें), विशन्ति (प्रवेश करते हैं और), यत् (जिस परमपद को), इच्छन्तः (चाहने वाले), ब्रह्मचर्यम्, चरन्ति (ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं), तत्, पदम् (उस परम पद को मैं), ते, सङ्ग्रहेण, प्रवक्ष्ये (तेरे लिए, संक्षेप में, कहूँगा)।

प्रश्न 8– श्री कृष्ण जी किस पद की संक्षेप से चर्चा करना चाहते हैं ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! वेद जानने वाले विद्वान् जिसे 'अक्षर' नाम से पुकारते हैं अर्थात् अविनाशी कहते हैं, वीतराग यति लोग जिसमें प्रवेश करते हैं, ब्रह्मचारी लोग जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस 'ओंकार' पद का मैं तेरे लिए संक्षेप में वर्णन करूँगा।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। १२ ।।

सर्वद्वाराणि, संयम्य (सब, इन्द्रियों के द्वारों को, रोककर), च (तथा), मनः, हृदि, निरुध्य (मन को, हृदय देश में, स्थिर करके अर्थात् फिर उस जीते हुए मन द्वारा), प्राणम्, मूर्ध्नि, आधाय (प्राण को, मस्तक में, स्थापित करके), आत्मनः योगधारणाम्, आस्थितः (अपने को, योगधारण में, स्थित होकर)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। १३ ।।

यः (जो पुरुष), ओम् (ओ३म्), इति (ऐसा), एकाक्षरम्, ब्रह्म, व्याहरन् (एक

अक्षर रूप, ब्रह्म को, उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरूप) माम् (मुझ अर्थात् परमात्मा से अभिप्राय है) अनुस्मरन् (चिन्तन करता हुआ), देहम्, त्यजन्, प्रयाति (शरीर को, त्याग कर, जाता है), सः, परमाम्, गतिम् याति (वह पुरुष, उत्तम गति को, प्राप्त हो जाता है)

प्रश्न 9- कौन पुरुष उत्तम गति को प्राप्त होता है ?

उत्तर- जो पुरुष इन्द्रियों के सब द्वारों को संयम में रखकर, मन को हृदय में रोककर अर्थात् मन को जीतकर, प्राण को अपने मूर्धा में स्थिर करके, योग द्वारा समाधि में बैठकर (धारणा नामक अंग का आश्रय लेकर), मेरे भक्तिमय जीवन को, स्मरण करता हुआ तथा मेरे पीछे चलता हुआ 'ओ३म्' इस एकाक्षर मंत्र का उच्चारण करता हुआ जो देह को छोड़ता हुआ जाता है, उसे उत्तम गति मिलती है।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्युक्तस्य योगिनः।। १४।।

पार्थ (हे अर्जुन!) यः (जो पुरुष), अनन्यचेताः (अन्य में चित्त को न डालने वाला) नित्यशः, सततम् (सदा ही, निरन्तर), माम्, स्मरति (मुझ को, स्मरण करता है), तस्य, नित्ययुक्तस्य (उस, नित्य-निरन्तर मुझ में युक्त हुए), योगिनः (योगी के लिए), अहम्, सुलभः (मैं सुलभ हूँ, अर्थात् उसे सहज प्राप्त हो जाता हूँ)।

प्रश्न 10- कौन सा व्यक्ति परमात्मा को सहज ही प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर- जो मनुष्य एकाग्रचित्त से सदा, निरन्तर, परमात्मा को स्मरण करता है उस सदा परमात्मा से युक्त योगी को परमात्मा सहजता से प्राप्त हो जाता है।

यहाँ बार-बार मुझ तक पहुँचने से श्री कृष्ण जी का तात्पर्य परमात्मा को प्राप्त करने से है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।। १५।।

परमाम्, संसिद्धिम्, गताः, महात्मानः (परम सिद्धि को, प्राप्त, महाजन), माम्, उपत्य (मुझ को, प्राप्त करके), दुःखालयम्, अशाश्वतम्, पुनर्जन्म (दुःखों के घर, क्षणभंगुर, पुनर्जन्म को), न, आप्नुवन्ति (नहीं प्राप्त होते)

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। १६।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), आब्रह्मभुवनात्, लोकाः (ब्रह्मलोक से लेकर जितने लोक हैं), पुनरावर्तिनः (जिसमें पुनः पुनः आगमन होता रहता है), तु (परन्तु), कौन्तेय (हे कुन्ती के पुत्र), माम्, उपेत्य (मुझे, प्राप्त होकर), पुनर्जन्म, न, विद्यते (पुर्नजन्म नहीं होता)।

प्रश्न 11- कौन लोग पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होते ?

उत्तर- सिद्धि से युक्त परम गति को प्राप्त महात्मा परमात्मा को प्राप्त होकर इस अनित्य दुःख रूप जन्म को पुनः प्राप्त नहीं होता।

दुःख रूपी इस भू-लोक पर जन्म न होने का अभिप्राय है कि इस पृथिवी पर पुनः जन्म नहीं होता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि वह जीवात्मा पुनः देह को प्राप्त नहीं होता। अन्य नक्षत्र पर जन्म हो सकता है। यह तो देखा जा चुका है कि अन्य नक्षत्रों में से किसी भी ज्ञात नक्षत्र पर जलवायु की स्थिति वैसी नहीं जैसी पृथ्वी पर है। इस कारण यदि जीवात्मा वहाँ जाता है तो उसे वहाँ शरीर किसी अन्य प्रकार का मिलता होगा।

ब्रह्मलोक से लेकर निम्न से निम्न लोक तक सब पुनरपि शीघ्र लौटने वाले हैं, परन्तु परमात्मा को प्राप्त होने वाले का पुनः इस भू लोक पर जन्म नहीं होता।

पुनः जन्म नहीं होता का अभिप्राय है कि इस भू-लोक में जन्म नहीं होता। अन्य नक्षत्रों में प्राणी का जन्म किस प्रकार होता है और वह दुःखमय है अथवा सुखमय, यह कोई नहीं जानता - इस कारण इस विषय में श्री गुरुदत्त जी की टिप्पणी श्लोक संख्या १५, १६ का यह मत है कि भगवद्‌गीता का प्रवक्ता जहाँ-जहाँ पुनर्जन्म की बात कहता है, वह इस भू-लोक पर जन्म की ही बात कहता है।

टिप्पणी - मोक्ष प्राप्त करने के पश्चात् जीवात्मा को मोक्ष अवधि आनन्द पूर्वक भोग करने के पश्चात् पुनः शरीर धारण करना ही पड़ता है, ऐसा वेद का मत है।

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।। १७।।

ब्रह्मणः (ब्रह्मा का), यत् (जो), अहः (एक दिन है उसको), सहस्र युगपर्यन्त (एक हजार युगों तक और), रात्रिम् (रात्रि को भी), युगसहस्रान्ताम् (सहस्रों युगों वाली), विदुः (तत्त्व से जानते हैं), ते, जनाः, अहोरात्रविदः (वे, काल के तत्त्व को जानने वाले हैं)

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके।। १८।।

सर्वाः, व्यक्तयः (सब, व्यक्त पदार्थ), अहरागमे (ब्रह्मा के दिन के प्रारम्भ होने पर), अव्यक्तात्, प्रभवन्ति (ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर= प्रकृति से उत्पन्न होते हैं), रात्र्यागमे (ब्रह्मा की रात्रि के आगमन पर), अव्यक्तसंज्ञके (अव्यक्त कहीं जाने वाली प्रकृति में), प्रलीयन्ते (लीन हो जाते हैं)।

भूतग्रामः व एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।। १९।।

पार्थ (हे अर्जुन!) सः, एव (वह ही), अयम् (यह) भूतग्रामः (भूतों का समुदाय), भूत्वा, भूत्वा (उत्पन्न हो होकर) अवशः (प्रकृति के वश में हुआ), रात्र्यागमे (ब्रह्मा के रात्रि के आगमन पर), प्रलीयते (लीन होता है), अहरागमे (ब्रह्मा के दिन के आने पर), प्रभवति (उत्पन्न होता है)

प्रश्न 12– मृत्यु के बाद कितने काल तक जीव ब्रह्मलोक में रहता है? ब्रह्मा के दिन रात का वर्णन करें।

उत्तर– ब्रह्म दिन जो है वह एक सहस्र चर्तुयुगियों तक होता है। ब्रह्मरात्रि को भी एक सहस्री चतुर्युगी अवधि वाला जो जानते हैं, वे काल के तत्त्व को जानने वाले हैं।

ब्रह्मा के दिन के आरम्भ होने पर सब व्यक्त पदार्थ अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न हो जाते हैं। ब्रह्मा की रात्रि के आने पर फिर से सब व्यक्त पदार्थ उसी अव्यक्त कही जाने वाली प्रकृति में लीन हो जाते हैं।

१७वें एवं १८वें श्लोक में वैदिक काल गणना का दिग्दर्शन कराया है। चार युगों का एक महायुग देवताओं के 12000 वर्ष का माना गया है। ब्रह्मदेव के दिन को कल्प कहते हैं। इस गणना के अनुसार ब्रह्मा का दिन मनुष्यों के 4 अरब 32 करोड़ वर्षों के लगभग होता है। इस गणना से अब तक की पृथ्वी की आयु दो अरब वर्ष के लगभग होती है जो वैज्ञानिक आधार पर भी प्रायः 2 अरब वर्ष ही निकलती है इस गणना का विस्तृत वर्णन मनुस्मृति अध्याय 1 के श्लोक संख्या ६४ से ९० तक है।

हे पार्थ! भूतों का यही समुदाय (नाशवान् पदार्थों और प्राणियों का समुदाय) बार-बार जन्म लेकर अवश (विवश) होकर ब्रह्म रात्रि होते ही लीन हो जाता है और फिर ब्रह्म दिन होने पर फिर जन्म लेता है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।। २०।।

तु (परन्तु), तस्मात्, अव्यक्तात्, परः (उस अव्यक्त, से भी, अति परे), अन्यः (दूसरों), यः, सनातनः, अव्यक्तः भावः (जो, सनातन, अव्यक्त भाव है), सः (वह परम दिव्य पुरुष अर्थात् परमात्मा), सर्वेषु, भूतेषु, नश्यत्सु (सब, प्राणियों के, नष्ट होने पर भी), न, विनश्यति (नष्ट नहीं होता)।

प्रश्न 13– कौन सी सत्ता अनश्वर है?

उत्तर– हे पार्थ! उस अव्यक्त से भी परे एक और सनातन सत्ता है, जो सब भूतों के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता।

इस श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द का दो अर्थों में प्रयोग किया गया है। एक 'अव्यक्त' तो वह है जो साँख्य दर्शन की 'प्रकृति' है। दूसरा अव्यक्त स्वयं ब्रह्म है। 'अव्यक्त'- शब्द का प्रकृति तथा ब्रह्म दोनों के लिए यहाँ प्रयोग किया गया है। – पहला 'अव्यक्त'-शब्द प्रकृति के लिए प्रयुक्त हुआ है, दूसरा ब्रह्म के लिए, तभी कहा है कि अव्यक्त है परन्तु इनमें बने पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। 'ब्रह्म' भी अव्यक्त है, परन्तु वह नष्ट नहीं होता। इन नाशवान् पदार्थों के पीछे वह अनश्वर सत्ता सदा बनी रहती है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।। २१।।

अव्यक्तः, अक्षरः, इति, उक्तः (अप्रकट ब्रह्म, अक्षर-अविनाशी, इस नाम से कहा गया है), तम् (उस अक्षर नामक अव्यक्त भाव को), परमाम्, गतिम्, आहुः (परम, गति, कहते हैं), यम् (जिस अविनाशी अव्यक्त भाव को), प्राप्य (प्राप्त होकर मनुष्य), न, निवर्तन्ते (वापिस नहीं आते), तत्, मम, परमम्, धाम (वह, मेरा, परम धाम है)।

प्रश्न 14– हमारा परम धाम कौन सा है?

उत्तर– वह 'अव्यक्त' (जो प्रकृति से भी परे है) 'अक्षर' कहलाता है, अविनाशी कहलाता है, उसी को परम गति कहते हैं, सर्वोच्च अवस्था कहते हैं। इस अवस्था को प्राप्त कर फिर वहाँ से निवृत्ति नहीं होती, लौटना नहीं होता, वही मेरा परम धाम है, निवास स्थान है।

मोक्ष प्राप्त जीव जब परमात्मा के सम्पर्क में आ जाते हैं तो फिर लौटकर नहीं आते। लौटकर आने का अभिप्राय भी स्पष्ट है कि जन्म-होने मरण वाली

योनि में नहीं जाते, परन्तु मोक्ष की अवधि समाप्त होने पर पुनः संसार में लौटना पड़ता है।

वेदान्त दर्शन (ब्रह्मसूत्र) भी इसको स्वीकार करता है। उसके (ब्रह्मसूत्र ४-४-१९)अन्तर्गत यह प्रावधान है :

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह

(ब्रह्मसूत्र ४-४-१९)

अर्थात्- और इस (मोक्ष) अवस्था को विकार युक्त अवस्था कहा है। जो अवस्था विकारयुक्त होगी, वह स्थायी (नित्य) नहीं हो सकती। यहाँ अभिप्राय यह है कि यह अवस्था बहुत लम्बे काल तक रहने वाली है।

जहाँ-जहाँ मुक्तात्माओं के पुनः न लौटकर आने की बात कही है, वहाँ अभिप्रायः है कि मोक्षावस्था अति आकर्षक है। इसकी अवधि बहुत लम्बी होने के कारण इसे अनन्त कह दिया है।

इससे यह सिद्ध है कि गीता में जहाँ पुनः जन्म न लेने की बात कही है। वहाँ अभिप्राय है इस भूलोक पर जन्म न लेने से और 'न निवर्तन्ते' का अर्थ है कि मुक्त जीव कहीं रोके नहीं जाते। वे अपने आने-जाने में स्वतन्त्र होते हैं।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।। २२।।

पार्थ (हे अर्जुन!) यस्य, अन्तः स्थानि (जिस परमात्मा के, अन्तर्गत) भूतानि (सब भूत हैं), येन (जिस परमात्मा से), इदम्, सर्वम्, ततम् (यह, सब जगत्, परिपूर्ण है), सः, परः, पुरुष (वह, अविनाशी, अव्यक्त परम पुरुष) तु (जो), अनन्यया (अनन्य), भक्तया लभ्यः (भक्ति से प्राप्त होने योग्य है)।

प्रश्न 15- परमात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा- हे अर्जुन! वह जो प्रकृति की सत्ता से परे परम पुरुष है, जिसके अन्दर ये सब भूत-मात्र विचर रहे हैं और जिसने यह सारा ताना तना है, यह परम पुरुष (अनन्य भक्ति अर्थात् उस ब्रह्म के सिवाय किसी भी पदार्थ को ध्येय न मानने वाली) भक्ति से ही प्राप्त होता है।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।। २३।।

भरतर्षभ (हे भरत कुल में श्रेष्ठ अर्जुन!) यत्र, काले (जिस, काल में यहाँ काल शब्द से मार्ग समझना चाहिये), प्रयाताः, योगिनः (शरीर त्यागकर गये हुए, योगीजन), तु (तो), अनावृत्तिम् (वापिस न लौटने वाली गति को), च, आवृत्तिम् (और, वापिस लौटने वाली गति को), एव, यान्ति (ही प्राप्त होते हैं), तम्, कालम्, वक्ष्यामि (उन, दोनों मार्गों को, कहूँगा)।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।। २४।।

ज्योतिः, अग्निः (अग्नि, प्रज्वलित हो रही है), अहः शुक्लः (शुक्ल पक्ष में दिन हो), उत्तरायणम्, षष्मासाः (उत्तरायण के, छः मास चल रहे हों), तत्र, प्रयाताः, ब्रह्मविदः, जनाः (उस मार्ग में, मर कर गये हुए, ब्रह्मज्ञानी, लोग), ब्रह्मगच्छन्ति (ब्रह्म को प्राप्त होते हैं)।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।। २५।।

धूमः, रात्रि (रात्रि के समय में, अग्नि से धुआँ निकल रहा हो), तथा कृष्णपक्षः (तथा कृष्णपक्ष के दिन हों), दक्षिणायनम्, षष्मासाः (दक्षिणायन के, छह मास चल रहे हों), तत्र, योगी (उस मार्ग में मर कर सकाम कर्म करने वाला योगी), चान्द्रमसम्, ज्योतिः प्राप्य (चन्द्रमा की, ज्योति, को पाकर स्वर्ग में अपने शुभ कर्मों का फल भोग कर), निवर्तते (वापिस आता है)।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः।। २६।।

हि (क्योंकि), जगतः, एते (जगत् के ये दो प्रकार के), शुक्लकृष्ण, गती, शाश्वते, मते (शुक्ल और कृष्ण अर्थात्, देवयान और पितृयान मार्ग, सनातन, माने गये हैं), एकया अनावृत्तिम् (एक के द्वारा गया जिसे वापिस नहीं लौटना पड़ता), याति (परम गति को प्राप्त होता है), अन्यया, पुनः, आवर्तते (दूसरे के द्वारा गया हुआ, फिर, वापिस आता है, अर्थात् जन्म-मृत्यु को प्राप्त होता है)

प्रश्न 16- जीव की कौन सी दो गतियों का वर्णन यहाँ किया गया है ? अथवा मृत्यु के मार्ग के सम्बन्ध में गीता ने कौन से दो विचारों का यहाँ वर्णन किया है ?

उत्तर- इस प्रकरण में जीव की दो गतियों (मार्गों) का वर्णन किया गया है- एक गति वह है जिसमें, जीव का पुनरागमन नहीं होता है। जिस गति में पुनरागमन नहीं होता, वहाँ कोई समस्या नहीं, परन्तु जिसमें पुनरागमन होता है उसके सम्बन्ध में प्रश्न उठ सकता है कि किस काल में मृत्यु होने पर जीव फिर

जन्म ग्रहण करता है। इस सम्बन्ध में गीता का कथन है–

अग्नि प्रज्वलित हो रही हो, उसका प्रकाश फैल रहा हो, शुक्ल पक्ष हो, उत्तरायण के छः महीने चल रहे हो, उस समय इस संसार से प्रस्थान करने वाले ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म तक पहुँच जाते हैं और जब अग्नि से धुआँ उठ रहा हो रात्रि का समय हो, कृष्ण पक्ष हो, दक्षिणायन के छः महीने चल रहे हो, उस समय इस संसार से प्रस्थान करने वाला, योगी चन्द्रमा की ज्योति प्राप्त करके वापिस लौट जाता है।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार– योगीजन 'न निवर्तन्ते' अर्थात् इस पृथ्वी पर नहीं आते। कुछ भाष्यकार 'निवर्तन्ते' का अर्थ लौटकर आते हैं, परन्तु हमारा मत है कि मुक्त आत्मायें इस लोक को लौटती तो हैं, परन्तु स्वतन्त्र होती है कि जहाँ चाहें, जायें, परन्तु यह भी लिखा है कि योगीजन अमुक्–अमुक् समय, स्थिति और स्थान पर शरीर छोड़ते हैं तो वे चन्द्रज्योति को प्राप्त हो जाते हैं। गीता में यह तो बताया है कि मुक्त होने वाले जीवात्मा हैं, वे स्वतन्त्र घूमते हैं और जो मुक्त वाले नहीं वे जन्म मरण के बन्धन में फँसे रहते हैं। यह भी बतलाया गया है कि मुक्तात्मा उत्तरायण में शरीर छोड़ते हैं, दक्षिणायन में नहीं। ऐसा क्यों है ? गीता में इसका कारण नहीं बताया।

गीताकार ने अपनी बात अलंकारों के माध्यम से कही है। मेरे विचार में निष्काम कर्म करने वाले योगीजन मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं और सकाम कर्म करने वाले योगीजन इस संसार में पुनः लौट आते हैं।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के अनुसार – गीता में जीव तथा ब्रह्म के पारस्परिक सम्बन्ध में दो अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

(1) वह है जिसमें अन्तकाल में जीव को ब्रह्म–ज्ञान हो जाता है। जिसे ज्ञान हो जाता है उसके कर्म ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाते हैं, अतः वह मुक्त हो जाता है।

(2) जिसमें अनंतकाल में ब्रह्मज्ञान नहीं होता, इस अवस्था में अन्तकाल में जो विचार होते हैं, उन्हीं के अनुसार वह जन्म ग्रहण करता है।

ब्रह्मज्ञान न होने वालों के भी दो भेद हैं। एक वे जो शुक्ल पक्ष, उत्तरायण में मरते हैं, दूसरे वे जो कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन में मरते हैं। शुक्ल पक्ष उत्तरायण में मरने का अर्थ शुभ कार्य करते हुए मरना। कृष्ण पक्ष में मरने का अर्थ है अशुभ कार्य करते हुए मरना।

शुभ कार्य करते हुए मरने वालों से अभिप्राय यहाँ उन कर्मकाण्डियों से है

जो गीता के काल में यज्ञ–याग आदि करते थे, यज्ञ आदि को स्वर्ग प्राप्ति का साधन मानते थे। गीता का कहना है कि ब्रह्मज्ञानी तो ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, कर्मकाण्डी लोग स्वर्ग को जाते हैं, स्वर्गलोक अर्थात् ब्रह्मलोक। ब्रह्मलोक में जाकर फिर वे लौट आते हैं। पृथ्वी लोक में उनका दिन–रात 24 घंटे का है, तो ब्रह्म लोक में उनका दिन रात ब्रह्मा का दिन–रात है, सहस्रों वर्षों का है, परन्तु सहस्रों वर्ष ब्रह्मलोक में रहकर भी वे लौट आते ही हैं, उनकी नित्यमुक्ति नहीं होती। जो अशुभ कर्म करने वाले हैं, वे ब्रह्मलोक तक भी नहीं पहुँचते, वे चन्द्रलोक तक पहुँच कर ही लौट आते हैं। चन्द्रलोक तक पहुँच कर लौट आने का अर्थ यह है कि वे इस पृथ्वी और इसी चन्द्र की सृष्टि में आवागमन करते रहते हैं, यहीं जन्मते, यहीं मरते रहते हैं।

विशेष :– दोनों विद्वानों के विचार जानने के पश्चात् मेरी यह धारणा है कि श्री कृष्ण जी का अभिप्राय यहाँ निष्काम एवं सकाम कर्मों से है। निष्काम कर्म करने वाला योगी मोक्ष को प्राप्त करता है और सकाम कर्म करने वाला योगी पुनः पुनः जन्म प्राप्त करता है, मरता है, इसे ही चन्द्रलोक की संज्ञा दी गई है।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।। २७।।

पार्थ (हे अर्जुन!), एते, सृति, जानन् (इन, दोनों मार्गों को, जानकर), कश्चन, योगी, न, मुह्यति (कोई भी, योगी, मोहित, नहीं होता), तस्मात्, अर्जुन (इस कारण हे अर्जुन, तू), सर्वेषु, कालेषु, योगयुक्तः भव (सब काल में, समबुद्धि रूप योग से युक्त हो)।

प्रश्न 17– श्री कृष्ण जी अर्जुन को दोनों प्रकार के मार्ग अपनाने को क्यों कहा है?

उत्तर– यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को पुनः युद्ध मार्ग की ओर प्रेरित करते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! इन दोनों प्रकार के मार्गों (निष्काम तथा सकाम) के रहस्य को जानने वाला योगी मोहित नहीं होता, मूढ़ नहीं होता, भ्रमित नहीं होता उनकी निकृष्टतम अवस्था भी धूम (धुएँ) की है। अग्नि के धक्के से ऊपर तो उठता है, गीली लकड़ी तो जलने का नाम नहीं लेती और धूम उत्पन्न किए जाती है, इसलिए तू सब कालों में योग–युक्त होकर कार्य कर। कभी तो दक्षिणायन से उत्तरायण में, रात्रि से दिन में, कृष्ण से शुक्ल पक्ष में, आ ही जायेगा। इस समय तो तेरे सामने सबसे बड़ा कर्म अन्याय का नाश है, वह तू पूरा कर।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।। २८।।

योगी, इदम्, विदित्वा (योगी पुरुष, इस रहस्य के तत्त्व को, जानकर), वेदेषु, च, यज्ञेषु, तपःसु दानेषु (वेदों के पढ़ने में, तथा यज्ञ, तप और दानादि करने से), यत्, पुण्यफलम् (जो, पुण्यफल), प्रदिष्टम् (कहा है), तत्, सर्वम्, एव, अत्येति (उस, सब को, निःसन्देह, पार कर जाता है), च आद्यम्, परमस्थानम्, उपैति (और, सनातन, परम पद को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 18- इस अध्याय में वर्णित तत्त्व को जानने का श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को क्या फल बताया है?

उत्तर- वेदों में यज्ञ और तप करने से तथा विविध दानों से पुण्य का जो अलग-अलग फल बताया है, उस सबको योगी इस तत्त्व को जानकर उपेक्षापूर्वक छोड़ देता है तथा वेद के बताये हुए पर-ब्रह्म प्राप्ति रूप एक ही महायज्ञ को निष्काम रूप से करता है तो उन सब कर्मों के फल से जो बड़ा फल है-आत्मा की अपनी आद्य अर्थात् शुद्ध आसक्ति बन्धन रहित अवस्था में आ जाता है, तब वह इस स्थान को पा लेता है।

भाव यह है कि वेदादि शास्त्रों में ब्रह्मप्राप्ति से लेकर साधारण सकाम दान तक सब कर्मों के फलों को निर्देश किया गया है। सो सकाम कर्मों से जीव छोटे-छोटे नाना रूप धारण करता है किन्तु रहता बन्धन में है। निष्काम ब्रह्म-सेवा से योगी जीवात्मा के असली आसक्ति-मुक्त रूप में आ जाता है।

यज्ञ का अर्थ है कल्याणकारी कार्य। दान भी कल्याण के निमित्त किया जाता है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किये कर्म को तप कहते हैं। इन कर्मों से दूसरों को लाभ पहुँचता है और वही लाभ करने वालों को भी पहुँचेगा। वह फल मोक्ष प्राप्ति से हीन है।

इसी प्रकार वेद-पाठ करने से ज्ञान प्राप्त होगा परन्तु ज्ञान जो कर्म से युक्त न हो, वह ज्ञान केवल बातों-बातों का ही होता है।

यह कहा है कि इन सबसे अधिक फल होता है, योगाभ्यास का। योगाभ्यास से बुद्धि निर्मल होती है। यह उचित-अनुचित में भेद बताने के योग्य हो जाती है।

यह जो कहा है कि मरने के समय 'ओ३म्' अक्षर रूप परमात्मा का स्मरण करने से मोक्ष प्राप्त होता है, इसका आशय है कि जो सब काल में 'ओ३म्' का

स्मरण करता है, वही मरणकाल में भी 'ओ३म्' का स्मरण करेगा। जो जीवन भर तो अनाचार तथा अत्याचार करता रहा हो, वह मरते समय परमात्मा का स्मरण नहीं कर सकता।

सारांश या संदेश :- प्रस्तुत अध्याय में अर्जुन की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए श्री कृष्ण जी कहते हैं- जो साधक अन्तिम समय (मृत्यु काल में) ईश्वर को स्मरण करते हुए देह त्यागता है, वह संशय रहित परमात्मा को पा लेता है। इसलिए अनिवार्य रूप से सब कालों में परमात्मा का स्मरण करते हुए अपने कर्तव्य का निर्वहन करते रहो, क्योंकि सम्पूर्ण जीवन भर ब्रह्म से आप्लावित रहने वाला व्यक्ति ही अन्तकाल में परमात्मा को स्मरण करने में समर्थ हो सकता है। इस प्रकार कर्मयोग से युक्त व्यक्ति अन्तिम समय में उस अक्षर अविनाशी ब्रह्मरूप परम पद को प्राप्त कर लेता है।

अध्याय के अन्त में जीवन की दो प्रमुख गतियों, शुक्ल व कृष्ण (शुभ व अशुभ) का वर्णन किया है। शुक्ल मार्ग का अवलम्बन करने वाले व्यक्ति को जीवन मरण के बन्धन से मोक्ष प्राप्त होता है और कृष्ण मार्ग पर चलने वाले को बार-बार मृत्यु लोक के चक्कर काटने पड़ते हैं, शुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए धधकती चिता की अग्नि की ज्वाला, दिन, शुक्ल पक्ष, उत्तरायण जहाँ छः महीने तक सूर्य अस्त ही नहीं होता- आदि शब्दों से प्रकट किया है, अशुभ कर्म को लाक्षणिक तौर पर प्रकट करने के लिए धधकती चिता के धुएँ, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायन, जहाँ छः महीने सूर्य का प्रकाश नहीं दिखता- आदि शब्दों में प्रकट किया है।

सारांश रूप में निष्काम-कर्म योगी मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है और सकाम-कर्म योगी पुनः पुनः संसार के जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

भगवद् गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र में श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का अक्षर-ब्रह्म-योग नामक आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

अथ नवमोऽध्यायः
राजविद्या-राजगुह्य-योग- परम गुह्य ज्ञान

प्रधान विषय -

(1) प्रभाव सहित ज्ञान का विषय-श्लोक संख्या 1 से 6 तक।

(2) जगत् की उत्पत्ति का विषय- श्लोक संख्या 7 से 10 तक।

(3) भगवान् का तिरस्कार करने वाले आसुरी प्रकृति वालों की निन्दा और दैवी प्रकृति वालों के भगवद्भजन का प्रकार- श्लोक संख्या 11 से 15 तक।

(4) सर्वात्मरूप से प्रभाव सहित भगवान् के स्वरूप का वर्णन- श्लोक संख्या 16 से 19 तक।

(5) सकाम और निष्काम उपासना का फल - श्लोक संख्या 20 से 25 तक।

(6) निष्काम भगवद्भक्ति की महिमा - श्लोक संख्या 26 से 34 तक।

भूमिका :- गीता का 9वां अध्याय बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। इस अध्याय में श्री कृष्ण जी का जो गुह्यतम ज्ञान है, जिसको उन्होंने 'राजविद्या' कहकर के सम्बोधित किया, जिसे उन्होंने परम गुह्य ज्ञान कहा है, उस ज्ञान के लिए अर्जुन को माध्यम बनाकर सारे संसार के लिए यह ज्ञान दिया।

७वें अध्याय में श्री कृष्ण जी द्वारा विज्ञान सहित ज्ञान कहने का जो प्रवाह चल रहा था, उसके बीच में ही अर्जुन ने आठवें अध्याय के प्रारम्भ में सात प्रश्न कर दिये। इसमें छह प्रश्नों का उत्तर श्री कृष्ण जी ने संक्षेप में देकर अन्तकालीन गति विषयक सातवें प्रश्न का उत्तर विस्तार से दिया है।

अब सातवें अध्याय के कहने से बचे हुए उसी विज्ञान सहित ज्ञान के विषय को विलक्षण रीति से कहने के लिए श्री कृष्ण जी नौवें अध्याय का विषय प्रारम्भ करते हैं।

श्री कृष्ण उवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।। १ ।।

ते, अनसूयवे (तुझ, दोषदृष्टिरहित भक्त के लिए), इदम्, गुह्यतमम्, विज्ञानसहितं, ज्ञानम्, प्रवक्ष्यामि (इस, परम गोपनीय, विज्ञान सहित ज्ञान को, पुनः भली भाँति कहूँगा), तु, यत्, ज्ञात्वा (कि, जिसको जानकर, तू), अशुभात्, मोक्ष्यसे (दुःखरूप संसार से, मुक्त हो जायेगा)।

प्रश्न 1- श्री कृष्ण जी अर्जुन को कैसा ज्ञान देना चाहते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! तुम दोषरहित हो। इसलिए मैं तुम्हें गुह्य से गुह्य विज्ञान सहित ज्ञान बतलाता हूँ, जिस ज्ञान को जान लेने से दुःख रूप संसार से तू मुक्त हो जायेगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि गीता के समय 'ज्ञान' तथा 'विज्ञान' दो भावपूर्ण शब्द थे। 'ज्ञान' का अर्थ सामान्य ज्ञान तथा 'विज्ञान' का अर्थ अनुभव गम्य ज्ञान है। गीता में क्योंकि आध्यात्मिक चर्चा चल रही है, इसलिए यहाँ पर 'ज्ञान' का अर्थ प्रचलित आध्यात्मिक ज्ञान (Theory) से है और 'विज्ञान' का अर्थ आध्यात्मिक जीवन का क्रियात्मक शिक्षा (Practical)से कहा जा सकता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।। २ ।।

इदम्, राजविद्या, (यह, विज्ञान सहित ज्ञान की सब विद्याओं का राजा), राजगुह्यम् (गुह्य विद्याओं में अत्यन्त गुह्य), पवित्रम्, उत्तमम् (अति पवित्र, अति उत्तम), प्रत्यक्षावगमम् (प्रत्यक्ष फल देने वाली), धर्म्यम् (धर्म के अनुकूल), कर्तुम् (साधन करने में) ससुखम्, अव्ययम् (बड़ा सुगम और अविनाशी है)

प्रश्न 2- इस गुह्यज्ञान की क्या विशेषतायें बताई गई हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस गुह्य ज्ञान की विशेषतायें बताते हुए कहते हैं, "हे अर्जुन! यह जो गुह्य से गुह्य रहस्य मैं तुझे बताने लगा हूँ, यह विद्याओं में राजविद्या है, और गुह्य विद्याओं में अत्यन्त गुह्य विद्या है। यह पवित्र विद्या है, अति उत्तम विद्या है, प्रत्यक्ष फल देने वाली विद्या है, धर्म के अनुकूल विद्या है, साधन करने में बड़ी सुगम विद्या है, परन्तु सुगम होने के कारण साधारण नहीं, किन्तु अविनाशी विद्या है। प्रत्येक विद्या अधिकारी पुरुष को दी जाती है और मैं तुम्हें इसका अधिकारी मानता हूँ। यह विद्या अन्य विद्याओं की तुलना में तो और भी गोपनीय है।"

श्री कृष्ण जी इस विद्या को '**प्रत्यक्षावगमम्**' कहते हैं अर्थात् यह विद्या

शब्दों में समाने वाली नहीं है, यह विद्या प्रत्यक्ष अनुभव की कसौटी पर कसी जाने वाली विद्या है। जैसे गूँगा गुड़ के स्वाद को नहीं बता सकता, बल्कि हाव भाव से प्रकट करता है इसी प्रकार श्री कृष्ण जी भी इस विद्या को अनुभवजन्य विद्या मानते हैं। श्री कृष्ण जी इस विद्या को सब के लिए सुलभ और खोल कर रख रहे हैं। इस गूढ़ रहस्य को श्री कृष्ण जी अल्मारी में बन्द न करके सभी के लिए सुलभ करने का संकल्प लेते हैं। यही कार्य आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने वेदों के सम्बन्ध में किया। वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों (श्रेष्ठ व्यक्तियों)के लिए न केवल धर्म अपितु परम धर्म बताया।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।। ३।।

परन्तप (हे अर्जुन!), अस्य, धर्मस्य (इस, धर्म का) अश्रद्दधानाः, पुरुषाः (श्रद्धारहित, पुरुष), माम्, अप्राप्य (मुझको, न प्राप्त होकर), मृत्युसंसारवर्त्मनि, निवर्तन्ते (मृत्यु रूप संसार चक्र में, भ्रमण करते हैं)।

प्रश्न 3- श्रद्धा रहित पुरुष की क्या स्थिति होती है?

उत्तर- गीताकार इस ज्ञान को अत्यन्त गोपनीय समझते हैं, बड़े ऊँचे दर्जे का समझते हैं। इस रहस्य के बारे में श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से कहा, ''हे परन्तप! यह रहस्य एक ऐसा रहस्य है जिसे राजविद्या, राजगुह्य कहा है- इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धा न रखने वाले मोक्ष को न पाकर मृत्युमय संसार के मार्ग में बार-बार लौट आते हैं।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।। ४।।

मया (मुझ), अव्यक्तमूर्तिना (निराकार=अव्यक्त परमात्मा से) इदम्, सर्वम्, जगत् (यह, सारा, संसार), ततम् (परिपूर्ण है), च (और), सर्वभूतानि (सारे प्राणी), मत्स्थानि (मुझ में स्थित हैं), अहम्, तेषु, न, अवस्थितः (मैं, उनमें, स्थित नहीं हूँ)

न च मत्स्थानिन भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।। ५।।

भूतानि, मत्स्थानि, न (वे सब प्राणी, मुझ में, स्थित नहीं हैं किन्तु), मे, ऐश्वरम्, योगम् (मेरी, ईश्वरीय,योगशक्ति को देख), भूतभृत्, च, भूतभावनः (प्राणियों

का धारण-पोषण करने वाला, और प्राणियों को उत्पन्न करने वाला), च, मम, आत्मा (भी, मेरा, आत्मा), वास्तव में, भूतस्थः, न (प्राणियों में, स्थित नहीं है)।

प्रश्न 4- श्री कृष्ण जी परमात्मा की महिमा का कैसा वर्णन करते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं- परमात्मा इस पूर्ण संसार में परिपूर्ण है। उसका स्वरूप अदृश्य है। यह जगत् उसमें स्थित है, ना कि वह जगत् में स्थित है। मूर्ति को परमात्मा मानने वालों को गीता का प्रवक्ता पहले ही 'मूढ़' (मूर्ख) कह चुका है। यहाँ पुनः अपने मत को दुहरा रहा है कि परमात्मा अमूर्त (अदृश्यमान्) है। साथ ही वह पूर्ण संसार में व्याप्त है, संसार उसमें व्याप्त नहीं। परमात्मा अव्यक्त रूप में व्याप्त है। परमात्मा में सब प्राणी स्थित हैं, निवास करते हैं।

देखो! यह कैसी परमात्मा की करनी है, कैसा योग सामर्थ्य है। परमात्मा सब प्राणियों का धारण-पोषण करने वाला, सब प्राणियों को उत्पन्न करने वाला होते हुए उनमें समाया हुआ है।

दूसरे शब्दों में परमात्मा इस जगत् में बहुत बड़ा है, जगत् उसमें ही स्थित है। उसके किस और कितने बड़े कोने में स्थित है, इसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती। परमात्मा कितना बड़ा है यह अभी तक कोई कल्पना भी नहीं कर सका। हाँ, इस जगत् का तो अनुमान लगाया जा सकता है।

कमल का पत्ता पानी में है, पानी में रहता हुआ पानी में नहीं है। यही वह रहस्य है, जो दिखता नहीं, छिपा हुआ है, गुप्त है। श्री कृष्ण जी इस रहस्य को अर्जुन के माध्यम से विश्व के सभी प्राणियों को सन्देश देना चाह रहे हैं कि भगवान् सृष्टि के कण-कण को रचकर, कण-कण में व्याप्त होकर सृष्टि से अलग है, अन्दर होते हुए भी बाहर है। इसी प्रकार मनुष्य जब सृष्टि में रहता हुआ, सब कर्मों को करता हुआ कर्मों से अलग रहता है, तब वह इस राज गुह्य विद्या को जान सकता है।

परमात्मा के बारे में डॉ. राधाकृष्णन् जी श्रीधर जी के शब्दों को इस प्रकार उद्धृत कर रहे हैं-

''जीव या शरीरी (आत्मा) शरीर को धारण करता हुआ और उसे सँभालता हुआ अहंकार या आत्मबुद्धि द्वारा उससे चिपटा रहता है, किन्तु जीव के विपरीत मैं यद्यपि सब भूतों को धारण करता हूँ और सँभालता हूँ, फिर भी मैं उनमें

निवास नहीं करता, क्योंकि मैं अहंकार या आत्मबुद्धि से मुक्त हूँ।''

डॉ. राधाकृष्णन् जी के अनुसार– ''गीता संसार को अस्वीकार नहीं करती, जो कि परमात्मा के कारण विद्यमान है और जिसके पीछे, ऊपर और आगे परमात्मा है। संसार परमात्मा के कारण विद्यमान् है, जो परमात्मा संसार के बिना भी अपने–आप में उससे कम नहीं रहेगा, जो कि वस्तुतः है। परमात्मा के विपरीत संसार का अपना विशिष्ट अस्तित्व उसके अपने अन्दर नहीं है, इसलिए उसका अस्तित्व केवल सीमित है, परम नहीं। यहाँ गीताकार का झुकाव सर्वेश्वरवाद की ओर नहीं है जिसका कथन है कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा है, अपितु यजुर्वेद के 40वें अध्याय के मन्त्रः– **''ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्''** की ओर है जो इस बात का सूचक है कि प्रत्येक वस्तु परमात्मा के अन्दर विद्यमान है। विश्व की प्रक्रिया परमब्रह्म का पूर्व प्रकटन नहीं है। कोई भी सीमित प्रक्रिया परमब्रह्म को अन्तिम रूप से और पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं कर सकती। निःसन्देह यह संसार परमात्मा का सजीव प्रकटन है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।। ६।।

यथा, सर्वत्रगः, महान्, वायुः (जैसे, सर्वत्र विचरने वाला, महान्, वायु), नित्यम्, आकाशस्थितः (सदा, आकाश में ही स्थित है), तथा (वैसे ही [मेरे संकल्प द्वारा उत्पन्न होने से]), सर्वाणि, भूतानि, मत्स्थानि (सम्पूर्ण, प्राणी, मुझ में स्थित हैं), इति, उपधारय (ऐसा, जान)।

प्रश्न 5– सम्पूर्ण प्राणी परमात्मा में स्थित हैं, श्री कृष्ण जी किस दृष्टान्त से अर्जुन को समझाते हैं?

उत्तर– जैसे आकाश में सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु स्थित है वैसे ही सम्पूर्ण भूतों में परमात्मा स्थित है।

सम्पूर्ण भूत का अभिप्राय है पाँच भौतिक जगत् के सब पदार्थ। प्राणी का शरीर भी पँचभौतिक है। प्राणी इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और जीवात्मा के संयोग को कहते हैं। शरीर इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि प्रकृति के परिणाम हैं। जीवात्मा इनसे पृथक् एक अनादि तत्त्व है। परमात्मा सर्वव्यापक होने से सबमें परिपूर्ण है और ये पँचभौतिक प्रपंच परमात्मा में स्थित हैं। 'परमात्मा' इनके आधीन नहीं है।

सृष्टि परिवर्तनशील है, ब्रह्म अपरिवर्तनशील है, तो भी अपरिवर्तनशील

ब्रह्म परिवर्तनशील सृष्टि को धारण किये हुए है, ठीक ऐसे जैसे अचल आकाश चंचल वायु को अपने भीतर समाये रखता है। वायु आकाश में झंझावात मचाता है, परन्तु आकाश उनसे अलिप्त रहता है, सृष्टि के भूत–जड़–चेतन ब्रह्म में बनते–बिगड़ते रहते हैं, परन्तु ब्रह्म निर्विकार बना रहता है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानिन कल्पादौ विसृजाम्यहम्।। ७।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), कल्पक्षये (सृष्टि के चक्र की समाप्ति पर), सर्वभूतानि (सब प्राणी), मामिकाम्, प्रकृतिम्, यान्ति (मेरी, प्रकृति को, प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रकृति में लीन होते हैं), कल्पादौ (सृष्टि चक्र के प्रारम्भ में), तानि, अहम्, पुनः, विसृजामि, (उनको, मैं, फिर, रचता हूँ)।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।। ८।।

स्वाम्, प्रकृतिम्, अवष्टभ्य (अपनी, प्रकृति को, स्वीकार= अंगीकार करके), प्रकृतेः वशात् , अवशम् (स्वभाव के, बल से, परतन्त्र हुए), इमम्, कृत्स्नम्, भूतग्रामम् (इस, सम्पूर्ण, भूतसमुदाय को), पुनः, पुनः, विसृजामि (बार–बार, उनके कर्मों के अनुसार रचता हूँ)।

प्रश्न 6– परमात्मा द्वारा सृष्टि सृजन और महाप्रलय को श्री कृष्ण जी अर्जुन को कैसे समझाते हैं?

उत्तर– सृष्टि के चक्र की समाप्ति पर सब भौतिक पदार्थ परमात्मा के अधीन प्रकृति में लीन हो जाते हैं इसे ही प्रलय कहा जाता है और सृष्टि के चक्र के प्रारम्भ पर परमात्मा उन सब भूतों को उत्पन्न करते हैं सृष्टि का जन्म कहा जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा प्रकृति को अपने हाथ में लेकर इस सम्पूर्ण पदार्थ समूह को बार–बार रचते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।। ९।।

धनञ्जय (हे अर्जुन!) तेषु, कर्मसु, असक्तम् (उन कर्मों में आसक्ति रहित), च, उदासीनवत् (और, उदासीन के समान), आसीनम्, माम् (स्थित, मुझ को), तानि, कर्माणि, न, निबध्नन्ति (वे, कर्म, नहीं, बाँधते)।

प्रश्न 7– श्री कृष्ण जी परमात्मा को कर्म करते हुए भी कैसा मानते हैं?

उत्तर– परमात्मा सब कर्म करता है सृष्टि उत्पन्न करना, पालन, प्रलय करना,

जीवों को कर्मानुसार फल देना, वेद का ज्ञान प्रदान करना ये सब करते हुए भी इन सब कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ते, क्योंकि वे उदासीन के सदृश आसक्ति रहित रहते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार- यद्यपि परमात्मा सृष्टि और प्रलय का उनकी आत्मा बन कर और संदर्शक बनकर नियन्त्रण करता है, फिर भी वह उनमें फँसता नहीं है, क्योंकि वह विश्व की घटनाओं की प्रक्रिया से ऊपर है। परमात्मा विश्व क्रीड़ा में अथक रूप से सक्रिय है और वह फिर भी विश्व से ऊपर और नियमों से मुक्त है। परमात्मा उस विश्व चक्र में बँधा हुआ नहीं है, जिसे कि वह घुमा रहा है। अनगिनत व्यक्ति जन्म लेते हैं, बढ़ते हैं, प्रयत्न करते हैं और कष्ट उठाते हैं, मरते हैं और फिर जन्म लेते हैं, परन्तु परमात्मा सदा स्वतन्त्र रहता है। वे (जीव) अपने कर्मों का फल भुगतते हैं और अपने अतीत के कर्मों में बँधे रहते हैं, परन्तु वह (परमात्मा) सदा मुक्त रहता है। वह विकास विश्व के प्रभात (सृष्टि रचना)में प्रारम्भ होता है और विश्व की रात्रि (प्रलय) होने पर फिर वापिस लौटा लिया जाता है।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते।। १०।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), मया, अध्यक्षेण (मेरे द्वारा, देख-रेख करने वाले), प्रकृतिः, सचराचरम्, सूयते (प्रकृति, चराचर सहित, सर्वजगत् को रचती है और), अनेन, हेतुना (इस, कारण से ही) जगत्, विपरिवर्तते (यह संसार-चक्र, घूम रहा है)

प्रश्न 8- श्री कृष्ण जी संसार चक्र को घूमता हुआ किस प्रकार प्रकट करते हैं?

उत्तर- परमात्मा की देखरेख में यह प्रकृति इस चर तथा अचर जगत् को उत्पन्न करती है। इस कारण यह सारा संसार चल रहा है। परमात्मा द्वारा प्रेरित होकर प्रकृति चराचर जगत् को जन्म देती है। इससे सिद्ध है प्रकृति कुम्भकार के लिए मिट्टी के समान है और परमात्मा इन से इस घड़े रूप जगत् की रचना करता है। प्रकृति जड़ है और अपने आप में स्वतन्त्र न होकर परमात्मा के लिए यन्त्र के रूप में कार्य करती है।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।। ११।।

मम, परम्, भावम्, अजानन्तः (परमात्मा के, परम भाव को, न जानने वाले), मूढाः (मूर्ख लोग), मानुषीम्, तनुम्, आश्रितम्, माम् (मनुष्य का, शरीर, धारण करने वाले, परमात्मा को), भूतमहेश्वरम्, (सम्पूर्ण भूतों के महान् ईश्वर को), अवजानन्ति (तुच्छ समझते हैं अर्थात् परमात्मा को साधारण मनुष्य मान लेते हैं)।

प्रश्न 9- लोग परमात्मा को मनुष्यों के समान कैसे शरीरधारी मान लेते हैं?

उत्तर- परमात्मा की सामर्थ्य को न जानते हुए कुछ मूढ़ लोग परमात्मा को मनुष्य शरीर धारण करने वाला समझते हैं। परमात्मा की अवहेलना (अवज्ञा) करते हैं (किसी को छोटा, किसी को बड़ा, किसी को चाण्डाल, किसी को ब्राह्मण) इस प्रकार का भेदभाव वे मूढ़ लोग इसलिए करते हैं कि परमात्मा की प्रकृति को समझ नहीं पाते। वे यह नहीं जानते कि वह सर्वदृष्टा है, वह परमात्मा सब मनुष्यों को एक समान दृष्टि से देखता है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने भागवत् का उदाहरण देते हुए बताया है- भागवत् में श्री कृष्ण के मुंह से कहलाया गया है, ''मैं सब प्राणियों में उनकी आत्मा के रूप में विद्यमान हूँ, परन्तु मनुष्य मेरी उस उपस्थिति की अवहेलना करके मूर्ति पूजा का दिखावा करते हैं।''

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।। १२

मोघाशाः (जिनकी आशा व्यर्थ है), मोघकर्माणः (जिनके कर्म व्यर्थ है), मोघज्ञानाः (जिनका ज्ञान व्यर्थ है), विचेतसः (ऐसे विक्षिप्त = अज्ञानी जन), राक्षसीम्, आसुरीम्, च, मोहिनीम्, प्रकृतिम् (आसुरी, राक्षसी और मोह पैदा करने वाली, प्रकृति को), एव, श्रिताः (ही, धारण किये हुए हैं)।

प्रश्न 10- अज्ञानी जन कैसे होते हैं?

उत्तर- जो लोग व्यर्थ की आशायें बांधते हैं, उन आशाओं के लिए वृथा कर्म करते हैं, फिर वृथा ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे अज्ञानी जन राक्षसों, असुरों तथा तामसी व्यक्तियों के स्वभाव को धारण करते हैं।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार वृथा ज्ञान, वृथा कर्म, वृथा आशायें क्या हैं? इसका ज्ञान इस बात से होगा, जब हम सार्थक ज्ञान, सार्थक कर्म और सार्थक आशा को समझ लेंगे।

मानव शरीर में जीवात्मा है। यदि जीवात्मा शरीर में हैं, जो अनादि तत्त्व है

तो यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वह यहाँ क्यों है? शरीर में सुख के साथ दु:ख भी होते हैं। कुछ एक शरीर में दु:ख अत्यधिक होते हैं। इस कारण प्रश्न यही है कि फिर जीवात्मा इस शरीर में क्यों आता है? यह स्पष्ट है कि जीवात्मा स्वेच्छा से नहीं आता। उसका शरीर में आना विवशता के कारण है। इस विवशता को पार करना सार्थक कर्म है। इसके विषय में ज्ञान सार्थक है और फिर इस विवशता से छुटकारा पाने की आशा सार्थक आशा होगी।

यह अनुमान प्रमाण का विषय है कि कर्मफलों से बँधे हुए मनुष्य इस संसार में आते हैं। अत: उन कर्मफलों से बच सकना सार्थक कर्म होगा और बाँधने वाले कर्म व्यर्थ के कर्म होंगे। उन व्यर्थ के कर्मों से बनाई गई आशायें व्यर्थ होगी और उन कर्मों का ज्ञान व्यर्थ होगा।

अभिप्राय यह है कि जीवात्मा का एकमात्र कर्म इस शरीर में ऐसी परिस्थितियाँ प्राप्त करना है, जिसमें आनन्द तो हो, परन्तु क्लेश अर्थात् दु:ख न हो। ऐसी स्थिति के विपरीत आशा व्यर्थ की आशा है। इसके लिए कर्म, व्यर्थ कर्म और इसका ज्ञान व्यर्थ ज्ञान है।

यह (कर्म) इन्द्रियों के सुख के लिए होगा तो आसुरी कहा जायेगा। यह यदि किसी दूसरों को कष्ट देने के लिए होगा तो राक्षसी कहलायेगा। और दोनों अवस्थाओं में यह कल्याण का सूचक नहीं होगा।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिता:।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।। १३

तु, पार्थ (परन्तु, हे अर्जुन!) दैवीम्, प्रकृतिम्, आश्रिता:, महात्मान: (दैवी, स्वभाव वाले, आश्रित, महात्मा जन), माम् (मुझको), भूतादिम् (प्राणिमात्र के आदि कारण), अव्ययम्, ज्ञात्वा (नाशरहित अक्षर स्वरूप, जानकर), अनन्यमनस: भजन्ति (एकाग्र मन वाले, उपासना करते हैं)।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता:।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।। १४।।

दृढव्रता:, सततम्, कीर्तयन्त: (दृढ़ निश्चय वाले भक्त जन, निरन्तर, कीर्तन=गुणगान करते हुए), च (और), यतन्त: (परमात्मा की प्राप्ति के लिए यत्न करते हुए), माम् (परमात्मा को), नमस्यन्त: (प्रणाम करते हुए), नित्ययुक्ता: (नित्य योग करते हुए), भक्त्या, माम्, उपासते (भक्ति से परमात्मा को भजते हैं)

प्रश्न 11– दैवी प्रकृति के लोग कैसे होते हैं?

उत्तर– जो लोग दैवी प्रकृति के होते हैं वे संसार के फन्दे में नहीं फँसते हैं। परमात्मा को प्राणिमात्र का आदि कारण समझते हैं। वे एकाग्र मन होकर परमात्मा की उपासना में लीन रहते हैं। वे संसार की ओर से पीठ फेर कर ब्रह्म की ओर मुँह कर लेते हैं, वे अपने जीवन को संसार की उपासना में खो देने के स्थान पर 'भगवान्' के प्रति अर्पण कर देते हैं।

दैवी प्रकृति के सत्त्वगुणी महात्मा लोग सदा परमात्मा के गुणों को अपने जीवन में धारण करने का यत्न करते हैं, वे ही अपने निश्चय में डटे रहते हैं, तभी वे परमात्मा की भक्ति की डोर से बँधे हुए परमात्मा के ध्यान में मग्न रहते हैं।

यहाँ राक्षसी प्रकृति का अर्थ तमोगुणी–स्वभाव, आसुरी प्रकृति का अर्थ रजोगुणी स्वभाव तथा दैवी प्रकृति का अर्थ सत्त्वगुणी स्वभाव से है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।। १५।।

अन्ये (दूसरे ज्ञानयोगी), माम् (परमात्मा को), ज्ञानयज्ञेन, एकत्वेन, यजन्त:, अपि (ज्ञान यज्ञ से, एकत्व रूप से, उपासना करते हुए, भी), बहुधा (बहुत प्रकार से) विश्वतोमुखम् (विश्वद्रष्टा की), पृथक्त्वेन, उपासते (नाना रूप से, उपासना करते हैं)।

प्रश्न 12– ज्ञानी जन कैसे उपासना करते हैं?

उत्तर– भक्ति यज्ञ के अतिरिक्त दूसरे लोग 'ज्ञान यज्ञ' से परमात्मा की उपासना करते हैं। कई लोग परमात्मा को एकत्व रूप में, कुछ लोग उसे नाना रूप में उपासना करते हैं। वह परमात्मा तो विश्वतोमुख है अर्थात्–सब कहीं रहने वाला है।

'विश्वतोमुख' से अभिप्राय है परमात्मा का मुख सब ओर है अर्थात् वह सब को देखता है। उसकी पीठ किसी ओर नहीं अर्थात् उससे कोई ओझल नहीं है। वे इस पूर्ण विश्व को उस एक परमात्मा का बनाया हुआ मानते हैं, वे इस सब जगत् को एक ही समझ उसकी उपासना करते हैं।

उपासना का अभिप्राय है कि उसके समीप बैठना। समीप बैठकर परमात्मा का भली–भाँति परिचय प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करना।

कुछ लोग सम्पूर्ण विश्व को एक समझ उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। कुछ दूसरे है जो जगत् के एक–एक पदार्थ को लेकर उससे परमात्मा की उपासना

अर्थात् उसका चिन्तन कर उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं।

परमात्मा के गुणों का ज्ञान उसकी कर्तृत्वशक्ति से प्राप्त होता है। कोई तो सम्पूर्ण जगत् का चिन्तन करता है और उसकी महिमा का गान करता है और कोई इस निर्मित जगत् के एक पदार्थ का, उसकी योगमाया का चिन्तन कर ज्ञान प्राप्त करता है, इसे ही गीता के प्रवक्ता ने ज्ञान यज्ञ कहा है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।। १६।।

क्रतुः, अहम् (श्रौतयज्ञ, मैं हूँ), यज्ञः, अहम् (यज्ञः मैं हूँ) स्वधा, अहम् (स्वधा, मैं हूँ), औषधम्, अहम् (औषधि, मैं हूँ) मन्त्रः, अहम् (मन्त्र, मैं हूँ), आज्यम्, अहम् (घृत मैं हूँ), अग्निः, अहम् (अग्नि, मैं हूँ), हुतम्, अहम् एव (हवन रूप क्रिया भी मैं ही हूँ)।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च।। १७

अस्य, जगतः (इस सम्पूर्ण जगत् का), धाता (धारण करने वाला एवं कर्मों का फल देने वाला), पिता, माता, पितामह (पिता, माता, दादा), वेद्यम्, पवित्रम्, ओंकारः (जानने योग्य, पवित्र, ओंकार), ऋक, साम, च, यजुः (ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी), अहम्, एव (मैं, ही हूँ)।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।। १८।।

गतिः (प्राप्त होने योग्य परमधाम), भर्ता (भरण-पोषण करने वाला), प्रभुः (सब का स्वामी), साक्षी (शुभ-अशुभ का देखने वाला), निवासः (सबका निवास स्थान), शरणः (शरण लेने योग्य), सुहृत् (सबका हितकारी), प्रभवः, प्रलयः (सब की उत्पत्ति, प्रलय का हेतु), स्थिति, निधानम् (स्थिति का आधार), अव्ययम्, बीजम् (अविनाशी कारण भी मैं हूँ)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।। १९।।

अहम्, तपामि (मैं ही सूर्य रूप से तपता हूँ), वर्षम्, निगृह्णामि (वर्षा का आकर्षण करता हूँ), च, उत्सृजामि (और, उसे बरसाता हूँ), अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम्, एव (मैं, ही), अमृतम्, च, मृत्युः च (अमृत और मृत्यु हूँ और), सत्, असत् च अहम् (सत् और असत् भी, मैं हूँ)।

प्रश्न 13- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को परमात्मा के कैसे स्वरूप का वर्णन किया है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने उपर्युक्त श्लोकों में अर्जुन को परमात्मा के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार कराया है :-

1. जगत् रचना रूपी यज्ञ का करने वाला परमात्मा है।
2. स्वधा जो स्वयं स्थित है अर्थात् प्रकृति का रक्षक परमात्मा है।
3. वनस्पति-जगत् को उत्पन्न करने वाला परमात्मा है।
4. इस रचना रूपी यज्ञ का घी परमात्मा है।
5. इस यज्ञ में उत्पन्न होने वाली अग्नि भी परमात्मा है।
6. इस जगत् (गतिशील संसार) का पिता, माता, धारण करने वाला और पितामह परमात्मा है।
7. परमात्मा का निज और मुख्य नाम 'ओ३म्' (ओंकार) है।
8. ऋग्वेद,यजुर्वेद, सामवेद आदि का रचयिता परमात्मा है।
9. परमात्मा इस जगत् की गति, पालन करने वाला स्वामी है।
10. परमात्मा सब के कर्मों का साक्षी है।
11. परमात्मा सबका आश्रय स्थल है अर्थात् सबको शरण देने वाला है, सबका निवास स्थान है।
12. परमात्मा सब का हित चिन्तन करने वाला और प्रत्युपकार न चाहने वाला है।
13. परमात्मा ही सूर्य के माध्यम से पृथ्वी को तपाता है।
14. परमात्मा वर्षा को लाता एवं बरसाता है।
15. परमात्मा सत् (प्रकृति का स्वरूपवान् रूप) और असत् (प्रकृति का अस्वरूपवान् रूप) का कारण है और सत् (नष्ट न होने वाला) और असत् (नष्ट होने वाला) परमात्मा के कारण से ही है।

आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इन श्लोकों पर इस प्रकार अपनी लेखनी चलाई।

इन श्लोकों में श्रीकृष्ण जी यह कहते हैं कि संसार में जो कुछ है वह 'मैं-ही-मैं हूँ'। इसी को भक्त की वाणी में कहा जाये तो कहना होगा कि भक्त कहता है- 'तू-ही-तू' है। राज-विद्या तथा राज-गुह्य यही है कि भक्त संसार में हर

वस्तु में भगवान् का रूप देखता है, जिधर-देखता है उसे भगवान् ही भगवान् दिखता है। भक्त कहता है कि लोग कहते हैं उन्हें भगवान् कहीं दिखता नहीं, परन्तु उसे तो सूर्य-चन्द्र में, नदी-पहाड़ में, पृथ्वी-आकाश में, पशु-मनुष्य में सब स्थानों पर भगवान् ही भगवान् दिखता है, उसे तो भगवान् के सिवाय कुछ दिखता ही नहीं। ऐसी विद्या जिसमें न दिखने वाला ही दिखने लगे और दिख रहा संसार आँखो से ओझल हो जाये, गुह्य विद्या नहीं तो क्या है ?

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्ननन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्।।२०।।

त्रैविद्याः (तीन वेदों में विधान किये हुए सकाम कर्मों को करने वाले), सोमपाः (सोमरस को पीने वाले), पूतपापाः (पापरहित), माम् (मुझ को), यज्ञैः, इष्ट्वा (यज्ञों द्वारा, भजन करके), स्वर्गतिम्, प्रार्थयन्ते (स्वर्ग की, प्राप्ति चाहते हैं), ते (वे पुरुष), पुण्यम् (अपने पुण्यों के फलरूप), सुरेन्द्र, लोकम्, आसाद्य (स्वर्ग लोक को, प्राप्त होकर), दिवि (स्वर्ग में), दिव्यान्, देवभोगान् अश्नन्ति (दिव्य, देवताओं के भोगों को भोगते हैं)।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।। २१ ।।

ते (वे पुरुष), तम्, विशालम्, स्वर्गलोकम्, भुक्तवा (उस, विशाल, स्वर्ग लोक अर्थात् सुख को, भोगकर), पुण्ये, क्षीणे, मर्त्यलोकम्, विशन्ति (पुण्यक्षीण होने पर, मृत्यु लोक को, प्राप्त होते हैं) एवम्, त्रयीधर्मम् (इस प्रकार, स्वर्ग के साधन रूप वेदों में कहे, सकाम कर्म का), अनुप्रपन्नाः, कामकामाः (आश्रय लेने वाले और भोगों की कामना वाले पुरुष), गतागतम्, लभन्ते (बार-बार आवागमन को प्राप्त होते हैं अर्थात् पुण्य के प्रभाव से स्वर्ग में जाते हैं और पुण्य क्षीण होने पर मृत्युलोक में आते हैं)।

प्रश्न 14- कौन लोग सुख में और कौन लोग दुःख को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर- त्रैविद्या जानने वाले, सोमरस को पीने वाले, पापों से पवित्र जन, यज्ञों द्वारा परमात्मा की अराधना करके अपने पुण्यों से सुख को प्राप्त करते हैं और दिव्य भोगों को भोगते हैं।

ये जीवात्मा विशाल सुख का भोग करके पुण्य (कर्म) समाप्त होने पर पुनः मृत्युलोक में आते हैं इसी प्रकार त्रयी धर्म के आश्रय भोगों की कामना वाले लोग पुनः पुनः दुःख को जाते हैं।

श्री गुरुदत्त जी ने श्लोक संख्या २०,२१ पर इस प्रकार टिप्पणी की है-

संसार में पुण्यकर्म (कामनाओं) करने वालों को अर्थात् किसी उद्देश्य से कर्म करने वालों को शुभ फल तो मिलता है, परन्तु उन कामनाओं की पूर्ति ही फल है। इसके अतिरिक्त शुभकर्मों का कुछ भी प्रभाव नहीं होता।

प्रायः 'त्रयीविद्या' का अर्थ वेद विद्या किया जाता है, परन्तु हमारा मत है कि त्रयी विद्या से अभिप्राय तीन वर्णों के कर्मों से है। अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम-धर्म, गृहस्थाश्रम-धर्म और वानप्रस्थाश्रम-धर्म। इस त्रयी विद्या के जानने वाले और इस त्रयी धर्म का पालन करने वाले स्वर्ग लोक (इन्द्र लोक) को प्राप्त होते हैं, इस भू-लोक पर कुछ लोग सुख-सुविधा से सम्पन्न परिवारों में उत्पन्न होते हैं। गीता के प्रवक्ता का यह अभिप्राय हो सकता है कि वर्णधर्म के ज्ञाता और उसका पालन करने वाले इसी भूलोक में आ जाते और सुख भोग करते हैं।

ऋग्वेद मंडल-१ सूक्त संख्या १६४, मन्त्र संख्या, ३७, ३८, ३९ में भी कहा है कि जब जीवात्मा का मन से संयोग हुआ तब उसे ज्ञान और वाणी मिली। फिर भी जीवात्मा परेशान है कि वह इस शरीर में बन्दी क्यों है ? वेद कहता है कि उत्तम योनियों में जाने के लिए कर्म कर। उत्तम योनियों में जाने के लिए परमात्मा ने उसे वेद का ज्ञान दिया है। यहाँ पर गीता का अभिप्राय यही है।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।। २२ ।।

ये (जो), अनन्याः, जनाः (अनन्य, प्रेमी भक्त जन), माम्, चिन्तयन्तः (परमात्मा का, निरन्तर चिन्तन करते हुए), पर्युपासते (निष्काम भाव से भजते हैं), तेषाम्, नित्यभि, युक्तानाम् (उन, नित्य-निरन्तर, चिन्तन करने वाले पुरुषों का), योगक्षेमम्, अहम्, वहामि (योगक्षेम, परमात्मा, स्वयं, प्राप्त करा देते हैं।)

प्रश्न 15- परमात्मा किस का योगक्षेम स्वयं वहन कर लेते हैं ?

उत्तर- जो लोग अनन्य भाव से परमात्मा का चिन्तन करते हुए उसकी उपासना करते हैं, वे नित्य भाव से परमात्मा से युक्त होते हैं और परमात्मा भी ऐसे उपासकों को ईश्वरीय व्यवस्था से योगक्षेम को प्राप्त करा देते हैं।

'योगक्षेम' शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। 'योग' का अर्थ है जो प्राप्त न हो उसे प्राप्त कर लेना, 'क्षेम' का अर्थ है- प्राप्त हो जाने पर उसे सम्भाल कर रखना। जो सारा भार अपने कन्धों पर लादे नहीं फिरते, सारा भार ईश्वरार्पण कर देते हैं, ऐसा नहीं है कि वह पुरुषार्थ नहीं करते, बल्कि पुरुषार्थ करने के पश्चात् वह

फल की चिन्ता न करते हुए प्रभु पर पूर्ण विश्वास करते हैं, ऐसे पुरुषार्थी लोगों की योगक्षेम की चिन्ता परमात्मा स्वयं करता है।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।। २३।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), अपि, श्रद्धया, अन्विताः (यद्यपि, श्रद्धा से, युक्त), ये, भक्ताः (जो, सकाम भक्त), अन्यदेवताः, यजन्ते (दूसरे देवताओं को, पूजते हैं), ते, अपि, माम्, एव, यजन्ति (वे भी, परमात्मा की, ही, पूजा करते हैं, किन्तु उनका वह पूजन), अविधिपूर्वकम् (अज्ञान पूर्वक, अविधिपूर्वक है)।

प्रश्न 16- परमात्मा के अतिरिक्त अन्य देवताओं की पूजा (उपासना) को श्री कृष्ण जी ने कैसा माना है ?

उत्तर- जो व्यक्ति अन्ध श्रद्धा से युक्त होकर अन्य देवताओं को पूजते हैं वे भी परमात्मा की उपासना समझ कर करते हैं, परन्तु उनकी यह उपासना विधिपूर्वक नहीं अर्थात् अज्ञानता से परिपूर्ण है। उसका फल भी उनकी भावनाओं के अनुकूल नहीं होता है अर्थात् जीवात्मा के अगले जन्म तक नहीं जाता।

वस्तुस्थिति यह है कि जो ज्ञान अथवा विज्ञान के विद्वान् प्रकृति के पदार्थों (अधिदैवों) का चिन्तन करते हैं, वे उन देवों में कार्य करते हुए परमात्मा का ही चिन्तन और ज्ञान प्राप्त करते हैं - ऐसा उन्हें आभास होता है, परन्तु उन पदार्थों का परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग उल्टा है तथा वह अस्थायी है। वे प्रकृति के उपासक कुछ फल तो प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु यह फल वैज्ञानिक (अन्वेषक) को उसके जीवनकाल तक ही मिलता है। सांसारिक वैभव प्राप्त होता है परन्तु यह वैभव वर्तमान जन्म तक ही रहता है, जीवात्मा के साथ अगले जन्म में नहीं जाता तभी इसे गीताकार ने अविधिपूर्वक तथा अज्ञानतापूर्वक शब्दों से प्रकट किया है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।। २४।।

हि (क्योंकि), सर्वयज्ञानाम्, भोक्ता, च, प्रभुः, च (सम्पूर्ण यज्ञों का, भोक्ता और स्वामी भी), अहम्, एव (परमात्मा ही है), ते माम्, तत्त्वेन न, अभिजानन्ति (वे, परमात्मा को, तत्त्व से, नहीं, जानते), अतः, च्यवन्ति (इसी, से वे पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 17- कौन लोग पुनर्जन्म को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर- कुछ लोग परमात्मा को छोड़कर अन्य देवताओं की उपासना करते हैं वे परमात्मा के मूल तत्त्व को नहीं जानते। उन्हें यह पता नहीं है कि परमात्मा ही सभी कर्मों का दृष्टा है। ऐसे लोग मार्ग-च्युत हो जाते हैं और जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहते हैं।

कर्म करने की शक्ति तो परमात्मा की ही होती है, इस कारण सब कर्म उसकी शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं। ब्रह्मसूत्र १/३/१८ में बताया है कि परमात्मा की शक्ति जीवात्मा के प्रयोग के लिए प्राप्त हुई है। इस कारण उस शक्ति के प्रयोग का फल जीवात्मा को ही होता है। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि सब कल्याणकारी कर्मों (यज्ञों) में शक्ति परमात्मा की ही प्रयुक्त होती है और उन कर्मों का स्वामी भी परमात्मा ही है। इस कारण सब कर्म करने वाले परमात्मा की सामर्थ्य का ही पूजन करते हैं, अतः वे भले परिवारों में जन्म लेते हैं, परन्तु परमात्मा के विषय में तत्त्व को न जानते हुए वे उन कर्मों को ही सब कुछ समझ लेते हैं और बार-बार इस भूलोक में ही जन्म लेते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।। २५।।

देवव्रताः, देवान्, यान्ति (देवताओं की पूजा करने वाले, देवताओं को, प्राप्त होते हैं), पितृव्रताः, पितॄन यान्तिः (पितरों= जीवित माता, पिता, विद्वान्, आदि की पूजा=सत्कार करने वाले, श्रेष्ठ पितरों को, प्राप्त होते हैं) भूतेज्याः, भूतानि, यान्ति (भूतों= प्राणियों को पूजने वाले प्राणियों को प्राप्त होते हैं और), मद्याजिनः, माम्, अपि यान्ति (परमात्मा की पूजा करने वाले भक्त, परमात्मा को, प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 18- क्या देवताओं, पितरों, भूतों (प्राणियों)की पूजा से परमात्मा प्राप्त होता है ?

उत्तर- देव का अर्थ इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के विषय में रत रहने वाले लोग विषयों को प्राप्त होते हैं यह वैज्ञानिकों के विषय में कहा गया है। जो पितरों जीवित माता, पिता विद्वान् तथा (अपने प्रतिष्ठित पूर्वजों) के प्रति श्रद्धाभक्ति से चिन्तन करते हैं, वे उनको प्राप्त होते हैं अर्थात् वैसे हो जाते हैं यह राम, कृष्ण, दयानन्द, बुद्ध, महावीर जैसे पुरुषों का चिन्तन करने के विषय में कहा है। जो भूतों (भौतिक, पदार्थों) का चिन्तन करते हैं, उनको वे पदार्थ प्राप्त होते हैं। यह सांसारिक सुख-विलास का चिन्तन करने वालों के विषय में कहा है। परमात्मा

इनसे पृथक् है। उसका चिन्तन करने वाले उसे ही पाते हैं।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। २६

यः (जो कोई भक्त), मे, भक्तया (मेरे लिए, प्रेम से), पत्रम्, पुष्पम् फलम्, तोयम्, प्रयच्छति (पत्र, पुष्प, फल, जलादि अर्पण करता है), प्रयतात्मनः (उस शुद्ध बुद्धि निष्काम प्रेमी भक्त का), भक्त्युपहृतम् (प्रेम पूर्वक, अर्पण किया हुआ), तत्, अहम्, अश्नामि (वह पत्र, पुष्पादि, मैं, प्रीति पूर्वक ग्रहण करता हूँ।)

प्रश्न 19- पीड़ित जनता की सेवा को श्री कृष्ण जी ने सर्वोत्तम प्रभु भक्ति कैसे कहा ?

उत्तर- हे अर्जुन! परमात्मा को न भूख लगती है, न प्यास, किन्तु जो कोई परमात्मा से प्रेम करता है वह प्राणिमात्र से प्रेम करे। पत्रों के भूखे गाय, बकरी आदि प्राणियों को पत्र दे, फूलों के पात्र उदास और निराश लोगों को अथवा पूजनीय लोगों को सम्मान दें। जो फल न मिलने के कारण रोगी रहते हों, उन्हें फल दें। जिनके गाँव में कुआँ न हो उनका जल-कष्ट निवारण करें। उनका यह भक्ति पूर्वक दुःख पीड़ित होने के कारण अथवा सत्पात्र होने के कारण दिया गया दान परमात्मा तक पहुँचता है और परमात्मा उसको स्वीकार कर लेता है।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। २७।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!) यत्, करोषि (तू जो कर्म करता है) यत्, अश्नासि, यत्, जुहोषि यत्, ददासि, यत्, तपस्यसि (जो, खाता है, जो, यज्ञ करता है, जो दान देता है, जो तप करता है), तत् (वह सब), मदर्पणम् कुरुष्व (मेरे अर्पण कर दे)।

प्रश्न 20- श्री कृष्ण जी प्रत्येक कर्म को किस को अर्पण करने को कहते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपने प्रत्येक कर्म को परमात्मा को अर्पण करते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो यज्ञ करता है, दान देता है अपने आचरण में तप करता है, वह तू परमात्मा के अर्पण कर दे।

गीताकार का यहाँ पर यह अभिप्राय है कि जब तक तू अपना बोझ अपने कन्धों पर उठाये फिरेगा, तब तक तू कर्म के बन्धन से नहीं छूटेगा। कर्म करता

जा और भगवान् के अर्पण करता जा। इस ब्रह्माण्ड का चक्र तू नहीं चला रहा, वह (परमात्मा) चला रहा है, तू तो उसकी मशीन का एक पुर्जा है। इसलिए जो कुछ तू करता है, वह अपना किया न समझ कर उसी का किया समझ। कर्मों को करते हुए उनके बन्धन से मुक्त होना ही राज-विद्या का रहस्य है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।। २८

एवम् (इस प्रकार), संन्यासयोग, युक्तात्मा (कर्मों के त्याग के मार्ग में, अपने मन को दृढ़तापूर्वक लगाने वाला), शुभाशुभफलैः, कर्मबन्धनैः, मोक्ष्यसे (शुभाशुभ फल रूप, कर्म बन्धन से, मुक्त हो जायेगा), विमुक्तः, माम्, उपैष्यसि (मुक्त होकर, भगवान को, प्राप्त हो जायेगा।)

प्रश्न 21- जीवात्मा कब परमात्मा को प्राप्त करता है ?

उत्तर- जब जीवात्मा कर्म करते हुए भी कर्मों के शुभ तथा अशुभ फलरूप बन्धनों से मुक्त हो जायेगा, अपने मन को कर्मों के त्याग के मार्ग (संन्यास मार्ग) में दृढ़ता पूर्वक लगायेगा, तो निश्चय ही परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।

यह माना जाता है कि कर्म का फल प्राप्त होता है। शुभ कर्मों का शुभ और अशुभ कर्मों का अशुभ फल प्राप्त होता है। दोनों प्रकार के फलों को भोगने के लिए शरीर धारण करना पड़ता है। इस प्रकार कर्मों के कारण प्रकृति के बन्धन में जीवात्मा को आना पड़ता है। गीता का प्रवक्ता यहाँ यह कहना चाहता है कि जो भी कर्म करे, परमात्मा के अर्पण कर दे। कर्म फल की आशा का त्याग कर परमात्मा के निमित्त कर्म करने से सब प्रकार के फलों से छुटकारा पाया जा सकता है। यही अवस्था मोक्षावस्था है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।। २९।।

अहम्, सर्वभूतेषु, समः (परमात्मा, सब प्राणियां में, समभाव है), न, मे, द्वेष्यः, न, मे, प्रियः (परमात्मा को न किसी से द्वेष और न ही प्रेम है), तु (परन्तु) ये, माम्, भक्त्या (जो भक्त, परमात्मा को), भजन्ति (भजते हैं), ते, मयि, च (वे, परमात्मा में और) अहम्, अपि, तेषु (परमात्मा, उनमें, स्थित है)।

प्रश्न 21- क्या परमात्मा किसी से द्वेष और किसी से प्रेम करता है?

उत्तर- नहीं। परमात्मा किसी से द्वेष और प्रेम नहीं करता, बल्कि वह तो सब में समभाव से उपस्थित है। सबसे समान व्यवहार करता है। जो उसको ज्ञानपूर्वक

भजते हैं, उनके अनुसार कर्म करते हैं, परमात्मा उनमें है और वे परमात्मा में होते हैं।

परमात्मा अपनी कृपा का प्रसाद सबको समान रूप से देता है। सूर्य का प्रकाश और ऊर्जा, पृथ्वी से प्राप्त पदार्थ सबको समान रूप से प्रदान करता है, परन्तु जो उनका सदुपयोग करते हैं, परमात्मा उनका हो जाता है। जो उनका दुरुपयोग करते हैं, परमात्मा उनका नहीं होता।

गीताकार का यहाँ यह कथन है कि कर्म करने वाला जीवात्मा अपने विचार से यज्ञ रूप में सबके कल्याण के लिए कर्म करता है और अपने किए कर्म के फल को ईश्वरार्पण कर देता है तो वह परम गति (श्रेष्ठ गति) अर्थात् मोक्षावस्था की ओर आगे बढ़ता हैं।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।। ३०।।

चेत् (यदि काई), सुदुराचारः, अपि (अतिशय दुराचारी, भी), अनन्यभाक्, माम्, भजते (अनन्यभाव से, परमात्मा की भक्ति करने वाले को, भजता है), सः, साधुः, एव, मन्तव्यः (उसको, साधु, ही, मानना चाहिये), हि, सः, सम्यक् (क्योंकि, उसने, यथार्थ) व्यवसितः (सत्य मार्ग पर चलने का संकल्प कर लिया है)।

प्रश्न 22– दुराचारी व्यक्ति कब साधु बन जाता है?

उत्तर– दुराचारी से दुराचारी व्यक्ति भी यदि सत्य मार्ग पर चलने का निश्चय कर लेता है और अनन्यभाव (एकाग्रभाव) से परमात्मा का भजन करता है तो उसे भी साधु मानना चाहिये।

इस कथन की व्याख्या करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं:– पतन की निम्नतम गहराइयों में विद्यमान पापी में भी एक ज्योति रहती है जिसे वह बुझा नहीं सकता, भले ही वह उसे बुझाने की कितनी ही कोशिश क्यों न करे और उससे कितना ही विमुख क्यों न हो जाये। भले ही हम पतित हों, फिर भी परमात्मा हमें हमारे अस्तित्व के मूल द्वारा सम्भाले रहता है और वह सदा अपनी ज्योति की किरणें हमारे अन्धकारपूर्ण और विद्रोही हृदयों में भेजने को उद्यत रहता है। इस कथन का यह अर्थ नहीं है कि हमें अपने कर्मों के परिणामों से आसानी से छुटकारा मिल सकता है। हम कारण को अपने कार्य उत्पन्न करने से रोक नहीं सकते। विश्व की व्यवस्था में किसी मनमाने हस्तक्षेप की अनुमति

नहीं दी जा सकती।

जब कोई पापी अनन्य भक्ति के साथ परमात्मा की ओर अभिमुख होता है, तब एक नया कारण उपस्थित हो जाता है। उस पापी का उद्धार उसके पश्चात्ताप की शर्त पर आधारित रहता है। पश्चात्ताप हृदय का एक सच्चा परिवर्तन होता है और उसमें अतीत के पाप के लिए मनस्ताप या दुःख और उस पाप को भविष्य में पुनरावृत्ति को रोकने का निश्चय सम्मिलित होता है। जब एक बार इस संकल्प को अपना लिया जाता है, तब निम्नतर का उच्चतर में रूपान्तरण स्थिरता पूर्वक होने लगता है। यह माना कि गलतियों, अपूर्णताओं पर विजय पाना कठिन है, परन्तु जब आत्मा अपने अहंकार को त्याग देता है और अपने आप को भगवान् के प्रति खोल देता है, तब सारा भार भगवान् सम्भाल लेता है और आत्मा को आध्यात्मिक स्तर तक ऊपर उठा लेता है। तुलसीदास का कथन है– कोयला अपना कालापन तभी त्यागता है, जब आग उसके अन्तरतम में प्रविष्ट हो जाती है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।। ३१।।

क्षिप्रम्, धर्मात्मा, भवति (शीघ्र ही, धर्मात्मा, हो जाता है), शश्वत्, शान्तिम्, निगच्छति (सदा रहने वाली, परमशान्ति को प्राप्त होता है), कौन्तेय (हे अर्जुन!) प्रति, जानीहि (निश्चयपूर्वक, सत्य जान) मे, भक्तः, न, प्रणश्यति (मेरा भक्त, नष्ट, नहीं होता)।

प्रश्न 23– दुराचारी व्यक्ति सत्य संकल्प से क्या बन जाता है?

उत्तर– जो व्यक्ति पश्चात्ताप करके पुनः पाप न करने का संकल्प ले लेता है वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहने वाली परमशान्ति को प्राप्त कर लेता है और परमात्मा का भक्त निश्चयपूर्वक नष्ट नहीं होता।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के सम्पर्क में आने से जैसे दुराचारी अमीचन्द भक्त अमीचन्द बन जाता है और दुराचारों में लिप्त मुन्शी राम पहले महात्मा मुन्शीराम और बाद में स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती बनकर समाज को एक नई दिशा प्रदान करते हैं और परम पिता परमात्मा के सच्चे भक्त बनकर एक पुरातन गुरुकुलीय शिक्षा प्रणाली को पुनर्जीवित करके समाज के सच्चे प्रहरी सिद्ध होते हैं।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।। ३२।।

हि (क्योंकि), पार्थ (हे अर्जुन!), स्त्रियः, वैश्याः, शूद्राः तथा पापयोनयः (स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्रजन तथा पाप योनि वाले चाण्डाल आदि), ये, अपि, स्युः (जो कोई, भी, हों) ते, अपि, माम्, व्यापाश्रित्य (वे, भी, परमात्मा की, शरण होकर), पराम्, गतिम्, यान्ति (परम, गति को, प्राप्त करते हैं)

प्रश्न 24- कौन लोग परम गति को प्राप्त करते हैं?

उत्तर- जो व्यक्ति बुरे कर्मों से हटकर अर्थात् अच्छे कर्मों को करके परमात्मा का आश्रय लेते हैं वे सब परम गति को प्राप्त करते हैं। यहाँ पर जो स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र एवं पापयोनि से कमाई करने वालों की बात की गई है, जैसे पाप से कमाई करने वाली स्त्रियाँ वेश्या आदि, पाप से कमाई करने वाले वैश्य अर्थात् चोर बाज़ारी करने वाले तथा शुद्र अर्थात् पशु घातक भी यदि इन कुकर्मों को छोड़ दें तो वे भी परमात्मा की शरण में जा सकते हैं, वे भी परम गति को प्राप्त कर सकते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।। ३३।।

पुनः (फिर इसमें कहना ही), किम् (क्या?), पुण्याः, ब्राह्मणाः, तथा, राजर्षयः, भक्ताः (पुण्यशील, ब्राह्मण, तथा, राजर्षि, भक्तजन तो परमात्मा की शरण जा कर परमगति को प्राप्त कर ही लेते हैं), असुखम्, अनित्यम् (सुख से विहीन, न रहने वाले), इमम्, लोकम्, प्राप्य (इस, मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर) माम्, भजस्व (परमात्मा का ही भजन कर)।

प्रश्न 25- निन्दनीय कर्म करने वाले निन्दनीय कर्म छोड़कर परम पद पा सकते हैं तो ब्राह्मणों, राजर्षियों तथा भक्तजनों के बारे में क्या कहा गया है?

उत्तर- जब नीच कुल (नीच कर्म करने वाले) में उत्पन्न व्यक्ति जब नीच कर्म छोड़ देता है और अनन्य भाव से परमात्मा में मन लगाकर परम गति प्राप्त कर सकता है। यदि ये लोग भी मुक्ति के अधिकारी बन सकते हैं तो फिर कर्मणा (जन्मना नहीं) पुण्यवान् ब्राह्मण (जिनका कार्य ऋषि ग्रन्थों व उपनिषदों का अध्ययन, अध्यापन है) अर्थात् समाज के बुद्धिजीवी वर्ग व राजर्षियों की बात तो क्या कहनी? वे निश्चित रूप से परम शान्ति को प्राप्त कर लेते हैं। इसलिए इस

अनित्य लोक को प्राप्त कर प्रभु की भक्तिपूर्वक उपासना करनी चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।। ३४।।

मन्मना भव, मद्भक्तः [भव] (परमात्मा में मन लगाने वाला बन, परमात्मा का भक्त बन), मद्याजी [भव] (परमात्मा की उपासना करने वाला बन), माम्, नमस्कुरु (परमात्मा को ही प्रणाम कर = प्रातः स्मरणीय कह) एवम्, आत्मानम्, युक्त्वा (इस प्रकार, अपनी आत्मा परमात्मा में नियुक्त करके), मत्परायणः (परमात्मा को ही प्राप्त होगा)।

प्रश्न 26- परमात्मा को प्राप्त करने के लिए किन-किन स्थितियों को प्राप्त करना होगा?

उत्तर- श्री कृष्ण जी को अर्जुन परमात्मा के प्राप्त करने के लिए निम्न स्थितियों से पार करने की बात कहते हैं, "हे अर्जुन! तू परमात्मा में मन लगा, तत्पश्चात् तू परमात्मा का भक्त बन जायेगा, फिर तेरा यज्ञ, तेरी उपासना, तेरा अर्पण, तेरा नमस्कार, उस परमात्मा का ही हो जायेगा और तेरा अन्तःकरण उस परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।"

सारांश या संदेश :- स्वामी रामदेव जी के अनुसार- राजविद्या (भक्ति योग) मनुष्य के लिए एक अनुपम उपहार है। परमात्मा के असीम सौन्दर्यमय, करुणायुक्त वात्सल्य भाव को जानकर जो व्यक्ति अपने हृदय में उनके प्रति श्रद्धा भक्ति को धारण करता है और दृढ़व्रत होकर अपनी मानसिक-वाचिक शारीरिक क्रियाओं द्वारा सतत् उनको नमन करता रहता है, परब्रह्म भी उसको सर्वात्मना स्वीकार करके उसके समस्त दुर्गुण-दुर्व्यसन-पाप और अशुभ वासनाओं को नष्ट करके, कल्याण के मार्ग में स्थिर कर देते हैं। परमात्मा सुनिश्चित रूप से विश्वतोमुख होकर हम सबके हृदयों में कुमार्ग से दूर रहने के लिए तथा सन्मार्ग की ओर बढ़ने के लिए प्रतिक्षण प्रेरणा करते रहते हैं। उनकी इस दिव्यमयी कृपा प्रेरणा को अपने अन्तःस्थल में धारण कर हम सुनिश्चित रूप से समस्त अशुभ वासनाओं और अशुभ कर्मों से ऊपर उठकर अपने जीवन को शुभ के दिव्य प्रकाश से प्रकाशित कर सकते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् जी के विचार- आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने डॉ. राधाकृष्णन् जी के विचार लिखे हैं-

गीता में जगह-जगह श्री कृष्ण जी ने अपने को भगवान् कहा है। इस

अध्याय में श्री कृष्ण जी कहते हैं कि मुझे नमस्कार, मेरी शरण में आ। इस सम्बन्ध में अवतारवादी तो यही मानते हैं कि श्री कृष्ण जी स्वयं भगवान् थे, भगवान् के रूप में ही अर्जुन को उपदेश दिया। वास्तविक तथ्य यह है कि गीता महर्षि वेद-व्यास की लिखी है और गीता में जो कुछ कहा गया है, वह महर्षि वेद व्यास ने श्री कृष्ण जी के मुख से कहलवाया है। महर्षि वेदव्यास जी ने श्री कृष्ण जी को भगवान् के स्थान में बैठा दिया है- इसमें सन्देह नहीं, परन्तु स्वतन्त्र विचारक इस बात को भी किस रूप में स्वीकार करते हैं- यह जानना आवश्यक है।

डॉ. राधाकृष्णन् आध्यात्मिक-चिन्तन करने वालों में मुख्य स्थान रखते हैं। गीता के इस स्थल की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं- अपने मन को मुझ में स्थिर कर, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे प्रणाम कर- यह कथन व्यक्ति रूप में श्री कृष्ण जी का नहीं है, जिसके प्रति हमें अपने-आप को पूरी तरह समर्पित कर देना है, अपितु अजन्मा, अनादि और नित्य ब्रह्म है जो श्री कृष्ण जी के मुंह से बोल रहा है।

हमारी सम्मति में डॉ. राधाकृष्णन् का यह विचार अत्यन्त युक्तिसंगत है। इस विचार के सम्मुख रख कर गीता का अध्ययन करते हुए जहाँ 'भगवान् ने कहा' यह शब्द आये हैं उनका यही अर्थ समझना चाहिये कि श्री कृष्ण जी ने भगवान् के अभिप्राय को इस प्रकार प्रकट किया जैसे महर्षि वेद व्यास जी ने अपनी बात को अपने नाम से न कहते हुए श्री कृष्ण जी के नाम से कह दिया।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'राजविद्या-राजगुह्य'- नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ।

अथ दशमोऽध्यायः
विभूति-योगः

प्रधान विषय -

(1) भगवान् की विभूति और योगशक्ति का कथन तथा उनके जानने का फल-श्लोक संख्या 1 से 7 तक।

(2) फल और प्रभाव सहित भक्तियोग का कथन - श्लोक संख्या 8 से 11 तक।

(3) अर्जुन द्वारा भगवान् की स्तुति एवं विभूति और योगशक्ति को कहने के लिए प्रार्थना- श्लोक संख्या 12 से 18 तक।

(4) भगवान् द्वारा श्री कृष्ण जी के माध्यम से अपनी विभूतियों का और योगशक्ति का कथन - श्लोक संख्या 19 से 42 तक।

भूमिका :- श्री कृष्ण जी ७वें अध्याय में अपने हृदय की बात-विज्ञान सहित ज्ञान कह रहे थे। जब बीच में ही ८वें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन के प्रश्न करने पर अपनी बात कहने में कुछ परिवर्तन हुआ। तब श्री कृष्ण जी ने पुनः विज्ञान सहित ज्ञान कहने के लिए ९वें अध्याय का विषय आरम्भ किया और उसकी समाप्ति भगवत्परायण से की। फिर भी श्री कृष्ण जी के मन में और कहने का भाव रहा। उन्हें अपने कथन पर सन्तोष नहीं हुआ। जैसे भक्त को भगवान् की बात सुनते हुए तृप्ति नहीं होती (गीता १०/१८), ऐसे ही अपने प्यारे सखा एवं भक्त अर्जुन के प्रति अपने हृदय की बात कहते-कहते श्री कृष्ण जी को तृप्ति नहीं हो रही है। कारण कि श्री कृष्ण जी के हृदय की गोपनीय बात उनके बाल सखा एवं भक्त (अर्जुन) के अतिरिक्त सुनने वाला और आचरण करने वाला कोई और नहीं है। अतः श्री कृष्ण जी अर्जुन के पूछे बिना कृपापूर्वक १०वें अध्याय का विषय आरम्भ कर देते हैं।

इस अध्याय में 'परमात्मा ही सबका आदि वही मूल हैं, उनको जान लेने के बाद सब कुछ जान लिया जाता है' इस भावना को श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को माध्यम बना कर समझाया है।

श्री कृष्णोवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।। १

महाबाहो (हे विशाल भुजाओं वाले अर्जुन!), भूयः, एव, मे, परमम्, वचः, शृणु (फिर, भी, मेरे, उत्कृष्ट, वचन को, सुन), यत्, अहम् (जिसे, मैं), ते, प्रीयमाणाय, (तुझ को, जो मुझ से अतिशय प्रेम रखता है), हितकाम्यया, वक्ष्यामि (हित की इच्छा से, कहूँगा)।

प्रश्न 1- श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस विभूतियोग की चर्चा क्यों करना चाह रहे हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन के हित की इच्छा रखते हैं, तथा अर्जुन भी श्री कृष्ण जी से अत्यधिक प्रेम रखता है, इसलिए श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं- हे विशाल भुजाओं वाले अर्जुन! मैं तुम्हें उत्कृष्ट ज्ञान देना चाहता हूँ, उसे तू मुझसे सुन।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।। २।।

मे, प्रभवम् (परमात्मा की उत्पत्ति को), न सुरगणाः, न, महर्षयः, विदुः (न देवता लोग और न महर्षिजन, जानते हैं), हि, अहम् (क्योंकि, परमात्मा), सर्वशः देवानाम्, च, महर्षीणाम्, आदिः (सब प्रकार से, देवताओं का और महर्षियों का भी, आदि कारण है)।

प्रश्न 2- क्या परमात्मा की उत्पत्ति होती है ?

उत्तर- परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि परमात्मा अनादि है। परमात्मा को देवता और महर्षिगण भी इसलिए नहीं जान सकते क्योंकि इन सबका आदि कारण (उत्पन्न करने वाला) परमात्मा ही है।

यही बात ऋग्वेद के मण्डल संख्या १०, सूक्त संख्या १२९ तथा मन्त्र संख्या ६ में इस प्रकार है-

''अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन अथ को वेद यत आ बभूव''

अर्थात् देवगण या विद्वान् इस जगत् को विविध प्रकार से रचने वाले मूलकारण के पश्चात् ही हुए हैं। फिर कौन जानता है कि यह सृष्टि किससे पैदा हुई अर्थात् इन सब सृष्टियों का सृजनकर्ता परमात्मा है कोई और नहीं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।। ३

यः, माम् (जो, परमात्मा को), अजम्, अनादिम, च, लोकमहेश्वरम्, वेत्ति (अजन्मा, अनादि और लोकों का महान् ईश्वर, जानता है), सः, मर्त्येषु (वह, मनुष्यों में), असम्मूढ (ज्ञानवान् पुरुष), सर्वपापैः, प्रमुच्यते (सम्पूर्ण पापों से, मुक्त हो जाता है)।

प्रश्न 3- कौन व्यक्ति सब पापों से मुक्त हो जाता है ?

उत्तर- जो व्यक्ति परमात्मा को अजन्मा, अनादि और सब लोकों का महान् ईश्वर जानता है वही, ज्ञानवान् पुरुष बन जाता है और सब प्रकार के पापों से मुक्त हो जाता है। सच्चा प्रभुभक्त प्रत्येक स्थान पर प्रभु का ही राज्य मानता है। तभी तो किसी प्रकार की वासना उसके निकट नहीं आती।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च।। ४

बुद्धिः, ज्ञानम्, असम्मोहः (निश्चय करने की शक्ति, यथार्थ ज्ञान, मोह विशेष का न होना), क्षमा, सत्यम्, दमः, शमः एव (क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना, मन का निग्रह, तथा), सुखम्, दुःखम्, भवः, अभावः (सुख-दुःख, उत्पत्ति, प्रलय), च, भयम्, अभयम् (और, भय-अभय), च (तथा)।

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।। ५

अहिंसा, समता, तुष्टिः, तपः, दानम् (अहिंसा, समता, सन्तोष, तप, दान), यशः, अयशः, (यश-अपयश) [एवम्] (ऐसे ये), भूतानाम्, पृथग्विधाः, भावाः (प्राणियों के, नाना प्रकार के, भाव), मत्तः, एव भवन्ति (मुझसे [परमात्मा से] ही होते हैं)

प्रश्न 4- जीवात्मा के कौन-कौन से मुख्य कार्य परमात्मा से ही होते हैं ?

उत्तर- इन उपर्युक्त श्लोकों में परमात्मा जीवात्मा के लिए क्या-क्या कर सकता है ? इसका वर्णन है। इनमें कुछ कार्य ऐसे गिनाये हैं, जिनका सम्बन्ध मनुष्य जीवन से है। वैसे तो मनुष्य जीवन के अन्य कार्य भी हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध परमात्मा से हो, परन्तु यहाँ मुख्य-मुख्य कार्यों का उल्लेख किया गया है।

ये कार्य परमात्मा किस प्रकार मनुष्य से करवाता है इसका उल्लेख वेद

तथा दर्शन शास्त्रों में भली प्रकार आता है। परमात्मा की शक्ति संसार में प्राण के रूप में प्रकट होती है, जो सात प्रकार की हो जाती है। यह प्राण परमात्मा जीवात्मा को देता है और जीवात्मा उनसे कार्य करता है। इस शक्ति के मनुष्य में विद्यमान होने से ही सब प्रकार के कार्य होते हैं, जिनका इन श्लोकों में उल्लेख है, वे हैं बुद्धि, ज्ञान, मोह से दूर हटना, क्षमा, सत्य पर दृढ़ रहना, मन तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण, चित्त की शान्ति, सुख-दु:ख का अनुभव, जन्म मृत्यु, भय रहित होना, द्वेष का अभाव सबसे समान भाव, सन्तोष, परिश्रम, दान, यश-अपयश। साथ ही कह दिया कि प्राणियों के अनेक प्रकार के पृथक्-पृथक् व्यवहार परमात्मा की शक्ति से ही सम्पन्न होते हैं।

फिर भी परमात्मा की शक्ति का प्रयोग जीवात्मा अपनी रुचि (इच्छा) के अनुसार करता है। इस कारण इन कर्मों का फल-कुफल का भोक्ता भी यह जीवात्मा ही है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।। ६

सप्त महर्षयः, (सात, महर्षिजन), चत्वारः पूर्व (चार) [उनसे भी], पूर्व होने वाले [सनकादि] तथा (तथा) मनवः (मनु-ये), मद्भावाः (मुझ में भाव वाले सब के सब), मानसाः, जाताः, (मेरे संकल्प से उत्पन्न हुए हैं), येषाम्, लोके, इमाः, प्रजाः (जिनकी, संसार में, यह, सम्पूर्ण प्रजा है)।

प्रश्न 5- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को संसार की सम्पूर्ण प्रजा के जन्म का क्रम कैसा बताया?

उत्तर- सृष्टि रचना के सात महर्षियों और चार विरक्त (सनकादि) जीवों को उत्पन्न करने वाले पूर्ण ब्रह्मदिन में होने वाले 14 मन्वन्तरों में परिवर्तन को लाने वाले मनु सबके सब परमात्मा की संकल्प शक्ति से (योजनानुसार) उत्पन्न हुए हैं। इनसे ही सम्पूर्ण मनुष्य रूप प्रजाओं की उत्पत्ति हुई है।

महाभारत में महर्षियों की संख्या 6 है इनके नाम है- मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु। सातवाँ महर्षि ब्रह्मा माना जाता है। ये महर्षिगण अमैथुनी सृष्टि के थे। इनको परमात्मा की कर्तृत्व शक्ति ने ही उत्पन्न किया था। ये बस परमात्मा की (संकल्प= योजना) शक्ति से बन गये थे।

सृष्टि के आदि सात ऋषि, उनसे भी पूर्व चार महर्षि (सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार हुए) तथा 14 मनु हैं- मनु स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औतम,

तामस, रैवत, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णि, सूर्यसावर्णि, दक्षसावर्णि, धर्मसावर्णि, रुद्रसावर्णि, रौच्य, भौत्य। ऐसा कथानक महाभारत में आता है)

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।। ७

यः, मम, एताम् (जो पुरुष, परमात्मा की, इस) विभूति, च, योगम्, तत्त्वतः, वेत्ति (विभूति, और, योगशक्ति को, तत्त्व से, जानता है), सः, अविकम्पेन, योगेन, युज्यते (वह, निश्चल, भक्तियोग से, युक्त हो जाता है), अत्र, संशयः, न (इसमें, कुछ भी, संशय नहीं है)।

प्रश्न 6- कौन पुरुष निश्चल भक्तियोग से युक्त हो जाता है?

उत्तर- जो पुरुष परमात्मा की ऐश्वर्यरूप विभूति और योग को तत्त्व से जान लेता है, वह परमात्मा की निश्चल भक्ति योग से युक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इसमें 'विभूति' शब्द आया है। इसका अभिप्राय है परमात्मा की कर्तृत्वशक्ति। 'परमात्मा में स्थित' का अर्थ मोक्षावस्था भी है। इसका सामान्य अर्थ है परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार करना। परमात्मा के अस्तित्व को दर्शनशास्त्रों में सिद्ध किया है। जैसे ब्रह्मसूत्र में कहा है कि जिससे जगत् का निर्माण, पालन और अन्त होता है। वह परमात्मा (ब्रह्म) है। यह एक अकाट्य युक्ति है, परन्तु गीता में युक्ति नहीं, केवल सिद्धान्तों का वर्णन है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।। ८

अहम्, सर्वस्य, प्रभवः (परमात्मा, सबकी, उत्पत्ति का कारण है), मत्तः, सर्वम्, प्रवर्तते (परमात्मा से ही, सब जगत्, चेष्टा करता है), इति, मत्वा (ऐसा, समझकर) भावसमन्विताः, बुधाः (श्रद्धा और भक्ति से युक्त, बुद्धिमान् भक्तजन), माम्, भजन्ते (परमात्मा को निरन्तर भजते हैं)।

प्रश्न 7- श्री कृष्ण जी श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजनों का परमात्मा को भजने का क्या कारण बताते हैं?

उत्तर- परमात्मा ही सबकी उत्पत्ति का कारण है, सारा जगत् परमात्मा के कारण ही चेष्टा करता है। इसलिए भक्ति से युक्त बुद्धिमान् भक्तजन परमात्मा को निरन्तर भजते हैं।

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।। ९

मच्चित्ताः (निरन्तर परमात्मा में मन को लगाने वाले) मद्गत, प्राणाः (परमात्मा के प्रति, अपने प्राणों को अर्पण करने वाले), परस्परम्, बोधयन्तः (आपस में, एक दूसरे को उद्‌बुद्ध करते हुए), च, कथयन्तः (और, कथन करते हुए), च, नित्यम्, तुष्यन्ति (ही, निरन्तर, सन्तुष्ट होते हैं) च, माम्, रमन्ति (और, परमात्मा में, रमते हैं)

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।। १०

तेषाम् (उन), सततयुक्तानाम् (निरन्तर परमात्मा के ध्यान में लगे हुए), प्रीतिपूर्वक, भजताम् (प्रीतिपूर्वक, भजने वाले भक्तों को), तम्, बुद्धियोगम्, ददामि (वह, तत्त्वज्ञान रूप योग, प्रदान करता है), येन, ते, माम् उपयान्ति (जिससे, वे, परमात्मा को, प्राप्त होते हैं)

प्रश्न 8- परमात्मा के पास कौन पहुँच जाते हैं ?

उत्तर- जो भक्तजन परमात्मा में चित्त लगाकर, अपने प्राणों को उसमें अर्पित कर देते हैं, वे नित्य परमात्मा के कीर्तन में सन्तोष तथा भरपूर आनन्द उठाते हैं। उन्हें परमात्मा ऐसी बुद्धि प्रदान कर देता है कि वे परमात्मा के पास पहुँच जाते हैं।

जो सदा भगवान् के भजन में लगे रहते हैं उनका 'बुद्धियोग' भी ऐसा हो जाता है जिससे वे भक्तियोग द्वारा ही भगवान् का ध्यान नहीं करते, ज्ञान योग द्वारा भी भगवान् का ध्यान करते है। गीता का लक्ष्य हर क्षेत्र में समन्वय की आँख खोल देना है। इसमें एकांगी विचार नहीं है। इसलिए भक्ति योग की बात करते-करते यहाँ ज्ञान योग की बात कह दी।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।। ११

तेषाम्, अनुकम्पार्थम् (उनके, ऊपर अनुकम्पा करने के लिए), आत्मभावस्थः (उनके अन्तःकरण में स्थित हुआ) अहम्, एव (मैं, स्वयं ही), अज्ञानम्, तमः, भास्वता (अज्ञानजनित, अन्धकार को, प्रकाशमय), ज्ञानदीपेन, नाशयामि (ज्ञानरूपी दीपक से, नष्ट कर देता हूँ)

प्रश्न 9- परमात्मा को प्रीतिपूर्वक निरन्तर भजने का क्या फल होता है ?

उत्तर- जो व्यक्ति निरन्तर एवं प्रीतिपूर्वक परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना

में लगे रहते हैं उन पर अनुकम्पा करने के लिए परमात्मा उनकी बुद्धि, हृदय में स्थित हुआ, ज्ञान रूपी प्रकाशमय दीपक से उनके अन्दर अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट कर देता है।

यद्यपि कर्म योग तथा ज्ञान योग दोनों साधन हैं और भक्ति योग साध्य है, तथापि भगवान् अपने भक्तों को कर्म योग भी दे देते हैं

-"**ददामि बुद्धियोगं तम्**" और ज्ञान योग भी दे देते हैं "**ज्ञानदीपेन भास्वता**"। अपरा और परा दोनों प्रकृतियां भगवान् की ही हैं। इसलिए भगवान् कृपा करके अपने भक्त को अपरा की प्रधानता से होने वाला कर्मयोग और परा की प्रधानता से होने वाला ज्ञान योग दोनों ही प्रदान कर देते हैं। कर्मयोग प्राप्त होने पर भक्त के द्वारा संसार का उपकार होता है और ज्ञान योग प्राप्त होने पर भक्त का देहाभिमान दूर हो जाता है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।। १२
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे।। १३

भवान्, परम्, ब्रह्म (आप, परम, ब्रह्म), परम्, धाम, परमम्, पवित्रम् (परम धाम और परम पवित्र हैं), त्वाम्, सर्वे, ऋषयः (आपको, सब, ऋषिगण), शाश्वतम्, दिव्यम्, पुरुषम् (शाश्वत, दिव्य, पुरुष), आदिदेवम् (देवों का भी आदिदेव), अजम्, विभुम्, आहुः (अजन्मा, सर्वव्यापी, कहते हैं), तथा, देवर्षिः नारदः (वैसे ही, देवर्षि नारद तथा), असितः, देवलः, व्यासः (असित, देवल, व्यास नामक ऋषि), च, स्वयम् (और स्वयं आप भी), एव, मे, ब्रवीषि (भी, मेरे प्रति कहते हैं)।

प्रश्न 10- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी को माध्यम बना कर परमात्मा की किस प्रकार स्तुति की है ?

उत्तर- अर्जुन ने कहा- आप (परमात्मा) परम (सर्वोत्कृष्ट) ब्रह्म हैं। आपका (परमात्मा का)निवास स्थान (बहुत महान्) और पवित्र है, क्योंकि आपसे (परमात्मा से)सब ऋषि जन, सनातन दिव्य पुरुष आदि देवगण उत्पन्न हुए हैं। सब ऋषिजन आपको (परमात्मा को)अजन्मा, सर्वव्यापक कहते हैं। आपने (परमात्मा ने) स्वयं ऐसा कहा है और देवर्षि नारद, ऋषि देवल और महर्षि

व्यास भी ऐसा कहते हैं। (क्योंकि श्री कृष्ण जी अजन्मा नहीं थे, सर्वव्यापक भी नहीं थे। उनका जन्म हुआ था। अत: यह सम्बोधन स्पष्टतया अजन्मा, अमर, निराकार ईश्वर के लिए ही है)।

विशेष टिप्पणी:– श्री गुरुदत्त जी ने इन श्लोकों पर विशेष टिप्पणी की है–

गीता के अधिकांश अध्यायों और श्लोकों में जहाँ–जहाँ भी श्री कृष्ण जी ने 'माम्, मम, मया' इत्यादि शब्द प्रयोग किये हैं, वहाँ उनका अर्थ परमात्मापरक है।

श्री कृष्ण जी यदुवंशीय मनुष्य श्री वसुदेव के पुत्र थे और गीता में कहा है कि परमात्मा अव्यक्त और अव्यय है। इस कारण जहाँ 'माम्, मम, मया' इत्यादि शब्द आये हैं, उनके अर्थ परमात्मा ही हैं। इसके लिए महाभारत का अपना प्रमाण भी है। महाभारत में श्री कृष्ण जी स्वीकार करते हैं कि उन्होंने गीता प्रवचन योगयुक्त अवस्था में कहा था। योगयुक्त अवस्था का अभिप्राय है, जब जीवात्मा परमात्मा से युक्त होता है, उस समय परमात्मा का वर्णन करते हुए अपने को परमात्मा मानकर कथन किया जाना आश्चर्यजनक नहीं।

सब विभूतियुक्त व्यक्तियों तथा वस्तुओं में परमात्मा की शक्ति विशेष मात्रा में रहती है। परमात्मा की शक्ति, जो एक प्राणी अथवा किसी वस्तु में होती है, वह प्राण अथवा तेज कहाती है, जिसके अधीन वह प्राणशक्ति अधिक मात्रा में होती है वह व्यक्ति विशेष विभूतियुक्त हो जाता है। श्री कृष्ण जी के ऐसा कहने पर जब अर्जुन ने कहा कि आप ब्रह्म हैं, तो यह वार्तालाप की उसी शैली के अनुरूप है। श्री कृष्ण जी ने जब कहा– **'अहं सर्वस्य प्रभव:'** (मैं सब के होने में कारण हूँ), तो यहाँ 'मैं' से अभिप्राय परमात्मा ही है। इसी प्रकार जब अर्जुन ने कहा– **''परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्''** तो यहाँ आपका अभिप्राय भी परमात्मा ही लेना चाहिये। वसुदेव के पुत्र श्रीकृष्ण जी (वासुदेव) का जन्म हुआ था, तथा उनकी मृत्यु का भी वर्णन है। इस कारण जो भी श्री कृष्ण जी अर्जुन के सारथी थे, वह ब्रह्म जो विभु (सर्वव्यापक) है, नहीं हो सकता।

यह कहा जाता है कि वासुदेव श्री कृष्ण की आत्मा साक्षात् परमात्मा थी जो कि युक्तियुक्त नहीं है। वासुदेव कृष्ण का इतिहास एक मनुष्य का इतिहास है। मनुष्य में जीवात्मा परमात्मा नहीं हो सकता। वैसे परमात्मा की सत्प्रेरणा प्रत्येक प्राणी को कर्मानुसार न्यूनाधिक मिलती है। श्री कृष्ण जी इत्यादि महापुरुषों में परमात्मा की वह सत्प्रेरणा अधिक मात्रा में थी।

इसी कारण इन दोनों श्लोकों में जो कुछ श्री कृष्ण जी के लिए कहा गया है वह परमात्मापरक ही समझना चाहिए। यह गीता की शैली है।

यहाँ पर व्यास से अभिप्राय महाभारत के रचयिता व्यास से नहीं है। व्यास कई हो चुके हैं। यहाँ व्यास के कथन से उन सभी व्यासों से अभिप्राय है।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवा:।। १४।।

केशव (हे केशव), यत्, माम्, वदसि (जो कुछ भी, मेरे प्रति, आप कहते हैं), एतत्, सर्वम्, ऋतम्, मन्ये (इस सबको, मैं सत्य, मानता हूँ), भगवन् (हे भगवान्!) ते, व्यक्तिम् (आप के स्वरूप को), न, दानवा:, विदु:, न, देवा, हि (न तो दानव और न ही देवता जानते हैं)।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।। १५।।

भूतभावन, भूतेश (हे जड़–चेतन को उत्पन्न करने हारे, और उसके स्वामी), देवदेव, जगत्पते, पुरुषोत्तम (देवों के देव, जगत् के स्वामी, पुरुषोत्तम), त्वम्, स्वयम्, एव (आप, स्वयं ही), आत्मना, आत्मनम्, वेत्थ (अपने से, अपने को जानते हैं)।

प्रश्न 11– अर्जुन द्वारा श्री कृष्ण जी के माध्यम से भगवान् के प्रभाव का कैसा वर्णन किया गया है?

उत्तर– हे केशव! आप जो कुछ मुझे भगवत्स्तुति का प्रकार बता रहे हैं, उस सबको मैं बिल्कुल ठीक मानता हूँ। इसलिए मैं आपके उपदेशानुसार भगवान् की स्तुति इस प्रकार करता हूँ– हे, भगवन्! परमात्मा के स्वरूप को न देव जानते हैं, न दानव। हे पुरुषोत्तम! परमात्मा सभी जड़–चेतन को उत्पन्न करने वाले और उनके स्वामी हैं अर्थात् परमात्मा ही सब जड़–चेतन को उत्पन्न करने वाला उसका स्वामी, पुरुषोत्तम, सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। वह परमात्मा स्वयं ही अपने द्वारा अपने आप को जानता है।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय:।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।। १६

त्वम्, हि (आप, ही, उन), दिव्या:, आत्मविभूतय: (अपनी दिव्य विभूतियों को), अशेषेण, वक्तुम्, अर्हसि (सम्पूर्णता से, कहने में, समर्थ है), याभि:, विभूतिभि: (जिन, विभूतियों के द्वारा आप), इमान्, लोकान्, व्याप्य, तिष्ठसि

(इन, सब लोकों को, व्याप्त करके, स्थित है)।

प्रश्न 12- अर्जुन श्री कृष्ण जी से किन विभूतियों को जानना चाहता है ?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से कहता है, ''हे कृष्ण! योग विद्या से आत्मा को बहुत विभूतियां प्राप्त होती हैं। वे दिव्य हैं अर्थात् देवाधिदेव भगवान् के चिन्तन से प्राप्त होती हैं। आप कहते हैं मैंने भी वहीं से पाई हैं। आप पूर्ण योगी हैं। अपनी योग विभूति के बल से जिस लोक-लोकान्तर का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तुरन्त वहाँ पहुँचकर जान लेते हैं। उन विभूतियों के भण्डार भगवान् का साक्षात् करने से ही वे विभूतियाँ आपको प्राप्त हुई हैं। सो जिन विभूतियों से यह विश्वव्यापी ज्ञान आपको प्राप्त हुआ है, जिससे आप जिस लोक-लोकान्तर में पहुँचना चाहें, पहुँच जाते हैं, उनका वर्णन पूर्ण रूप से मुझे भी कृपा करके बताईये।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।। १७

योगिन् (हे योगेश्वर), अहम्, कथम् (मैं, किस प्रकार), सदा, परिचिन्तयन्, त्वाम्, विद्याम् (निरन्तर, चिन्तन करता हुआ, आपको, जानूँ), च, भगवन् (और हे भगवान्, आप), केषु, केषु, भावेषु (किन-किन, भावों में) मया, चिन्त्यः, असि (मेरे द्वारा चिन्तन करने योग्य हो)।

प्रश्न 13- भगवत् चिन्तन के विषय में अर्जुन का प्रश्न क्या है ?

उत्तर- हे योगेश्वर कृष्ण! मैं किस प्रकार निरन्तर चिन्तन करता हुआ परमात्मा को जान सकता हूँ? हे भगवान्! परमात्मा किन-किन भावों द्वारा मेरे द्वारा चिन्तन योग्य है।

यहाँ पर अर्जुन का अपने गुरु एवं मित्र श्री कृष्ण जी के प्रति आत्मसमर्पण की भावना है।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।। १८।।

जर्नादन (हे जर्नादन!), आत्मनः, योगम् (अपनी योगशक्ति को), च, विभूतिम् (और विभूति को) भूयः, विस्तरेण, कथय (फिर भी, विस्तार पूर्वक, कहिये), हि (क्योंकि आप के) अमृतम्, शृण्वतः (अमृतमय वचनों को, सुनते हुए) मे, तृप्तिः, न, अस्ति (मेरी, तृप्ति, नहीं, होती)।

प्रश्न 14- अर्जुन श्री कृष्ण जी को उनकी योगशक्ति और विभूतियाँ सुनाने की क्या प्रार्थना करता है ?

उत्तर- हे जनार्दन! मैं तो आप पर ही मुग्ध हूँ जिस योग से आपने वे विभूतियाँ पाई हैं, वे योग मार्ग तथा वे भगवद्-विभूतियाँ दोनों मुझे सविस्तार बताईये। आपके मुख से उस प्रभु के भक्ति भरे गुण-कीर्तन रूप को पाकर मेरी तृप्ति नहीं होती (मैं तो आपके ही गुण सुनकर तथा देखकर मुग्ध था परन्तु आज तो उसके गुणगान सुनने को मिल रहे हैं जिसके गुण आप स्वयं गाते हैं, सो ऐसा अमृत वचन प्रतिदिन सुनने को कहाँ मिलेंगे ?)

श्री कृष्णोवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।। १९

कुरुश्रेष्ठ (हे कुरुश्रेष्ठ!), हन्त (अच्छा) {मैं जो}, दिव्याः आत्मविभूतयः (दिव्य, विभूतियाँ), ते, प्राधान्यतः, कथयिष्यामि (तेरे लिए, प्रधानता से, कहूँगा), हि, मे, विस्तरस्य (क्योंकि, मेरे, विस्तार का), अन्तः, न, अस्ति (अन्त, नहीं, है)।

प्रश्न 15- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा की प्रधान दिव्य अनुभूतियों को ही क्यों बताते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा की दिव्य अनुभूतियों को बताते हुए कहते हैं, ''हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! अब मैं तेरे लिए परमात्मा की दिव्य विभूतियों के मुख्य-मुख्य विषय में बताऊँगा, क्योंकि परमात्मा की विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं है। यहाँ विभूति का अर्थ है- महिमा, प्रतिष्ठा, शक्ति, उपलब्धि।

भगवान् अनन्त है, अतः उसकी विभूतियाँ भी अनन्त हैं। इस कारण भगवान् की सम्पूर्ण विभूतियों को न तो कोई कह सकता है और न सुन ही सकता है। यदि कोई कह -सुन ले तो फिर वे अनन्त कैसे रहेंगी ?

अहमात्मा गुडकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। २०

गुडाकेश (हे अर्जुन!), अहम् (मैं), सर्वभूताशयस्थितः (सब प्राणियों के हृदय में स्थित), आत्मा (सब का आत्मा हूँ), न, भूतानाम् (तथा, सम्पूर्ण प्राणियों का), आदि, मध्यम, च, अन्तः (आदि, मध्य और अन्त), च, अहम्, एव (भी, मैं, हूँ)।

प्रश्न 16- परमात्मा का सब प्राणियों से क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर- हे अर्जुन! परमात्मा प्राणियों के हृदय में बैठा हुआ आत्मा है। परमात्मा

ही सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त है। परमात्मा की विभूतियों का वर्णन करने से पहले गीता ने अपनी यह मुख्य स्थापना कर दी– संसार की प्रत्येक वस्तु का– जड़–चेतन का आदि, मध्य और अन्त भगवान् ही है, उसके सिवाय कुछ नहीं। जब वही सब कुछ है तब वह सब–कुछ उसी का रूप है, उसी की विभूति है।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।। २१

अहम्, (मैं), आदित्यानाम्, विष्णुः (अदिति के बारह पुत्रों में, विष्णु), ज्योतिषाम्, अंशुमान, रविः, अस्मि (ज्योतियों में, किरणों वाला सूर्य, हूँ तथा), अहम् (मैं), मरुताम्, मरीचिः (मरुद्–गणों में, मरीचि), नक्षत्राणाम्, शशि (नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ)।

प्रश्न 17– परमात्मा आदित्यों में, ज्योतियों में, मरुद् गणों में और नक्षत्रों में क्या है ?

उत्तर– गीता का प्रवक्ता संसार के भिन्न–भिन्न विभूतियुक्त पदार्थों की गणना करा रहा है। उसका आशय है कि उनमें परमात्मा की विशेष शक्ति है। यहाँ पर श्री कृष्ण जी अर्जुन को समझा रहे हैं।

''हे अर्जुन! परमात्मा बारह आदित्यों में विष्णु है, ज्योतियों में दमकता हुआ सूर्य है, मरुद्गणों में मरीचि है, नक्षत्रों में उनका स्वामी चन्द्रमा है।''

ऐसा वर्णन महाभारत के आदि पर्व में मिलता है जिसमें कहा गया है कि ऋषि कश्यप को अदिति पत्नी से जो बारह पुत्र प्राप्त हुए उनको आदित्य कहा जाता है वे है– धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र–इन्द्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता=सूर्य, त्वष्टा तथा बारहवाँ विष्णु था जो आयु में सब से छोटा किन्तु गुणों में सबसे बड़ा था। इसलिए उसे विष्णु कहा है। इनको देववंशी होने के कारण 'देव' कहा जाता है।

जो ज्योति है, प्रकाश है, संसार में, उन सब प्रकाशों में जो सुन्दर प्रकाश है, वह सूर्य का है, मरुद् गणों में मरीचि मुख्य है, नक्षत्रों में शशि है। रात्रि में अनेकों नक्षत्र चमकते हैं, परन्तु रात्रि की शोभा नक्षत्र नहीं, शशि है। इसी के माध्यम से परमात्मा को अपारशक्ति एवं सर्वमान्य माना गया है।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।। २२।।

वेदानाम् सामवेदः, अस्मि (वेदों में, सामवेद, हूँ), देवानाम्, वासवः, अस्मि (देवो में, इन्द्र, हूँ), इन्द्रियाणाम्, मनः, अस्मि (इन्द्रियों में, मन, हूँ), च, भूतानाम् (और प्राणियों की), चेतना, अस्मि (चेतना, जीवन शक्ति, हूँ)

प्रश्न 18– परमात्मा की वेदों में, देवों में, इन्द्रियों में और सब प्राणियों में किस विभूति का वर्णन है ?

उत्तर– परमात्मा वेदों में सामवेद है (गाने योग्य उपासना का वेद होने के कारण वेदों में सामवेद को प्रमुख माना गया है, भक्तिमार्ग में भक्ति मुख्य है और लय सहित गाने के कारण सामवेद को प्रमुखता दी गई है), देवताओं में इन्द्र है (देवों में इन्द्र सबसे अधिक शक्तिशाली और समृद्ध सम्राट् था) 33 देवताओं (प्राकृतिक) में इन्द्र = विद्युत् सबसे अधिक पराक्रमी है, इन्द्रियों में मन है क्योंकि इन्द्रियों में मन को सबसे अधिक शक्तिशाली माना गया है और सभी प्राणियों में चेतना और जीवन शक्ति देने वाला है। चेतना जीवन को प्रकट करने वाला गुण है। यह परमात्मा द्वारा दिये प्राण के कारण है जैसे कि अथर्ववेद में कहा है–

''प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।''
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

(अथर्ववेद ११-४-१)

हम प्राणात्मा प्रभु को प्रणाम करते हैं। उन्हीं के वश में यह सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड है। वे प्रभु सदा से हैं, सबके ईश्वर हैं, सबकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि अन्य सब स्थानों पर ऋग्वेद को प्राथमिकता दी गई है, परन्तु गीता में सामवेद का नाम प्रथम क्यों लिया गया है। लोकमान्य तिलक का कहना है कि भक्ति मार्ग में परमेश्वर की गानयुक्त स्तुति को सदैव प्राथमिकता दी जाती है, अतएव भक्ति प्रधान इस स्थल में गान–प्रधान वेद– सामवेद को प्रधानता दे दी गई है। इसका अन्य कोई गहरा कारण नहीं है।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।। २३

रुद्राणाम्, शंकरः, अस्मि (रुद्रों में, शंकर, हूँ), च (और), यक्षरक्षसाम्, वित्तेशः, अहम् (यक्ष तथा राक्षसों में, धन का स्वामी कुबेर हूँ, मैं), वसूनाम्, पावकः, अस्मि (वसुओं में, अग्नि, हूँ), च (और), शिखरिणाम्, मेरुः (शिखर वाले पर्वतों में, सुमेरु पर्वत हूँ)।

प्रश्न 19- परमात्मा का रुद्रों, यक्ष और राक्षसों में, वसुओं और शिखर वाले पर्वतों में क्या स्थान है?

उत्तर- परमात्मा ग्यारह रुद्रों में शंकर है, यक्ष व राक्षसों में धनों का स्वामी कुबेर है, आठ वसुओं में अग्नि है, पर्वतों में मेरु पर्वत है।

हरिवंश पुराण के अनुसार 11 रुद्र हुए हैं - हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु= शंकर या शिव, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली। ये सब रुद्रवंशी थे। इनमें शंकर सर्वाधिक गुणी, योद्धा और कल्याणकर प्रसिद्ध है।

ऐतिहासिक आठ वसु इस प्रकार हैं-

धर, ध्रुव, सोम, अह, अनिल, अनल= अग्नि, प्रत्यूष, प्रभीस।

अधिदैविक आठ वसु हैं। वायु, आकाश, पृथिवी, द्यौ, सूर्य, नक्षत्र, अग्रि, चन्द्रमा (शतपथ ब्राह्मण)। इनमें अग्नि सर्वाधिक शक्तिशाली है?

महाभारत के भीष्म पर्व में मेरु मुख्य पर्वत है। मेरु या सुमेरु पर्वत भूगोल का सबसे प्रसिद्ध मुख्य पर्वत है जो कुल पर्वतों का राजा है तथा जहां देवताओं और ऋषिगणों का निवास रहा है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। २४।।

पुरोधसाम्, मुख्यम्, बृहस्पतिम् (पुरोहितों में, मुख्य, बृहस्पति), माम्, विद्धि (मुझ को, जान) पार्थ (हे अर्जुन!) अहम् (मैं), सेनानीनाम् स्कन्दः (सेनापतियों में स्कन्द), च (और), सरसाम्, सागरः अस्मि (जलाशयों में समुद्र हूँ)

प्रश्न 20- परमात्मा पुरोहितों, सेनापतियों और जलाशयों में क्या-क्या है?

उत्तर- परमात्मा पुराहितों में बृहस्पति अर्थात् प्रधान पुरोहित है। सेनापतियों में देवसेना का नायक स्कन्द (शिव का पुत्र कार्तिकेय) अर्थात् तीव्र गति में प्रथम आक्रमण करके विजय पाने वाला और जलाशयों में समुद्र है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।। २५।।

अहम् (मैं {परमात्मा}), महर्षिणाम्, भृगुः (महर्षियों में, भृगु), गिराम्, एकम्, अक्षरम्, अस्मि (वाणियों में, एकाक्षर अर्थात् ओंकार, हूँ), यज्ञानाम् जपयज्ञः (सब प्रकार के यज्ञों में जप यज्ञ हूँ) स्थावराणाम्, हिमालय, अस्मि (स्थिर रहने वालों में, हिमालय, हूँ)।

प्रश्न 21- परमात्मा महर्षियों, वाणियों, यज्ञों तथा स्थिर रहने वालों में क्या है?

उत्तर- जो स्पष्टवादी होने के कारण तपे अंगारों के समान पाप को भून दे वह भृगु कहलाता है। भृगु देखने में छोटे थे, लेकिन थे दूरदर्शी इसीलिए परमात्मा भी सभी महर्षियों के सिरमौर भृगु है। जितनी भी वाणियाँ हैं, उन सब में सार्थक एक ही अक्षर है और उस एक अक्षर को माना गया है, ओंकार (ओ३म्, प्रणव, उद्गीथ)। तभी परमात्मा को ओ३म् नाम से जाना जाता है। सब वाणियों में परमात्मा ओ३म् है, क्योंकि बिना ओ३म् के कोई वाणी नहीं रहती।

''यज्ञों में परमात्मा जप यज्ञ है'' यह कथन यहाँ कुछ विशेषता लिये हुए है। वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार यज्ञों में हवि अर्थात् अग्नि में आहुति देने का कार्य प्रमुख होता है, पर भक्ति मार्ग में भगवान् नामस्मरण की प्रमुखता होती है, इसलिए जप यज्ञ को बताने के लिए ये शब्द कहे गये हैं। महर्षि मनु जी ने भी एक स्थान पर कहा है - ब्राह्मण अन्य कुछ करे या न करे, ज्ञान व भक्ति के साथ नाम स्मरण करता हुआ ही सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।

जो स्थिर रहने वाले हैं उनमें परमात्मा हिमालय है। हिमालय स्थिरता का प्रतीक है । इसी प्रकार परमात्मा भी स्थिरता का बोधक है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।। २६।।

सर्ववृक्षाणाम्, अश्वत्थः (सब वृक्षों में, पीपल का वृक्ष), देवर्षीणाम्, नारदः (देवर्षियों में, नारद मुनि), गन्धर्वाणाम्, चित्ररथः (गन्धर्वों में, चित्ररथ) च (और), सिद्धानाम्, कपिलः मुनिः (सिद्धों में, कपिल मुनि हूँ)।

प्रश्न 22- परमात्मा सब वृक्षों, देवर्षियों, गन्धर्वों तथा सिद्धों में, क्या है?

उत्तर- परमात्मा सब वृक्षों में पीपल का वृक्ष है। पीपल वृक्ष का प्रत्येक भाग विविध औषधियों में उपयोग होने के कारण इसे श्रेष्ठ माना गया है, इसके पत्ते फल, छाल सभी रोगनाशक हैं। ऐसा भी माना जाता है कि यही एक ऐसा वृक्ष है जो अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में आक्सीजन देता है, इसीलिए इसे पूज्य एवं श्रेष्ठ वृक्ष माना गया है।

परमात्मा देवर्षियों में नारद मुनि है। देवर्षियों में नारद को सर्वश्रेष्ठ ऋषि माना गया है। नारद जी को भगवान् का अनन्य भक्त, महान् ज्ञानी और निपुण मन्त्रद्रष्टा भी माना गया है। परमात्मा गन्धर्वों में चित्ररथ है। चित्ररथ दिव्य-संगीत, विद्या के पारदर्शी और अत्यन्त ही निपुण व्यक्तित्व हैं। परमात्मा सिद्धों

में कपिल मुनि हैं, जो सर्व प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म जगत् की सिद्धियों को प्राप्त हो तथा धर्म, ज्ञान, ऐश्वर्य और वैराग्य आदि श्रेष्ठ गुणों में पूर्णतया सम्पन्न हो, उनको सिद्ध कहते हैं। ऐसे हजारों सिद्ध हैं जिनमें कपिल मुनि जी सर्वप्रधान हैं। इनकी बराबरी करने वाला कोई भी सिद्ध नहीं माना गया है। अत: परमात्मा सिद्धों में कपिल मुनि हैं।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्।। २७

अश्वानाम्, अमृतोद्भवम् (घोड़ों में, अमृत के साथ उत्पन्न होने वाला), उच्चैः श्रवसम् (उच्चैः श्रवा नामक इन्द्र का घोड़ा), गजेन्द्राणाम्, ऐरावतम् (श्रेष्ठ हाथियों में, ऐरावत नामक हाथी), च (और) नराणाम्, नराधिपम् (मनुष्यों में राजा) माम्, विद्धि (मुझ को जान)।

प्रश्न 23- परमात्मा घोड़ों, हाथियों और मनुष्यों में क्या है?

उत्तर- परमात्मा अमृत के निमित्त से किए गए समुद्र-मन्थन से उत्पन्न उच्च श्रवा नामक इन्द्र का घोड़ा है। यहाँ परमात्मा को 'घोड़ा' कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वश्रेष्ठ योद्धा इन्द्र का जो घोड़ा है उसमें जो तीव्रगामिता, तेजस्विता, आलस्यहीनता है वे सभी गुण परमेश्वर द्वारा दी उस घोड़े को प्रदान किये हैं। परमात्मा हाथियों में ऐरावत नामक हाथी है जो श्रेष्ठ है, यह भी इन्द्र का वाहन माना जाता है। परमात्मा मनुष्यों में ऐसा राजा है जो शास्त्रोक्त लक्षणों से युक्त है, धर्मपरायण है, प्रजा को पापों से हटाकर सब की रक्षा करता है अन्य मनुष्यों से राजा श्रेष्ठ माना गया है।

श्री जयदयाल गोयन्दका जी ने तत्त्वविवेचनी हिन्दी टीका में कहा है- साधारण राजाओं को न लेकर यहाँ यदि प्रत्येक मन्वन्तर में होने वाले मनुओं को लें, जो अपने-अपने समय के मनुष्यों के अधिपति होते हैं, तो क्या आपत्ति है? इस मन्वन्तर के लिए प्रजापति ने वैवस्वत मनु को मनुष्य का अधिपति बनाया था। यह कथा प्रसिद्ध है- **''मनुष्याणामधिपतिं चक्रे वैवस्वतं मनुम्''** (वायुपुराण ७०/१८)

यहाँ पर वैवस्वत मनु को नराधिप माना जा सकता है।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।। २८।।

अहम्, आयुधानाम्, वज्रम् (मैं, शस्त्रों में, वज्र), धेनूनाम्, कामधुक्, अस्मि (गौओं में, कामधेनू, हूँ), प्रजनः (शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति का हेतु) कन्दर्पः, अस्मि (कामदेव, हूँ), च, सर्पाणाम्, वासुकिः, अस्मि (और, सर्पों में, वासुकि सर्पराज हूँ)।

प्रश्न 24- परमात्मा की शस्त्रों, गौओं, शास्त्रोक्त रीति से सन्तान की उत्पत्ति के हेतु और सर्पों में किस-किस विभूति का वर्णन है?

उत्तर- परमात्मा शस्त्रों में वज्र है (जितने भी शस्त्र है उनमें वज्र अत्यन्त श्रेष्ठ है इस शास्त्र का सम्बन्ध दधीचि ऋषि से भी बताया गया है), परमात्मा दूध देने वाली गायों में कामधेनु है (कामधेनु गाय समस्त गौओं में श्रेष्ठ वा दिव्य मानी गई है। यह देवता तथा मनुष्य सभी की पालन-पोषण पूर्ण करने वाली है), परमात्मा शास्त्रोक्त रीति से धर्मानुकूल सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव है। (यहाँ पर 'कन्र्दप' शब्द के साथ प्रजनन विशेषण देकर यह भाव बतलाया गया है कि जो धर्मानुकूल सन्तानोत्पत्ति के लिए उपयोगी है वही काम परमात्मा की विभूति है)। परमात्मा समस्त सर्पों के राजा सर्पराज वासुकि हैं। वासुकि समस्त सर्पों के राजा और भगवान् के भक्त होने के कारण श्रेष्ठ माना गया है)

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।। २९।।

अहम्, नागानाम्, अनन्तः (मैं, नागों में, शेष नाग), च (और), यादसाम्, वरुणः, अस्मि (जलचरों का अधिपति, वरुण हूँ), च (और), पितृणाम् (पितरों में), अर्यमा (अर्यमा नामक पितर), संयमताम्, यमः, अहम्, अस्मि (शासन करने वालों में, यमराज, मैं, हूँ)।

प्रश्न 25- परमात्मा की नागों, जलचरों, पितरों एवं शासन करने वालों में किस विभूति का वर्णन है?

उत्तर- शेषनाग को समस्त नागों का राजा कहा जाता है। वरुण समस्त जलचरों के और जल देवताओं के अधिपति लोकपाल देवता और भगवान् के भक्त होने के कारण श्रेष्ठ माने गये हैं, जलों अर्थात् द्वीपों के राजाओं में सबसे प्रसिद्ध राजा वरुण है। पितरों में अर्यमा को सबसे मुख्य माना गया है। 'यम' विवस्वान् का पुत्र था जो कि मनु का अनुज था। वह हिमालय पार के उत्तर दिशा में देशों का राजा बना था। अत: परमात्मा को नागों में शेष नाग जलचरों में वरुण, पितरों में अर्यमा और संयमी एवं कठोर शासकों में 'यम' कहा गया है। ध्यान रहे, सर्प

और नाग दो भिन्न-भिन्न प्रजापतियाँ हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।। ३०

अहम्, दैत्यानाम्, प्रह्लादः (मैं, देत्यों में प्रह्लाद हूँ), च (और), कलयताम्, कालः, अस्मि (गणना करने वालों का, समय, हूँ) च (तथा), मृगाणाम्, मृगेन्द्र (पशुओं में, मृगराज सिंह हूँ), च (और), पक्षिणाम्, अहम्, वैनतेयः (पक्षियों में, मैं, गरुड़ हूँ)।

प्रश्न 26- परमात्मा दैत्यों, गणना करने वालों, पशुओं और पक्षियों में क्या है ?

उत्तर- परमात्मा दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करने वालों में समय, पशुओं में मृगराज सिंह तथा पक्षियों में गरुड़ है।

कश्यप और दिति से उत्पन्न वंश दैत्य कहलाया। (यहाँ दैत्य का अर्थ असुर या राक्षस नहीं है), इसमें तीन महान् राजा हुए हैं (1) हिरण्यकशिपु (2)प्रह्लाद (3) बलि। प्रह्लाद (हिरण्यकशिपु का पुत्र) बल, शासन और गुणों में प्रमुख था। 'काल' शब्द क्षण, घड़ी, दिन, मास आदि नामों से कहे जाने वाले समय का वाचक है। यह गणित विद्या के जानने वालों का गणना का आधार है। सिंह तो हिंसक पशु है परन्तु सिंह सब पशुओं का राजा बलवान्, तेजस्वी, शूरवीर और साहसी होता है, गरुड़ पक्षियों के राजा और उन सबसे बड़े होने के कारण श्रेष्ठ माने गये हैं।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।। ३१

अहम्, पवतां, पवनः (मैं, पवित्र करने वालों में, वायु), शास्त्रभृताम्, रामः, अस्मि (शस्त्रधारियों में राम हूँ) भक्तषाणाम्, मकरः, अस्मि (मछलियों में, मगरमच्छ, हूँ) च (और), स्रोतसाम्, जाह्नवी, अस्मि (नदियों में, गंगा, हूँ)।

प्रश्न 27- परमात्मा की पवित्र करने वालों, शास्त्र धारण करने वालों, मच्छों और नदियों में किस विभूति का वर्णन है ?

उत्तर- परमात्मा पवित्र करने वालों में वायु, शस्त्रधारियों में राम, मच्छों में मगरमच्छ और नदियों में गंगा है।

पवताम् का अर्थ वेगवान् भी है अतः परमात्मा वायु (पवित्र करने वाला और वेगवान्) है। शस्त्रधारियों में राम को धर्मपूर्वक शस्त्र धारण करने वाला

और धर्मात्मा जनों का रक्षक कहा गया है। अपनी विशालता के कारण मगरमच्छ को मछलियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। सभी नदियों में गंगा को पवित्रतम नदी माना गया है, क्योंकि इसका उद्गम हिमालय की सुगन्धित एवं औषधयुक्त लताओं से है।

हिमालय पर्वत के बिन्दुसर से निकलने वाली सात नदियाँ जिन्हें गंगा कहा जाता है **(क) पूर्व दिशा की ओर गई** (1)ह्लादिनी, (2)पावनी, (3)नलिनी **(ख) पश्चिम की ओर गई** - (4)सुचक्षु, (5)सीता, (6)सिन्धु **(ग) दक्षिण की ओर गई** (7)गंगा (जाह्नवी) सबसे पवित्र नदी मानी गई है।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।। ३२।।

अर्जुन (हे अर्जुन!) सर्गाणाम् (सृष्टियों का) आदिः, च, अन्तः, च मध्यम्, अहम् (आदि, अन्त और मध्य, मैं हूँ), अहम्, विद्यानाम्, अध्यात्मविद्या (विद्याओं में, अध्यात्म विद्या अर्थात् ब्रह्मविद्या), प्रवदताम्, वादः (परस्पर विवाद करने वालों का तत्त्व निर्णय करने के लिए किया जाने वाला वाद हूँ)।

प्रश्न 28- परमात्मा की सृष्टियों, विद्याओं और वाद-विवाद करने वालों में किस विभूति का वर्णन है ?

उत्तर- परमात्मा सृष्टि का आदि, अन्त, और मध्य है, क्योंकि परमात्मा अनादि अनन्त है, इसलिए इसका आदि, अन्त और मध्य वह स्वयं है। परमात्मा सब विद्याओं में अध्यात्म विद्या और प्रवाद करने वालों में वाद है।

यहाँ पर 'सर्ग' शब्द जड़-चेतन समस्त वस्तुओं और समस्त लोकों से अभिप्राय है। अध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या उस विद्या को कहते हैं, जिसका सम्बन्ध आत्मा से है, जो आत्मतत्त्व का प्रकाश करती है। इसी से यह सर्वश्रेष्ठ है। वाद के तीन भेद होते हैं (क) जल्प में उचित-अनुचित का विचार छोड़ कर अपने पक्ष के मण्डन और दूसरे पक्ष का खण्डन किया जाता है (ख) वितण्डा में अपनी बात सिद्ध हो या ना हो, दूसरे की बात का खण्डन किया जाता है (ग) वाद में सत्य निर्णय की शुद्ध भावना से संवाद या चर्चा करना वाद कहलाता है। यह समस्त प्रसंगों में सर्वोत्तम है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।। ३३

अहम्, अक्षराणाम्, अकारः (मैं, अक्षरों में, अकार हूँ) च (और), सामासिकस्य,

द्वन्द्वः, अस्मि (समासों में, द्वन्द्व समास हूँ), अक्षयः, कालः (अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल), विश्वतोमुख (सब दिशाओं में मुख वाला), धाता, अहम्, एव (सब का धारण करने वाला मैं, हूँ)

प्रश्न 29– परमात्मा सब अक्षरों, समासों, कालों, दिशाओं एवं सब का धारण करने वाला कैसे है ?

उत्तर– परमात्मा अक्षरों में 'अकार' है, क्योंकि स्वर और व्यंजन आदि जितने भी अक्षर हैं उनमें अकार सबका आदि है। परमात्मा सब प्रकार के समासों में द्वन्द्व समास है, क्योंकि द्वन्द्व समास में दोनों पदों के अर्थ की प्रधानता होने के कारण वह अन्य समासों में सर्वश्रेष्ठ है। कालों में श्रेष्ठ महाकाल है, क्योंकि महाकाल महाप्रलय में भी रहता है। परमात्मा विश्वरूप परमेश्वर है उसकी दृष्टि से कोई बच नहीं सकता वह सबका धारण करने वाला विश्वरूप है।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।। ३४

अहम्, सर्वहरः, मृत्युः (मैं सब का हरण करने वाली, मृत्यु हूँ), च (और), भविष्यताम्, उद्भवः (भविष्य में होने वाली चीज़ों की, उत्पत्ति कारण हूँ), च (तथा), नारीणाम् (स्त्रियों में), कीर्तिः श्रीः, वाक्, स्मृतिः, मेधा, धृतिः, च क्षमा (यश, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धैर्य और क्षमा हूँ)।

प्रश्न 30– सबके संहार कर्ताओं, भविष्य में होने वाली चीजों तथा नारियों में किस विभूति का वर्णन है ? परमात्मा को आधार बना कर विवेचन कीजिए।

उत्तर– परमात्मा सबके संहारकर्ताओं में मृत्यु है। भविष्य में होने वाली चीज़ों का उत्पत्ति कारण है। नारियों में जो विशेष गुण यश, श्री, उत्तम वाणी, स्मृति, उत्तम बुद्धि, धैर्य एवं क्षमा के गुण हैं, वे सब परमात्मा की ही विभूति हैं।

स्वामी रामदेव जी ने नारियों के सम्बन्ध में महाभारत का वर्णन किया है– इनमें वाणी और क्षमा को छोड़कर (कीर्ति, श्री, स्मृति, मेधा, धृति) तथा दूसरी पाँच (पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, लज्जा और मति) कुल मिलाकर दस दक्ष की पुत्रियाँ हैं, जिन्हें धर्म के साथ ब्याही जाने के कारण इन्हें धर्मपत्नियाँ कहते हैं। यह तो हुई ऐतिहासिक व्याख्या। इसका जो अध्यात्मिक पक्ष है वह इस प्रकार है– स्त्रीलिंग में प्रयुक्त होने वाली विशेषताओं, अर्थात् गुणों जैसे कीर्ति, स्मृति, श्री, क्षमा आदि के रूप में परमात्मा ही है, क्योंकि ये सब उपर्युक्त गुण परमात्मा में

पाये जाते हैं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।। ३५

तथा (और), साम्नाम् (गायन करने योग्य श्रुतियों में), अहम्, बृहत्साम (मैं, बृहत्साम सामवेद का गीत), छन्दसाम्, गायत्री (छन्दों में, गायत्री), मासानाम् मार्गशीर्षः (महीनों में, मार्गशीर्ष), ऋतूनाम्, कुसमाकरः, अहम् (ऋतुओं में, वसन्त मैं हूँ)।

प्रश्न 31– परमात्मा गायन करने योग्य श्रुतियों में, छन्दों, मासों तथा ऋतुओं में क्या है ?

उत्तर– परमात्मा गायन करने योग्य श्रुतियों में सामवेद है। सामवेद में बृहत्साम एक गीत–विशेष है। इसके द्वारा परमेश्वर की स्तुति की गई है। वेदों की जितनी भी छन्दोबद्ध रचना है, उसमें गायत्री की प्रधानता है। गायत्री की उपासना को समस्त वेदों ने नित्य (अनिवार्य) कहा है। परमात्मा मासों में मार्गशीर्ष मास है। महाभारत काल में महीनों की गणना मार्गशीर्ष से ही आरम्भ होती थी। नये अन्न की इष्टि (यज्ञ) का भी इसी महीने में विधान है। परमात्मा ऋतुओं में वसन्त ऋतु है। वसन्त तो सब ऋतुओं में श्रेष्ठ मानी ही जाती है, अतः परमात्मा गायन करने योग्य श्रुतियों में सामवेद, छन्दों में गायत्री, मासों में मार्गशीर्ष तथा ऋतुओं में वसन्तु ऋतु है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।। ३६

अहम् (मैं), छलयताम्, द्यूतम् (छल करने वालों में, जुआ), तेजस्विनाम्, तेजः, अस्मि (प्रभावशाली पुरुषों का, प्रभाव, हूँ), अहम् (मैं), जयः, अस्मि (विजय, हूँ), व्यवसायः, सत्त्ववताम् (निश्चय और सात्त्विक पुरुषों का), सत्त्वम्, अस्मि (सात्त्विक भाव, हूँ)।

प्रश्न 32– परमात्मा का छल करने वालों, तेजस्वियों, जीतने वालों, निश्चय करने वालों में क्या है ?

उत्तर– ठगने के उपायों में जुए को श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार परमात्मा (ठगने के उपाय करने वालों को) न्यायकारी होने के कारण दण्डित करने के उद्देश्य से जुए के रूप में उनकी बुद्धि को हरण कर लेता है। तेजस्वियों का तेज, जीवटदार लोगों को विजय प्रदान करता है। दृढ़ निश्चय करने वाले और

सात्त्विक पुरुषों में सात्त्विक भाव उत्पन्न करता है।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जुआ तो बहुत बुरी चीज है और शास्त्रों में इसका बहुत निषेध है फिर परमात्मा को इसका स्वरूप क्यों बताया। इस सम्बन्ध में श्री जयदयाल गोयन्दका जी ने अपने विचार इस प्रकार प्रकट किये।

भगवान् ने बहुत ही संक्षेप में देवता, दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, सर्प आदि चेतन तथा वज्र, इन्द्रिय, मन, समुद्र आदि जड़ पदार्थों के साथ-साथ जय, निश्चय, तेज, नीति आदि भावों का भी वर्णन किया है। थोड़े में सब का वर्णन हो जाये, इसी से प्रधान-प्रधान समष्टि विभाग के नाम बताये गये हैं। अभिप्राय यह है कि जिस-जिस व्यक्ति, पदार्थ, क्रिया या भाव का मन से चिन्तन होने लगे उस-उस में मेरा ही चिन्तन करना चाहिये। इसी से छल करने वालों में जुए को भगवान् ने अपना स्वरूप बताया है। उसे उत्तम बताकर उसमें प्रवृत्त करने के उद्देश्य से नहीं।

भगवान् ने तो महान् क्रूर और हिंसक पशु सिंह और मगरमच्छ को एवं सहज ही विनाश करने वाली अग्नि को तथा सर्वहरणकारी मृत्यु को भी अपना स्वरूप बताया है। इसका अभिप्राय यह थोड़े है कि कोई भी मनुष्य सिंह या मगरमच्छ के साथ खेले, आग में कूद पड़े अथवा जानबूझ कर मृत्यु के मुँह में घुस जाये। इनके करने में जो आपत्ति है, वही आपत्ति जुआ खेलने में है।

प्रभाव, विजय, निश्चय और सात्त्विक भाव का परमात्मा को अपना स्वरूप बतलाने का यह अभिप्राय यह है कि ये चारों गुण, भगवत् प्राप्ति में सहायक है। इसके अतिरिक्त इस कथन में ये भाव भी हैं कि जिन-जिन में उपर्युक्त गुण हों, उनमें भगवान् के तेज की अधिकता समझकर उनको श्रेष्ठ मानना चाहिये।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः।। ३७

वृष्णीनाम्, वासुदेवः (वृष्णीवंशियों में, वासुदेव श्री कृष्ण), पाण्डवानाम्, धनंजय (पाँडवों में, अर्जुन), मुनीनाम्, व्यास (मुनियों में, वेद व्यास), कवीनाम्, उशना, कविः (कवियों में, शुक्राचार्य कवि), अपि, अहम्, अस्मि (भी, मैं, ही हूँ)।

प्रश्न 33- परमात्मा वृष्णीवंशियों, पाण्डवों, मुनियों और कवियों में किस-किस में विभूति का वर्णन है?

उत्तर- वृष्णीवंशियों में श्री वासुदेव कृष्ण जी को सर्वश्रेष्ठ एवं योगीराज माना

जाता है। धनुर्धारियों में सर्वश्रेष्ठ अर्जुन का नाम आता है। मुनियों में, सर्वश्रेष्ठ विद्वानों में श्री वेदव्यास जी का नाम आता है इसी प्रकार कवियों में श्रेष्ठ कवि शुक्राचार्य जी माने गये हैं। इसीलिए परमात्मा भी सर्वश्रेष्ठ है और इन सर्वश्रेष्ठों का व्यक्तित्व परमात्मा के कारण है। अतः ये सब परमात्मा की ही विभूतियाँ हैं।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।। ३८

दमयताम्, दण्डः, अस्मि (दमन करने वालों का, दण्ड, हूँ), जिगीषताम्, नीतिः, अस्मि (जीतने की इच्छा वालों की, नीति, हूँ), गुह्यानाम्, मौनम्, अस्मि (गुप्त रखने योग्य भावों का = रक्षक मौन हूँ), च (और), ज्ञानवताम्, ज्ञानम्, अहम्, एव (ज्ञानवानों का, तत्त्वज्ञान, मैं, ही हूँ)

प्रश्न 34- परमात्मा में दमन करने वालों, जीतने की इच्छा वालों, गुप्त रखने योग्य भावों का रक्षक तथा ज्ञानवानों की किस विभूति का वर्णन है?

उत्तर- दुष्टों को दुष्टता से बचाकर सन्मार्ग पर लाने के लिए दण्डनीति को मुख्य कहा है। दण्ड के बिना कोई सुधरता नहीं। नीति का आश्रय लेने से ही मनुष्य विजय प्राप्त करता है। वाणी का संयम अर्थात् चुप रहने से गोपनीय भाव प्रकट नहीं हो पाते। संसार में कला कौशल आदि को जानने वालों में जो ज्ञान है वह परमात्मा की विभूति है। इन सब विभूतियों में जो विलक्षणता है, वह प्रभु प्रदत्त है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।। ३९

च, अर्जुन (और, हे अर्जुन!) यत्, सर्वभूतानाम्, बीजम् (जो, सब प्राणियों की, उत्पत्ति का कारण है), तत्, अपि, अहम् (वह, भी, मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा), तत्, चराचरम् (वह, चर और अचर कोई भी), भूतम्, न, अस्ति (प्राणी, नहीं, है), यत्, मया, विना, स्यात् (जो, मुझ से, रहित, हो)।

प्रश्न 35- श्री कृष्ण जी परमात्मा की सर्वव्यापकता का वर्णन किस प्रकार करते हैं?

उत्तर- सब प्राणियों की उत्पत्ति का जो भी बीज है, कारण है, वह परमात्मा ही है। जो भी चर तथा अचर है, जंगम तथा स्थावर है, उनमें से कुछ भी ऐसा नहीं है, जो परमात्मा के बिना रह सके अर्थात् परमात्मा सर्वव्यापक है। अणु-अणु में

विद्यमान है। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसमें परमात्मा विद्यमान न हो। इसलिए हे अर्जुन! तू सदैव परमात्मा का चिन्तन किया कर। इस प्रकार अर्जुन के उस प्रश्न का कि 'आपको किन-किन भावों में चिन्तन करना चाहिये' का उत्तर भी इसमें मिल जाता है।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। ४०

परन्तप (हे अर्जुन!) मम, दिव्यानाम्, विभूतीनाम् (मेरी, दिव्य, विभूतियों का), अन्तः, न, अस्ति (अन्त, नहीं, है), मया, विभूतेः (मैंने, अपनी विभूतियों का), एषः, विस्तरः (यह, विस्तार), तु (तो), उद्देशतः, प्रोक्तः (तेरे लिए संक्षेप से, कहा है)।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्।। ४१

यत्,यत्, एव् (जो, जो भी), विभूतिमत्, श्रीमत्, वा, ऊर्जितम् (विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त), सत्त्वम् (वस्तु है) तत्, तत्, त्वम् (उस, उसको, तू), मम, तेजोंऽशसम्भवम्, एव (मेरे, तेज के अंश की, ही, अभिव्यक्ति), अवगच्छ (जान)।

प्रश्न 36- श्री कृष्ण जी परमात्मा की विभूतियों में सर्वव्यापकता के उद्देश्य को अर्जुन को किस प्रकार समझा रहे हैं ?

उत्तर- परमात्मा की दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, यह जो विभूतियाँ (शक्तियाँ) परमात्मा की मैंने तुम्हें बताई हैं, यह केवल दिग्दर्शन कराने के उद्देश्य से ही बतलाई हैं। इस संसार में जो-जो वस्तु विभूति वाली है, कान्तियुक्त है, शक्तियुक्त है, वे सब परमात्मा के एक अंश की ही अभिव्यक्ति है। परमात्मा के सर्वव्यापक रूप को जानना तो अति कठिन है।

यहाँ विभूति का अर्थ है अमानवीय सामर्थ्य से है। ब्रह्मसूत्र १/३/१८ में बतलाया है कि परमात्मा की प्राणशक्ति जीवात्मा को मिली हुई है और जीवात्मा अपनी रूचि से उसका प्रयोग करता है और फिर उसके अनुरूप ही फल पाता है।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।। ४२

अथवा (अथवा), अर्जुन (हे अर्जुन!), एतेन, बहुना, ज्ञातेन (इस, बहुत, जानने से), तव, किम् (तेरा, क्या प्रयोजन है), अहम्, इदम्, कृत्स्नम्, जगत् (मैं, इस, सम्पूर्ण, जगत् को), एकांशेन विष्टभ्यः, स्थितः (एक अंश मात्र से, धारण करके स्थित हूँ)।

प्रश्न 37- श्री कृष्ण जी परमात्मा के एक अंश से सम्पूर्ण जगत् की स्थिति का कैसा कथन करते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी इस अध्याय के अन्त में अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं, "हे अर्जुन! इस बहुत बड़े विस्तार को जानकर क्या करना है। इसे संक्षेप में यह समझ लो कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा के एक अंश से ही स्थित है।"

यहाँ यह बतलाया गया है कि यह सम्पूर्ण जगत् जो दृष्टमान् है वह परमात्मा के एक अंश में स्थित है ऐसा वर्णन ऋग्वेद में भी आया है-

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

ऋग्वेद १०/९०/३

उसका एक पाद, एक अंश, इस संसार को धारण किए हुए है, त्रिपाद तो द्युलोक में है, इस सृष्टि के बाहर है। इसी बात को दूसरे रूप में यजुर्वेद में कहा है-

"एतावानस्य महिमा अतो ज्यायाँश्च पूरुषः"

यजुर्वेद ३१/३

अर्थात् सृष्टि में जो कुछ दिखता है, उसी की महिमा है, उसी की विभूति है परन्तु वह तो इससे भी बड़ा है, यह सृष्टि सान्त है, परन्तु वह परमात्मा तो अनन्त है उस अनन्त का बहुत थोड़ा-सा अंश इस सान्त सृष्टि में दिख रहा है। इन विभूतियों द्वारा उस अनन्त की सान्त में झलक दिखाई दे रही है।

सारांश या संन्देश :- डॉ. सातवलेकर जी के अनुसार विभूति का अर्थ - संस्कृत में दो शब्द है- 'भूति' तथा 'विभूति'। 'भूति' का अर्थ है- होना, सुख, विजय, धन, ऐश्वर्य। महत्त्व, शक्ति। 'विभूति' का अर्थ है विशेषतौर से होना, विशेष सुख, विशिष्ट धन, बड़ी विजय, विशेष ऐश्वर्य, विशेष महत्त्व, विलक्षण शक्ति। ईश्वर की 'भूति' अर्थात् सत्ता तो अणु-अणु में है, परन्तु उसका विशेष, प्रभाव थोड़े पदार्थों में ही मनुष्य अनुभव करता है। उन्हीं को 'विभूति' कहा जाता है। ईश्वर की विभूतियों, का अन्त नहीं। इसलिए प्रधान-प्रधान विभूतियों का गीता में वर्णन किया गया है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी का कहना है कि भगवान् सब वस्तुओं में है, परन्तु

कुछ वस्तुओं में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा स्पष्ट है। संसार में एक आरोही क्रम है। परमात्मा भौतिक तत्त्व की अपेक्षा जीवन में, जीवन की अपेक्षा चेतना में अधिक व्यक्त होता है। इसी व्यवस्था के अनुसार वह विशेष महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों में सबसे अधिक प्रकट होता है।

विभूति का तात्त्विक अर्थ :– इस अध्याय में कहा है– शस्त्रधारियों में मैं राम हूँ, नदियों में गंगा हूँ। कई लोग कहने लगते हैं कि इस कथन में राम की गंगा की पूजा का प्रतिपादन होता है, किन्तु इस प्रकार का अर्थ करना खींचातानी है। इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि शस्त्रधारियों में महाप्रतापी श्री राम हुए, नदियों में सर्व-प्रसिद्ध नदी गंगा हुई, ये विभूतियाँ हैं, और विभूति परमात्मा के ही महान् गुणों का प्रत्यक्षीकरण है। संसार में ऊँचाई है हिमालय की, गहराई है समुद्र की, विस्तार है आकाश का, प्रकाश है सूर्य का– ये सब क्या है ? जहाँ ऊँचाई का अन्त हो वहाँ विभूति है। जहाँ विस्तार का अन्त हो, वहाँ विभूति है। जहाँ प्रकाश का अन्त हो, वहाँ विभूति है। भौतिक गुणों की तरह मानसिक तथा आध्यात्मिक गुणों में भी कहीं पराकाष्ठा होती है, वहाँ विभूति है। ये भौतिक मानसिक तथा आध्यात्मिक विभूतियाँ क्या हैं यह परमात्मा के ही गुणों का प्रत्यक्ष दर्शन ही तो हैं ? विभूति का यही तात्त्विक अर्थ है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'विभूतियोग' नामक दशम अध्याय समाप्त हुआ।

अथैकादशोऽध्यायः
विश्व-रूप-दर्शन-योग

प्रधान विषय –

(1) विश्वरूप का दर्शन कराने के लिए अर्जुन की प्रार्थना –श्लोक संख्या 1 से 4 तक।

(2) श्री कृष्ण जी द्वारा परमात्मा के विश्वरूप का वर्णन – श्लोक संख्या 5 से 8 तक।

(3) धृतराष्ट्र के प्रति संजय द्वारा विश्वरूप का वर्णन– श्लोक संख्या 9 से 14 तक।

(4) अर्जुन द्वारा श्री कृष्ण जी के माध्यम से परमात्मा के विश्वरूप का देखा जाना और उनकी स्तुति करना – श्लोक संख्या 15 से 31 तक।

(5) श्री कृष्ण जी द्वारा अपने प्रभाव का वर्णन और युद्ध के लिए अर्जुन को प्रोत्साहित करना – श्लोक संख्या 32 से 34 तक।

(6) भयभीत हुए अर्जुन द्वारा श्री कृष्ण जी की स्तुति और परमात्मा तत्त्व की अनुभूति हेतु – श्लोक संख्या 35 से 46 तक।

(7) श्री कृष्ण जी द्वारा परमात्मा के विराट स्वरूप के दर्शन की महिमा का कथन – श्लोक संख्या 47 से 50 तक।

(8) बिना अनन्य भक्ति के परमात्मा की अनुभूति की दुर्लभता का और फलसहित अनन्य भक्ति का कथन – श्लोक संख्या 51 से 55 तक।

भूमिका :– दसवें अध्याय में भगवान् की विभूतियों का वर्णन किया गया है। भगवान् तो सृष्टि के कण-कण में है, परन्तु संसार की कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनमें उनका अस्तित्व का बोध स्पष्ट हो उठता है। पर्वतों के उच्च शिखर, समुद्र की गहराईयाँ इन सब विभूतियों में अर्जुन ने ईश्वरत्व को अनुभव किया था। अब उसकी उत्कण्ठा अत्यधिक उग्र हो उठी। अर्जुन ने कहा – **"दृष्टुमिच्छामि ते रूपम्"** अर्थात् मैं स्वयं को ईश्वर की इसी अनुभूति तक सीमित न करते हुए मैं अब उसके बृहद् रूप का अनुभव करना चाहता हूँ।

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम।। १।।

मदनुग्रहाय (मुझ पर अनुग्रह करने के लिए), त्वया, यत्, परमम्, गुह्यम् (आपने, जो, परम, गोपनीय), अध्यात्मसञ्ज्ञितम्, वचः, उक्तम् (अध्यात्मविषयक, वचन, कहा), तेन, मम (उससे, मेरा), अयम्, मोहः, विगतः (यह, अज्ञान, नष्ट हो गया है)।

प्रश्न 1- श्री कृष्ण जी के किस उपदेश से अर्जुन का अज्ञान नष्ट हो गया ?

उत्तर- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से कहा, ''मुझ पर अनुग्रह करने के लिए आपने जो परम गोपनीय 'अध्यात्म' नाम का उपदेश मुझे सुनाया, उसके कारण मेरा अज्ञान (मोहरूपी) दूर हो गया है, अर्थात् अब मैं समझ गया हूँ कि अब मैं युद्ध से मुख नहीं मोड़ूँगा।'' अर्जुन अब तक समझ रहा था कि कौरव उसके सगे-सम्बन्धी हैं। इनको मारने से उसका कल्याण नहीं होगा। श्री कृष्ण जी ने इस मिथ्या दृष्टि को दूर करते हुए बताया कि शरीर और आत्मा पृथक्-पृथक् हैं। शरीर नाशवान् है। जीवात्मा अविनाशी है। इस ज्ञान के आ जाने पर वह युद्ध करने को उत्साहित हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।। २

हि (क्योंकि), कमलपत्राक्ष (हे कमलनेत्र), मया, त्वत्तः (मैंने, आपसे) भूतानाम्, भवाप्ययौ (भूतों की उत्पत्ति और प्रलय), विस्तरशः श्रुतौ (विस्तार पूर्वक, सुने हैं), च (और), अव्ययम्, माहात्म्यम्, अपि (अविनाशी, महिमा, भी, सुनी है)।

प्रश्न 2- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से प्राणियों के सम्बन्ध में क्या-क्या बात सुनी है ?

उत्तर- अर्जुन ने प्राणियों से सम्बन्धित श्री कृष्ण जी द्वारा वयक्त किए गये तथ्य को इस प्रकार प्रतिपादित किया है,''हे कमलनेत्र! मैंने आप से प्राणियों की उत्पत्ति, प्रलय तथा अविनाशी महिमा की जानकारी ली है।''

गीता में प्राणियों की उत्पत्ति का भी वर्णन है। पाञ्चभौतिक शरीर में जीवात्मा तो है ही, परन्तु शरीर कार्य करता है परमात्मा की शक्ति से। जो बहुत सामर्थ्यवान् पुरुष, स्त्री, जड़ पदार्थ इस संसार में दिखाई देते हैं, उनमें परमात्मा

की विशेष शक्ति (विभूति) कार्य कर रही होती है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।। ३।।

परमेश्वर (हे परमेश्वर!) त्वम्, आत्मानम् (आप, अपने को), यथा आत्थ (जैसा, कहते हैं), एतत्, एवम् (यह ठीक, ऐसा ही है), पुरुषोत्तम, ते (हे पुरुषोत्तम, आपके), ऐश्वरम्, रूपम्, (ऐश्वर्य, रूप को) द्रष्टुम्, इच्छामि (देखना, चाहता हूँ)।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।। ४।।

प्रभो (हे प्रभो!), यदि, मया (यदि, मेरे द्वारा), तत्, द्रष्टुम, शक्यम् (आपका, वह रूप, देखने जाने योग्य है), इति, मन्यसे (ऐसा, आप मानते हैं) ततः (तो), योगेश्वर (हे योगेश्वर!) त्वम् (आप), आत्मानम्, अव्ययम् (अपने उस अविनाशी स्वरूप का), मे, दर्शय (मुझे, दर्शन कराईये)

प्रश्न 3- अर्जुन परमात्मा के किस स्वरूप का दर्शन करना चाहता है ?

उत्तर- अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! मैंने अब तक परमात्मा की विभूतियों की झाँकी देखी है, उसका साक्षात् दर्शन नहीं किया। मैं ईश्वर के रूप का प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ। यदि आप समझते हैं कि परमात्मा का वह अविनाशी रूप के दर्शन करना सम्भव है तो वह अविनाशी रूप के प्रत्यक्ष दर्शन मुझे कराईये।

श्री गुरुदत्त जी ने इन दोनों श्लोकों पर इस प्रकार टिप्पणी की है- गीता के प्रवक्ता ने जो वर्णन शैली ९वें तथा १०वें अध्याय में स्वीकार की है। उसका दर्शन हमने ऊपर किया है। श्री कृष्ण जी योगयुक्त अवस्था में परमात्मा की बात कहते हुए 'मैं' 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे थे। वे वचन श्री कृष्ण जी की ओर से नहीं थे। यह ऐसे ही हैं जैसे कोई पुत्र अपने पिता के वचन अन्य किसी के सामने कहता हुआ पिता के लिए 'मैं' 'मेरा' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करे।

महाभारत का लेखक अर्जुन को मोटी बुद्धि वाला प्रकट कर रहा है। श्री कृष्ण जी के इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग से अर्जुन श्री कृष्ण जी को ही परमात्मा मानने लगा था। वह कहता है कि हे कृष्ण! आप अपने को जैसा कह रहे हैं, मैं समझ गया हूँ। अब आप अपना वह रूप दिखाइये, जिससे आप इस

जगत् की रचना कर रहे हैं।

श्री कृष्ण जी ने इसे वह रूप दिखाया। वह रूप वैसा ही था जैसा परमात्मा का विराट् रूप ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में वर्णित है

सहस्रशीर्षा, पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

ऋग्वेद, १०/९०/१

अर्थात् उस (परमात्मा) के हज़ारों सिर, हज़ारों आँखें हैं, हज़ारों पाँव हैं और वह सबको उत्पन्न करने वाला तथा शरीर और इन्द्रियों से परे है। इसी विराट् रूप का दर्शन श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को करा दिया।

श्री कृष्ण उवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५

पार्थ (हे अर्जुन!), अथ, मे (अब तू, परमात्मा के), शतशः, सहस्रशः, नानाविधानि (सैंकड़ों, हज़ारों, नाना प्रकार के), च (और), नानावर्णक्रितीनि (नाना वर्ण तथा नाना आकृति वाले), दिव्यानि, रूपाणि, पश्य (अलौकिक, रूपों को, देख)।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।। ६ ।।

भारत (हे भरतवंशी, अर्जुन!), आदित्यान्, वसून्, रुद्रान्, अश्विनौ (12 आदित्यों, आठ वसुओं, एकादश रुद्र, दोनों अश्विनी कुमारों को), मरुतः, पश्य (49 मरुद्गणों को देख), तथा (और भी), बहूनि (बहुत से), अदृष्टपूर्वाणि (पहले न देखे हुए), आश्चर्याणि, पश्य (आश्चर्यों को, देख)।

प्रश्न 4- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा के किन-किन रूपों को दिखाना चाहते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी परमात्मा के विभिन्न रूपों का इस प्रकार वर्णन कर रहे हैं, ''हे अर्जुन! तुझे मैंने आज तक परमात्मा के सैंकड़ों, हज़ारों रूपों को दिखाया है, वे कई प्रकार के हैं, कुछ दिव्य हैं कुछ नाना वर्णों के हैं और कुछ नाना प्रकार की आकृतियों के हैं परन्तु अब मैं तुम्हें परमात्मा के बनाये हुए आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनी कुमारों और मरुतों को दिखाऊँगा। यह ऐसे अभूतपूर्व आश्चर्य होंगे जो तुमने अब तक नहीं देखे होंगे।

आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, मरुतों इत्यादि को भी परमात्मा से निर्मित कहा है। यहाँ उनके शरीरों से अभिप्रायः है। कारण यह है कि इन शरीरों से ही आदित्य इत्यादि जाने जाते थे। शरीर पाञ्चभौतिक होने से परमात्मा के बनाये हैं। पंचभूत परमात्मा की शक्ति से ही निर्मित होते हैं। प्रत्येक पंचभौतिक पदार्थ परमाणुओं की साम्यवस्था भंग होने के उपरान्त बनता है।

नारायणीय मत में भी नारद को जो विश्वरूप दिखाया गया है उसका भी ऐसा ही वर्णन है। बाँई ओर बारह आदित्य, सम्मुख आठ वसु, दाहिनी ओर ग्यारह रूद्र और पीछे आश्विनी कुमार। आश्विनी कुमार देवों के वैद्य थे जो युगल भ्राता थे जिनके नाम नासत्य, दस्त्र हैं।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।। ७

गुडाकेश (निद्रा को जीतने वाले अर्जुन!), अद्य, इह, मम, देहे (अब इस, मेरे संसार में), सचराचरम् (चराचर सहित), कृत्स्नम्, जगत्, पश्य (सम्पूर्ण, जगत् को, देख), अन्यत्, च (और, भी), यत्, द्रष्टुम्, इच्छासि (जो कुछ देखना चाहता हो, सो देख)।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।। ८ ।।

तु (परन्तु), माम् (मुझको अर्थात् परमात्मा को), अनेक, स्वचक्षुषा (इन अपने नेत्रों द्वारा), द्रष्टुम्, एव, न शक्यसे (देखने में, निःसन्देह, समर्थ नहीं है), ते (तुझे), दिव्यम्, चक्षुः, ददामि (दिव्य चक्षु देता हूँ), मे, ऐश्वरम्, योगम्, पश्य (परमात्मा की ईश्वरीय योगशक्ति को देख)।

प्रश्न 5- परमात्मा की सृष्टि को देखने के लिए श्री कृष्ण जी अर्जुन को कैसी दृष्टि देने का सुझाव देते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान करते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! यह सारा चराचर जगत् परमात्मा में सिमटा हुआ है, परन्तु ये जगत् अपनी मानवीय आँखों से तू नहीं देख सकेगा इसके लिए मैं तुझे दिव्य चक्षु (ज्ञान चक्षु) दूँगा, जिससे तू दिव्य दृष्टि से सम्पूर्ण ईश्वरीय शक्ति को देख सकेगा।''

यहाँ पर दिव्य दृष्टि का अर्थ इतना है कि सम्पूर्ण विश्व को एक जगह सिमटा हुआ हम अपने चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते। इस सम्बन्ध में डॉ. राधाकृष्णन् जी का यह मत है कि दिव्य दृष्टि केवल कल्पना नहीं, एक आध्यात्मिक

अनुभव है। धार्मिक अनुभवों के इतिहास में इस प्रकार के अनेक दिव्य दर्शनों का उल्लेख मिलता है जैसे सेन्ट हिल्डेगार्ड ने एक दिव्य दर्शन का उल्लेख किया है, जिसमें उसने एक सुन्दर मानवीय रूप के पुरुष को देखा था। उस रूप ने अपना परिचय जिन शब्दों में दिया उनसे गीता के वर्णन का स्मरण हो उठता है। उसने अपना वर्णन निम्न शब्दों में किया–

''मैं ही वह सर्वोच्च अग्निमय शक्ति हूँ जो जीवन की सब चिनगारियों को जन्म देती है। मुझ में मृत्यु का कोई अंश नहीं है, फिर भी मैं उसका नियमन करता हूँ, क्योंकि मैं ज्ञान द्वारा उसी प्रकार ढका हुआ हूँ, जैसे पक्षी पंखों से ढका होता है। मैं दिव्य तत्त्व का वह सप्राण और अग्निमय सार हूँ जो खेतों के सौन्दर्य में चमकता है। मैं पानी में चमकता हूँ, मैं सूर्य, चन्द्रमा और तारों में जल रहा हूँ। अदृश्य वायु में जो रहस्यमय शक्ति है, वह मेरी ही है। मैं सब प्राणियों के श्वास को सँभाले रखता हूँ। हरियाली और फूलों में मैं ही सांस लेता हूँ और जब जलधारायें जीवित वस्तुओं की भाँति बहती हैं, तब वह मैं ही होता हूँ।''

परमात्मा के शरीर से अभिप्रायः है– यह संसार। इस संसार में परमात्मा व्याप्त है। जगत् जो चलता–फिरता आकाश में दिखाई देता है, वह तो उस संसार का बहुत छोटा सा अंश है। इसी कारण कहा है कि जगत् परमात्मा के एक बहुत छोटे से कोने में विद्यमान है।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।। ९।।

राजन् (हे राजा धृतराष्ट्र!), महायोगेश्वरः, हरिः (महान् योगेश्वर, श्री कृष्ण जी ने) एवम्, उक्तवा (इस प्रकार, कहकर), ततः, पार्थाय (उसके पश्चात्, अर्जुन को), परमम्, ऐश्वरम् (परम, ऐश्वर्ययुक्त), रूपम्, दर्शयामास (दिव्य स्वरूप, दिखलाया)।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।। १०।।

अनेकवक्त्रनयनम् (अनेक मुख और नेत्रों से युक्त), अनेकाद्भुत दर्शनम् (जिसके दर्शन अनेक व अत्यधिक आश्चर्य कर दे), अनेकदिव्याभरणम् (अनेक दिव्य आभूषणों से युक्त), दिव्यानेकोद्यतायुधम् (बहुत से दिव्य–शास्त्रों को उठाये हुए)।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।। ११।।

दिव्यमाल्याम्बरधरम् (दिव्य माला और वस्त्रों को धारण किए हुए), दिव्यगन्धानुलेपनम् (दिव्य सुगन्ध वाले अनुलेपनों से युक्त को), सर्वाश्चर्यमयम् (सब प्रकार के आश्चर्यों से युक्त), अनन्तम् (अन्त रहित), विश्वतोमुखम्, देवम् (सब ओर मुख किए हुए विराट् स्वरूप परमदेव परमात्मा को अर्जुन ने देखा)।

प्रश्न 6– श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को जो दिव्य स्वरूप दिखाया, उस का कैसा वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र को किया?

उत्तर– यहाँ पर संजय धृतराष्ट्र को कुरुक्षेत्र के युद्ध का वर्णन परमात्मा द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से करा रहा है। संजय कहता है कि हे राजन्! अब अर्जुन को श्री कृष्ण ने परमात्मा का ऐश्वर्य से युक्त विराट् स्वरूप समझाया। उसके विराट् स्वरूप में उस पुरुष के अनेकों मुख और अनेकों नेत्र हैं जिसका दर्शन आश्चर्यों से पूर्ण है। वह अनेक आभूषण और अनेक दिव्य शस्त्रों से सुसज्जित है। वह उस दिव्य पुरुष ने अनेक मालायें और अनेकों सुगन्ध लेप लगाये हुए हैं, वह विराट् पुरुष सब ओर मुख किये, अनन्त रूपों वाले को अर्जुन ने देखा।

यहाँ पर विराट् पुरुष की अनेक प्रकार से कल्पना की गई है। ऐसा वर्णन यजुर्वेद के ३१वें अध्याय के १०वें मंत्र में इस प्रकार किया गया है–

''**यत् पुरुषं व्यदधु, कतिधा व्यकल्पयन्**'' अर्थात् विराट् पुरुष की कल्पना में कितने प्रकार के पुरुष कल्पना किये गये? फिर इसके उत्तर में दो पुरुषों की कल्पना की गई है। एक मनुष्य समाज रूप पुरुष तथा दूसरा चन्द्र–सूर्यादि निर्मित ब्रह्माण्ड पुरुष जिसके अन्त में – **तथा लोकान् अकल्पयन्**/ (यजुर्वेद ३१/३)

इस प्रकार उपसंहार है। इन सब प्रकार के कल्पित पुरुषों को एक स्थान पर एकत्रित करने से विराट् का दर्शन होता है।

मनुष्य–समाज रूप विराट् पुरुष में अनेक मुख नेत्रादि इकट्ठे होकर कार्य कर रहे हैं। वे सब परमात्मा की सृष्टि का अंग हैं। इसलिए इस विराट् रूप में अनेक अद्भुत क्रियायें हो रही हैं। प्रभु की सृष्टि में कई ग्रहों ने अनेक प्रकार के वलयादि अद्भुत आभूषण धारण किए हैं। इसी प्रकार मेघ, इन्द्र धनुष का आभूषण धारण करता है, फिर जहाँ प्रलय हो रही है, वहाँ अद्भुत आयुधों के

प्रहार से ग्रह, उपग्रह तक नष्ट हो जाते हैं।

यहाँ देव का दिव्य रूप सब आश्चर्यों से निर्मित या अनन्त था तथा इसमें चारों ओर मुख ही मुख थे अर्थात् प्रत्येक पदार्थ मुख बनकर परमात्मा की महिमा गा रहा था।

इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो कुछ अर्जुन को दिखाई दिया अथवा जो कुछ संजय ने धृतराष्ट्र के सम्मुख वर्णन किया, यह आध्यात्मिकता का अन्तिम सोपान नहीं था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।। १२

दिवि (आकाश में), सूर्यसहस्रस्य, युगपत् (हज़ार सूर्य के, एक साथ) उत्थिता, भाः, भवेत् (उदय होने से उत्पन्न, जो प्रकाश, हो), सा, तस्य महात्मनः (वह भी, उस, विश्वरूप परमात्मा के), भासः, सदृशी (प्रकाश के सदृश), यदि, स्यात् (कदाचित ही, हो)।

प्रश्न 7- संजय परमात्मा के विश्वरूप की कैसी महिमा का वर्णन कर रहे हैं?

उत्तर- संजय कहता है कि हे राजन्! परमात्मा के विश्वरूप की जो आभा है वह इतनी अधिक है कि हज़ार सूर्य भी अपनी आभा एक साथ दमका दें तो भी उसका मुकाबला नहीं कर सकती।

यदि हज़ारों सूर्यों का प्रकाश हो जाय तो भी वह है तो भौतिक, परन्तु भगवान् का प्रकाश दिव्य है, भौतिक नहीं। सूर्य में जो भी तेज है वह भी तो भगवान् से ही आया है।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। १३।।

पाण्डवः (पाण्डु पुत्र अर्जुन ने), तदा (उस समय), अनेकधा (अनेक प्रकार से), प्रविभक्तम् (बँटे हुए), कृत्स्नम्, जगत् (सम्पूर्ण, जगत् को), देवदेवस्य (देवाधिदेव के), तत्र, शरीर (उस, शरीर में), एकस्थम्, अपश्यत् (एक जगह पर, देखा)।

प्रश्न 8- संजय, परमात्मा के किस स्वरूप की चर्चा कर रहा है?

उत्तर- संजय ने धृतराष्ट्र को बताया कि पाण्डुपुत्र अर्जुन ने परमात्मा के जिस स्वरूप को देखा वह इस प्रकार है- इस समय अर्जुन ने देवों के देव परमात्मा के

उस शरीर में एक जगह स्थित अनेक प्रकार के विभागों में विभक्त सम्पूर्ण जगत् को देखा अर्थात् परमात्मा के वर्णन को सुना।

अर्जुन ने परमात्मा के विराट् स्वरूप में एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज, स्वेदज, स्थावर-जंगम, नभचर जलचर, असंख्य योनियाँ, चौदह भुवन आदि अनेक विभागों में विभक्त जगत् को देखा अर्थात् वर्णन को सुना जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह परमात्मा के एक अंश में ही (गीता १०-४२)

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।। १४

ततः (इसके बाद), सः (वह), विस्मयाविष्टः, हृष्टरोमा, धनंजयः (आश्चर्य से चकित, पुलकित-शरीर अर्जुन), देवम् (प्रकाशमय विश्वरूप परमात्मा का श्रद्धा-भक्ति सहित), शिरसा, प्रणम्य (सिर से प्रणाम करके), कृताञ्जलिः, अभाषत (हाथ जोड़कर, कहने लगे)।

प्रश्न 9- संजय धृतराष्ट्र को अर्जुन की कैसी भाव-भंगिमा की ओर इशारा करता है?

उत्तर- संजय धृतराष्ट्र से बोला- हे राजन! अर्जुन परमात्मा के विश्वरूप को देखकर (अनुभव कर) बहुत चकित हुआ और आश्चर्य के कारण उनका शरीर रोमांचित हो गया। वह हाथ जोड़कर प्रणाम कर श्री कृष्ण जी से बोले।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ- मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।। १५।।

देव (हे देव), तव, देहे (आपके, शरीर में), सर्वान्, देवान् (सम्पूर्ण देवों की), तथा (तथा), भूतविशेषसंघान् (प्राणियों के समूह को), कमलासनस्थम् (कमल के आसन पर स्थित विष्णु को), ब्रह्माणम्, ईशम् (ब्रह्मा, महादेव को), च (और), सर्वान्, ऋषीन्, च (सम्पूर्ण ऋषियों को, और) दिव्यान्, उरगान्, पश्यामि (दिव्य, सर्पों को, देखता हूँ)।

प्रश्न 10- उक्त श्लोक में परमात्मा के किन-किन रूपों की चर्चा है?

उत्तर- अर्जुन परमात्मा के दिव्य रूप को अनुभव करते हुए कह रहा है, "हे देवाधिदेव! आपके इस कल्पनामय देह में, जिसका योगिराज श्री कृष्ण जी ने मुझे योगबल से प्रत्यक्षवत् दर्शन कराया है, मैं सम्पूर्ण देवों को, प्राणि-मात्र की सब विशिष्ट जातियों को, सृष्टि में सारी रचना के तत्त्व को, चार वेदों के प्राप्तकर्ता

चार आदि ऋषियों से वेद प्राप्त करके रचनात्मक विद्या का विश्व में प्रचार करने वाले प्रजापति ब्रह्मा और ऐसे अनेक पुरुष जो कालान्तर में उत्पन्न होकर काल का ग्रास हो गये, उनको तथा अनेक ऋषि अर्थात् तत्त्वों के साक्षात् द्रष्टा तथा दिव्य उरंग अर्थात् जिस प्रकार सर्प रेंग रेंग कर छाती के बल चलता है, इसी प्रकार नाना प्रकार के परीक्षणों तथा विभावनों द्वारा प्रकृति के तत्त्वों को जानने वाले, वैज्ञानिक शिरोमणियों, को (साधारण उरंग नहीं दिव्य उरंग)अपने सामने प्रत्यक्षवत् देख (अनुभव कर) रहा हूँ।''

हमारे विचार में अर्जुन ने ऐसा कल्पना करते हुए अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन किया है। यह वेदानुकूल चर्चा नहीं है। इसे एक दृष्टान्त के रूप में लिया जाये।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।। १६ ।।

विश्वेश्वर, त्वाम् (हे सम्पूर्ण विश्व के स्वामिन्! आपको), अनेक, बाहूदर वक्त्रनेत्रम् (जिसके अनेक, भुजाएँ, उदर, मुख नेत्र हैं), सर्वत:, अनन्तरूपम्, पश्यामि (सब ओर से अनन्त रूपों वाला, देखता हूँ), विश्वरूप (हे विश्वरूप), तव, न, अन्तम्, पश्यामि (आपके, न, अन्त को देखता हूँ), न, मध्यम, पुन: न, आदिम् (न, मध्य को और न, आदि को देखता हूँ)।

प्रश्न 11– श्री कृष्ण जी की कृपा से अर्जुन को कैसा विश्वरूप अनुभव हो रहा है?

उत्तर– अर्जुन कह रहा है, ''हे परमेश्वर! यद्यपि श्री कृष्ण जी की कृपा से उनके योगबल से मैं आपके इस कल्पित शरीर में अनेक बाहू, उदर, मुख तथा नेत्र देख रहा हूँ, पर वह भी एक सीमा तक देख पा रहा हूँ उससे परे नहीं क्योंकि वह रूप तो अनन्त है और प्रत्येक दृष्टि से अनन्त है। इसके अतिरिक्त मैं परमात्मा के मध्य और वर्तमान की थाह नहीं पा रहा हूँ। जो कुछ देख रहा हूँ वह श्री कृष्ण जी की कृपा से देख रहा हूँ। जब उन्होंने भी आपका अन्त नहीं पाया तो मैं कैसे पा पाऊँगा? आप तो है ही अनन्त!

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।। १७

त्वाम् (आपको मैं), किरीटनम् (मुकुटयुक्त), गदिनम् (गदायुक्त), च (और), चक्रिणम् (चक्रयुक्त), सर्वत: दीप्तिमन्तम् (सब ओर से प्रकाशमान), तेजोराशिम् (तेज के पुंज), दीप्तानलार्कद्युतिम् (प्रज्वलित अग्नि और सूर्य के समान कान्ति वाले को), दुर्निरीक्ष्यम् (जिसको देख पाना कठिन है), समन्तात् (सब ओर से), अप्रमेयम्, पश्यामि (अज्ञेय को, देखता हूँ)।

प्रश्न 12– अर्जुन श्री कृष्ण जी के योगबल से क्या देख पा रहा है?

उत्तर– पृथ्वी पर जितने मुकुटयुक्त, गदाधारी, चक्रधारी हुए उनका एक अति विशाल समूह इस रूप में एक स्थान पर इकट्ठा हुआ है। यह कोई वास्तविक रूप थोड़े है। यह तो एक विशाल अज्ञेय, चारों ओर से दीप्तिमान् तेज राशि है जो प्रज्ज्वलित अग्नि और तपते सूर्य के समान दहक रहा है। इसलिए इस पर चौंध के कारण आँखें नहीं जमती। हे परमेश्वर! मैं आज योगीराज श्री कृष्ण जी की कृपा एवं योगबल से आपको देख (अनुभव कर) रहा हूँ।

टिप्पणी – किसी अन्य के योगबल से कोई अन्य ईश्वर के दर्शन नहीं कर सकता। यही वैदिक मान्यता है। इस श्लोक में जो ईश्वर के रूप का वर्णन किया है यह वेदानुकूल नहीं है इस लिए यह श्लोक गीता में परमात्मा को शरीरधारी सिद्ध कर रहा है जबकि वैदिक मान्यताओं के अनुसार परमात्मा को यजुर्वेद में 'अकायम' कहा है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्यय: शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।। १८ ।।

त्वम्, वेदितव्यम् (आप ही जानने योग्य), परमम्, अक्षरम् (परम्, अविनाशी हैं), त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम् (आप ही, इस, जगत् के, परम्, आश्रय है), त्वम्, शाश्वतधर्मगोप्ता (आप ही, अनादि धर्म के, रक्षक हैं), त्वम्, अव्यय: (आप ही, अविनाशी), सनातन: पुरुष: (सनातन पुरुष हैं, ऐसा), मम, मत: (मेरा मत है)।

प्रश्न 13– अर्जुन परमात्मा के विश्वरूप की कैसी स्तुति करता है?

उत्तर– अर्जुन कह रहा है, ''मैं अब समझ गया हूँ कि परमात्मा ही परम ज्ञेय है, अविनाशी ब्रह्म है, इस जगत् का अन्तिम आधार है, शाश्वत धर्म का अविनाशी रक्षक है, वह ही सनातन पुरुष है।''

यहाँ परमात्मा को ही अव्यय और सनातन कहा जा सकता है, जिसका कभी नाश न हो, उसे अव्यय कहते हैं तथा जो सदा से ही और सदा एक रस बना रहे, उसे 'सनातन' कहते हैं। इन दोनों विशेषणों के सहित 'पुरुष' शब्द का प्रयोग करके अर्जुन ने यह बतलाया है कि ऐसे समस्त जगत् के हर्ता, कर्ता,

सर्वशक्तिमान्, सम्पूर्ण विकारों से रहित, सनातन परम पुरुष साक्षात् परमात्मा ही हो सकता है, अन्य कोई मरण धर्मा मनुष्य नहीं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।। १९

त्वाम् (आपको), अनादिमध्यान्तम् (जो आदि, मध्य और अन्त से रहित हो), अनन्तवीर्यम् (अनन्त सामर्थ्य से युक्त), अनन्तबाहुम् (अनन्त भुजाओं वाले), शशिसूर्यनेत्रम् (जिसके शशि और सूर्य नेत्र हैं), दीप्तहुताशवक्त्रम् (प्रज्ज्वलित अग्नि रूप मुख वाले), स्वतेजसा (अपने तेज से), इदम् विश्वम्, तपन्तम्, पश्यामि (इस, जगत् को, सन्तप्त करते हुए देखता हूँ)।

प्रश्न 14- अर्जुन को परमात्मा की अनन्त सामर्थ्य का कैसे पता चलता है ?

उत्तर- अर्जुन परमात्मा के ऐसे स्वरूप को अनुभव कर रहा है जिसका न आदि है, न मध्य है और न ही अन्त है। जो अनेक भुजाओं वाला है, सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र हैं, प्रज्वलित अग्नि जिसका मुख है, जो अपने तेज से सारे विश्व को तपा रहा है- वह ऐसे परमात्मा को देख (अनुभव कर) रहा है।

गत श्लोकों में वर्णित एक ओर जहाँ यह रूप महिमायुक्त है दूसरी ओर इसका विध्वंसकारी भयावना रूप भी है। यह आदि, मध्य और अन्त से रहित अज्ञेय वही है, जो सब पदार्थों का आदि, मध्य और अन्त भी है। यह परमदेव जहाँ अपनी असंख्य भुजाओं से लोकों को धारण करता है, वही अनन्त हाथों से उनका विनाश भी करता है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।। २०।।

महात्मन् (हे महात्मन्!), इदम्, द्यावापृथिव्योः, अन्तरम् (यह, आकाश, और पृथ्वी के, बीच का अन्तराल), च, सर्वः, दिशः (तथा, सब, दिशायें), एकेन, त्वया, हि, व्याप्तम् (एक, आप से ही, परिपूर्ण हैं), तव, इदम्, अद्भुतम् (आपके, इस, अलौकिक), उग्रम्, रूपम्, दृष्ट्वा (भयंकर, रूप को, देखकर), लोकत्रयम्, प्रव्यथितम् (तीनों लोक, काँप उठे हैं)।

प्रश्न 15- परमात्मा के इस रूप को देखकर तीनों लोकों की क्या स्थिति होती है ?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी को परमात्मा के भंयकर स्वरूप को देखकर कहा, ''हे महात्मन्! आपने ठीक ही कहा है कि आकाश और पृथिवी के बीच के

अन्तराल में और सब दिशाओं में परमात्मा ही व्याप्त हो रहे हैं। परमात्मा के इस उग्र एवं अद्भुत रूप को देखकर तीनों लोक काँप रहे हैं।''

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्तिकेचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाःस्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।। २१।।

अमी (वे ही), सुरसङ्घाः (देवों के समूह), त्वाम्, विशन्ति (आप में प्रवेश करते हैं), केचित्, भीताः (कुछ, भयभीत होकर), प्राञ्जलयः (हाथ जोड़े हुए), [आपके नाम और गुणों का], गृणन्ति (उच्चारण करते हैं), महर्षि, सिद्धसङ्घाः (महर्षि और सिद्धों के समुदाय), स्वस्ति, इति, उक्त्वा (कल्याण हो, ऐसा, कहकर), पुष्कलाभिः, स्तुतिभिः (उत्तम-उत्तम, स्तुतियों से), त्वाम्, स्तुवन्ति (आपकी, स्तुति करते हैं)।

प्रश्न 16- सभी की स्तुति का कैसा स्वरूप अर्जुन को अनुभव होता है ?

उत्तर- ये देव-समूह, क्या जड़, क्या चेतन परमात्मा के काल रूपी उदर में प्रवेश करते जा रहे हैं, कोई संसार की विकट परिस्थितियों से घिरे हुए भयभीत होकर अंजलि बाँधे परमात्मा का गुण-गान कर रहे हैं। महर्षि और जन्म सिद्ध महात्माओं के संघ 'कल्याण हो जगत् का' इस प्रकार कहकर पुष्कल स्तुतियों से परमात्मा का स्तुति गान कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे।। २२।।

ये (जो), रुद्रादित्याः (ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य), च (तथा), वसवः (आठ वसु), साध्याः (साध्यगण), विश्वे (विश्वदेव), अश्विनौ (अश्विन कुमार), च (तथा), मरुतः, च (मरुद्गण, और) ऊष्मपाः, च (पितरों का समुदाय और), गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः (गन्धर्व, यज्ञ, राक्षस और सिद्धों के समुदाय हैं) [ते], सर्वे (वे, सब), एव (ही), विस्मिताः (विस्मित होकर), त्वाम्, वीक्षन्ते (आपको देखते हैं)।

प्रश्न 17- सभी लोग किस को देखकर विस्मित हो रहे हैं ?

उत्तर- मानव समाज में वसु, रुद्र, आदित्य, सब सिद्ध लोग अर्थात् जो किसी विज्ञान-विशेष के विशेषज्ञ बनने की तैयारी में लगे हैं। अश्विनौ अर्थात् राष्ट्र के स्त्री-पुरुष, गुरु-शिष्यादि, अन्यान्य पूरक जोड़े, मरुत अर्थात् सैनिक लोग, ऊष्मपाः अर्थात् नेताओं के जोश से प्रेरित होकर अद्भुत पराक्रम दिखाने वाले वीर पुरुष, गन्धर्व अर्थात् गायन विद्या के आचार्य, राष्ट्र कोष के रक्षक, असुर

अर्थात् पूर्व जन्मों के पुण्य के बल पर सुख भोगने वाले (इस जन्म के कर्महीन) लोग, तथा जन्म सिद्ध संस्कारी पुरुष, इनके समूह के समूह, सब विस्मित होकर प्रभु के विराट् स्वरूप को देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्।। २३।।

महाबाहो, ते (हे महाबाहो! आपके), बहुवक्त्रनेत्रम् (बहुत मुख और नेत्रों वाले), बहुबाहूरुपादम् (बहुत हाथ, जंघा और पैरों वाले), बहूदरम् (बहुत उदरों वाले), बहुदंष्ट्राकरालम् (बहुत सी दाढ़ों के कारण अत्यन्त विकराल), महत्, रूपम्, दृष्ट्वा (महान्, रूप को, देखकर), लोकाः (सब लोक), प्रव्यथिताः (व्याकुल हो रहे हैं) तथा, अहम् (और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ)।

प्रश्न 18- परमात्मा के किस रूप को देखकर सभी लोग तथा अर्जुन व्याकुल हो रहे हैं?

उत्तर- अर्जुन ने कहा, ''हे महाबाहु! परमात्मा के इस विराट् रूप के महान् अनेक मुखों और नेत्रों वाले, अनेक भुजाओं, जंघाओं और पैरों वाले अनेक उदरों वाले, अनेक दाढ़ों के कारण विकराल दीख पड़ने वाले रूपों के देखकर सभी लोग काँप उठे हैं और मैं भी इसी प्रकार काँप रहा हूँ।''

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो।। २४।।

हि (क्योंकि), विष्णो (हे विष्णु!) नभः, स्पृशम् (आकाश को, स्पर्श करने वाले), दीप्तम्, अनेक, वर्णम् (देदीप्यमान अनेक, वर्णों से युक्त) व्यात्ताननम्, (फैलाये हुए मुख), दीप्तविशाल नेत्रम् (प्रकाशमान विशाल नेत्रों से युक्त), त्वाम्, दृष्ट्वा (आपको, देखकर), प्रव्यथितान्तरात्मा (भयभीत अन्तःकरण वाला मैं), धृतिम्, च, शमम्, न, विन्दामि (धैर्य, और, शान्ति, नहीं, पाता हूँ)।

प्रश्न 18- परमात्मा के विराट् स्वरूप को देखकर अर्जुन की क्या स्थिति हो रही है?

उत्तर- परमात्मा के अनेक रूप जो आकाश को स्पर्श कर रहे हैं, परमात्मा की आँखें जो फैली हुई तथा चमक रही हैं, को देखकर अर्जुन का धैर्य तथा शान्ति छूट रही है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।

दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।। २५

दंष्ट्राकरालानि, च (दाढ़ों के कारण विकराल, और), कालानलसान्निभानि (प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित), ते, मुखानि, दृष्ट्वा (आपके मुख को देखकर), दिशः, न, जाने (दिशाओं को, नहीं, जानता हूँ), च, शर्म, एव, न (और सुख, भी, नहीं), लभे (पाता हूँ), देवेश (हे देवों के स्वामी!), जगन्निवास (हे जगत् के निवास-स्थान), प्रसीद (आप प्रसन्न हों)।

प्रश्न 19- अर्जुन किसलिए दिशाओं और सुख को नहीं जान पा रहा है?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से कह रहा है कि आप ने योगबल से जो परमात्मा का विराट् स्वरूप मुझे दिखाया है, उसमें दाढ़ों के कारण विकराल और प्रलयकाल की अग्नि के समान प्रज्वलित मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं जानता हूँ और न ही किसी प्रकार के सुख का अनुभव कर रहा हूँ। हे जगन्निवास! आप प्रसन्न हो जाओ।

अर्जुन उस कालानल (प्रलय की अग्नि को) देखकर होश हवास खो बैठता है। इस भयंकर अनुभव में विस्मय, घबराहट और हर्षोन्माद के तत्त्व विद्यमान हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।। २६

अमी, सर्वे, एव (वे, सब, ही), धृतराष्ट्रस्य पुत्राः (धृतराष्ट्र के पुत्र) अवनिपालसङ्घैः (राजाओं के समुदाय सहित), त्वाम् (आप में [प्रवेश कर रहे हैं]), च, भीष्मः, द्रोणः तथा (और भीष्म-पितामह, द्रोणाचार्य तथा), असौ, सूतपुत्रः (वह, सूतपुत्र कर्ण) अस्मदीयैः, अपि (हमारे पक्ष में भी), योधमुख्यैः (प्रधान योद्धाओं के) सह (साथ)।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।। २७

ते (आपके), दंष्ट्राकरालानि, भयानकानि, वक्त्राणि (दाढ़ों के कारण विकराल, भयानक, मुखों में), त्वरमाणाः, विशन्ति (बड़े वेग से दौड़ते हुए, प्रवेश कर रहे हैं), केचित्, चूर्णितैः (कई एक, चूर्ण हुए), उत्तमाङ्गैः (सिरों सहित), दशान्तरेषु (दाँतों के बीच में), विलग्नः, सन्दृश्यन्ते (लगे हुए दीख रहे हैं)।

प्रश्न 20- अर्जुन दोनों सेनाओं के योद्धाओं का विराट् स्वरूप में किस प्रकार अन्त होते देख रहा है?

उत्तर– अर्जुन श्री कृष्ण जी से कह रहा है, ''हे देव श्री कृष्ण जी! आपने अपने योगबल से जो मुझसे परमात्मा के विराट् स्वरूप वर्णन किया है, उसमें मुझे लगता है कि वे सभी धृतराष्ट्र के पुत्र राजाओं के समुदाय सहित इस विराट् स्वरूप में प्रवेश कर रहे हैं और भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य तथा वह सूतपुत्र कर्ण और हमारे पक्ष के प्रधान योद्धाओं के सहित सब के सब इन भयानक एवं विकराल दाढ़ों के कारण मुखों में बड़े वेग से दौड़ते हुए प्रवेश कर रहे हैं अर्थात् काल के क्रूर हाथ उनको मृत्यु की नींद सुला रहे हैं और कई एक योद्धाओं के चूर्ण हुए सिरों सहित दाँतों के बीच में लगे हुए दिख रहे हैं।''

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति।। २८।।

यथा, नदीनाम् (जिस प्रकार, नदियों के), बहवः, अम्बुवेगाः (बहुत से जल के प्रवाह, स्वाभाविक ही), समुद्रम्, एव, अभिमुखाः, द्रवन्ति (समुद्र के, ही, सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं) तथा (वैसे ही), अमी, नरलोक वीराः (वे, नरलोक के, वीर भी), तव, अभिविज्वलन्ति (आप, के प्रज्वलित), वक्त्राणि, विशन्ति (मुखों में, प्रवेश कर रहे हैं)।

प्रश्न 21– अर्जुन मृत्यु की ओर बढ़ने वाले वीर योद्धाओं की कैसी स्थिति का वर्णन कर रहे हैं?

उत्तर– जब श्री कृष्ण जी अर्जुन को उस अव्यक्तसत्ता परमपिता परमात्मा के विश्वरूप का परिचय कराते हैं तो अर्जुन उस काल में कौन–कौन से शूरवीर समा रहे हैं, उस का वर्णन इस प्रकार करते हैं, ''जैसे नदियों के बहुत से जल के प्रवाह स्वाभाविक ही समुद्र के ही सम्मुख दौड़ते हैं अर्थात् समुद्र में प्रवेश करते हैं, वैसे ही नरलोक के वीर भी आपके (परमात्मा के) प्रज्वलित मुखों में प्रवेश कर रहे हैं।''

इस श्लोक में उन भीष्म–द्रोणादि श्रेष्ठ शूरवीर पुरुषों के परमात्मा के मुखों में प्रवेश करने का वर्णन किया गया है, जो भगवान् की प्राप्ति के लिए साधन कर रहे थे तथा जिनको बिना ही इच्छा के युद्ध में प्रवृत्त होना पड़ा था और जो युद्ध में मर कर भगवान् को प्राप्त करने वाले थे। इस हेतु के लिए 'नरलोक वीराः' विशेषण दिया गया है। वे भौतिक युद्ध में जैसे महान् वीर थे वैसे ही भगवत्प्राप्ति के साधन रूप आध्यात्मिक युद्ध में भी कामादि शत्रुओं के साथ बड़ी वीरता से लड़ने वाले थे। उनके प्रवेश में नदी और समुद्र का दृष्टान्त देकर अर्जुन ने यह

भाव दिखलाया है कि जैसे नदियों के जल स्वाभाविक ही समुद्र की ओर दौड़ते हैं और अन्त में अपने नाम रूप को त्यागकर ही समुद्र बन जाते हैं, वैसे ही ये शूरवीर भक्तजन भी मृत्यु (यम, प्रभु) की ओर मुख करके दौड़ रहे हैं और परमात्मा के अन्दर अभिन्न भाव से प्रवेश कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।। २९।।

यथा, पतङ्गाः (जैसे, पतंगे)[मोहवश], नाशाय, प्रदीप्तम्, ज्वलनम् (नष्ट होने के लिए, प्रज्वलित, अग्नि में), समृद्धवेगाः विशन्ति (अति वेग से दौड़ते हुए, प्रवेश करते हैं), तथा, एव (वैसे, ही), लोकाः, अपि, नाशाय (सब लोग, भी, अपने नाश के लिए), तव, वक्त्राणि (परमात्मा के मुखों में), समृद्ध, वेगाः, विशन्ति (अति, वेग से, दौड़ते हुए, प्रवेश कर रहे हैं)।

प्रश्न 22– इस श्लोक में अर्जुन किए दृष्टान्त से संसार के लोगों की मृत्यु की ओर जाने का वर्णन करते हैं?

उत्तर– जिस प्रकार पतंगे तीव्र गति से जलती हुई अग्नि में अपने विनाश के लिए तीव्रता से झपटते हुए जाते हैं इसी प्रकार ये लोग अपने विनाश के लिए झपटते हुए मोहवश मृत्यु के ग्रास हो रहे हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने यहाँ इस प्रकार टिप्पणी की है:–

''ये प्राणी अपने अज्ञान के कारण अन्धे होकर अपने विनाश की ओर दौड़ रहे हैं और दैवीय नियन्त्रक इन सब को होने दे रहा है, क्योंकि वे सब अपने कर्मों का फल भुगत रहे हैं। जब हम किसी कर्म को करने को तत्पर होते हैं, तो हम उसके परिणामों के लिए भी उद्यत रहते हैं। स्वतन्त्र क्रियाएँ हमें उनके परिणामों का वशवर्ती बना देती हैं, क्योंकि यह कारण और कार्य का नियम दैवीय मन की अभिव्यक्ति है। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि ब्रह्म इस नियम को क्रियान्वित कर रहा है। लेखक विश्वरूप की धारणा द्वारा इस बात को स्पष्ट करता है कि किस प्रकार अपनी विशालता, सुन्दरता और मन्यु के सहित सारा ब्रह्माण्ड, सारे देवता, महात्मा, पशु और पौधे परमात्मा के जीवन की समृद्धि के अन्दर ही हैं। सबको अपने अन्दर रखते हुए परमात्मा अपने आप से बाहर नहीं जा सकता। हम मनुष्य प्राणी, जो तार्किक ढंग से विचार करते हैं, कभी एक विषय को लेकर व्यस्त रहते हैं और कभी दूसरे विषय को लेकर हम एक के बाद एक विषय पर विचार करते हैं परन्तु दैवीय मन सब बातों को एक

ही समझता है। उसके लिए न कोई अतीत है और न कोई भविष्य।''

इस श्लोक में पिछले श्लोक में बतलाये हुए भक्तों से भिन्न उन समस्त साधारण लोगों के प्रवेश का वर्णन किया गया है, जो इच्छा पूर्वक युद्ध करने के लिए आये थे। इसलिए प्रज्वलित अग्नि और पतंगों का दृष्टान्त देकर अर्जुन ने यह भाव दिखलाया है कि जैसे मोह में पड़े हुए पतंगे नष्ट होने के लिए ही इच्छा पूर्वक बड़े वेग से उड़-उड़ कर अग्नि में प्रवेश करते हैं, वैसे ही सब लोग परमात्मा के प्रभाव को न जानने के कारण मोह में पड़े हुए हैं और अपना नाश करने के लिए पतंगों की भाँति दौड़-दौड़ कर मृत्यु के मुख में प्रविष्ट हो रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।। ३०

समग्रान्, लोकान् (सम्पूर्ण लोकों को), ज्वलद्भिः, वदनैः (प्रज्वलित, मुखों द्वारा), ग्रासमानः (ग्रसते हुए), समन्तात्, लेलिह्यसे (सब ओर से, बार-बार चाट रहे हैं), विष्णो (हे विष्णु!), तव, उग्राः, भासः (आपका, उग्र, प्रकाश), समग्रम्, जगत् (सम्पूर्ण, जगत् को), तेजोभिः, आपूर्य, प्रतपन्ति (तेज के द्वारा, परिपूर्ण करके, तपा रहा है)।

प्रश्न 23- यहाँ सब लोकों को ग्रास बनाते हुए परमात्मा के भयानक विश्वरूप का वर्णन कैसा किया गया है?

उत्तर- यहाँ परमात्मा के विष्णु रूप को सम्बोधित करते हुए अर्जुन कह रहे हैं, ''हे सर्वव्यापक प्रभु (विष्णु!) आप अपने जलते हुए मुखों के समान लगने वाले अग्नि आदि प्रलय साधनों के द्वारा सब लोकों को ग्रसते हुए सब ओर से चाट रहे हैं। आपकी भयंकर दीप्तियाँ (प्रकाश) अपने तेजों से सम्पूर्ण संसार को पूर्ण करके उसे तपा रही हैं।''

भगवान् के महान् उग्र रूप को देखकर यहाँ भयभीत अर्जुन उस अत्यन्त भयानक रूप का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि जिनसे अग्नि की भयानक लपटें निकल रही हैं, अपने उन विकराल मुखों से परमात्मा समस्त लोकों को निगल रहे हैं, और इतने पर भी अतृप्तभाव से बार-बार अपनी जीभ लपलपा रहे हैं। तथा परमात्मा के अत्यन्त उग्र प्रकाश के भयानक तेज से सारा जगत् अत्यन्त सन्तप्त हो रहा है।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।। ३१

मे, आख्याहि (मुझे, बतलाइये कि), भवान्, उग्ररूपः, कः (आप, उग्ररूप वाले, कौन हैं?), देववर (हे देवों में श्रेष्ठ!) ते, नमः, अस्तु (आपको, नमस्कार, हो) प्रसीद (आप, प्रसन्न होइये), आद्यम्, भवन्तम् (आदि पुरुष, आपको), विज्ञतुम्, इच्छामि (विशेष रूप से, जानना चाहता हूँ), हि, तव, प्रवृत्तिम् (क्योंकि, आपकी, प्रवृत्ति को मैं), न, प्रजानामि (नहीं, जानता)।

प्रश्न 24- परमात्मा के उग्रधारी रूप को देखकर अर्जुन श्री कृष्ण जी से क्या पूछना चाहता है?

उत्तर- अर्जुन परमात्मा के उग्र रूप को देखकर उन्हें क्या प्रार्थना करता है, ''हे देवश्रेष्ठ! मुझे यह बताओ कि इस उग्र, तेजस्वी रूप को धारण करने वाले आप कौन हैं? मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप प्रसन्न हो जायें। मैं जानना चाहता हूँ कि यह आदि पुरुष कौन है? उसके इस स्वरूप की प्रवृत्ति को मैं नहीं जानता।''

स्वामी रामदेव जी ने इस पर निम्नलिखित टिप्पणी की है- अर्जुन की यह अन्तिम पुकार सूचित करती है कि इस विश्वरूप-प्रदर्शन के दो उद्देश्य हैं। यह उस पुरुष का रूप है जो एक साथ विश्वातीत और वैश्व है, जो सदा सृष्टि करता है, जो सदा इसके अस्तित्व को बनाये रखता है, परन्तु वह साथ ही ऐसा भी है जो सदा इसका विनाश भी किया करता है जिससे कि वह इसका नवनिर्माण कर सके, जो काल है, जो मृत्यु है, जो रौद्र नृत्य करने वाला रुद्र है, जो संग्राम में नृत्य करने वाली अपने पदों से कुचलती चली जाने वाली, निहित असुरों के रक्त से रंजित और मुण्डमाला धारण करने वाली (भगवान् की काल रूप शक्ति) है, जो आँधी, बवंडर, आग, भूचाल, व्यथा, दुर्भिक्ष, विप्लव, विनाश और सर्वग्रासी सागर है। इस समय श्री कृष्ण जी ने परमात्मा के इस रौद्र रूप का वर्णन किया है। यह वह रूप है जिससे मनुष्य का मन जानबूझ कर भागता है और जिससे वह उस पक्षी के समान अपना सिर इसलिए छिपा लेता है कि कदाचित् स्वयं न देखने से वह उस रुद्र की दृष्टि से बच जाये, परन्तु गीता यहाँ संकेत करती है कि जो वास्तविक तथ्य है, उसको हमें साहस के साथ सामने से देखना चाहिये कि यह वही है, जिसने अपनी सत्ता से इस विश्व का निर्माण किया है और उसने इसे ऐसा ही बनाया है। दु:ख और अशुभ की शैय्या पर शिकंजों में जकड़े हुए हम जो यन्त्रणा भोग रहे हैं उसमें भी भगवान् का वैसा ही स्पर्श है जैसा कि

सुख, प्रसन्नता और माधुर्य में, लोकों की असंगतियां ईश्वर की निर्मित की हुई असंगतियाँ हैं, क्योंकि जीवों के कर्म ही ऐसे हैं। अब केवल उन्हें स्वीकार करके और उनमें से होकर हम उनके परम सामंजस्य की महत्तर सुसंगतियों तक और उनके विश्वातीत और विश्वगत आनन्द की उच्चताओं और हर्ष-स्पन्दित विशालताओं में पहुँच सकते हैं।

श्री कृष्ण उवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।। ३२।।

लोकक्षयकृत् (लोकों का नाश करने वाला), प्रवृद्धः, कालः, अस्मि (बढ़ा हुआ, महाकाल, हूँ), इह, लोकान् (इस समय, इन लोकों को), समाहर्तुम्, प्रवृत्तः (नष्ट करने के लिए, प्रवृत्त हुआ हूँ), ये, प्रत्यनीकेषु, अवस्थिताः (जो, प्रतिपक्षियों की सेना में, स्थित), योद्धाः (योद्धा लोग हैं), सर्वे, त्वाम्, ऋते (सब तेरे, बिना) अपि (भी), न, भविष्यन्ति (नहीं रहेंगे अर्थात् तेरे युद्ध न करने से भी इन सबका नाश हो जायेगा)।

प्रश्न 25- परमात्मा किस प्रकार महाकाल के रूप में है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने कहा- हे अर्जुन! परमात्मा लोकों का क्षय कर देने वाला काल है। परमात्मा इन बने हुए लोकों को नष्ट करने में भी लगा हुआ है। जो योद्धा सेना के साथ आये हुए हैं वे सब नहीं रहेंगे। भले ही तू युद्ध न कर। अर्थात् तेरे युद्ध न करने पर भी ये नष्ट होने वाले हैं।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है- ''भगवान् ने सृष्टि को रचा, सत्ता ने व्यक्त रूप धारण किया, परन्तु रचना के साथ क्या संहार सटा हुआ नहीं है? जहाँ-जहाँ रचना है, उत्पत्ति है, वहाँ-वहाँ पुरानी रचना को नष्ट करना, उसका विनाश करना जुड़ा हुआ है। भगवान् को केवल रचना तथा जन्म में देखना 'सत्य' का एक पक्ष है। भगवान् विनाश तथा मृत्यु के रूप में भी सदा क्रियाशील रहता है- यह सत्य का दूसरा पक्ष है। भारतीय संस्कृति ब्रह्मा को सृष्टि का उत्पन्न करने वाला मानती है तो उसी के 'शिव' रूप को सृष्टि का भस्म करने वाला भी मानती है। हाँ, यह पूछा जा सकता है कि वह भगवान् जो सृष्टि को रचता है, वह उसका विनाश क्यों कर देता है? इसका उत्तर यही है कि जो उत्पन्न कर सकता है, नष्ट भी वही कर सकता है, जो सुख दे सकता है, दुःख भी दे सकता है। जिसने सुख दिया, उसने किसी कारण से सुख

दिया। वह कारण जाता रहेगा तो सुख देने वाला ही तो दुःख देने लगेगा। भगवान् की सृष्टि का विधान है, कारण-कार्य का नियम काम कर रहा है। रचना के लिए विध्वंस का होना आवश्यक है। विध्वंस अकारण नहीं होता, विध्वंस का कारण होता है, वह कारण खड़ा हो और विध्वंस न हो- यह संसार का नियम ही नहीं है। गीता में भगवान् के काल-रूप में प्रकट होने का यही अर्थ है। श्री कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं कि तू युद्ध कर, चाहे न कर परन्तु इन सबके विनाश की सामग्री जुट चुकी है।''

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।। ३३।।

तस्मात्, त्वम्, उत्तिष्ठ (इसलिए, तू, उठ), यशः, लभस्व (यश, प्राप्तकर), शत्रून्, जित्वा (शत्रुओं को, जीतकर), समृद्धम्, राज्यम्, भुङ्क्ष्व (सम्पन्न राज्य को, भोग), एते, पूर्वम्, एव (ये, सब, पहले से, ही), मया, निहिता (मेरे ही द्वारा, मारे हुए हैं), सव्यसाचिन्, निमित्तमात्र, एव, भव (हे अर्जुन, तू, निमित्तमात्र बन)।

प्रश्न 26- श्री कृष्ण जी अर्जुन को युद्ध करने की प्रेरणा क्यों देते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा का सन्देश देते हैं - हे अर्जुन! अन्याय का पक्ष लेने के कारण पहले ही उनकी आत्मायें मर चुकी हैं, क्योंकि अन्यायी एक नहीं कई बार मरता है। अब तू तो केवल इनके मारने का निमित्त ही बनता है। इसलिए उठ, क्षत्रिय धर्म का पालन कर, यश प्राप्त कर और शत्रुओं को मार कर समृद्ध राज्य का न्यायानुमोदित उपभोग कर।

गीता का दृष्टिकोण यह है कि विश्व का नियमन, इसका संचालन एक महान् शक्ति द्वारा हो रहा है। विश्व की गति, इसकी दिशा का निर्धारण, उसी शक्ति के हाथ में हैं। इसलिए हमारा कार्य केवल अपने को उसके प्रति समर्पित करना है। उसके हाथों में अपने को सौंप देना है, उसका निमित्त बन जाना है। इसी सिद्धान्त को हृदयंगम करके हमें उसकी इच्छा के सामने अपनी इच्छा को मिटा देना होगा। अपने कर्म को उसी को सौंप देना होगा। उसका निमित्त मात्र बनकर पुरुषार्थ करना होगा।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।। ३४।।

द्रोणम्, च, भीष्मम्, च, जयद्रथम्, च, कर्णम् (द्रोणाचार्य और भीष्मपितामह

तथा जयद्रथ और कर्ण), तथा, अन्यान्, अपि (तथा, और भी, बहुत से), मया, हतान्, योधवीरान् (मेरे द्वारा, मारे गये, शूरवीर योद्धाओं को), त्वम्, जहि (तू, मार), मा, व्यथिष्ठाः (भय, मतकर), रणे, सपत्नान्, जेतासि (युद्ध में, वैरियों को, जीतेगा), युध्यस्व (युद्ध कर)।

प्रश्न 27– श्री कृष्ण जी अर्जुन को अन्याय का पक्ष लेने वालों में से किन को मारने का आदेश देते हैं ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को चेतावनी देते हैं, ''हे अर्जुन! जो अन्याय का पक्ष लेता है उसकी मृत्यु तो उसी समय हो जाती है। अब तो तू केवल उनके शरीरों को मारने का निमित्त कारण बनेगा। द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह, जयद्रथ, कर्ण तथा और भी बहुत से शूरवीर जैसे भगदत्त, भूरिश्रवा, शल्य, दुर्योधन इन सबने अन्याय का पक्ष लिया है और अन्यायी को मारना कोई पाप नहीं है। अन्यायी को अन्याय का दण्ड देना मानवता की सच्ची सेवा है। इसलिए तुझे इन्हें मारने में कोई पाप नहीं लगेगा। किसी प्रकार का भय मत कर। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तू इन वीरों को युद्ध में जीतेगा। इसलिए युद्ध कर।''

अर्जुन के मन में जो इस बात की शंका थी कि न जाने युद्ध में हम जीतेंगे या ये शत्रु ही हमको जीतेंगे। इस शंका को दूर करने के लिए श्री कृष्ण जी ने ऐसा कहा है कि युद्ध में निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी। इसलिए तुम्हें उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिये।

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। ३५।।

केशवस्य, एतत्, वचनम्, श्रुत्वा (श्री कृष्ण जी के, ऐसे, वचनों को सुनकर), किरीटी, कृताञ्जलि (अर्जुन हाथ जोड़कर), नमस्कृत्वा (नमस्कार करके), भूयः (फिर), एव (भी), भीतभीतः (अत्यन्त भयभीत होकर), प्रणम्य (प्रणाम करके), कृष्णम् सगद्गदम्, आह (श्री कृष्ण जी से गद्गद् वाणी में बोला)।

प्रश्न 28– श्री कृष्ण जी के मुख से उत्साह भरी बातें सुनकर अर्जुन की क्या स्थिति हुई ? इसका वर्णन संजय ने धृतराष्ट्र से कैसे किया ?

उत्तर– संजय बोले– हे धृतराष्ट्र राजन्! श्री कृष्ण जी के सान्त्वना से भरे वचन को सुनकर मुकुटधारी (किरीटी) अर्जुन हाथ जोड़कर काँपता हुआ नमस्कार करके, फिर भी अत्यन्त भयभीत होकर प्रणाम करके श्री कृष्ण जी के प्रति

गद्गद वाणी से बोला।

यहाँ पर अर्जुन के बोलने का ढंग समझाने के लिए 'सगद्गदं' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्जुन जब श्री कृष्ण जी की प्रशंसा करने लगा तब आश्चर्य और भय के कारण उसका हृदय पानी-पानी हो गया। नेत्रों में जल भर आया, कण्ठ रुक गया और इसी कारण उसकी वाणी गद्गद हो गयी। फलतः कण्ठ के रुद्ध हो जाने के कारण उच्चारण अस्पष्ट और करुणापूर्ण हो गया।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।। ३६

हृषीकेश (हे श्री कृष्ण जी!), स्थाने (यह ठीक है), तव, प्रकीर्त्या (आपके प्रभाव से), जगत्, प्रहृष्यति (जगत्, अति हर्षित हो रहा है), च (और), अनुरज्यते (अनुराग को भी प्राप्त हो रहा है), भीतानि रक्षांसि (भयभीत राक्षस लोग), दिशः, द्रवन्ति (दिशाओं में, भाग रहे हैं), च (और), सर्वे, सिद्धसंघाः (सब, सिद्ध गणों के समुदाय), नमस्यन्ति (नमस्कार कर रहे हैं)।

प्रश्न 29– अर्जुन श्री कृष्ण जी के प्रभाव से प्रभावित होकर राक्षसों और सिद्धों की स्थिति का कैसा वर्णन कर रहे हैं ?

उत्तर– अर्जुन श्री कृष्ण जी को कह रहे हैं, ''हे श्री कृष्ण जी! मैं मानता हूँ कि आप के नाम, गुण और प्रभाव के कारण जगत् अति हर्षित हो रहा है और अनुराग को प्राप्त हो रहा है तथा भयभीत राक्षस लोग दिशाओं में भाग रहे हैं और सब सिद्ध गणों के समुदाय आपको वन्दन कर रहे हैं।''

राक्षसों का विश्व की नियामक शक्ति से भयभीत होकर भाग खड़े होना और साधकों का उसके सामने अपने को समर्पण कर नतमस्तक होना– ये दोनों बातें उस शक्ति की महिमा का बखान करती हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।। ३७।।

महात्मन् (हे महात्मा!), ब्रह्मणः, अपि, आदिकर्त्रे (ब्रह्मा के भी आदिकर्ता), च, गरीयसे (और, सबसे बड़े), ते (आपके लिए ये), कस्मात्, न, नमेरन् (कैसे, नमस्कार, न, करें?), अनन्त (हे अनन्त!) देवेश (हे देवेश!) जगन्निवास (संसार के निवास [आश्रय]), यत् (जो), सत्, असत्, तत्परम् (सत्, असत् और उनसे भी परे), अक्षरम्, त्वम् (अविनाशी, आप [परमात्मा] हैं)।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।। ३८।।

त्वम्, आदिदेवः (आप, आदिदेव हैं), पुराणः, पुरुष (सनातन, पुरुष हैं), त्वम्, अस्य, विश्वस्य, परम्, निधानम् (आप, इस, जगत् के, परम, आश्रय हैं), च, वेत्ता (और, जानने वाले हैं), च, वेद्यम् (और, जानने योग्य हैं), परम्, धाम, असि (परम, धाम, हैं), अनन्तरूप (हे अनन्तरूप), त्वया, विश्वम्, ततम् (आपसे, यह सब, जगत् परिपूर्ण है)।

प्रश्न 30- सिद्ध आदि पुरुष भी (परमात्मा) को क्यों नमस्कार करते हैं? अर्जुन इसका कारण किस प्रकार समझा है?

उत्तर- स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इस प्रकरण का अर्थ इस प्रकार करते हैं :-

यहाँ ३७ वें श्लोक में 'ते' को 'युष्मद्' शब्द की चतुर्थी का एक वचन नहीं किन्तु, 'तद्' शब्द के पुल्लिंग की प्रथमा का बहुवचन समझिये, अतः अर्थ इस प्रकार हुआ -

हे श्री कृष्ण जी! वे भक्त सिद्ध लोग अपने से भी बड़े, चारों वेदों के ज्ञाता आदि ब्रह्मा के भी आदिकर्ता उस परमेश्वर के आगे क्यों न नतमस्तक हों? वे प्रभु से कहते हैं- तू ही वह परम अक्षर ओ३म् का वाच्यार्थ है जिसको वेद में "**नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्**" (ऋग्वेद १०/१२९/१) आदि शब्दों द्वारा स्तुति की गई है।

वह परमात्मा जड़ चेतन सब देवों को प्रकाश तथा रूप देने वाले आदिदेव सनातन पुरुष हैं। इस विश्व में जिस किसी के पास कोई कोष है उसका अन्तिम कोष भी वही हैं। वह सर्वज्ञ है। वही संसार का वेत्ता और जिज्ञासुओं के लिए अन्तिम ज्ञातव्य है। वही अनन्त रूप है और उसी ने यह सारा ताना-बाना बुना हुआ है।

विशेष - 'सत्' का अर्थ है व्यक्त, 'असत्' का अर्थ है अव्यक्त। 'व्यक्त' प्रकृति वह है जो कार्य रूप में जगत् हमें दीख रहा है। 'अव्यक्त' प्रकृति वह है जो कारण रूप होने से हमें नहीं दिख रहा 'व्यक्त', 'अव्यक्त' तथा इन दोनों से परे जो कुछ है- वह ये तीनों अक्षर (ओ३म्) ब्रह्म है।

स्वामी रामदेव जी श्लोक संख्या ३८ पर इस प्रकार टिप्पणी करते हैं- यह एक आदिदेव, कारणभूत देव है जिसके समस्त देवता, मनुष्य और समस्त जीव

सन्तान हैं। यह वह ज्ञाता हैं जो मनुष्य के भीतर उसके अपने, जगत् के तथा ईश्वर के ज्ञान को विकसित करता है। यह समस्त ज्ञानों का एकमात्र श्रेय है जो मनुष्य के हृदय, मन वा अन्तरात्मा के सामने अपने आपको प्रकाशित करता है, जिससे कि हमारे ज्ञान का प्रत्येक नया प्रकट होने वाला रूप उस ही का आंशिक प्राकट्य होता है और वह उसके उस सर्वोच्च प्रकाट्य तक ले जाता है, जिसके द्वारा वह अन्तरंग, गम्भीर तभा समग्र रूप में दृष्ट एवं ज्ञात होता है।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।। ३९।।

त्वम् (आप), वायुः, यमः, अग्निः, वरुणः, शशांकः (वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा), प्रजापतिः, च, प्रपितामहः (प्रजा के स्वामी ब्रह्मा, और, ब्रह्मा के भी पिता हैं), ते, सहस्रकृत्वः, नमः, नमः, अस्तु (आपके लिए, हज़ारों बार, नमस्कार हो), ते भूयः, अपि (आपके लिए, फिर, भी), पुनः, च, नमः, नमः (बार-बार, नमस्कार-नमस्कार हो)।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।। ४०

अनन्तवीर्य (हे अनन्त सामर्थ्य वाले), ते (आपके लिए), पुरस्तात् अथ, पृष्ठतः, नमः (आगे से और पीछे से भी, नमस्कार हो), ते (आपके लिए), सर्वतः, एव, नमः, अस्तु (सब ओर से, ही, नमस्कार हो, क्योंकि), अमितविक्रमः (अनन्त पराक्रमशाली), त्वम्, सर्वम् समाप्नोषि (आप, सब संसार को, व्याप्त किए हुए हैं), ततः, सर्वः, असि (इससे, आप, ही सर्वरूप हैं)।

प्रश्न 31- अर्जुन परमात्मा को किस-किस रूप में देखकर नमस्कार कर रहा है?

उत्तर- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से परमात्मा के विषय में जैसा जाना उसे इस प्रकार प्रकट कर रहा है, "वह परमात्मा वायु है, यम है अग्नि है, वरुण है, चन्द्रमा है, प्रजा के पालन करने वाले और प्रजा का पितामह (ब्रह्मा का भी पिता) है। इस कारण परमात्मा को हमारा सहस्रों बार तथा बार-बार नमस्कार हो।"

"हे अनन्त सामर्थ्य वाले परमात्मा! आपको सामने से नमस्कार हैं, पीछे से नमस्कार है, सब ओर से नमस्कार है। आपकी शक्ति अनन्त है, आपका बल अपार है, आप सब स्थान पर पहुँचे हुए हो, सब में व्याप्त हो, आप सबके स्वामी

हो, सब कुछ हो।''

श्लोक संख्या ३९ में 'सहस्रकृत्व' पद के सहित बार-बार 'नम:' पद का प्रयोग करके यह भाव दिखलाया गया है कि अर्जुन परमात्मा के प्रति सम्मान और अपने भय के कारण सहस्रों बार नमस्कार करते-करते अघाते नहीं हैं।

अर्जुन पहले 'सर्व' नाम से परमात्मा को सम्बोधित कर चुके हैं। अब इस कथन से उसकी सर्वता को सिद्ध करते हैं। अभिप्राय यह है कि आपने इस सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर रखा है। विश्व में क्षुद्र से भी क्षुद्रतर अणुमात्र भी ऐसा कोई स्थान या वस्तु नहीं है, जहाँ और जिसमें परमात्मा न हो।

उपनिषदों में भी ब्रह्म का ऐसा ही वर्णन है। मुण्डकोपनिषद् में लिखा है-

''ब्रह्मैवेदं अमृतम् पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठतम।।''

गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो पुष्पिका दी गई है उसमें '**भगवद्गीतासूपनिषत्सु**' - यह पाठ आता है। इसका अभिप्राय यही है कि गीता भी एक प्रकार की उपनिषद् ही है। गीता के अनेक स्थल उपनिषदों के ही स्थल हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।। ४१ ।।

तव, इदम्, महिमानम्, अजानता (आपके इस प्रभाव को न जानते हुए), सखा, इति, मत्वा ('सखा है', ऐसा, मानकर) प्रणयेन, वा, प्रमादात्, अपि (प्रेम से अथवा प्रमाद से, भी), मया (मैंने), हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे (हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे), इति (ऐसा), यत्, प्रसभम् उक्तम्, च (जो, हठात्, कहा है, और)।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।। ४२

अच्युत (हे कृष्ण!), यत्, अवहासार्थम् (जो विनोद के लिए), विहारशय्यासन भोजनेषु (विहार, शय्या और भोजनादि में), एक:, अथवा, तत्समकक्षम् (अकेले अथवा उन सखाओं के सामने), अपि (भी), असत्कृत:, असि (अपमानित किये गये हैं), तत् (वह सब अपराध), अप्रेमयम् (अचिन्त्य प्रभाव वाले), त्वाम्, अहम्, क्षामये (आप से, मैं, क्षमा करवाता हूँ)।

प्रश्न 32- श्री कृष्ण के महत्त्व को न समझते हुए अर्जुन इस अपराध के लिए कैसी क्षमा याचना करता है?

उत्तर- अर्जुन याचक भाव बना कर कह रहे हैं, ''हे कृष्ण जी! मैं तो अब तक तुम्हें एक साधारण राष्ट्र का नेता तथा अपना मित्र जानता था। आज जो आपने अपने योगबल से मुझे विराट् पुरुष का साक्षात्कार कराया है, तो आज मैंने आपको भक्तराज तथा योगिराज के इस नए रूप में जाना है। इसलिए आपकी महिमा को न जानने के कारण मैंने इतने दिनों स्नेह के आग्रह में धृष्टतापूर्वक 'हे कृष्ण! हे यादव! हे मित्र!' इस प्रकार सम्बोधन करते हुए प्रमादवश तथा प्रणयवश यह सब कुछ जो कहा है- और सैर सपाटों में, सोते समय, इकट्ठे, बैठते समय, भोजन के लिए और इसके अतिरिक्त कभी-कभी अकेले मैं बैठे हुए तथा अन्य मित्रों के सामने भी मैंने जो उपहास में आपका तिरस्कार किया है, हे अच्युत (कृष्ण!) आज मैं वह सब आपसे क्षमा करवाता हूँ।''

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिक: कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।। ४३।।

त्वम् (आप), अस्य, चराचरस्य, लोकस्य, पिता (इस, चराचर, जगत् के, पिता), च (और), गरीयान्, गुरु:, पूज्य:, असि (सबसे बड़े, गुरु एवं अति, पूजनीय हैं), अप्रतिम, प्रभाव (हे अनुपम, प्रभाव वाले), लोकत्रये (तीनों लोकों में), त्वत्सम:, अपि, अन्य:, न, अस्ति (आपके समान, भी, दूसरा, कोई, नहीं है), अभ्यधिक: कुत: (अधिक तो, कैसे हो सकता है)?।

प्रश्न 33- अर्जुन श्री कृष्ण जी के अतिशय प्रभाव का कैसा कथन करता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को परमात्मा का जो विराट स्वरूप दिखाया है, उसको देखने के उपरान्त अर्जुन उनके अतिशय प्रभाव का कथन इस प्रकार करता है, ''विश्व-ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई भी नहीं है, जिसकी परमात्मा के अचिन्त्यानन्त महान् गुणों से, ऐश्वर्य से और महत्त्व से तुलना हो सके। उसके समान तो, केवल वही है वह अतुलनीय है और जब उसके समान दूसरा कोई नहीं है, तब उससे बढ़कर कोई है- ऐसी तो कल्पना भी नहीं हो सकती।''

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु: प्रिय: प्रियायार्हसि देव सोढुम्।। ४४।।

तस्मात् (इसलिए), अहम्, कायम्, प्राणिधाय (मैं, शरीर को, साष्टांग झुका कर), प्रणम्य (प्रणाम करके), ईडयम्, त्वाम्, ईशम्, प्रसादये (स्तुति करने

योग्य, आप, ऐश्वर्य के स्वामी प्रसन्न करने के लिए), देव (हे देव!) पिता, इव, पुत्रस्य (पिता, जैसे, पुत्र के), सखा, इव, सख्युः (सखा, जैसे, सखा के), प्रियः, प्रियायाः (पति जैसे पत्नी के[अपराध को]), सोढुम्, अर्हसि (सहन करने योग्य है)।

प्रश्न 34- अर्जुन कैसे-कैसे दृष्टान्त देकर श्री कृष्ण जी से क्षमा प्रार्थना करता है?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी को एक साधारण मानव मानने के कारण उससे सखा जैसा व्यवहार करता था, परन्तु जिस प्रकार श्री कृष्ण जी ने परमात्मा के विराट् स्वरूप को अपने योगबल से दिखाया अनुभव कराया तो अर्जुन श्री कृष्ण जी से कई दृष्टांत देकर क्षमा माँगते हुए कहते हैं, ''प्रणाम करके और अपनी काया को आपके सम्मुख साष्टांग झुका कर मैं आपसे प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जिस प्रकार पिता अपने पुत्र के, मित्र अपने मित्र के, पति जैसे प्रिय पत्नी को सहन करता है वैसे ही मेरे अपराध भी सहन करने योग्य हैं।''

अर्जुन के तीनों दृष्टान्तों का भाव यह है कि जैसे अज्ञान में प्रमादवश किए हुए पुत्र के अपराधों को पिता, हँसी मज़ाक में किए हुए मित्र के अपराधों को मित्र, और भक्तिवश (प्रेमवश) किए हुए प्रियतमा पत्नी के अपराधों को पति क्षमा करता है- वैसे ही मेरे तीनों ही कारणों से बने हुए समस्त अपराधों को आप क्षमा करें।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।। ४५।।

अदृष्टपूर्वम् (पहले न देखे हुए आपके इस आश्चर्यमय रूप को), दृष्ट्वा (देखकर), हृषितः, अस्मि (प्रसन्न हो रहा हूँ), च, मे, मनः, भयेन, प्रव्यथितम् (और, मेरा मन, भय से, अति व्याकुल हो रहा है), तत्, देवरूपम्, एव (उस, दिव्यरूप को, ही), मे, दर्शय (मुझे, दिखाईये), देवेश, जगन्निवास, प्रसीद (हे देवेश! हे जगत् के निवास स्थान हुए-हुए, प्रसन्न होइये)।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते।। ४६।।

अहम्, तथा, एव, त्वाम्, किरीटिनम् (मैं, वैसे ही, तुझको, मुकुट धारण किये हुए तथा), गदिनम्, चक्रहस्तम् (गदा और सुदर्शन चक्र हाथ में लिए हुए), द्रष्टुम्, इच्छामि (देखना, चाहता हूँ), विश्वमूर्ते, सहस्रबाहो (हे विश्वरूप, सहस्रों भुजाओं वाले), तेन, चतुर्भुजेन रूपेण, भव (उसी, चतुर्भुज रूप से प्रकट होइये)।

प्रश्न 35 - श्री कृष्ण जी के किस रूप को अर्जुन पुनः देखना चाहता है?

उत्तर- स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी इन दोनों श्लोकों की बहुत सुन्दर व्याख्या करते हुए इस प्रश्न का उत्तर देते हैं,

''हे कृष्ण! आपने परमात्मा का जो विराट् रूप मुझे दिखाया है उस विस्मयकारी रूप को देखकर मुझे आनन्द और विस्मय से रोमाँच हो रहा है, किन्तु साथ ही महान्संहार देखकर भय से मन घबरा भी उठा है। आप मुझ पर दया कीजिये मुझे मेरे प्यारे सखा श्री कृष्ण जी का वही रूप दिखा दीजिये।''

यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि वीर शिरोमणि अर्जुन इस दृश्य को देखकर भय से क्यों घबराया? तो इसका उत्तर है कि जिन स्वजनों के लिए वह सब कुछ छोड़ने को तैयार था तथा भिक्षा माँग करके भी जीवन निर्वाह करना अच्छा समझता था, जब वे ही काल के ग्रास होते दिखाई दिये, तो अर्जुन घबरा गया, अपने प्राणों के मोह से नहीं।

साथ ही हे प्रिय सखे कृष्ण! आपसे भी कहता हूँ कि यह सारा खेल आपकी योगशक्ति का ही तो रचा हुआ है सो- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को तीन रूप दिखाये। द्विभुज सखा का रूप, जिसमें अर्जुन उनके साथ साधारण मनुष्यों के समान खेलता था। इस रूप के साथ उसका वही सम्बन्ध था जो प्रत्येक जीवधारी का अपने शरीर से होता है। दूसरा चतुर्भुज रूप जिसके साथ श्री कृष्ण चन्द्र जी का साध्य-साधक रूप सम्बन्ध था। तीसरा परमात्मा का विराट् रूप जिस रूप के साथ श्री कृष्णचन्द्र जी का उपास्य-उपासक रूप सम्बन्ध था।

वस्तुतः अभिमान की निवृत्ति के लिए महापुरुष लोग प्रभु के प्रलंयकारी रूप का स्मरण किया करते हैं। जो जितना बड़ा महापुरुष होता है वह उतने ही अधिक विशाल तथा विकराल रूप का ध्यान करता है। श्री कृष्ण जी अपने युग के मानव-राष्ट्र के नेता था। इसलिए अभिमान-निवृत्ति के लिए जिस विराट् रूप का नित्य चिन्तन करते थे, उसका साक्षात्कार उस दिन योग बल से उन्होंने अर्जुन को भी करा दिया। जैसे सम्मोहन शास्त्र वाले सम्मोहन विद्या से दूसरों को सम्मोहित कर लेते हैं, ऐसे ही अर्जुन भी सम्मोहित हो रहे थे। इस प्रकार योगनिद्रा में अर्जुन चिल्ला कर कह रहा है कि आज तो आप सहस्रबाहु तथा विश्वमूर्ति बन गये हैं। मुझे कुछ और नहीं दिख रहा है। मैं तो सत्त्वहीन होता जा

रहा हूँ। अब मुझे इस स्थिति से पार कराईये और मेरा मार्गदर्शन कीजिए।

उक्त श्लोक में "गदा-युक्त-चक्रहस्त" का उल्लेख करते हुए लाक्षणिक अर्थों में गीताकार अर्जुन के माध्यम से कहते हैं कि यह परमात्मा का द्विभुज रूप है। अब चतुर्भुज रूप कौन सा है, यह स्पष्ट करते हैं। विष्णु का चतुर्भुज रूप पुराणों में वर्णन किया गया है। विष्णु की चार भुजा समझ में आने से श्री कृष्ण जी का भी चतुर्भुज रूप समझ में आ जायेगा। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है "यज्ञो वै विष्णुः" शतपथ ब्राह्मण (१.५.१.३) अर्थात् विष्णु का नाम संगठन है। इस संगठन की चार भुजायें होती हैं 1. शंखधारिणी 2. चक्रधारिणी 3. गदाधारिणी 4. पद्मधारिणी। संसार के छोटे से छोटे विष्णु अर्थात् संगठन से लेकर महाविष्णु अर्थात् बड़े से बड़े संगठन के लिए शंख (घोषणा), चक्र (यान), गदा (शस्त्र), पद्म (धन) ये चारों वस्तुएं आवश्यक हैं। श्री कृष्ण जी अपने युग के न केवल भारत के किन्तु महाभारत के अर्थात् सारे मानव राष्ट्र के एक नेता थे। वे धरती भर के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इतर जन जो भी मिल सकें, इन सभी जनों को महाभारत नामक संगठन में इकट्ठा करना चाहते थे, यह उनका पाञ्चन्य 'शंख' था। तीव्र से तीव्र यान तैयार करने के लिए उन्होंने स्वयं सारथि का कर्म सीखा यह उनका 'चक्र' था। जरासन्ध, कंसादि के नाश के लिए उनकी रोग-निवारिणी शस्त्र-शक्ति सदा तैयार रहती थी, यह उनकी 'गदा' थी तथा सम्पूर्ण कृष्ण भक्त राष्ट्रों का कोष जो युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में इकट्ठा हुआ था वह उनका 'पद्म' था। यह कृष्ण का 'चतुर्भुज' रूप था और क्योंकि इस रूप के धारण का लक्ष्य सारे विश्व की प्रजा को वैदिक धर्म के पालनार्थ संगठित करना था, इसलिए वे 'विष्णु' कहलाये।

अब अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण! यदि मैं आपको सखा रूप में देखूँ तब तो आपका तिरस्कार होता है। यदि आपके इस प्यारे विराट् रूप को देखूँ तो फिर तो काल के द्वारा सारे ब्रह्माण्ड का अन्त ही अन्त देखते-देखते मेरी युद्ध में तो क्या जीवन में भी इच्छा न रहेगी। इस रूप के दर्शन करना तथा उसके ध्यान में लीन रहना, आप ही के बस का है। मैं तो घबरा उठा हूँ। यह सहस्रबाहु के ध्यान में सहस्र बाहु बनना तथा विश्व भर की विद्याओं के ज्ञान से विश्वमूर्ति बनना आपको ही मुबारिक हो। मुझे तो सारे मानव राष्ट्र के नेता के रूप में आप जो अन्यायकारियों की 11 अक्षौहिणी सेना को हमारी छोटी सी सेना से नष्ट करने को उद्यत हुए हैं वह क्षत्रियोचित चतुर्भुज रूप ही मुझे दिखाईये और इस रूप से

ही मेरे मार्गदर्शक बनिये। मेरा अभिमान तो आपके दिव्य गुणों को देखकर ही निवृत्त हो जाता है। इस विराट् रूप महौषध की मुझे आवश्यकता नहीं है। मुझ सरीखे साधारण सैनिक को जो आदेश चतुर्भुज रूप में मिलेगा, मैं उसका अवश्य पालन करूँगा।

श्री कृष्ण उवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।। ४७।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), प्रसन्नेन, मया (प्रसन्नतापूर्वक मैंने), आत्मयोगात् (अपनी योगशक्ति के प्रभाव से), इदम्, मे, परम्, तेजोमयम् (यह मेरा, परम, तेजोमय) आद्यम्, अनन्तम् (आदि में होने वाला और अनन्त), विश्वम्, रूपम्, तव, दर्शितम् (विराट्, रूप, तुझ को, दिखाया है), यत् (जिसे), त्वदन्येन, न दृष्टपूर्वम् (तेरे अतिरिक्त, किसी ने, पहले नहीं देखा)।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।। ४८।।

कुरुप्रवीर (हे कुरुओं में श्रेष्ठ वीर अर्जुन!), नृलोके, एवंरूपः (मनुष्य लोक में इस प्रकार विश्वरूप वाला), अहम्, न, वेदयज्ञाध्ययनैः (मैं, न, वेदों और यज्ञों के अध्ययन से), न दानैः (न, दान से), न क्रियाभिः (न क्रियाओं से), च, न, उग्रैः, तपोभिः (और, न उग्र, तपों से ही), त्वदन्येन, द्रष्टुम्, शक्यः (तेरे अतिरिक्त दूसरे के द्वारा देखा जा सकता है)।

प्रश्न 36- विराट् स्वरूप से घबराये हुए अर्जुन को श्री कृष्ण जी सान्त्वना कैसे देते हैं और उसे सुपात्र कैसे समझते हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को परमात्मा का जो विराट् स्वरूप दिखाया उसे देखकर अर्जुन घबरा जाता है तब श्री कृष्ण जी अर्जुन को बताते हैं, "हे अर्जुन! मैंने प्रसन्नतापूर्वक यह परमात्मा का तेजोमय, सबका आदि सीमारहित (अनन्त) विराट् रूप अपनी योगशक्ति से दिखाया है, जो तुम से पहले किसी ने नहीं देखा। यह सब मैंने तुझे अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा दिखाया है।"

हे कुरूओं में श्रेष्ठ अर्जुन! मनुष्य लोक में इस प्रकार का विराट् स्वरूप का दर्शन (परमात्मा का दर्शन) न तो वेद पढ़ने से, न यज्ञों के करने से, न ही दान आदि क्रियाओं से और न ही उग्र तपस्या से किया जा सकता है।

डॉ. राधाकृष्णन जी ने इस पर यह टिप्पणी की है-

यह दर्शन मनुष्य की साधना का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, यदि ऐसा होता, तो गीता यहीं पर समाप्त हो जाती। इस क्षणिक दर्शन को साधक का एक स्थायी अनुभव बनना होगा। समाधि धार्मिक जीवन का न तो अंतिम लक्ष्य ही है और न सारभूत तत्त्व ही। चकाचौंध करने वाली चौंध, भावोल्लासमय उड़ान को स्थायी श्रद्धा में रूपान्तरित किया जाना चाहिये। अर्जुन इस रोमाँचकारी दृश्य को, जो कि उसने देखा (अनुभव किया) है अब भूल नहीं सकता, परन्तु उसे इसे अपने जीवन में क्रियान्वित करना है। दिव्य दर्शन केवल मार्ग खोलता है, यह आगे नहीं बढ़ाता। जिस प्रकार हम आँख से देखी हुई वस्तु की परख और पुष्टि अन्य इन्द्रियों के साक्ष्य द्वारा करते हैं उसी प्रकार दिव्य दर्शन द्वारा प्राप्त ज्ञान को भी जीवन के अन्य तत्त्वों द्वारा पूर्ण करने की आवश्यकता होती है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।। ४९

मम, ईदृङ्म्, इदम्, घोरम्, रूपम्, दृष्टवा (मेरे, इस प्रकार के, इस, विकराल रूप को, देखकर), ते, व्यथा, मा (तुझे, व्याकुलता, नहीं होनी चाहिये), च, मूढभावः, न (और, मूढभाव भी, नहीं होना चाहिये), त्वम्, व्यपेतभीः (तू, भयरहित और) प्रीतमनाः (प्रीतियुक्त मन वाला होकर), तत्, एव, मे (उस, ही मेरे), इदम्, रूपम्, पुनः, प्रपश्य (इस रूप को फिर देख)।

प्रश्न 37– श्री कृष्ण जी अर्जुन के भयभीत होने पर कैसे सान्त्वना देते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को इस प्रकार सान्त्वना देते हैं, ''हे अर्जुन! परमात्मा के इस प्रकार के विकराल रूप को देखकर तुझको व्याकुलता नहीं होनी चाहिये और मूढभाव भी नहीं होना चाहिये। तू भयरहित हो जा। प्रीतियुक्त मन वाला हो जा। अब तू परमात्मा के उसी प्रेममय रूप को पुनः देख।''

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।। ५०।।

वासुदेवः (वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण ने), अर्जुनम्, इति, उक्त्वा (अर्जुन के प्रति, इस प्रकार, कहकर), भूयः, तथा, स्वकम् (फिर, वैसे ही, अपने) रूपम्, दर्शयामास (रूप को दिखाया), च, पुनः, महात्मा (और, फिर, महात्मा श्री कृष्ण जी ने), सौम्यवपुः, भूत्वा (सौम्यमूर्ति होकर), एनम्, भीतम्, आश्वासयामास (इस, भयभीत, अर्जुन को धीरज दिया)।

प्रश्न 38– संजय ने धृतराष्ट्र को अर्जुन की धीरज बँधाने की स्थिति को कैसे बताया ?

उत्तर– संजय ने धृतराष्ट्र को इस प्रकार अवगत कराया – संजय बोले– वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण जी ने अर्जुन की स्थिति राजा धृतराष्ट्र को बताई। इस पर महात्मा वासुदेव जी ने अर्जुन को अपने उपास्य परमात्मा का विराट् रूप दिखा रहे थे। फिर अपना वास्तविक रूप दिखा दिया जिसमें सौम्यता थी और फिर सौम्य–दर्शन होकर घबराये हुए अर्जुन को आश्वस्त कर दिया।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।। ५१।।

जर्नादन (हे जनार्दन!), तव, इदम्, सौम्यम् (आपके, इस, अतिशान्त), मानुषम्, रूपम्, दृष्ट्वा (मनुष्य, रूप को, देखकर), इदानीम् (अब, मैं) सचेता, संवृतः, अस्मि (स्थिर चित्त, हो गया, हूँ), प्रकृतिम्, गतः (अपनी स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ)।

प्रश्न 39– अर्जुन अब स्थिर चित्त कैसे हो गया?

उत्तर– अर्जुन श्री कृष्ण जी के सौम्य रूप को देखकर कहने लगा, ''हे जर्नादन! आपके इस सौम्य मानवीय रूप को देखकर अब मेरे होश हवास ठीक हो गये हैं, मैं स्थिर चित्त हो गया हूँ। अब मेरा भय समाप्त हो गया है और मैं अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ गया हूँ।''

श्री कृष्ण उवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्ट्वानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।। ५२।।

मम, यत्, रूपम्, दृष्टवान् (मेरा जो, रूप, तुमने देखा) असि (है), इदम्, सुदुर्दर्शम् (इसके दर्शन बड़े, दुर्लभ हैं), देवाः, अपि, नित्यम् (देवता, भी, सदा), अस्य, रूपस्य (इस रूप के), दर्शनकांङ्क्षिणः (दर्शन की आकांक्षा करते रहते हैं)।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्ट्वानसि मां यथा।। ५३

यथा, माम्, दृष्टवान्, असि (जिस प्रकार तुमने, मुझ को, देखा, है), एवं विध (इस, प्रकार का रूप), अहम्, न, वेदैः (मैं, न, वेदों से), न तपसा, न दानेन (न

तप से, न दान से), च, न, इज्यया (और, न, यज्ञ से ही), द्रष्टुम् शक्यः (देखा जा सकता है)।

प्रश्न 40- परमात्मा का जो विराट् रूप श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को दिखाया (अनुभव कराया), वह किस-किस को दुर्लभ है ?

उत्तर- परमात्मा के (उपास्य) अत्यन्त, दुर्दर्श (दुर्लभ) भयंकर रूप को जो अर्जुन ने देख (अनुभव कर) लिया है, बड़े-बड़े विद्वान् भी सदा इस रूप के दर्शन को सदा अभिलाषी बने रहते हैं।

श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे अर्जुन! परमात्मा के पूरे स्वरूप को वही ठीक-ठीक जान सकता है जो परमात्मा के उपास्यदेव को जान सकता है, अतः तुमने आज जो परमात्मा के उपास्य देव का विराट् रूप देखा (अनुभव कर) है वह वेदों के अध्ययन, दान, तप, एवं यज्ञों के अनुष्ठान से भी संभव नहीं है।''

विश्व रूप की महिमा के इन्हीं पदों का प्रयोग ४८वें श्लोक में हो चुका है। इस श्लोक को पुनः उसी विश्वरूप की महिमा मान लेने से पुनरुक्ति दोष आता है।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।५४।।

तु, परन्तप (परन्तु, हे शत्रुओं को तपाने वाले अर्जुन!), अनन्यया, भक्तया (एक निष्ठ, भक्ति से), एवं विध, अहम् (इस प्रकार, मैं), द्रष्टुम् (प्रत्यक्ष देखने के लिए), तत्त्वेन, ज्ञातुम् (तत्त्व से, जानने के लिए), च (और), प्रवेष्टुम्, च, शक्यः (प्रवेश करने के लिए, संभव हूँ)।

प्रश्न 41- श्री कृष्ण जी ने परमेश्वर तक पहुँचने के लिए कौन से क्रम बतलाये हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमेश्वर तक पहुँचने का निम्न क्रम बतलाते हैं, ''हे अर्जुन! उस परमात्मा में अनन्य-भक्ति से इस प्रकार से विराट् रूप को देखा जा सकता है, तत्त्व से जाना जाता है और उसमें प्रवेश किया जा सकता है।''

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है- इस प्रकरण में परमेश्वर तक पहुँचने के तीन क्रम बतलाये हैं- ज्ञान, दर्शन, प्रवेश। जब साधक भगवान् को लक्ष्य रखकर उस यात्रा के लिए निकल पड़ता है, तब इस यात्रा का पहला पड़ाव होता है, ज्ञान। जब तक इस बात का ही ज्ञान नहीं कि

वह किधर जा रहा है, तब तक उस मार्ग पर पग कैसे उठेगा? लक्ष्य को जान लेने के बाद साधक उसे स्पष्ट देखने लगता है, लक्ष्य को देखने लगना ही इस यात्रा का दूसरा पड़ाव है। इस पड़ाव का नाम है, दर्शन। लक्ष्य को देख लेने के बाद साधक सत्य को, यथार्थ को अपनाता जाता है। यथार्थ सत्ता में प्रविष्ट होता जाता है। साधक की यात्रा का यह तीसरा पड़ाव है- प्रवेश। साधक की यात्रा के इन तीनों क्रमों को गीता में-

''**ज्ञातुं, द्रष्टुम्, च, तत्त्वेन प्रवेष्टुम् च**'' कहा है। भगवान् को पाने के ही ये तीन क्रम नहीं है, बल्कि जीवन में किसी वस्तु को पाने के लिए भी ये ही तीन क्रम हैं।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

पाण्डव(हे अर्जुन!), यः (जो पुरुष केवल), मत्कर्मकृत् (मेरे (परमात्मा के) लिए ही सब कर्म करता है), मत्परमः (मेरे (परमात्मा के) परायण है), मद्भक्तः (मेरा (परमात्मा का) ही भक्त है), सङ्गवर्जितः (आसक्ति रहित है), सर्वभूतेषु निर्वैरः (सब प्राणियों में, वैर रहित है), सः (वह), माम्, एति (मुझे (परमात्मा को) प्राप्त होता है)।

प्रश्न 42- परमात्मा को प्राप्त करने का श्री कृष्ण जी क्या उपाय बतलाते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण अर्जुन को प्राप्त करने का उपाय बताते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! जो पुरुष परमात्मा के निमित्त ही सब कर्म करता है, जो उसी के परायण (अधीन) और उसका भक्त है तथा आसक्ति रहित होकर, सब प्राणियों में वैरभाव न रखकर व्यवहार करता है, वह परमात्मा को प्राप्त होता है।''

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि यह श्लोक गीता की सम्पूर्ण शिक्षा का सार है। हमें अपनी आत्मा को परमात्मा के अभिमुख करके और संसार की सभी वस्तुओं के प्रति सब प्रकार की आसक्ति से रहित होकर और किसी भी प्राणी के प्रति शत्रुता न रखते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिये।

हमारे व्यवसाय और प्रकृति कैसी भी क्यों न हो- चाहे हम सृजनशील विचारक हों, चाहे चिन्तनशील कवि, या चाहे फिर सामान्य नर-नारी हों, जिन्हें कोई विशेष प्रतिभा प्राप्त नहीं हुई है- परन्तु यदि हमें ईश्वर के प्रति प्रेम की सब

से बड़ी देन प्राप्त है, तो हम परमात्मा के उपकरण, उसके प्रेम और उद्देश्य के साधन बन जाते हैं। जब जीवित मनुष्यों का यह विस्तृत संसार परमात्मा के साथ समस्वर हो जाता है और केवल उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए विद्यमान रहता है, तब मनुष्य को अपना लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

सन्देश डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार -

विश्वरूप का अर्थ- अर्जुन को जब दिव्य दृष्टि मिल गई तब उसने भगवान् का विश्वरूप देखा। यह विश्वरूप क्या है। यह जो विश्व का, संसार का, चर्म चक्षुओं से दीखने वाला रूप है, यह संसार का रूप नहीं है, यह परमेश्वर का रूप है, वह किसी दूसरे का रूप न होकर, अनन्त, विभिन्न, नाना पदार्थों का रूप न होकर, अखण्ड, नित्य, परमात्मा का ही रूप है- यह अर्थ है, विश्वरूप का, विश्व के, रूप में ही परमात्मा के दर्शन का। हम इस संसार को परमात्मा से अलग समझे बैठे हैं, इस संसार से अलग किसी दूसरी जगह परमात्मा की खोज कर रहे हैं। हमें इस संसार में परमात्मा कहीं नहीं दिखता। हम बुद्धि से इस संसार में परमात्मा के न दीखने पर भी उसका अनुमान करते हैं। यह कहते हैं कि पृथ्वी अपने आप में नहीं टिकी हुई, उसे कोई टिका रहा है, सूर्य अपने आप तेज नहीं बिखेर रहा, कोई शक्ति उसे अनुप्राणित कर रही है। संसार के पदार्थ स्वयं अपने आधार पर नहीं खड़े, कोई चेतन सत्ता इनके आधार में है। अर्जुन को ऐसा बौद्धिक दर्शन नहीं हुआ। अर्जुन तो दिव्य वस्तु पाकर इस सारे विश्व को भगवान् के शरीर रूप में देखने लगा। सूर्य, चन्द्र, तारा उसे भगवान् के अनेक नेत्र दीखे, सृष्टि के सब हाथ-पैर-उदर, जंघा भगवान् के ही सहस्र अंग दीखे। उपनिषदों का वर्णन ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड में समस्वरता उत्पन्न करता है। जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में है। अर्जुन को भी जो कुछ ब्रह्माण्ड में था, पास था, दूर था, आगे होने वाला था, श्री कृष्ण जी के पिण्ड में दीख गया। आज विज्ञान भी यही कहता है कि एक-एक अणु सौर मण्डल है, जो सौर मण्डल में है वही अणु में है। गीता के विश्वरूप-दर्शन का यही अर्थ है।

भगवान् के विश्व-रूप का दर्शन वैदिक विचार है-

विश्वरूप-दर्शन का विचार गीता का ही विचार नहीं है। यह वैदिक काल से चला आ रहा है। ऋग्वेद में पुरुष सुक्त (१९,९०) में भगवान् के इसी विश्वरूप का वर्णन किया गया है-

''सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशांगुलम्''

वह सहस्रों सिर वाला है, सहस्रों आँखों वाला है, सहस्रों पैरों वाला है, वह भूमि को चारों ओर से लपेट कर दशांगुल - दसो अंगुल अर्थात् सारा का सारा बाहर ही ठहरा हुआ है। ऋग्वेद १०.८१.३ में लिखा है-

''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः।।''

इस मन्त्र में भी भगवान् को सब ओर आखों वाला, सब ओर मुखवाला सब ओर बाहुओं और पाँवों वाला कहा है। गीता की परिभाषा में 'विश्वरूप'- शब्द में जो विश्व शब्द आया है, वह भी इस वैदिक वर्णन में उपस्थित है।

ऋग्वेद के कुछ दूसरे स्थलों में 'विश्वरूप' शब्द वैसे का वैसा पाया जाता है वहाँ लिखा है।

''विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ (ऋग्वेद ३.३८.४)
देवस्त्वष्टा विश्वरूपः पुपोष (ऋग्वेद ३.५५.१९)

गीता की विश्वरूप की विस्तृत व्याख्या को देखकर, वेदों में, उपनिषदों में, पुराणों में जहाँ-जहाँ विश्वरूप का वर्णन आया है, वह स्पष्ट हो जाता है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद्में जिस ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'विश्वरूप-दर्शन'- नामक एकादश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ द्वादशोऽध्यायः
भक्ति योगः

प्रधान विषय –

(1) उपासकों की उत्तमता का निर्णय और भगवत्-प्राप्ति के उपाय का विषय-श्लोक संख्या 1 से 12 तक।

(2) भगवत्-प्राप्ति वाले पुरुषों के लक्षण- श्लोक संख्या 13 से 20 तक।

भूमिका :- गीता ग्रन्थ की प्रेरणायें सबके लिए समान रूप से उपयोगी हैं। कोई किसी भी स्थिति अथवा स्तर का व्यक्ति हो, यदि मन में कल्याण की भावना है, गीता की प्रेरणायें उसी स्थिति और स्तर से उसका कल्याण सुनिश्चित करने का आश्वासन देती है। गीता में सब की बात है, सब के लिए बात है। सबके संस्कार-विचार, भाव-स्वभाव, कर्म भिन्न है, इसलिए अपनी-अपनी मनः स्थिति के अनुसार कहीं-कहीं मन में जिज्ञासा या प्रश्न भी स्वाभाविक आ जाता है।

गीता में जीव के कल्याणार्थ अनेक साधनों का निरूपण है। लक्ष्य-तत्त्व सबका एक ही है। मनः स्थिति भिन्न होने से साधनों की भिन्नता है, किन्तु यह देखकर मन में कुछ सन्देह भी हो सकता है। यह साधन उत्तम है या वह साधन उत्तम है। ऐसा सन्देह संशय के रूप में भीतर अटका रहे, वह कल्याण पथ से विमुख कर सकता है लेकिन जिज्ञासा बनकर बाहर आ जाये तो कल्याण पथ में गति बढ़ा देता है। इसलिए ऐसी स्थिति में जिज्ञासा करना उचित है, अच्छा है।

ग्यारहवें अध्याय के समापन श्लोकों में भक्ति की विशेषता के साथ भगवत् प्राप्ति का साधन बताया गया। यहीं से अर्जुन के मन में जिज्ञासा जागृत हुई जो १२वें अध्याय का प्रारम्भ बनी।

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ।। १ ।।

ये (जो), भक्तः (भक्तजन), एवम्, सततयुक्ताः (इस प्रकार, निरन्तर ध्यान में लगे हुए), त्वाम् (तुझको अर्थात् सगुण रूप), च, ये (और, जो), अक्षरम्, अव्यक्तम् (अविनाशी, निराकार ब्रह्म को), अपि (ही), पर्युपासते (उपासना करते हैं), तेषाम्, योगवित्तमा, के (उन दोनों प्रकार के, उपासकों के अति उत्तम योग वेत्ता, कौन हैं ?)

प्रश्न 1- साकार और निराकार उपासकों में श्रेष्ठ योगवेत्ता कौन है ?

उत्तर- अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! इस प्रकार जो भक्त परमात्मा के व्यक्त विश्वरूप का निरन्तर ध्यान करते हुए उपासना करते हैं, और जो दूसरी ओर जो भक्त परमात्मा के अविनाशी, अव्यक्त रूप का ध्यान करते हैं- इन दोनों में से कौन योगी श्रेष्ठतर माना जायेगा ? श्री कृष्ण जी के अनुसार निराकार ईश्वर की उपासना ही करणीय है।

स्वामी ज्ञानानन्द जी ने यहाँ स्पष्ट किया है- लक्ष्य तो योग ही है चाहे वह भक्ति मार्ग या ज्ञान मार्ग की उपासना से सिद्ध हो। कोरी-भक्ति अथवा मौखिक, वाचिक या बौद्धिक ज्ञान से भी काम नहीं चलेगा। ये साधन हैं, साध्य नहीं। साध्य तो योगविद् बनना है। इसलिए यहाँ अर्जुन के प्रश्न में साधन या साध्य दोनों के लिए कोई शंका नहीं, एक सूझबूझ भरी विचारपूर्ण तर्क पूर्ण प्रेरणा है। योगवेत्ता की स्थिति बनाने हेतु साधक के लिए यह जिज्ञासा एक सशक्त पथ प्रदर्शक का काम कर सकती है। इसे इसी भाव, उत्सुकता से लें और आगे इसी जिज्ञासा को भीतर रखते हुए श्री कृष्ण जी के उत्तर की प्रतीक्षा करें।

श्री कृष्ण उवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। २ ।।

मयि, मनः, आवेश्य (मुझ (परमात्मा)में, मन को, एकाग्र करके), नित्ययुक्ताः (निरन्तर ध्यान में लगे हुए), ये (जो भक्तजन), परया, श्रद्धया, उपेताः (श्रेष्ठ, श्रद्धा से युक्त होकर), माम्, उपासते (मेरा (परमात्मा का) भजन करते हैं), ते, मे, युक्ततमाः मताः (वे, मेरे (परमात्मा के), श्रेष्ठ योगी, माने जाते हैं)।

प्रश्न 2- उत्तम योगी कौन हैं ?

उत्तर- अर्जुन ने पहले श्लोक में प्रश्न किया कि साकार की पूजा करने वाला श्रेष्ठ है या निराकार की ? इसका उत्तर देते हुए, श्री कृष्ण जी भ्रम की स्थिति का निराकरण करते हुए उत्तर देते हैं-

''हे अर्जुन! मन को एकाग्र करके जो परमात्मा में निरन्तर लगे हुए हैं। ऐसे लोग अतिशय श्रद्धा से भक्त हो जाते हैं। जो परमात्मा के समीप बैठते हैं अर्थात् परमात्मा के गुण, कर्म को जानकर उसी के अनुसार अपना जीवन चलाते हैं, ऐसे योगियों को उत्तम योगी माना जाता है। ऐसा मेरा (श्रीकृष्ण जी का) मत है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है- अर्जुन के प्रश्न के उत्तर में श्री कृष्ण जी ने सगुण-निर्गुण का झगड़ा खड़ा नहीं किया। इस में यही कहा है कि परमात्मा से योगयुक्त वह होता है, जो एकाग्रचित्त से उसकी उपासना करता है, वही श्रेष्ठ योगयुक्त व्यक्ति है।

इसमें भी सगुण-निर्गुण का विवाद नहीं है। वह गुणयुक्त हैं परन्तु उसमें वे गुण नहीं जो प्रकृति के हैं। प्रकृति के गुण है- सत्त्व, रजस्, तमस्। ये गुण परमात्मा में नहीं है। इस कारण इन दोनों को लक्ष्य मानकर परमात्मा को सगुण अथवा उसके रूप को सगुण कहना अनभिज्ञता की पराकाष्ठा है। परमात्मा और प्रकृति में स्पष्ट रूप से अन्तर है। यह गीता के अगले अध्याय में बतलाया गया है। जब दोनों में अन्तर है तो फिर एक के गुण दूसरे में कैसे हो सकते हैं? वैसे परमात्मा सगुणी है। वेद में इसके गुणों का वर्णन है-

''स पर्य्यागाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभू:स्वयम्भू: याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य:।।''

यजुर्वेद ४० अध्याय मन्त्र संख्या ८

वह परमात्मा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, शरीररहित, विकाररहित, स्नायुमण्डल से रहित, शुद्ध, पाप से अबद्ध, महाविद्वान्, दुष्टों से दूर स्वयं शाश्वत ज्ञान देने वाला, समान भाव रखने वाला है। ये परमात्मा के गुण ही कहे हैं।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।। ३।।
सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धय:।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रता:।। ४।।

तु, ये (परन्तु, जो पुरुष), इन्द्रियग्रामम्, सन्नियम्य (इन्द्रियों के समुदाय को, भली प्रकार वश में करके), अचिन्त्यम् (मन-बुद्धि से परे), सर्वत्रगम् (सर्व व्यापक), अनिर्देश्यम्, च, कूटस्थम् (अवर्णनीय, और, सदा एक रस रहने वाला), ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम् (नित्य, अचल, निराकार, अविनाशी), पर्युपासते (उपासना करते हैं), ते (वे), सर्वभूतहिते, रता: (सब प्राणियों के हित में, लगे हुए), सर्वत्र, समबुद्धय: (सब में, समान बुद्धि वाले योगी), माम्, एव, प्राप्नुवन्ति (मुझे (परमात्मा को)ही प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 3- इन श्लोकों में निराकार ब्रह्म के कैसे स्वरूप का ध्यान करते हुए परमात्मा तक पहुँचने का कथन किया गया है?

उत्तर- यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन को परमात्मा तक पहुँचाने का मार्ग बताते है, ''हे अर्जुन! जो भक्तजन इन्द्रियों को वश में करके, मन-बुद्धि से परे, सर्वव्यापक, अवर्णनीय, सदा एक रस रहने वाले, नित्य अचल, निराकार, अविनाशी ब्रह्म की उपासना करते हैं वे सब परमात्मा को प्राप्त होते हैं, क्योंकि वे सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं। जो सब प्राणियों में समान बुद्धि रखते हैं, सब में समान भाव रखते हैं, प्राणी मात्र के दु:ख को अपना दु:ख मानते हैं, वे ही परमात्मा तक पहुँचते हैं।''

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिदु:खं देहवद्भिरवाप्यते।। ५

तेषाम् (उनका), अव्यक्तासक्तचेतसाम् (जो अव्यक्त में चित्त को लगाये हुए हैं), क्लेश:, अधिकतर: (परिश्रम, विशेष है), हि (क्योंकि), देहवद्भि: (देहधारियों द्वारा), अव्यक्ता (अव्यक्त की उपासना), गति: (गति), दु:खम्, अवाप्यते (दु:खपूर्वक, प्राप्त की जाती है)।

प्रश्न 4- निराकार की उपासना में कठिनता का किस प्रकार कथन किया गया है?

उत्तर- हे अर्जुन! जिनका चित्त अव्यक्त में आसक्त है, उसमें लगा हुआ है, उनकी कठिनाई (व्यक्त की उपासना करने वालों की अपेक्षा) कहीं अधिक है, क्योंकि देहधारी व्यक्त मनुष्यों को अव्यक्त की (उपासना का) मार्ग कठिन प्रतीत होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वह लक्ष्य तक पहुँच तो जाता है परन्तु इस अव्यक्त गति में कुछ दु:ख अधिक उठाना पड़ता है।

टिप्पणी :- डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार- इस प्रकरण में 'सगुण' तथा 'निर्गुण' उपासना के प्रश्न को उठाया गया है। यहाँ कहा गया है कि सगुण उपासना आसान है, निर्गुण उपासना कठिन है- यद्यपि दोनों भगवान् के पास ले जाती हैं। **सगुण उपासना** (ज्ञान योग) के लिए तीन बातें (श्लोक २ के

अनुसार) आवश्यक हैं-

1) **''मयि मनः आवेश्य''** - भक्त को अपने मन को अपने ध्यान के लक्ष्य के भीतर डाल देना चाहिये- यह अर्थ है 'आवेश्य' का। मन जब तक लक्ष्य के इधर-उधर चक्कर काटता है तब तक लक्ष्य के साथ केवल स्पर्श ही होता है। लक्ष्य के साथ मन का स्पर्श होना पर्याप्त नहीं है, मन को लक्ष्य के भीतर प्रवेश करना होगा, तभी उपासना रंग लायेगी।

2) **नित्ययुक्तः** - उपासक अपने उपास्य के साथ युक्त हो गया उसमें प्रविष्ट हो गया परन्तु वह अनुभूति क्षणिक न हो, नित्य यह अनुभूति बनी रहे, तब उपासना फलवती होती है।

3) **परया श्रद्धया उपेतः** - सगुण उपासना की तीसरी शर्त है -परम श्रद्धा। परम श्रद्धा का अर्थ अन्ध श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा बना है- श्रत् और धा से। श्रत् का अर्थ है सत्य। सत्य पर जो आधारित हो वह श्रद्धा कहलाती है। सगुण विभूति में या विश्वरूप में तन्मयता से जब प्रवेश किया जाए और वह प्रवेश जब सदा बना रहे और श्रद्धापूर्वक बना रहे, ध्येय को सत्य मान कर उसमें अटल श्रद्धा से भक्ति बनी रहे तब ही उपासना उपासना कहलाती है।

निर्गुण उपासना (ज्ञान योग)- इसमें तीन बातें आवश्यक हैं-

1) **संनियम्येन्द्रियग्रामम्**- निर्गुण उपासना का सीधा अर्थ है, सगुण संसार से चित्त हटा लेना। संसार में हम ज्ञानेन्द्रियों तथा मन द्वारा व्यवहार करते हैं। जब तक हम बाहर विचरते रहेंगे, तब तक भीतर दृष्टि नहीं हो सकती। इसलिए निर्गुण उपासना की पहली शर्त है- इन्द्रियों तथा मन पर नियन्त्रण रखना। इन दोनों को वश में कर लेना।

2) सर्वत्र समबुद्धयः - निर्गुण उपासना की दूसरी शर्त यह है कि साधक को सर्वत्र समबुद्धि से देखना होगा। समबुद्धि ब्रह्मबुद्धि उत्पन्न होने से पूर्व की अवस्था है, क्योंकि ब्रह्मसत्ता सर्वत्र एक-सी है, प्रत्येक वस्तु में परमेश्वर है। इसलिए उस समरस को पाने से पहले सम-रसता को पा लेना उसे ही पा लेने का साधन है। गीता में कहा है-

(क) 'शुनि चैव श्वपाके च पंण्डिताः समदर्शिनः।' गीता ५/१८

(ख) इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः। गीता ५/१९

(ग) साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। गीता ६/९

मनुष्य के लिए समरसता की अवस्था सम्भव है- इसमें सन्देह नहीं। हमारा बालक प्रातः काल रोता है, चिल्लाता है, पाठशाला जाने के समय हठ करता है, दूसरे बच्चों के साथ झगड़ता है, किसी से मैत्री किसी से द्वेष करता है, परन्तु हमारी दृष्टि उस पर सदा पिता-भाव से बनी रहती है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में हम एक रसता बनाये रखते हैं। यही समरसता की अवस्था ज्ञान योगी संसार की हर वस्तु तथा हर व्यक्ति के साथ बना लेता है।

(3) सर्वभूतहितेरताः - निर्गुण उपासना की तीसरी शर्त है, प्राणिमात्र के साथ **''आत्मौपम्यभाव''** गीता ५/३२. अपनी तरह से बरतना, दूसरों के स्वार्थ में अपना स्वार्थ देखना, अपने कल्याण में लगे रहने के स्थान में सबके कल्याण में अपने आप को खपा देना। वह जहाँ दुःख, रोग, अकल्याण देखेगा उसी को दूर करने में वहाँ जुट जायेगा क्योंकि मानव-मात्र का दुःख, रोग अकल्याण उसका अपना दुःख, रोग और अकल्याण है।

इससे सिद्ध है कि निराकार की उपासना कठिन होते हुए भी मानव को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में उत्तम मार्ग है।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।। ६

तु (परन्तु), ये (जो), मत्पराः (मेरे, परायण रहने वाले भक्तजन), सर्वाणि, कर्माणि (सब, कर्मों का), मयि, संन्यस्य (मुझ में, अर्पण करके), माम्, एव (मुझ को, ही), अनन्येन (अनन्य, एकनिष्ठ), योगेन (योग से), ध्यायन्तः, उपासते (निरन्तर चिन्तन करते हुए, उपासना करते हैं)।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।। ७

पार्थ (हे अर्जुन!), तेषाम्, मयि (उनका, मैं), आवेशितचेतसाम् (चित्त लगाने वाले प्रेमी भक्तों का), अहम् (मैं), नचिरात् (शीघ्र ही), मृत्युसंसार-सागरात् (मृत्यु रूपी संसार समुद्र से), समुद्धर्ता, भवामि (उद्धार, करता हूँ)।

प्रश्न 5- परमात्मा किस प्राणी का उद्धार करता है ?

उत्तर- जो लोग अपने सब कर्मों का परमात्मा में समर्पण करके, परमात्मा के परायण होकर, एकाग्रचित्त होकर, ध्यान योग की क्रिया से चिन्तन एवं उपासना करते हैं, ऐसे परमात्मा में चित्त लगाने वालों का परमात्मा इस मरणशील संसार सागर से उद्धार कर देता है।

हमारा निश्चित मत है कि साकार परमात्मा की उपासना गीता में कहीं

प्रतिपादित नहीं होती। अव्यक्त की उपासना कठिन होते हुए भी यही एक उपाय बताया गया है, जिससे मनुष्य आत्मोन्नति कर सकता है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी के अनुसार– परमात्मा उद्धार करने वाला रक्षक है। जब हम अपने हृदय और मन को उसकी ओर लगा देते हैं तो वह हमें मृत्यु के समुद्र से ऊपर उठा लेता है और हमें शाश्वत (अमरता) में स्थान प्रदान करता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।८।।

मयि, मनः, आधत्स्व (मुझ में, मन को, लगा), मयि, एव, बुद्धिम्, निवेशय (मुझ में, ही बुद्धि को, लगा), अतः, ऊर्ध्वम् (इसके, उपरान्त तू), मयि, एव, निवसिष्यसि (मुझ में, ही, निवास करेगा), संशयः, न (इसमें कुछ भी संशय नहीं है)।

प्रश्न 6– जो भक्त परमात्मा में मन और बुद्धि को लगा देता है, उसे क्या प्राप्त होता है?

उत्तर– जो साधक अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में अंशतः नहीं, सम्पूर्ण रूप से लगा देता है, वह ही परमात्मा में ही निवास करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी के अनुसार – हे अर्जुन! तू मेरे चरित्र तथा दिनचर्या के अनुकरण में मन लगा और अन्धानुकरण न करके मेरे चरित्र और मेरे वचनों को समझने में बुद्धि लगा। तब उनका वास्तव में अनुकरण होगा और जब तू ऐसा कर लेगा, उसके पश्चात् तू मुझ में निवास करेगा, अर्थात् तेरा जीवन भी मेरे अनुसार भयमुक्त हो जायेगा इसमें सन्देह नहीं।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।। ९

अथ (यदि तू), चित्तम्, मयि (चित्त को, मुझमें), स्थिर, समाधातुम् (स्थिर, स्थापन करने के लिए), न, शक्नोषि (समर्थ नहीं है), ततः, धनञ्जय (तो हे अर्जुन!), अभ्यासयोगेन (अभ्यास योग द्वारा), माम्, आप्तुम्, इच्छ (मुझ को, प्राप्त करने की, इच्छा कर)।

प्रश्न 7– मन को स्थिर करने के लिए क्या करना चाहिए?

उत्तर– यदि साधक यह समझता है कि उसका मन स्थिर नहीं हो पा रहा तो, उसे

योगाभ्यास द्वारा परमात्मा को प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिए। **स्वामी रामदेव जी के अनुसार**– साधना काल में ऐसी रात्रियाँ आती हैं जबकि साधक दीर्घकाल तक प्रकाश से निर्वासित रहता है, ऐसी घड़ियाँ या ऐसे क्षण आते हैं, जबकि विद्रोह, सन्देह या असफलायें होती हैं, फिर भी भगवान् के साथ युक्तता के अभ्यास से और जो अनुभव हो चुका है उसकी बार–बार आवृत्ति करने से वह उच्चतम आत्मा परमात्मा में वर्धन करता जाता है और उसकी प्रकृति को स्थायी रूप से अधिकृत कर लेता है।

दूसरे शब्दों में श्री कृष्ण जी कहते हैं, "हे अर्जुन! यदि तुम मेरा अनुकरण करने के लिए मेरे चरित्र में अपने मन को स्थिर रूप से एकाग्र नहीं कर सकते तो एक–एक योगांग का धीरे–धीरे अभ्यास कर। ऐसे करने से तू मेरे अनुसार हो जायेगा।" योगदर्शन में भी अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से मोक्ष की प्राप्ति का निर्देश है।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि।। १०

अभ्यासे, अपि, असमर्थः, असि (अभ्यास में, भी, असमर्थ है), मत्कर्मपरमः, भव (मेरे लिए कर्म करने वाला, हो), मदर्थम्, कर्माणि, कुर्वन्, अपि (मेरे निमित्त, कर्मों को, करता हुआ, भी), सिद्धिम् अवाप्यसि (सिद्धि को, प्राप्त होगा)।

प्रश्न 8– यदि व्यक्ति अभ्यास करने में असमर्थ हो, तो क्या करे?

उत्तर– योगाभ्यास ये असमर्थता का अनुभव करने वाले अर्जुन को श्री कृष्ण जी समझाते हुए कह रहे है, "हे अर्जुन! तू यह कहता है कि योग में अभ्यास कठिन है। मैं वह अभ्यास करने में भी मैं असमर्थ हूँ तो ऐसा कर कि परमात्मा के लिए कर्म कर। अपने सब कर्मों को परमात्मा के अर्पण कर दे तब भी तू परमात्मा को प्राप्त कर लेगा।" यहाँ श्रीकृष्ण जी का अभिप्राय है कि जो भी तू कर्म करे उन्हें प्रभु के अर्पित करता जा। यह मैंने किया, ऐसा न सोचकर यह परोपकार कार्य परमात्मा मुझ से करा रहा है, यह भावना रख।

श्री गुरुदत्त जी की विशेष टिप्पणी :– यहाँ तीन स्थितियों का वर्णन है। एक है अपनी बुद्धि को परमात्मा में स्थिर कर व्यवहार करना। अभिप्राय है कि प्रत्येक कार्य को बुद्धि से विचार करके करना। इस विषय में पहले भी गीता के प्रवक्ता ने २/४९ में कहा है कि बुद्धि से दूर कर्म अत्यन्त हीन है।

यदि यह सम्भव न हो अर्थात् बुद्धि काम न करे तो कहा है- कि कर्मयोग का आश्रय लो अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करो। अर्थात् कर्म में अपने हित-अहित का विचार छोड़ कर कर्म करो।

यह भी एक कठिन कार्य है। कर्म करते समय कुछ न कुछ स्वार्थ आ ही जाता है। गीता का प्रवक्ता कहता है कि तब तीसरी स्थिति भी है। मनुष्य कर्म करता हुआ अपने को सर्वथा परमात्मा के अधीन कर दे। कर्म करे और फल की इच्छा भी करे, परन्तु फल मिले तो प्रभुकृपा, और फल न मिले तो भी प्रभु की इच्छा माने। इन तीनों प्रकार के कर्मयोगियों को अन्त में गति मिलती है।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।। ११

अथ (यदि), मद्योगम्, आश्रितः (मेरे साथ योग को आश्रित होकर), एतत्, कर्तुम्, अपि, अशक्तः (उपर्युक्त साधन को, करने में, भी असमर्थ है), ततः यतात्मवान् (तो, स्वयं को वश में करने वाला, जितेन्द्रिय), सर्वकर्मफलत्यागम्, कुरु (सब कर्मों के फल का त्याग कर)।

प्रश्न 9- यदि व्यक्ति अपने कर्मों को अर्पित भी नहीं कर सकता, तब उसे क्या करना चाहिये?

उत्तर- अर्जुन अपने आप को बड़ी असंमजस की स्थिति में पाता है तब श्री कृष्ण जी कहते हैं कि तू अपने कर्मों को परमात्मा में अर्पण करने में असमर्थ पाता है तो स्वयं को वश में करने वाला जितेन्द्रिय बन, मन को दृढ़ कर और अपने सब कर्मों को त्याग भाव से कर।

श्री तिलक जी के अनुसार विशेष टिप्पणी :- तिलक जी ने कहा है कि 'कर्मयोग' की दृष्टि से ये श्लोक अत्यन्त महत्त्व के है। इन श्लोकों में ज्ञानयोग से भक्तियोग को सहज, सरल कहा गया है, और यह कहा गया है कि यदि भक्ति योग में भी मन नहीं टिकता, मनुष्य अभ्यास से भी भगवान् में मन को स्थिर नही कर सकता, तो कर्मफल का त्याग कर ''**सर्वकर्मफल-त्यागं कुरु**'। श्री तिलक जी की बात ठीक है परन्तु यहाँ इतनी बात और समझ लेनी उचित है कि गीता किसी एक मार्ग का पोषक नहीं है, गीता में सब मार्गों का निर्देश है, जो जिस योग्य होगा वह उसी मार्ग को अपनायेगा।

कई लोग कर्म के स्थान में भक्ति की ही प्रकृति के होते हैं। कई भक्ति के स्थान में कर्म की ही प्रकृति के होते हैं। कई इन दोनों के लिए अपने को

असमर्थ पाते हैं। वे ज्ञान के मार्ग से ही आगे बढ़ सकते हैं। गीता प्रवृत्ति-भेद से साधन-भेद का मार्ग दिखलाती है, सबको एक ही साधन एक ही मार्ग नहीं दिखलाती। इतना ठीक है कि कर्म, भक्ति, ज्ञान- इन सब का लक्ष्य भले ही कुछ हो, ये तीनों ही साधन क्यों न भिन्न-भिन्न हो, इन तीनों का अन्तिम परिणाम 'कर्मफल त्याग'- कर्म के फल को छोड़ देना है। कर्मयोगी कर्म के फल में आसक्ति छोड़ देता है। भक्ति योगी कर्म को भगवान् के अर्पण कर देता है। ज्ञान-योगी कर्म को ही छोड़ने का प्रयत्न करता है। कर्म को तो छोड़ नहीं सकता। इसलिए उसे भी कर्म का फल ही छोड़ना पड़ता है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।। १२

अभ्यासात् (मर्म को न जानकर किए हुए अभ्यास से), ज्ञानम्, श्रेयः (ज्ञान, श्रेष्ठ है), ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते (ज्ञान से, परमेश्वर का ध्यान, श्रेष्ठ है), ध्यानात्, कर्मफलत्यागः (ध्यान से, कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है), हि (क्योंकि), त्यागात्, अनन्तरम्, शान्तिः (त्याग से, तत्काल ही, शान्ति प्राप्त होती है)।

प्रश्न 10- कौन-सा साधनामार्ग साधक को तत्काल शान्ति प्रदान करता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को साधना के कई मार्गों का वर्णन करते हैं। अर्जुन पूछता है- हे कृष्ण! कौन सा साधना का मार्ग ऐसा है जिसे अपनाकर साधक को तत्काल शान्ति मिलती है। उसके उत्तर में श्री कृष्ण जी कहते हैं- हे अर्जुन! योगाभ्यास से ज्ञान प्राप्त करना श्रेष्ठ है। ज्ञान से ध्यान- (चिन्तन) श्रेष्ठ है और चिन्तन से कर्मफलों का त्याग अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करना श्रेष्ठ है। कर्मफल का त्याग रूप कर्म परम शान्ति को देने वाला होता है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार- श्री तिलक जी का कहना है कि इस श्लोक में स्पष्ट तौर पर कर्म-फल त्याग के मार्ग 'कर्मयोग' को सब से उत्तम कहा है। सूर्य गीता (114,71) मे ंभी कहा है-

''ज्ञानादुपास्तिरुत्कृष्टा कर्मोत्कृष्टमुपासनात्।
इति यो वेद वेदान्तैः स एव पुरुषोत्तमः।।''

अर्थात् जो इस वेदान्त तत्त्व को जानता है कि ज्ञानयोग की अपेक्षा भक्तियोग श्रेष्ठ है और भक्ति योग की अपेक्षा कर्मयोग श्रेष्ठ है, वही पुरुषोत्तम है। इस दृष्टि से कर्मयोग सब मार्गों में श्रेष्ठ है। जैसा हमने कहा श्री तिलक जी की यह स्थापना

ठीक है। तभी गीता में पहले कर्मयोग, फिर भक्तियोग और अन्त में ज्ञानयोग का प्रतिपादन किया गया है। कर्मयोग सब से सरल है, भक्तियोग उससे कठिन है और ज्ञानयोग सब से कठिन है परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी प्रवृत्ति तथा अधिकारीभेद से भिन्न-भिन्न मार्ग हैं और यह संभव है कि जो मार्ग एक के लिए सरल हो, वह दूसरे के लिए कठिन हो। इसलिए सभी मार्ग ठीक हैं। गीता में सभी मार्गों का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि प्रत्येक मार्ग की चर्चा करते हुए उसमें अन्य मार्ग को इस प्रकार मिला-जुला दिया है कि कभी-कभी भ्रम हो जाता है कि गीता कर्म की चर्चा कर रही है या कर्म-संन्यास की। तभी अर्जुन को समय-समय पर सन्देह उत्पन्न हो जाता है। तभी तो गीता ३/२ में अर्जुन कहता है:-

''व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।''

हे कृष्ण जी! आप मिली-जुली सी बात करते हैं। एक बात कहिये ताकि मैं ठीक-ठीक समझूँ। पांचवे अध्याय में ५/१ में अर्जुन कहता है-

''संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रुहि सुनिश्चितम्।।''

हे कृष्ण! कभी तो कर्म संन्यास की बात कहते हो, कभी कर्मयोग की बात कहते हो, एक बात कहो न। इससे स्पष्ट है कि गीता में किसी एक ही मार्ग पर बल नहीं दिया गया। सब मार्गों पर बल दिया गया है। सब मार्गों का अन्तिम परिणाम कर्म-फल-त्याग कहा गया है। इसलिए सब मार्ग एक से जान पड़ते हैं। गीता में सब मार्गों का समन्वय है तभी गीता ९/२९ में कहा है-

''समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।''

मैं तो सब में सम हूँ, न मुझे कोई बुरा है, न प्रिय है जो मेरा भजन करते हैं, किसी तरह से भी करे, कर्म से, ध्यान से ज्ञान से, मैं उन में हूँ, वे मुझ में है (यहाँ मेरा, मैं, मुझ से तात्पर्य परमात्मा से है)।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी।। १३

यः, सर्वभूतानाम् (जो पुरुष, सब प्राणियों में), अद्वेष्टा (द्वेष भाव से रहित), मैत्रः, च, करुणः (स्वार्थ रहित सबका प्रेमी, और, दयालु), एव (तथा),

निर्भयः, निरहंकार (ममता रहित, अहंकार रहित), सम दुःखसुखः (सुख-दुःखों की प्राप्ति में सम), क्षमी (क्षमावान्)।

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।। १४।।

योगी, सततम्, सन्तुष्टः (योगी, निरन्तर, सन्तुष्ट), यतात्मा (संयमी), दृढनिश्चयः (पक्के निश्चय वाला), सः, मयि (वह मुझ में), अर्पितमनो बुद्धिः (अर्पण किये हुए मन-बुद्धि वाला), मद्भक्तः मे, प्रियः (मेरा भक्त, मुझको, प्रिय है)।

प्रश्न 11- प्रिय भक्त के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- जिस भक्त में निम्नलिखित लक्षण हैं वह परमात्मा को प्रिय है-

1) वह सब प्राणियों में द्वेष भाव से रहित होता है।
2) सब से मित्रता तथा दया का भाव रखता है।
3) अहंकार नाम के दोष से मुक्त होता है।
4) सुख-दुःख में समानभाव रखता है अर्थात् सुख में इतराता नहीं और दुःख में खिन्न नहीं होता।
5) क्षमावान् होता है अर्थात् अपराध करने वाले को भी अभयदान देने वाला होता है।
6) वह निरन्तर ध्यान योग के अभ्यास करने में मस्त होता है।
7) वह ईश्वर के प्रत्येक कार्य से सन्तुष्ट रहता है।
8) अपने मन पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है।
9) वह व्यक्ति जो भी निर्णय करता है उसी के अनुसार चलता है अर्थात् वह दृढ़ निश्चयी होता है।
10) वह मन और बुद्धि को ईश्वरार्पण कर देता है। ऐसा व्यक्ति परमात्मा को प्रिय होता है और उसका भक्त बन जाता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। १५

यस्मात् (जिससे), लोकः (कोई भी जीव), न, उद्विजते (उद्वेग को प्राप्त नहीं होता), च, यः (और, जो), लोकात्, न, उद्विजते (किसी जीव से, उद्वेग को, प्राप्त नहीं होता), च,यः (और, जो), हर्षामर्षभयोद्वेगैः (हर्ष, अमर्ष, भय और उद्वेगादि से), मुक्तः (रहित है), सः, मे, प्रियः (वह भक्त, मुझ को, प्रिय है)।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। १६ ।।

सः, अनपेक्षः (जो, आकांक्षा से रहित), शुचिः (बाहर भीतर से शुद्ध), दक्षः (चतुर), उदासीनः (पक्षपात से रहित), गतव्यथः (दुःखों से छूटा हुआ है), सर्वारम्भपरित्यागी (जो मन, शरीर और वाणी द्वारा प्रारब्ध से होने वाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्यागी), मद्भक्तः, मे, प्रियः (मेरा भक्त, मुझ को, प्रिय है)।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।। १७

यः, न, हृष्यति (जो, न कभी, हर्षित होता है), न, द्वेष्टि (न, द्वेष करता है), न, शोचति (न, शोक करता है) न, काङ्क्षति (न, कामना करता है), यः शुभाशुभ, परित्यागी (शुभ और अशुभ, सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है), सः (वह), भक्तिमान्, मे, प्रियः (भक्तियुक्त पुरुष, मुझे, प्रिय है)।

प्रश्न 12- परमात्मा को कौन प्रिय है ?

उत्तर- जिस पुरुष में निम्नलिखित गुण हैं, वह परमात्मा को प्रिय है-

(1) जिससे कोई जीव उद्विग्न (रुष्ट नहीं होता और जो स्वयं भी किसी से रुष्ट नहीं होता।)
(2) जो न तो प्रसन्न होता है और न ही अप्रसन्न होता है।
(3) जो हर्ष एवं भय से रहित है और दूसरों को भी भयभीत नहीं करता।
(4) जो अमर्ष नहीं करता, अर्थात् जो दूसरे की उन्नति को देखकर दुःखी नहीं होता।
(5) जो कामनाओं से रहित है।
(6) जो बाहर भीतर से शुद्ध है, जो शरीर एवं आत्मा दोनों को शुद्ध रखता है।
(7) जो मूर्ख नहीं है, किसी के बहकावे में नहीं आता, प्रत्येक कार्य में दक्ष है।
(8) जो पक्षपात से रहित है।
(9) जो दुःखों से छूटा हुआ है अर्थात् दुःखों में पीड़ित नहीं होता। सुख-दुःख को शरीर का धर्म मानता है।
(10) जो मन, शरीर और वाणी द्वारा प्रारब्ध से होने वाले सम्पूर्ण स्वाभाविक कर्मों में कर्तापन व अहंकार नहीं करता।
(11) जो सुख आने पर अत्यधिक हर्षित नहीं होता।

(12) जो किसी से ईर्ष्या-द्वेष नहीं करता।
(13) जो हानि हो जाने पर शोक में नहीं डूबता।
(14) जो कामनाओं से रहित है जिसे सांसारिक कामनायें पीड़ित नहीं करती।
(15) जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों का त्यागी है।

इन गुणों को धारण करने वाला भक्तिमान् पुरुष परमात्मा को प्रिय है।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।। १८

शत्रौ, मित्रे, च (शत्रु-मित्र में, और), मानापमानयोः, समः (मान-अपमान में समान), तथा (तथा), शीतोष्णसुखदुःखेषु, समः (सर्दी, गर्मी और सुख-दुःखादि द्वन्द्वों में, सम है), च, सङ्गविवर्जितः (और, जो आसक्ति रहित है)।

तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। १९ ।।

तुल्यनिन्दा, स्तुतिः (निन्दा, स्तुति को समान समझने वाला), मौनी (मननशील), येन, केनचित् (जिस, किसी भी वस्तु से), सन्तुष्टः (सदा ही सन्तुष्ट है), अनिकेतः (रहने के स्थान में समता और आसक्ति से रहित है), स्थिरमतिः, भक्तिमान् (स्थिर बुद्धि, भक्ति से ओत-प्रोत), नरः, मे, प्रियः (पुरुष, मुझ को प्रिय, है)।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्धाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।। २०

ते (परन्तु), ये (जो), श्रद्धानाः, मत्परमा (श्रद्धायुक्त पुरुष, मेरे परायण होकर), इदम्, यथा, उक्तम् (इस प्रकार, ऊपर, कहे हुए), धर्म्यामृतम् (धर्ममय अमृत को), पर्युपासते (निष्काम प्रेमभाव से उपासना करते हैं), ते, भक्ताः (वे, भक्त), मे, अतीव, प्रियः (मुझ को, अतिशय, प्रिय हैं)।

प्रश्न 13- इन श्लोकों में और किन-किन गुणों को धारण करने वाले भक्तों को परमात्मा प्यार करते हैं ?

उत्तर- (1) जो शत्रु-मित्र को समान रूप से देखता है अर्थात् शत्रु के प्रति द्वेष और मित्र के प्रति राग नहीं रखता।

(2) जो मान-अपमान में समभाव रहता है अर्थात् मान मिलने पर फूल कर कुप्पा नहीं होता, परन्तु अपमान होने पर दुःखी नहीं होता।

(3) जो सर्दी हो या गर्मी, सुख मिले या दुःख सभी में एक समान रहता है।

(4) संसार में आसक्त नहीं रहता।
(5) जो निन्दा और स्तुति को समान समझता है।
(6) जो मननशील है, मानव जीवन के उद्देश्य को समझता है।
(7) जो किसी भी प्रकार का निर्वाह हो, उसमें सन्तुष्ट रहता है।
(8) वह कहीं भी रहे उसके लिए कोई परेशानी नहीं है अर्थात् रहने के स्थान में मोह करने वाला नहीं है।
(9) जो परमात्मा की प्रत्येक कृति में मंगल मानता हो अर्थात् कर्मफल त्यागी हो।
(10) जो सच्ची श्रद्धा से युक्त हो।

जिस व्यक्ति में उपर्युक्त गुण होते हैं, और धर्मभाव अमृत का निष्काम सेवन करता है, वही भक्त परमात्मा को अति प्रिय होता है।

उपसंहार या सन्देश :- अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से पूछा था कि जो दो स्वरूप उन्होंने अपनी योगशक्ति से दिखाये हैं, क्या उन स्वरूपों का चिन्तन करने से वह परमात्मा का प्रिय होगा अथवा जो अव्यक्त रूप उन्होंने बताया है, उनके चिन्तन से परमात्मा का वह अधिक प्रिय होगा?

श्री कृष्ण जी कहते हैं कि परमात्मा का वह अधिक प्रिय तो किसी भी स्वरूप के चिन्तन से नहीं हो सकता। उसके लिए तो उसे अपने मन, बुद्धि और जीवात्मा को एक विशेष प्रकार का बनाना होगा, तभी वह परमात्मा का प्रिय होगा।

उपासना, भक्ति और पूजा का अर्थ किसी स्वरूप का चिन्तन करना नहीं है वरन् परमात्मा के गुणों का चिन्तन और फिर उन गुणों के चिन्तन से अपने में कुछ वैसे गुण उत्पन्न करना है।

''उपासना'' का अर्थ है समीप बैठना। परमात्मा के समीप बैठने का वही अर्थ होता है जैसे किसी महापुरुष की संगत में रहकर उसके सद्गुणों को अपने में धारण करना होता है। ''भक्ति'' का अर्थ है श्रद्धा और विश्वास। श्रद्धा और विश्वास इस बात का होना चाहिये कि परमात्मा न्यायकर्ता है। इस कारण यदि मनुष्य शुभ गुणों से युक्त हो तो वह उचित फल पायेगा। परमात्मा से अन्याय की आशा न रखना ही, उसमें श्रद्धा और भक्ति रखना है। 'पूजा' का अर्थ है उसके गुणों का बार-बार स्मरण करना, जिससे उसके श्रेष्ठ गुणों को ग्रहण किया जा सके।

परमात्मा के श्रेष्ठ गुण क्या हैं, यह भी श्री कृष्ण जी बता चुके हैं- सब के साथ समभाव रखना। न प्रसन्नता में पागल हो जाना, न शोक में दु:ख अनुभव करना, अच्छे बुरे सब के साथ समान रूप से न्याय करना, किसी से मोह अथवा द्वेष न करना आदि। ये गुण परमात्मा के है इनको अपने में स्वीकार करना ही परमात्मा की उपासना, भक्ति और पूजा है।

अत: श्री कृष्ण जी का आशय है मन, बुद्धि और जीवात्मा को श्रेष्ठ गुणयुक्त बनाने की। उससे ही परमात्मा का प्रिय बना जा सकता है।

विशेष टिप्पणी :- यहाँ पर स्मरण रखना चाहिये कि श्री कृष्ण जी, जो 'मैं', 'मेरा', 'मुझ में', 'मुझ को' इत्यादि शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं, वे परमात्मा के लिए ही हैं। श्री कृष्ण जी ने गीता का प्रवचन योगयुक्त होकर कहा था। योगावस्था में प्राणी परमात्मा में स्थित होकर उसकी ओर से ही कह रहा अनुभव करता है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जो ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का भक्तियोग नामक द्वादश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ त्रयोदशोऽध्यायः
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योगः

प्रधान विषय -

(1) ज्ञान सहित क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विषय -श्लोक संख्या 1 से 18 तक।

(2) ज्ञान सहित प्रकृति-पुरुष का विषय - श्लोक संख्या 19 से 34 तक।

भूमिका :- गीता में बताया है क्षेत्र शरीर है और क्षेत्रज्ञ जीवात्मा है। शरीर रथ है, दस इन्द्रियाँ घोड़े हैं, तुम आत्मा हो और बुद्धि सारथी है। भगवान् श्री कृष्ण जी ने समझाया है कि ज्ञान क्या है, ज्ञेय क्या है ?, जो छल, कपट, कुटिलता, दम्भ से रहित है, वह ज्ञानी है। जो अहिंसा, धैर्य, सरलता से युक्त है, वह ज्ञानी है। विद्वानों का सान्निध्य, आन्तरिक पवित्रता, भौतिक स्वच्छता, जीवन में स्थिरता, मन पर नियन्त्रण ज्ञानियों के गुण हैं। श्री कृष्ण जी ने बताया कि पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख (रूप), कान (शब्द), नाक (गन्ध), जीभ (रस), त्वचा (स्पर्श) और पांच कर्मेन्द्रियों हाथ, पाँव, गुदा, जननेन्द्रियां और जीभ (वाणी) से कार्य लेने वाला वही ज्ञानी है जो उनके लिए निर्धारित किये गये हैं। इन दस इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने के लिए परमात्मा ने मनुष्य को मन, बुद्धि, चित्त और अहम् (मैं) भाव दिया है जिन पर नियन्त्रण रखने वाला ज्ञानी है। कर्तव्य करो, आसक्त न हों। प्यार करो, मोह नहीं। संग्रह करो, अपरिग्रह नहीं। ज्ञान का अर्थ है, जीवन में शान्ति, सरलता, सौम्यता और शिष्टता का समावेश। ज्ञानी के समस्त गुणों में सर्वोत्तम गुण समभाव है। ज्ञानी को प्राणीमात्र के लिए समभाव, समदृष्टि, समदृष्टिकोण, समविचार रखने चाहिये। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि जो अनादि, अनन्त, सदा रहने वाला है, वही ज्ञेय है, जानने योग्य तत्त्व केवल एक है, परमात्मा।

गीता की कुछ प्रतियों में १३वें अध्याय के प्रारम्भ में एक श्लोक पाया जाता है। अर्जुव उवाच:-

''प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एत द्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव।।''

अर्जुन ने कहा - ''मुझे प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज, ज्ञान और ज्ञेय के जानने की इच्छा है, सो बतलाओ।'' ये जो प्रश्न अर्जुन द्वारा किये इनका हमारे जीवन में एक विशेष महत्त्व है। जब तक हम यह न जान लें कि हम हैं कौन, हम इस दुनिया में क्यों आये हैं ? हमारा कार्यक्षेत्र क्या है ? हमारा कर्त्तव्य क्या है ? क्या किया जाना चाहिये और क्या नहीं किया जाना चाहिये ? तब तक हमारी कोई भी गति, कोई भी यात्रा सफल नहीं हो पायेगी। जीवन को जानना भी आवश्यक है कि हम कहां से आये हैं और कहां जायेंगे ?

गीता के अनेक संस्करणों में यह श्लोक नहीं पाया जाता। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में इस श्लोक की व्याख्या नहीं की। इसका यही अभिप्रायः हो सकता है कि गीता की जो प्रति उनके पास थी उसमें यह श्लोक नहीं था। वैसे गीता में ७०० श्लोक हैं, परन्तु इस श्लोक को सम्मिलित करने से गीता के श्लोकों की संख्या ७०१ हो जाती है। परम्परागत रूप से गीता के श्लोकों की संख्या ७०० कही जाती है, इसलिए यह प्रक्षिप्त है।

तिलक जी ने लिखा है- इससे यह स्पष्ट दिखाई देता है कि किसी ने जानबूझ कर यह श्लोक गीता में घुसेड़ दिया है कि क्षेत्र-क्षेत्रज का विचार गीता में आया कैसे है ? हम इस श्लोक को क्षेपक मानते हैं।

भले ही गीता की मूल प्रति में यह श्लोक न रहा हो, तो भी इस अध्याय में उठाये गये सब प्रश्न एक साथ कह दिये गये हैं। गीता की उन प्रतियों में जिनमें यह श्लोक दिया गया है, इसे देकर गिनती में नहीं लिया गया है। इसलिए हमने भी इस श्लोक को न तो दिया है और न ही श्लोक देने की आवश्यकता समझी। अतः इस श्लोक को प्रक्षिप्त मानकर शंकर भाष्य के अनुसार हम इस अध्याय का प्रारम्भ करते हैं-

श्री कृष्ण उवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। १।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), इदम्, शरीरम्, क्षेत्रम् (यह, शरीर, क्षेत्र), इति, अभिधीयते (इस नाम से, कहा जाता है), एतत्, यः, वेत्ति (इसको, जो, जानता है), तम्, क्षेत्रज्ञ (उसको, क्षेत्रज्ञ), इति, तद्विदः, प्राहुः (इस, नाम से, ज्ञानीजन, कहते हैं)।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।। २।।

भारत (हे अर्जुन!), सर्वक्षेत्रेषु, क्षेत्रज्ञम् (सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा), अपि, माम, विद्धि (भी, मुझे ही, जान), च (और), क्षेत्रक्षेत्रयो: (क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का) यत्, ज्ञानम् (जो, ज्ञान), तत्, ज्ञानम्, (वह, ज्ञान है), मम, मतम् (ऐसा, मेरा मानना है)।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु।। ३।।

तत्, क्षेत्रम् (वह क्षेत्र), यत्, च, यादृक् (जो, और, जैसा है), च, यद्विकारी (और, जिन विकारों वाला है), यत:, यत् (जिस कारण से जो हुआ है), च, स:, (तथा, वह क्षेत्रज्ञ भी), य:, य:, यत्प्रभाव: (जो, और, जिस प्रभाव वाला है), तत्, समासेन (वह सब, संक्षेप में), मे, शृणु (मुझ से, सुन)।

प्रश्न 1- यह शरीर, आत्मा, संसार और परमात्मा क्या है?

उत्तर- चाहे हमने भूमिका में जो श्लोक दिया है उसे प्रक्षिप्त माना है, परन्तु प्रश्न यह है कि अर्जुन के बिना पूछे ही इन प्रश्नों के उत्तर श्री कृष्ण जी क्यों दे रहे हैं? क्योंकि १२वें अध्याय के अन्त में श्री कृष्ण जी अर्जुन को यह बता चुके हैं कि परमात्मा को किन गुणों वाला व्यक्ति प्रिय लगता है अत: अब अर्जुन को यह बताना आवश्यक हो गया है कि यह शरीर आत्मा, संसार और परमात्मा क्या है?

हे अर्जुन! यह शरीर क्षेत्र है, ऐसा माना जाता है जैसे खेत में बोये हुए बीजों का उसके अनुरूप फल समय पर प्रकट होता है, वैसे ही इसमें बोये हुए कर्मों के संस्कार रूप बीजों का फल समय पर प्रकट होता है। इसलिए इसका नाम क्षेत्र कहा है। और जो इस क्षेत्र को जानता है, ज्ञानीजन उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं, शरीर को कौन जानता है? जो इस क्षेत्र से कार्य लेता है, वह जीवात्मा है।

हे अर्जुन! (संसार के) सब क्षेत्रों में तू परमात्मा को क्षेत्रज्ञ जान। मेरा मत है कि 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज' के भेद का जो ज्ञान है, वही वास्तविक ज्ञान है। वह क्षेत्र जो है, जैसा है और जिस कारण से है। साथ ही जो विकार (परिवर्तन) उसमें हो रहे हैं और उसमें क्षेत्रज्ञ क्या उत्पन्न कर रहा है, यह सब तू मुझ से सुन।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के अनुसार-

इन श्लोकों में शरीर को 'क्षेत्र' कहा तो आत्मा को 'क्षेत्रज्ञ' कहा।- यह

'व्यष्टि' का वर्णन है, पिण्ड का वर्णन है, इन्हीं श्लोकों में विश्व को 'क्षेत्र' कहा तो भगवान् को 'क्षेत्रज्ञ' कहा- यह 'समष्टि' का वर्णन है, ब्रह्माण्ड का वर्णन है।

भारतीय विचारधारा में इस बात को मान लिया गया है कि जो 'पिण्ड' में है वही 'ब्रह्माण्ड' में है, जो व्यष्टि में है वह समष्टि में है। इसी आधारभूत विचार को लेकर गीता में कहा है कि शरीर क्षेत्र है, आत्मा क्षेत्रज्ञ है, वैसे ही ब्रह्माण्ड (संसार) क्षेत्र है, ब्रह्म इस क्षेत्र का क्षेत्रज्ञ है।

भौतिकवाद का कहना है कि देह है, देही नहीं, क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं, ठीक इसी तरह प्रकृति है, परमात्मा नहीं। प्रकृति जिसे 'क्षेत्र' कह सकते हैं वह तो है परन्तु परमात्मा जिसे 'क्षेत्रज्ञ' कह सकते हैं, उसकी कोई सत्ता नहीं है। गीता ने भौतिकवाद की इस स्थापना को ठुकरा दिया है। गीता का कहना है कि यथार्थ ज्ञान यही है, ज्ञान योग यही है कि पिण्ड में हम 'देह' तथा 'देही' को शरीर तथा आत्मा और ब्रह्माण्ड में प्रकृति तथा परमात्मा को, क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ इन दोनों को अलग-अलग मानें। पिण्ड में शरीर के अतिरिक्त आत्मा है, ब्रह्माण्ड में प्रकृति के अतिरिक्त परमात्मा है। इस प्रकार जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ का भेद मानता है, वह ज्ञानयोगी है।

गीता का कहना है कि शरीर और शरीर से अतिरिक्त आत्मा, इसी प्रकार संसार और संसार से अतिरिक्त परमात्मा यही असली ज्ञान है। हे अर्जुन! यह सब तू मुझ से सुन।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।। ४।।

ऋषिभि:, बहुधा, गीतम् (ऋषियों द्वारा, बहुत प्रकार से, कहा गया है), विविधै:, छन्दोभि:, पृथक् (विविध, वेद मंत्रों द्वारा भी विभागपूर्वक कहा गया है), च (और), विनिश्चितै: (भली भाँति निश्चय किए हुए), हेतुमद्भि: (युक्तियुक्त), ब्रह्मसूत्रपदै: (ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा) एव (भी)[कहा हुआ है]।

प्रश्न 2- क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का वर्णन किन-किन ग्रन्थों में किया गया है?

उत्तर- 1. यह क्षेत्र (शरीर) क्षेत्रज्ञ (आत्मा) का तत्त्व ऋषियों के द्वारा विस्तार से कहा गया है। वैदिक मंत्रों के द्रष्टा तथा शास्त्रों, स्मृतियों के रचयिता ऋषियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में जड़-चेतन, सत्- असत्, शरीर-शरीरी, देह-देही, नित्य-अनित्य आदि शब्दों से क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का बहुत विस्तार से वर्णन किया है 2.

वेदों की ऋचाओं द्वारा बहुत प्रकार से कहा गया है। ऋक्, साम, यजुः, और अथर्व इन चार वेदों के संहिता और ब्राह्मण भागों के मन्त्रों का वाचक है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण उपनिषद् और भिन्न-भिन्न शाखाओं को भी समझ लेना चाहिये।
3. अनेक युक्तियों से युक्त तथा अच्छी तरह से निश्चित किए हुए ब्रह्मसूत्र के पदों द्वारा भी क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तत्त्व का वर्णन किया गया है।

इस श्लोक में श्री कृष्ण जी का आशय यह बताना है कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो संक्षेप से वर्णन मैं कर रहा हूँ, उसे यदि कोई विस्तार से देखना चाहे तो वेद व ऋषियों के ग्रन्थों में देख सकता है।

महाभूतान्यङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।५।।

महाभूतानि (पांच महाभूत), अहंकारः (अहंकार), बुद्धिः (बुद्धि), च, अव्यक्तम्, एव (और, मूल प्रकृति भी), च, दश, इन्द्रियाणि (और, दस इन्द्रियों), एकम् (एक मन), च (और), पञ्च, इन्द्रियगोचराः (पाँच इन्द्रियों के विषय शब्द, स्पर्श, रुप, रस, गन्ध)।

प्रश्न 3- श्री कृष्ण जी ने क्षेत्र के स्वरूप का कथन किस प्रकार किया है?

उत्तर- क्षेत्र के स्वरूप की व्याख्या श्री कृष्ण जी इस प्रकार करते हैं :- पाँच महाभूत (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश), अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त मूल प्रकृति (मूल प्रकृति समष्टि बुद्धि का कारण होने से और स्वयं किसी का भी कार्य न होने से केवल प्रकृति है), दस इन्द्रियाँ (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, आँख, नाक, कान, जीभ और त्वचा, पाँच कर्मेन्द्रियाँ-हाथ, पैर, (जीभ)मुँह, उपस्थ और गुदा), एक मन, इन्द्रियाँ के पाँच विषय (देखना, सूँघना, सुनना, चखना और छूना) ये सब क्षेत्र का स्वरूप कहलाते हैं।

इन सबका निष्कर्ष यह निकला कि प्रकृति, बुद्धि (महत्तत्व), अहंकार, मन, ५ सूक्ष्म भूत, १० इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत इनमें विकृति रूप चौबीस तत्त्वों के समुदाय का नाम क्षेत्र है। इसी का एक तुच्छ अंश यह मनुष्य शरीर है, जिनको श्री कृष्ण जी ने पहले श्लोक में 'इदं शरीरं' और तीसरे श्लोक में 'तत्क्षेत्रम्' पद से कहा है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।६।।

इच्छा, द्वेष, सुखम्, दुःखम् (इच्छा, द्वेष, सुख और दुःख), सङ्घात (स्थूल

देह का पिण्ड), चेतना (शरीर और अन्तःकरण की एक प्रकार की चेतन शक्ति), धृतिः (धैर्य)[इस प्रकार], सविकारम् (विकारों के सहित), एतत्, क्षेत्रम् (यह, क्षेत्र), समासेन, उदाहृतम् (संक्षेप में, कहा गया है)।

प्रश्न 4- क्षेत्र (शरीर) से युक्त आत्मा के लक्षण क्या हैं?

उत्तर- इच्छा, द्वेष, सुख, दुःखः, शरीर का यह सङ्घात-पिण्ड, चेतन-शक्ति, धृति-शक्ति- यह संक्षेप में अपने विकारों सहित 'क्षेत्र' का वर्णन है।

1. इच्छा- अमुक वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदि मिले- ऐसी जो मन में चाहना रहती है, उसको इच्छा कहते हैं।

2. द्वेष- कामना और अभिमान में बाधा लगने पर क्रोध उत्पन्न होता है। अन्तःकरण में उस क्रोध का जो सूक्ष्म रूप होता है, उसे द्वेष कहते हैं।

3. सुखम्- अनुकूलता के आने पर मन में जो प्रसन्नता होती है, उसे सुख कहते हैं।

4. दुःखम्- प्रतिकूलता के आने पर मन में जो व्याकुलता उत्पन्न होती है उसे दुःख कहते हैं।

5. सङ्घात चेतना-चौबीस तत्त्व से बने हुए शरीर समुदाय का नाम सङ्घात है। चेतना नाम प्राणशक्ति का है। इस चेतना में परिवर्तन होता रहता है- सात्त्विक वृत्ति होने पर प्राणशक्ति शान्त रहती है और चिन्ता, शोक उद्वेग, भय आदि आने पर क्षुब्ध हो जाती है। यह प्राणशक्ति निरन्तर नष्ट होती रहती है

6. धृति- धृति नाम धारणा शक्ति का है। यह धृति भी बदलती रहती है, मनुष्य कभी अच्छी बात को धारण करता है और कभी विपरीत बात को धारण करता है। अतः धृति भी क्षेत्र का विकार है।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।७।।

अमानित्वम् (अभिमान न होना), अदम्भित्वम् (दम्भ न होना), अहिंसा (हिंसा न करना), क्षान्तिः (क्षमा भाव), आर्जवम् (सरलता), आचार्योयासनम् (आचार्य की सेवा में बैठकर शिक्षण पाना), शौचम् (शुद्धता), स्थैर्यम् (स्थिरता), आत्मविनिग्रहः (आत्मा का [अपना] संयम करना)।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमहनङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।।८।।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् (इन्द्रियों के विषय में वैराग्य), च (और) अनहङ्कारः,

एव (अहंकार का अभाव), जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम् (जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग आदि में दुःख और दोषों का बार-बार विचार करना)।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।। ९।।

पुत्रदारगृहादिषु असक्ति (पुत्र, स्त्री, घर आदि में आसक्ति का अभाव), अनभिष्वङ्‌गः (ममता का न होना), च, इष्टानिष्टोपपत्तिषु (और प्रिय, अप्रिय की प्राप्ति में), नित्यम्, समचित्तत्वम् (सदा ही चित्त का सम रहना)।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।। १०

मयि (मुझ [परमेश्वर]) में, अनन्ययोगेन (अनन्य योग के द्वारा), अव्यभिचारिणी (विचलित न होने वाली= स्थिर), भक्तिः (भक्ति), च, विविक्तदेश सेवित्वम् (और एकान्त स्थान में रहने का स्वभाव), जनसंसदि, अरतिः (जन समुदाय में, अरुचि अर्थात् मनुष्य के समुदाय में प्रेम का न होना)।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।। ११।।

अध्यात्मज्ञान नित्यत्वं (अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति), तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्, (तत्त्वज्ञान के अर्थरूप परमात्मा को ही देखना), एतत् (यह सब), ज्ञानम् (ज्ञान है) यत्, अतः, अन्यथा (जो, इससे, विपरीत है), अज्ञानम्, इति, प्रोक्तम् (अज्ञान, ऐसा, कहा है)।

प्रश्न 5- ज्ञान योगी के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- 1. ज्ञान योगी में किसी प्रकार का अभिमान नहीं होता।
2. ज्ञान योगी छल-दम्भ-कपट से दूर रहता है।
3. ज्ञान योगी किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से सताता नहीं, पूर्ण अहिंसावादी होता है।
4. ज्ञान योगी वैरभाव से शून्य क्षमाभाव से परिपूर्ण रहता है।
5. सरलता उसका आभूषण होता है।
6. आचार्य की सेवा एवं उसके आदेश का पालन करना अपना धर्म मानता है।
7. बाहर भीतर की शुद्धि रखता है अर्थात् जल, मिट्टी आदि से शरीर की शुद्ध रखता है और दया, क्षमा, उदारता से अन्तःकरण की शुद्धि रखता है।
8. उसकी बुद्धि में स्थिरता होती है। बात-बात में विचलित नहीं होता।

9. उसका मन उसके वश में होता है।
10. इन्द्रियों के विषय में उसको वैराग्य होता है अर्थात् जीवन निर्वाह के लिए इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करते हुए भी साधक को विषयों में राग, आसक्ति तथा प्रियता नहीं होता।
11. उसमें अहंकार शून्यता पाई जाती है ।
12. वह जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा, रोग और इनके दोषों को बार-बार देखता है और इसे शरीर का धर्म मानता है अर्थात् इसे एक प्रक्रिया के रुप में देखता है।
13. उसकी पुत्र-स्त्री, धन-गृह आदि में आसक्ति नहीं होती।
14. वह अभीष्ट और अनभीष्ट में समभाव रखता है, 'वस्तु मिल गई तो ठीक अन्यथा कोई बात नहीं,' को मानता है।
15. प्रिय तथा अप्रिय में समचित्तता रखता है, यह भाव निरन्तर बना रहता है।
16. वह परमात्मा में अनन्य भाव से भक्ति रखता है, दिखावा नहीं करता, स्थिर भक्ति करता है।
17. वह चिन्तन तथा मनन के लिए एकान्त स्थान में वास करने को महत्त्व देता है, अधिक भीड़-भाड़ पसन्द नहीं करता अर्थात् मनुष्यों की भीड़ से बचकर रहने में आनन्द का अनुभव करता है। जनसमुदाय में सम्मिलित होने में भी उसकी अरूचि रहती है, बहुत अधिक मेलों, उत्सवों में भाग नहीं लेता।
18. वह निरन्तर आत्मा के ज्ञान में मस्त रहता है।
19. तत्त्वज्ञान ही जीवन का अर्थ है, प्रयोजन है यह भान हो जाना ही ज्ञान है, इससे जो भिन्न है, वह अज्ञान है।

क्षेत्र अलग है, क्षेत्रज्ञ अलग है, ये दोनों एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न है, जब यह ज्ञान हो जाता है तब आत्मा विषयों में जाने, उनमें आसक्त होने के स्थान के पीछे लौट पड़ता है। परमात्मा की ओर चल देता है। स्त्री-पुत्र-धन, गृह में रमे रहने के स्थान में परमरत्मा के ध्यान में मग्न रहने लगता है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विवेक से मुनष्य में ज्ञान की जिस अवस्था का उदय हो जाता है उसका यहाँ वर्णन किया गया है।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।। १२।।

यत्, ज्ञेयम् (जो जानने योग्य है), यत्, ज्ञात्वा (जिसको जानकर मनुष्य),

अमृतम् अश्नुते (परमानन्द को प्राप्त होता है), तत्, प्रवक्ष्यामि (उसको भली भाँति कहूँगा), तत्, अनादिमत् (वह, अनादिवाला), परम्, ब्रह्म (परब्रह्म), न, सत् उच्यते, न, असत् (न, सत् ही कहा जाता है और न असत् ही)।

प्रश्न 6- जानने योग्य ज्ञेय अर्थात् परमात्मा क्या है?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से परमात्मा के बारे में क्या जानना चाहता है उसे श्री कृष्ण जी ने इन शब्दों में प्रकट किया है, ''हे अर्जुन! जो जानने योग्य ज्ञेय है, उस परमात्मा तत्त्व को मैं अच्छी तरह से कहूँगा। जिसको जानकर मनुष्य अमरता का अनुभव कर लेता है, वह (ज्ञेयतत्त्व) अनादि और परमब्रह्म है उसको न सत् कहा जा सकता है और न ही असत् कहा जा सकता है।''

जैसे आत्मा पिण्डरूपी क्षेत्र के लिए क्षेत्रज्ञ है, वैसे ही परब्रह्म 'ब्रह्माण्ड' रूपी क्षेत्र के लिए क्षेत्रज्ञ है। इसी क्षेत्रज्ञ को ही गीता में 'ज्ञेय' कहा गया है। इस श्लोक में ब्रह्माण्ड के इसी क्षेत्रज्ञ, ज्ञेय, परब्रह्म का वर्णन किया गया है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। १३।।

तत् (वह परमात्मा), सर्वतः, पाणिपादम् (सब ओर हाथ, पैर वाला), सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् (सब ओर नेत्र, सिर और मुखवाला), सर्वतः श्रुतिमत् (सब ओर कान वाला है)[क्योंकि वह] लोके (संसार में), सर्वम्, आवृत्य, तिष्ठति (सबको, व्याप्त करके, स्थित है)।

प्रश्न 7- यदि परमात्मा 'सत्', 'असत्' से परे है तो वह क्या है?

उत्तर- परमात्मा 'सत्' नहीं है, 'असत्' भी नहीं है, फिर भी ब्रह्माण्ड रूपी क्षेत्र के परब्रह्म-रूपी क्षेत्रज्ञ के, इस ज्ञेय का कुछ वर्णन तो हो सकता है, वही वर्णन आगे किया है-

जहाँ देखो उसके हाथ पैर है, जहाँ देखो उसकी आँखें, उसके सिर और मुख हैं, जहाँ देखो उसके कान हैं, वह सबको लपेट कर इस लोक में ठहरा हुआ है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार- गीता का यह वर्णन ११वें अध्याय के 'विश्व-रूप-दर्शन' से मेल खाता है। वहाँ कहा गया है कि यह सृष्टि भगवान् का प्रत्यक्ष रूप है। उसी विचार शृंखला को आधार बनाकर यहाँ कहा गया है- ये सब चारों ओर जो हाथ पाँव दिखलाई देते हैं, आँख, कान, सिर और मुख दिखलाई देते हैं, ये उसी ब्रह्म के हैं, क्षेत्रज्ञ के हैं, काल्पनिक अर्थों में नहीं,

यथार्थ में, सत्य अर्थों में। प्राणियों के जो अंग-अवयव दीखते हैं, वे सब उसी विश्वात्मा के हैं, इनमें भगवान् के क्षेत्रज्ञ के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। गीता की यही बात वेद से ली गई है-

''विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरूत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमि जनयन् देव एकः।''

ऋग्वेद १०.८१.३

अर्थात् उस एक देव के जो द्युलोक और पृथ्वी लोक का जनक है। चारों तरफ चक्षु है, चारों तरफ मुख हैं, चारों तरफ बाहु और पाद हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह स्थूल है। वह सूक्ष्म है, इन्द्रियों का विषय नहीं है परन्तु फिर भी इन्द्रियों से उसका आभास होता है। तेज का क्या रूप है? तेज का रूप न होते हुए भी वह दीप-शिखा में दिखता है। मिठास का रूप न होते हुए भी उसका आभास शक्कर में होता है। रस को हम नहीं पकड़ सकते परन्तु जल में उसकी झलक दिख जाती है। परमेश्वर का आकार नहीं फिर भी आत्मा में उसका अनुभव होता है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च।। १४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासम् (सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला है), सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् (सब इन्द्रियों से रहित है), च, असक्तम्, एव (और, आसक्तिरहित होने पर, भी), सर्वभृत् (सबका धारण पोषण करने वाला), च, निर्गुणम् (और निर्गुण होने पर भी), गुणभोक्तृ (गुणों को भोगने वाला है)।

प्रश्न 8- यहाँ परमात्मा के सगुण और निर्गुण स्वरूप की एकता का कथन किस प्रकार किया गया है?

उत्तर- उसकी अपनी कोई इन्द्रिय नहीं है, फिर भी सब इन्द्रियों का आभास उसमें विद्यमान है। इससे यह बात नहीं समझ लेनी चाहिये कि वह ज्ञेय परमात्मा अन्य जीवों की भाँति इन्द्रियों वाला है। वह इस प्रकार की इन्द्रियों से सर्वथा रहित होते हुए भी सब जगह उन-उन इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है। इसलिए उसको सब स्थान, सब इन्द्रियों वाला और सब इन्द्रियों से रहित कहा गया है। श्रुति में भी कहा है:-

''अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः (श्वेताश्वेतरोपनिषद् ३/१९) अर्थात् वह परमात्मा बिना हाथ-पैर के वेग से

चलता और ग्रहण करता है, बिना नेत्रों के देखता है और बिना कानों के सुनता है। तुलसीदास जी ने भी लिखा है:– ''**बिनु पग चलहि सुनहि बिनु काना।**'' अतएव उसका स्वरूप अलौकिक है। यहाँ यही वर्णन किया गया है।

वह अनासक्त है फिर भी सबको (आसक्त की तरह) सम्भाले हुए है अर्थात् वह ज्ञेयस्वरूप सर्वव्यापी परमात्मा वास्तव में आसक्ति के दोष से सर्वथा रहित है तो भी प्रकृति के सम्बन्ध से सबका धारण पोषण करने वाला है। यही उसकी आलौकिकता है।

स्वयं प्रकृति के सत्त्व-रज-तम गुणों से रहित है फिर भी प्रकृति के गुणों को जानने वाला है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।। १५।।

भूतानाम्, बहि:, अन्त: (सब प्राणियों के, बाहर, भीतर है), च, चरम्, अचरम् (और चल-अचल भी हैं), च, तत् (और, वह), सूक्ष्मत्वात्, अविज्ञेयम् (सूक्ष्म होने से, जाना नहीं जा सकता), च, अन्तिके (तथा, अति समीप में), च, दूरस्थम्, तत् (और, दूर में भी, स्थित वही है)।

प्रश्न 9- यहाँ पर परमात्मा की व्यापकता का सर्वात्मरूप से किस प्रकार कथन किया गया है?

उत्तर- यहाँ पर विरोधाभासों को कवितामय ढंग से प्रस्तुत किया गया है- वह प्राणियों के बाहर भी है और अन्दर भी है। वह चल है और अचल भी है और वह सूक्ष्म होने से अविज्ञेय है इसलिए जाना नहीं जा सकता। वह दूर है और पास भी है। लगता है, यह श्लोक ईशोपनिषद की वर्णन शैली का रूपान्तर है। वहाँ भी इसी प्रकार के भाव को व्यक्त करतं हुए कहा गया है :-

''**तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके।**
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:''

वह ज्ञेय स्वरूप परमात्मा सब प्राणियों के बाहर भीतर कैसे?

जिस प्रकार समुद्र में पड़े हुए बर्फ के ढेलों के बाहर और भीतर सब स्थान पर जल ही जल व्याप्त है, इसी प्रकार समस्त चराचर भूतों के बाहर-भीतर वह ज्ञेय स्वरूप परमात्मा परिपूर्ण है।

वह गतिमान् न होते हुए भी गतिमान् कैसे है? - जो सूक्ष्म होने से सब स्थान में है, वह गतिमान् तो नहीं हो सकता। गति तो वहाँ होती है, जहाँ दूरी

हो। वह सब स्थानों पर है, उसे कहीं जाना नहीं। फिर उसमें गति कैसे होगी? फिर वह गतिमान् न होते हुए भी गतिमान् कैसे है? ठीक ऐसे जैसे रेलगाड़ी में बैठा हुआ 'मैं' सारी दुनियाँ का चक्कर काट आता हूँ। गति तो गाड़ी में है परन्तु गाड़ी में बैठा-बैठा 'मैं' दुनिया भर में हो आता हूँ। वह परब्रह्म हर गतिमान् में विराजमान् है। इसलिए गति न करता हुआ भी वह गति कर लेता है, वह दूर है फिर भी निकट है। स्थूल वस्तुओं के विषय में कहा जा सकता है कि वे किसी स्थान विशेष से बँधी हुई हैं। एक वस्तु यहाँ, दूसरी वस्तु वहाँ है, इसलिए सम्भव हो सकता है परन्तु परब्रह्म तो स्थूल नहीं सूक्ष्म है। सूक्ष्म होने के कारण सब स्थान पर है। जो यहाँ, वहाँ से बँधा नहीं है, उसके लिए यह कहना ही ठीक जंचता है कि वह दूर है, फिर भी पास है।

सूक्ष्म होने के कारण ही गीता ने परमात्मा को अविज्ञेय कहा है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होती जाती है, वह उतनी ही अविज्ञेयता की कोटि में चलती जाती है। पृथ्वी सब से अधिक स्थूल है, जल पृथ्वी से सूक्ष्म है, अग्नि जल से सूक्ष्म है, आकाश सब से सूक्ष्म है, परब्रह्म तो आकाश से भी सूक्ष्म है, उसे कैसे जाना जा सकता है?

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।। १६।।

अविभक्तम् (अखण्डित), च, (भी), भूतेषु, विभक्तम्, इव (चराचर सम्पूर्ण भूतों में, विभक्त, सा), स्थितम् (स्थित प्रतीत होता है), च (तथा), तत् (वह), ज्ञेयम् (जानने योग्य परमात्मा), भूतभर्तृ (धारण पोषण करने वाला), च (और), ग्रसिष्णु (ग्रसन (संहार) करने वाला), च (तथा), प्रभविष्णु (ब्रह्मारूप से सबको उत्पन्न करने वाला है)।

प्रश्न 10- परमात्मा के उत्पत्ति, पालन और संहार करने वाले रूप का कथन किस प्रकार किया गया है?

उत्तर- परमात्मा सब प्राणियों में पृथक्-पृथक् दिखाई देता है, परन्तु वह बँटा हुआ नहीं, वह एक ही है और सर्वव्यापक है। ऐसा परमात्मा जानने योग्य है प्राणियों का पोषण और धारण करता है। संहार करने वाला भी है और सबको उत्पन्न करने वाला भी है।

वह किसी प्रकार भी खण्डित नहीं हो सकता, किन्तु भक्त लोग मेरा प्रभु हृदय में बैठा है, इस प्रकार प्रेमवश उसे खण्डित सा मान लेते हैं। तभी वह

'ईश्वर अंश जीव अविनाशी' कह देते हैं जो कि उनका अपना चिन्तन है। वह प्राणी मात्र का पालन पोषण करने वाला, संहार करने वाला तथा उत्पन्न करने वाला है, परन्तु भक्त लोग अपनी भक्ति के लिए तीनों गुणों वाला अलग-अलग करके याद कर लेते हैं। इसी प्रकार दुनिया में ब्रह्मा, विष्णु महेश अलग-अलग से परमात्मा बना दिये गये हैं।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।। १७।।

तत्, ज्योतिषाम्, अपि, ज्योति (वह, परब्रह्म ज्योतियों की, भी, ज्योति है), तमसः, परे, उच्यते (अन्धकार से, परे, कहा जाता है), ज्ञानम्, ज्ञेयम्, ज्ञानगम्यम् (ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञान से प्राप्य), सर्वस्य, हृदि, विष्ठितम् (सबके, हृदय में, विशेष रूप से स्थित है)।

प्रश्न 11- ज्ञान द्वारा प्राप्त होने योग्य परमात्मा के परम प्रकाशमय स्वरूप का कैसा कथन किया गया है?

उत्तर- वह ब्रह्म ज्योतियों का भी ज्योति (प्रकाशमान पदार्थों में), प्रकाश है। तमस् (अन्धकार) से पृथक् है। वह ज्योति स्वरूप (ज्ञानवान्) है। वह जानने योग्य है एवं ज्ञान से ही जानने योग्य हैं और सबके हृदय में स्थित है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है-

ज्योति का काम प्रकाशित करना है, दिखाना है। बिना ज्योति के बिना प्रकाश के सब अन्धकार में रहता है। हमें किसी वस्तु का ज्ञान, उसकी प्रतीति नहीं हो सकती, जब तक 'चेतना' न हो, इसलिए शास्त्रों में 'चेतना' को ज्योति का, प्रकाश का नाम दिया है। भगवान् महाचैतन्य है, इसलिए उसे गीता में ज्योतियों की ज्योति कहा है। सूर्य-चन्द्र-तारों की ज्योति जड़ जगत् की ज्योति है। चैतन्य-ज्योति के सम्मुख इस जड़-जगत् की ज्योतियाँ फीकी पड़ जाती हैं। चैतन्य की ज्योति से जहाँ जगत् दीखने लगता है, वहाँ अपने-आप को भी हम आत्म-सत्ता के रूप में अनुभव करने लगते हैं, देखने लगते हैं। इसलिए आत्मा की चेतना को ज्योति ही नहीं ज्योतियों की ज्योति कहा गया है। यहाँ आध्यात्मिक ज्योति सूर्य-चन्द्रादि की भौतिक ज्योति से भिन्न है।

भौतिक जगत् में जब हम 'प्रकाश' कहते हैं, तब 'अन्धकार' का विचार अपने आप आ जाता है। 'प्रकाश' होगा तो 'अन्धकार' होगा, दोनों सापेक्ष शब्द

जो ठहरे। आध्यात्मिक-ज्योति में तो प्रकाश-ही-प्रकाश है, वहाँ अन्धकार का विचार ही नहीं आता। इसलिए गीता ने कहा- वह आध्यात्मिक ज्योति अन्धकार से परे है। ऐसी आध्यात्मिक ज्योति तो हमारे हृदय में परमात्मा के रूप में बैठी हुई है। वही ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।। १८।।

इति (इस प्रकार), क्षेत्रम्, तथा, ज्ञानम्, च, ज्ञेयम् (क्षेत्र और ज्ञान और ज्ञेय), समासतः, उक्तम् (संक्षेप में, कहा गया), मद्भक्तः (मेरा भक्त), एतत्, विज्ञाय (इसको, तत्त्व से जानकर), मद्भावाय, उपपद्यते (मेरे (परमात्मा के) स्वरूप को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 12- परमात्मा के स्वरूप को कौन प्राप्त कर सकता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे अर्जुन! मैंने तुझे क्षेत्र (शरीर), ज्ञान (का साधन) और जानने योग्य परमात्मा का स्वरूप संक्षेप में बताया है। इस तत्त्व को जानकर मेरा भक्त (अनुयायी या शिष्य) परमात्मा से युक्त हो मुक्त (परमात्मा को प्राप्त) होता है अर्थात् मेरे सदृश ही प्रभु भक्त बन जाता है।''

स्वामी रामसुख दास जी की व्याख्या :- क्षेत्र को ठीक तरह से जान लेने पर क्षेत्र से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। ज्ञान को अर्थात् साधन-समुदाय को ठीक तरह से जानने से, अपनाने से देहाभिमान मिट जाता है। ज्ञेय तत्त्व को ठीक तरह से जान लेने पर उसकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् परमात्मतत्त्व के साथ अभिन्नता का अनुभव हो जाता है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। १९।।

प्रकृतिम्, च, पुरुषम् (प्रकृति और पुरुष), उभौ, एव (इन दोनों को, ही), अनादि, विद्धि (अनादि, जान) च (और), विकारान् (राग, द्वेषादि विकारों), च (और), गुणान् (सत्त्व, रजस, तमस् गुणों को), अपि (भी), प्रकृतिसम्भवान्, एव विद्धि (प्रकृति से उत्पन्न जान)।

प्रश्न 13- प्रकृति और पुरुष (आत्मा) को कैसा जानें ?

उत्तर- यहाँ दो प्रश्नों के उत्तर हैं- प्रकृति और पुरुष को अनादि जानना होगा। प्रकृति से ही गुणों (सत्त्व, रजत्, तमस्) का होना और परिवर्तनों (विकारों) का होना सम्भव है।

यहाँ पुरुष से अभिप्राय जीवात्मा से है, जिसे ज्ञान की आवश्यकता है अर्थात् जो अज्ञानी है। राग-द्वेषादि विकारों को तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही उत्पन्न जानना चाहिए।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।। २०।।

कार्यकरणकर्तृत्वे (कार्य अर्थात् देह, करण अर्थात् देह के उपकरणों [इन्द्रियादि आदि]की रचना करने में), हेतुः, प्रकृतिः, उच्यते (हेतु, प्रकृति, कही जाती है), पुरुषः, सुखदुःखानाम्, भोकृत्वे (जीवात्मा सुखदुःख के भोगने में), हेतुः, उच्यते (हेतु कहा जाता है)।

प्रश्न 14- कार्य-करण की उत्पत्ति में जीवात्मा के सुख-दुःख भोगने में कौन हेतु है?

उत्तर- कार्य और करण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है। आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी- ये पाँचों महाभूत तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध- ये पाँचों इन्द्रियों के विषय है, इन दसों का वाचक यहाँ 'कार्य' शब्द है। बुद्धि अहंकार और मन- ये तीनों अन्तःकरण, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं वाक्, हस्त, पाद, गुदा, उपस्थ - ये पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, इन तेरह का वाचक यहाँ 'करण' शब्द है। ये 23 तत्त्व प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। प्रकृति ही इनका उपादान कारण है, इसलिए प्रकृति को इनके उत्पन्न होने में हेतु बतलाया गया है।

जीवात्मा सुख-दुःखों के भोगने में हेतु कहा गया है। यहाँ तीन को अन्तःकरण बतलाया गया है बुद्धि, अहंकार और मन, परन्तु अन्य शास्त्रों में चित्त को भी चौथा अन्तःकरण माना गया है। यहाँ पर गीताकार 'चित्त' और 'मन' को भिन्न तत्त्व नहीं मानते, एक ही तत्त्व के दो नाम मानते हैं। साँख्य और योगशास्त्र ऐसा ही मानते हैं।

यहाँ जीवात्मा को सुख दुःख को भोगने में हेतु बतलाया गया है, जबकि जीवात्मा को निर्लेप और शुद्ध माना गया है। इसके उत्तर में गीताकार का यह कथन है कि प्रकृति जड़ है, उसमें भोक्तापन की सम्भावना नहीं है और जीवात्मा असङ्ग है, इसलिए उसमें भी वास्तव में भोक्तापन नहीं है। प्रकृति के सङ्ग से ही पुरुष के भोक्तापन की प्रतीति-सी होती है और यह प्रकृति - पुरुष का सङ्ग अनादि है, इसलिए यहाँ पुरुष को सुख-दुःखों के भोक्तापन में हेतु

यानि निमित्त माना गया है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।। २१।।

प्रकृतिस्थः, हि, पुरुषः (प्रकृति में स्थित, ही, पुरुष), प्रकृतिजान् (प्रकृति से उत्पन्न), गुणान्, भुङ्क्ते (त्रिगुणात्मक पदार्थ को, भोगता है), गुणसङ्गः, अस्य (गुणों का संग ही, इस जीवात्मा के), सदसद्योनिजन्मसु, कारणम् (अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने का, कारण है)।

प्रश्न 15- प्रकृति के संग से पुरुष को क्या-क्या प्राप्त होता है?

उत्तर- पुरुष प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों का भोग करता है। इन गुणों के साथ संग हो जाना ही इस पुरुष के अच्छी या बुरी योनियों में जन्म का कारण है।

जीवात्मा शरीर के करणों की सहायतासे कार्य करता है। संसार के पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं। इन गुणों से प्रेरित जीवात्मा शरीर से कार्य करता है और जन्म-जन्मान्तर का भोग करता है। यहाँ यह नहीं बताया गया कि शरीर कर्म करने की प्रेरणा कैसे देता है। एक अन्य स्थान पर बताया है, कि कामनाएँ ही हैं, जो कर्म करने की प्रेरणा देती हैं। इन कामनाओं से ही संकल्प बनते हैं। वेद में इनको शान्त करने के लिए प्रार्थना की गई है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। २२।।

अस्मिन् देहे स्थितः, अपि (इस, देह में, स्थित), पुरुषः (जीवात्मा), परः (परम है), उपद्रष्टा, च, अनुमन्ता (साक्षी होने से उपद्रष्टा, और, यथार्थ, सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता), भर्ता (भरण करने वाला), भोक्ता (भोगने वाला), महेश्वरः (महेश्वर), च (और), परमात्मा, इति, उक्तः (परमात्मा ऐसा कहा गया है)।

प्रश्न 16- इस देह में परम पुरुष को क्या कहते हैं? वह कैसा है?

उत्तर- इस देह में परम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहते हैं, द्रष्टा कहते हैं, अनुमन्ता कहते हैं, भर्ता, महेश्वर कहते हैं। डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार - इस अध्याय में एक ही विचार को 'क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार' तथा 'प्रकृति-पुरुष-विचार की शब्दावली में कहा गया है। 'क्षेत्र' का अर्थ देह तथा सृष्टि है, प्रकृति का अर्थ भी देह तथा सृष्टि है, क्षेत्रज्ञ का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा है।

पुरुष का अर्थ भी आत्मा तथा परमात्मा है। जैसे क्षेत्रज्ञ क्षेत्र का भोक्ता है, वैसे पुरुष प्रकृति का भोक्ता है। गीता इस बात को स्पष्ट करना चाहती है कि हमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ, प्रकृति तथा पुरुष के भेद को समझ लेना चाहिए। सब अनर्थों की जड़ जो बात है वह यह है कि या तो हम प्रकृति और पुरुष के भेद को नहीं समझते दोनों को एक समझ लेते हैं, या दोनों में से किसी एक को ही सत्य समझते हैं, दूसरे को असत्य समझते हैं। गीता का कहना है कि प्रकृति तथा पुरुष के भेद को समझ लेना आवश्यक है।

इस श्लोक में परमात्मा को उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर कहा गया है। ये सभी शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। श्री विनोबा जी का कहना है कि इन शब्दों से यह बतलाया गया है कि जब हम देह तथा आत्मा का अलग-अलग भान करने लगते हैं तब परमात्म शक्ति का उत्तरोत्तर अनुभव बढ़ता जाता है। परमात्म-शक्ति के अनुभव का उत्तरोत्तर विकास इस प्रकार क्रमशः होने लगता है। अब उपद्रष्टा आदि शब्दों का विवेचन किया जा रहा है -

(1) उपद्रष्टा- यह पहली अवस्था है जिसमें देहस्थित आत्मा का विचार नहीं आता, मनुष्य शारीरिक क्रियाओं में लीन रहता है। यह वह अवस्था है, जिसमें आत्मा केवल देखता है, मनुष्य के विकास का प्रारम्भ इसके बाद होता है। माँ जिस तरह कुएँ की ओर रेंगते हुए जाने वाले बच्चे के पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हम पर निगाहें रखे खड़ा रहता है। शान्ति के साथ सब क्रियाओं को देखता है। इस स्थिति को गीता ने 'उपद्रष्टा' कहा है, साक्षी रूप से सब देखने वाला।

(2) अनुमन्ता- यह जीव जो अपने को देह समझकर सब व्यवहार करता है, वह आगे चलकर जागता है। उसे भान होने लगता है कि अरे, मैं पशु की तरह जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। जीव जब इस तरह का विचार करने लगता है तब उसकी स्वच्छन्दता पर संयम आता है। अब तक परमात्मा साक्षी-रूप था, देखता भर था, सम्मति नहीं दे रहा था, परन्तु जब इस नैतिक भूमिका में आता है, तब परमात्मा केवल चुप बैठकर नहीं देखता, वह भीतर से अनुमोदन करता है- बहुत अच्छे से ऐसी आवाज़ अन्दर से आती है। अब परमात्मा 'उपद्रष्टा' न रहकर 'अनुमन्ता' बन जाता है।

(3) भर्ता- नैतिक जीवन जिसमें उसे (जीव को)भगवान् का अनुमोदन मिल जाता है, बड़ा कठिन है। मनुष्य इस जीवन में थक जाता है- और कह

उठता है - हे भगवान्! मेरे उद्योगों की, मेरी शक्ति की पराकाष्ठा हो गई। मुझे शक्ति दो, मुझे बल दो। जब वह आर्तभाव से परमात्मा को पुकारता है, और तब परमात्मा जो अब तक केवल शाबाशी दे रहा था, सहायता के लिए दौड़ पड़ता है। सच्चे साधकों का ही नहीं, जीवन के साधारण व्यवहार में परमात्मा पर आस्था रखकर चलने वालों का यह अनुभव है कि जब हम नैतिक मार्ग पर चलते-चलते थक जाते हैं, तब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि अब नैय्या को पार लगाना हमारे हाथ में नही रहा, तब कोई महान् शक्ति अपना हाथ बढ़ाकर हमें सब संकटों से ऊपर उठा ले जाती है। यह अवस्था 'भर्ता' की अवस्था है।

(4) भोक्ता- यह आत्मिक विकास की अगली सीढ़ी है। परमात्मा के कृपा-प्रसाद से कर्म का जो फल मिले उसे स्वयं न लेकर उसी को अर्पण कर देने की यह अवस्था है। इस भूमिका में जीव परमेश्वर से कहता है- 'अपना फल तू ही भोग।' भक्त अपना सारा फल ईश्वरार्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा', 'अनुमन्ता', 'भर्ता'- इन स्वरूपों में प्रतीत होने वाला परमात्मा अब भोक्ता हो जाता है। श्री विनोबा जी का कहना है कि अब जीव उस भूमिका में आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीर में भोगों को भोगता है।

(5) महेश्वर- परमात्मशक्ति के विकास की यह अन्तिम भूमिका है। इसे अवस्था में परमेश्वर अपने महेश्वर के स्वरूप से मार्गदर्शन करता है। वही समस्त लोकपाल का भी नियमन करने वाला महान् ईश्वर है। इसलिए उसे महेश्वर कहते हैं और वस्तुतः वह सदा ही सब गुणों से सर्वथा अतीत है। इसलिए उसे परमात्मा कहते हैं। इस प्रकार वह एक ही परब्रह्म 'परमात्मा' भिन्न-भिन्न निमित्तों से भिन्न-भिन्न नामों द्वारा पुकारा जाता है। वस्तुतः उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है।

यह श्लोक उन सभी भ्रमों को दूर करता है जो लोग कई परमात्मा मानते हैं। परमात्मा केवल एक है और उसका मुख्य एवं निज नाम 'ओ३म्' है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।। २३।।

एवम् (इस प्रकार), पुरुषम्, च, गुणैः सह (पुरुषों को, और गुणों के सहित), प्रकृतिम्, यः, वेत्ति (प्रकृति को, जो मनुष्य, जानता है), सः, सर्वथा, वर्तमान, अपि (वह, सब प्रकार से, कर्तव्य कर्म करता हुआ, भी) भूयः, न, अभिजायते

(फिर, नहीं, जन्मता)।

प्रश्न 17- किस का पुनर्जन्म नहीं होता ?

उत्तर- जो मनुष्य पुरुष तथा प्रकृति को इस प्रकार अर्थात् परमात्मा साक्षी रूप है, जीवात्मा नाना योनियों में जन्म लेने वाला है तथा प्रकृति का संग नाना गुण उत्पन्न करने वाला है ऐसा वे जानता है, वह यद्यपि संसार-चक्र में वर्तमान रहता है, तथापि उसका साधारण भोगार्थ जन्म फिर नहीं होता, परन्तु श्री कृष्ण जी की तरह लोक-कल्याणार्थ अपवर्गार्थ जन्म तो होता ही है।

प्रकृति और पुरुष के तत्त्व को जान लेने के साथ ही पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध टूट जाता है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग अज्ञान जनित माना गया है। जब तक प्रकृति और पुरुष का पूर्ण ज्ञान नहीं होता तभी तक पुरुष का प्रकृति से और उसके गुणों से सम्बन्ध रहता है और तभी तक उसका बार-बार योनियों से जन्म होता है। अतएव इनका तत्त्व जान लेने के बाद पुनर्जन्म नहीं होता।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।। २४।।

आत्मानम् (परमात्मा को), केचित् (कितने ही मनुष्य तो), आत्मना (शुद्ध हुई, सूक्ष्म बुद्धि से), ध्यानेन, आत्मनि, पश्यन्ति (ध्यान के द्वारा, हृदय में, देखते हैं), अन्ये (अन्य कितने ही), साँख्य, योगेन (ज्ञान, योग के द्वारा), च (और), अपरे (दूसरे कितने ही), कर्मयोगेन (कर्मयोग के अनुसरण से) [प्राप्त करते हैं]।

प्रश्न 18- किस-किस योग से भगवत् प्राप्ति की जाती है ?

उत्तर- कुछ लोग 'ध्यानयोग' द्वारा दूसरे लोग 'ज्ञान योग' और कुछ लोग 'कर्मयोग' द्वारा अपने आप से अर्थात् अपने देह से अपने आपको अर्थात् आत्मा को अलग देख लेते हैं।

तीन प्रकार से इस संसार को पार किया जा सकता है-

1 बुद्धि द्वारा शरीर और इन्द्रियों पर शासन करने से।

2 ज्ञान के विषय और इन्द्रियों को समझकर उनके भोग और भोग के परिणामों को समझ लेने से।

3 निष्काम भाव से इस संसार में रहने से।

तीनों का प्रभाव समान रूप से होता है। विषयों में अनासक्ति उत्पन्न होती है और फिर वह अनासक्ति कर्म पर प्रभाव डालती है इससे अन्ततोगत्वा निष्काम भाव से कर्म होने लगते हैं, यही मोक्ष प्राप्ति का मार्ग है या भगवत्प्राप्ति का मार्ग है।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।। २५।।

तु (परन्तु), अन्ये (अन्य लोग), एव, अजानन्तः (इस प्रकार, न जानते हुए), अन्येभ्यः (दूसरे से अर्थात्, तत्त्व के जानने वाले पुरुषों से), श्रुत्वा (सुनकर), उपासते (उपासना करते हैं), च, ते, श्रुतिपरायणाः, अपि (और, वे, श्रवणपरायण पुरुष, भी), मृत्युम्, अतितरन्ति, एव (मृत्यु को, निःसन्देह तर जाते हैं)।

प्रश्न 19- क्या महान् पुरुषों के संग से भी मृत्यु को तरा जा सकता है ?

उत्तर- दूसरे कुछ लोग जो ध्यान योग, ज्ञान योग, कर्मयोग को नहीं जानते, वे भी सत्संग के द्वारा (जो महापुरुषों का होता है) भी सुनकर तदनुसार अपने जीवन को बना लेते हैं, वे भी मृत्यु को तर जाते हैं।

जो मनुष्य महापुरुषों की आज्ञा के परायण हो जाते हैं उनका शरीर से माना हुआ सम्बन्ध छूट जाता है। अतः वे मृत्यु को तर जाते हैं। स्वामी रामसुख दास जी ने ऐसे श्रुतपरायण साधकों की तीन श्रेणियाँ बताई हैं-

1 यदि साधक में सांसरिक सुख भोग की इच्छा नहीं, केवल तत्त्व प्राप्ति की ही उत्कट अभिलाषा है और वह जिनकी आज्ञा का पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष हैं, तो साधक को शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

2 यदि साधक में सुखभोग की इच्छा शेष है तो केवल महापुरुष की आज्ञा पालन करने से ही उसकी इस इच्छा का नाश हो जायेगा और उसे परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी।

3 साधक जिनकी आज्ञा का पालन करता है, वे अनुभवी महापुरुष नहीं हैं, पर साधक में किचिन्मात्र भी सांसारिक इच्छा नहीं है और उसका उद्देश्य केवल परमात्मा की प्राप्ति करना है, तो उसको भगवत्कृपा से परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी।

यावत्सञ्जायते किञ्चत्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।। २६।।

भरतर्षभ (हे अर्जुन!), यावत् (जितना, जो कुछ भी), किंचित् (जितने भी), स्थावरजङ्गमम्, सत्त्वम्, सञ्जायते (स्थावर तथा जंगम, प्राणी, उत्पन्न होते

हैं), तत् (उन सब को तू), क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्, विद्धि (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से, जान)।

प्रश्न 20- स्थावर तथा जंगम प्राणियों की उत्पत्ति कैसे होती है ?

उत्तर- स्थावर और जंगम जितने भी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनको क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ के संयोग से ही उत्पन्न हुआ समझना चाहिए।

देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि चलने-फिरने वाले प्राणियों को जंगम कहते हैं और वृक्ष, लता, आदि स्थिर रहने वाले प्राणियों को स्थावर कहते हैं।

स्वामी ज्ञानानन्द जी ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है- क्षेत्र अपने आप में कुछ नहीं। क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा का संयोग होता है तो ही इनकी उत्पत्ति है। भले ही वृक्ष, लता, आदि स्थिर रहने वाले हो या फिर जलचर, नभचर थलचर आदि जीव हो- बिना क्षेत्रज्ञ परमात्मा के इनका कोई आधार नहीं। इसे गीता उपदेष्टा ने कहीं परा-अपरा प्रकृति के रूप में कहा और कहीं-कहीं तो स्पष्ट परमात्मा तत्त्व मुखरित कर दिया। यह कहकर कि 'सम्पूर्ण प्राणी जगत् मेरे से ही हैं इसकी उत्पत्ति, प्रलय सब मुझ में है' गीताकार ने नानाविध सृष्टि का नियामक परमात्मा को ही स्वीकार किया है। सार यही है कि सृष्टि क्षेत्रज्ञ अर्थात्- चैतन्यता में केन्द्रित है, जड़ता में नहीं।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।। २७।।

यः (जो पुरुष), विनश्यत्सु (नष्ट होते हुए), सर्वेषु, भूतेषु (सब चराचर प्राणियों में), परमेश्वरम् (परमेश्वर को), अविनश्यन्तम्, समम् (नाशरहित और समभाव से) तिष्ठन्तम्, पश्यति (स्थित देखता है), सः पश्यति (वही यथार्थ देखता है)।

प्रश्न 21- कौन पुरुष यथार्थ देखता है ?

उत्तर- जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर प्राणियों में परमेश्वर को नाश रहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार :-

विनाश होना शरीर का धर्म है, आत्मा का नहीं। आत्मतत्त्व नित्य और- अविनाशी है तथा यह शरीरों के भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होने वाले समस्त प्राणी समुदायों में वस्तुतः एक ही है। यही बात इस श्लोक में कही गई है।

'जो देखता है, वही यथार्थ देखता है', से तात्पर्य यह है- आत्मतत्त्व को जन्म और मृत्यु आदि समस्त विकारों से रहित- निर्विकार एवं सम बताया गया

है। अतएव इस वाक्य से यह भाव दिखाया गया है कि जो इस नित्य चेतन एक आत्मतत्त्व को इस प्रकार निर्विकार, अविनाशी और असङ्ग रूप से सर्वत्र समभाव से देखता है- वही यथार्थ देखता है। जो इसे शरीरों के संग से जन्म- मरणशील और सुखी-दुःखी समझते हैं, उनका देखना यथार्थ देखना नहीं है। अतएव वे देखते हुए भी नहीं देखते।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।। २८।।

हि (क्योंकि), सर्वत्र, समवस्थितम् (सब में, समानभाव से स्थित), समम्, पश्यन् (समान, देखता हुआ), आत्मना (अपने द्वारा), आत्मानम् (अपने को), न, हिनस्ति (नष्ट, नहीं करता), ततः, पराम्, गतिम्, याति (इससे, वह, परम, गति को प्राप्त होता है)।

प्रश्न 22- परमेश्वर को सर्वत्र समभाव से देखने वाले को क्या फल मिलता है ?

उत्तर- परमेश्वर को सर्वत्र समभाव से विराजमान देखने के कारण वह अपने हाथों अपना हनन नहीं करता और इसी से वह परमगति पा लेता है।

गीताकार का कहना है कि संसार के रोगों की जड़ यही है कि हम क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ को अलग-अलग नहीं समझते, क्षेत्रज्ञ के -आत्मा तथा परमात्मा के- अस्तित्व को ही भुला देते हैं, क्षेत्र को, प्रकृति को ही सब कुछ समझ बैठते हैं। इस दृश्य - नाशवान् जगत् में अदृश्य आत्मा-परमात्मा को देखना ही वास्तविक देखना है। जो इस प्रकार विनाशी जगत् में अविनाशी आत्मा-परमात्मा को नहीं देखते, वे अपने हाथों अपना हनन कर बैठते हैं। परमात्मा को सर्वत्र सम-भाव से देखने वाला अपने अस्तित्व को पा लेता है, वह परम गति को प्राप्त करता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति।। २९।।

च, यः (और, जो पुरुष), कर्माणि, सर्वशः (सम्पूर्ण कर्मों को, सब प्रकार से), प्रकृत्या, एव, क्रियमाणानि, पश्यति (प्रकृति के द्वारा, ही, किये जाते हुए, देखता है), तथा, आत्मानम्, अकर्तारम्, पश्यति (और आत्मा को, अकर्ता, देखता है), सः (वही यथार्थ में देखता है)।

प्रश्न 23- आत्मा को अकर्ता मानने वाला कैसे देखता है ?

उत्तर- जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते

हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही यथार्थ देखता है।

स्वामी ज्ञानानन्द जी के अनुसार- आत्मा अकर्ता है, सब कर्म प्रकृति के द्वारा ही हो रहे हैं- यह अपने-आप में आश्चर्य सा लगता है। एक ओर तो यह कहा जाता है कि उसी चेतन सत्ता आत्मा या परमात्मा के द्वारा ही सब कुछ हो रहा है, लेकिन यहाँ बिल्कुल अलग स्थिति है। बिजली का करन्ट पंखे से हवा दिलवा रहा है, बल्ब, टयूब आदि के द्वारा प्रकाश दे रहा है, ध्यान से देखें, समझें। करन्ट स्वयं अकर्ता है। बिल्कुल यही स्थिति आत्मा शक्तियों की पराशक्ति है। उसी की शक्ति से सब काम हो रहे हैं लेकिन स्वयं आत्मा अकर्ता है, प्रकृति आत्मशक्ति का करन्ट पाकर अपना कार्य कर रही है और जीवों से उनकी प्रकृति और गुणों के अनुसार करवा रही है।

इस श्लोक में बहुत स्पष्ट प्रेरक संकेत यह है कि जीव आत्मभाव में रहे। आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है, उसे पहचाने, उसमें स्थिर रहें। प्रकृति में सब कुछ हो रहा है। उसे साक्षी बनकर देखो। उसके साथ अपने को नहीं जोड़ो। बात स्पष्ट है- सूर्य हम नहीं उदय-अस्त कर रहे, वायु हम नहीं चला रहे, वर्षा हमारे कहने से नहीं हो रही है। प्रकृति का खेल है, प्रकृति में होने दें। साक्षी भाव का आनन्द लें। स्वयं को कर्तापन के अभिमान से अलग रखें। ऐसा करने पर हम भोक्तापन के बन्धन से स्वयं मुक्त रहेंगे।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।। ३०।।

यदा (जिस क्षण यह पुरुष), भूतपृथग्भावम्, एकस्थम् (प्राणियों के पृथक्-पृथक्, एक परमात्मा में ही स्थित), च, ततः, एव (तथा, उस परमात्मा से, ही), विस्तारम्, अनुपश्यति (सम्पूर्ण प्राणियों का विस्तार देखता है), तदा, ब्रह्म, सम्पद्यते (उसी क्षण वह, परमात्मा को, प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 24- परमात्मा के एकत्व दर्शन का फल क्या है?

उत्तर- जिस क्षण यह पुरुष प्राणियों के पृथक्-पृथक् भाव को एक परमात्मा में ही स्थित और उस परमात्मा से ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है, उसी क्षण वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

जब यह देख लेता है कि पञ्चभूतों की प्रकृति का जगत् पृथक् है और एकस्थ आत्मा-परमात्मा का जगत् पृथक् है, इन पृथक्-पृथक् सत्ताओं से ही यह विस्तार हो रहा है, तब उसी क्षण ब्रह्म प्राप्त हो जाता है।

जैसे स्वप्न से जगा हुआ मनुष्य स्वप्नकाल में दिखलाई देने वाले समस्त प्राणियों के नानात्व को अपने-आप में ही देखता है और यह भी समझता है कि 'उन सबका विस्तार मुझसे ही हुआ था, वस्तुतः स्वप्न की दृष्टि से मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं था।' एक मैं ही अपने-आपको अनेक रूपों में देख रहा था- इसी प्रकार जो समस्त प्राणियों को केवल एक परमात्मा में ही स्थित और उसी से सबका विस्तार देखता है। वही ठीक देखता है और इसप्रकार देखना ही सबको एक में स्थित और उसी एक से सबका विस्तार देखना है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।। ३१।।

कौन्तैय (हे अर्जुन!), अनादित्वात्, निर्गुणत्वात् (अनादि और निर्गुण होने से), अयम्, अव्ययः, परमात्मा (यह, अविनाशी, परमात्मा), शरीरस्थः, अपि (शरीर में स्थित होने पर भी), न, करोति, न, लिप्यते (न तो, कुछ करता है और न लिप्त ही होता है)।

प्रश्न 25- अविनाशी परमात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की व्याख्या करते हुए अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन! क्योंकि यह अव्यय अविनाशी परमात्मा अनादि है, निर्गुण है, इसलिए शरीर में रहता हुआ भी न कुछ कर्म करता है, न किसी कर्म में लिप्त होता है।

अनादि-जिसका कोई आदि अर्थात् कारण न हो एवं जिसकी किसी भी काल में उत्पत्ति न हुई हो और जो सदा से हो उसे अनादि कहते हैं। **निर्गुण**-प्रकृति और उसके गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से जो सर्वथा अतीत हो, गुणों से और गुणों के कार्य से जिसका किसी काल में और किसी भी अवस्था में वास्तविक सम्बन्ध न हो उसे निर्गुण कहते हैं। वह परमात्मा भी अनादि और निर्गुण है। **अकर्ता और अलिप्तता**- वास्तव में प्रकृति के गुणों से और उनके ही विस्तार रूप बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर से परम आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह गुणों से सर्वथा अतीत है। जैसे आकाश बादलों से घिर जाने पर उनका कर्ता नहीं बनता और उनसे लिप्त नहीं होता। वैसे ही परमात्मा कर्मों का कर्ता नहीं बनता और शरीरों से लिप्त भी नहीं होता।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।। ३२।।

यथा (जिस प्रकार), सर्वगतम्, आकाशम् (सर्वत्र व्याप्त, आकाश), सौक्ष्म्यात् (सूक्ष्म होने के कारण), न, उपलिप्यते (लिप्त, नहीं होता है), तथा (वैसे ही), देहे, सर्वत्र, अवस्थितः (देह में, सर्वत्र, स्थित), आत्मा, न, उपलिप्यते (आत्मा, लिप्त नहीं होता)।

प्रश्न 26– आकाश के दृष्टान्त से परमात्मा की निर्लिप्तता का कैसा कथन किया गया है ?

उत्तर– जिस प्रकार सर्वव्यापी आकाश सूक्ष्मता के कारण किसी वस्तु से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार सब देहों में स्थित आत्मा भी किसी प्रकार शरीर के कर्म से, लिप्त नहीं होता। यहाँ अभिप्रायः यह है कि जैसे– आकाश वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी आदि सब स्थानों में समभाव से व्याप्त होते हुए भी उनके गुण–दोषों से किसी तरह भी लिप्त नहीं होता– वैसे ही परमात्मा भी इस शरीर के सब स्थानों में व्याप्त होते हुए भी अत्यन्त सूक्ष्म और गुणों से सर्वथा अतीत होने के कारण बुद्धि, मन, इन्द्रिय और शरीर के गुण–दोषों से तनिक भी लिपायमान नहीं होता।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत।। ३३ ।।

भारत (हे अर्जुन!), यथा, एकः, रवि (जिस प्रकार, एक ही, सूर्य), कृत्स्नम्, लोकम् (सम्पूर्ण, ब्रह्माण्ड को), प्रकाशयति (प्रकाशित करता है), तथा, क्षेत्री (उसी प्रकार, एक ही आत्मा), कृत्स्नम्, क्षेत्रम्, प्रकाशयति (सम्पूर्ण, क्षेत्र को, प्रकाशित करता है)।

प्रश्न 27– सूर्य के दृष्टान्त से परमात्मा के अकर्तापन का कैसा कथन किया गया है ?

उत्तर– सूर्य के दृष्टान्त से श्री कृष्ण जी अर्जुन से परमात्मा के अकर्तापन की स्थापना करते हुए ऐसा कह रहे हैं – हे अर्जुन! जिस प्रकार एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार एक ही परमात्मा सम्पूर्ण क्षेत्र को प्रकाशित करता है।

आनन्द मूर्ति गुरु माँ द्वारा दी गई व्याख्या इस प्रकार है – एक ही सूर्य हमारे सौरमण्डल को प्रकाश दे रहा है। ऐसे ही एक ही परमात्मा इस सारे जगत् के क्षेत्र को अपना प्रकाश दे रहा है। सूर्य का प्रकाश जड़ है परन्तु ब्रह्म का प्रकाश जड़ नहीं, वह चेतन है। इन दोनों में क्या अन्तर है ? सूर्य का प्रकाश

कीचड़ में, कमल में, स्वच्छ स्थान में, गन्दे स्थान में सब को एक समान मिलता है। क्या सूर्य की किरणें कीचड़ में पड़ने से अशुद्ध हो जाती है। मानो हमारी आँखें पुष्प को देख रही हैं। हम पुष्प को मसल दे तो क्या हमारी आँखे भी मसली गई ? नहीं। हम नेत्र ज्योति से बाहर संसार के रंग देखते है, पर बाहरी रगों के कारण से हमारे नेत्रों को कोई अन्तर नहीं पड़ता है। मन थक जाता है और कहता है कि पलकें बन्द करो और नहीं देखना, पर दृष्टि को कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसी प्रकार सूर्य एक समान प्रकाश देता है, ऐसे ही ब्रह्मा सब को एक समान प्रकाश दे रहा है। सबके अन्दर एक ही ब्रह्म है। दूसरा तो कोई है ही नहीं। जो दूसरा देखता है, वह अज्ञानी है। सारा खेल एक का ही है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्।। ३४।

एवम् (इस प्रकार), क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः, अन्तरम् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को), च (तथा), भूतप्रकृतिमोक्षम् (पञ्चभूतात्मक प्रकृति से आत्मा के मुक्त होने को), ये, ज्ञानचक्षुषा, विदुः (जो पुरुष, ज्ञान नेत्रों द्वारा, तत्त्व से जानते हैं), ते, परम्, यान्ति (वे महात्माजन, परम ब्रह्म परमात्मा को, प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 28– क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जानने का क्या फल है ?

उत्तर– इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को तथा कार्यसहित प्रकृति से मुक्त होने को जो पुरुष ज्ञान–नेत्रों द्वारा तत्त्व से जानते हैं, वे महात्मा जन परम ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार –

ज्ञानचक्षुषा – जब अज्ञान का नाश हो जाये, जिसकी प्राप्ति अमानित्वादि (अहंकार रहित) साधनों से होती है, यहाँ 'ज्ञानचक्षुषा' पद इसी 'तत्त्वज्ञान' का सूचक है।

उस ज्ञान के द्वारा जो भलीभाँति तत्त्व से यह समझ लेता है कि महाभूतादि २४ तत्त्वों के समुदाय रूप समष्टि शरीर का नाम 'क्षेत्र' है। यह जानने में आने वाला शरीरादि, परिवर्तनशील, विनाशी, विकारी, जड़, परिणामी और अनित्य है तथा 'क्षेत्रज्ञ' उसका ज्ञाता (जानने वाला), चेतन, निर्विकार, अकर्ता, नित्य, अविनाशी, असंग, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और एक है। इस प्रकार दोनों में विलक्षणता होने के कारण क्षेत्रज्ञ, 'क्षेत्र' से सर्वथा भिन्न है। जो उसकी क्षेत्र के साथ एकता प्रतीत होती है वह अज्ञान मूलक है। वास्तव में क्षेत्रज्ञ का उससे कुछ भी सम्बन्ध

नहीं है। यही ज्ञान चक्षु के द्वारा 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के भेद को जानना है।

भूतप्रकृतिमोक्षम्- यहाँ 'भूत' शब्द प्रकृति के कार्यरूप समस्त दृश्य वर्ग का और प्रकृति उसके कारण रूप का वाचक है। अत: कार्यसहित प्रकृति से सर्वथा मुक्त हो जाना ही भूत प्रकृति मोक्ष है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को जानने के साथ-साथ जो क्षेत्रज्ञ का प्रकृति से अलग होकर अपने वास्तविक परमात्मा स्वरूप में अभिन्न भाव से प्रतिष्ठित हो जाना है। यही कार्यसहित प्रकृति से मुक्त हो जाने को जानना है। अभिप्राय यह है कि जैसे स्वप्न में मनुष्य को किसी निमित्त से अपनी जाग्रत अवस्था की स्मृति हो जाने से ज्ञान हो जाता है कि यह स्वप्न है। अत: अपने वास्तविक शरीर में जग जाना ही इसके दु:खों से छूटने का उपाय है। इस भाव का उदय होते ही वह जग उठता है। वैसे ही ज्ञानयोगी का क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ की विलक्षणता को समझ कर साथ ही साथ जो यह समझ लेना है कि अज्ञानवश क्षेत्र को सच्ची वस्तु समझने के कारण ही इसके साथ मेरा सम्बन्ध-सा हो रहा था। अत: वास्तविक परम पिता परमात्मा में स्थित हो जाना ही इससे मुक्त होना है। यही उसका कार्यसहित प्रकृति से मुक्त होने को जानना है।

उपर्युक्त तत्त्वज्ञान होने के साथ अज्ञान सहित समस्त दृश्य का अभाव हो जाता है और तत्काल ही उनको (ज्ञानीजनों को)परमब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

सन्देश या सारांश -

1 स्वामी रामदेव जी के अनुसार - जैसा कि सातवें अध्याय के आरम्भ में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से आत्मा के बारे में विवेचन किया गया है उसके अनुसार यह सम्पूर्ण संसार उस ऊर्जा से आप्लावित है। वही ऊर्जा सब ओर फैली हुई है। वही सृष्टि का मूलतत्त्व है जिसे वेदान्त ने ब्रह्म या परब्रह्म नाम दिया है। परब्रह्म के सभी गुण उस शक्ति में है। वह निर्गुण, निराकार है। निकट से निकट, दूर से दूर, सभी चराचर पदार्थों का मूलतत्त्व होने के कारण सबमें हैं, फिर भी नाशवान् दृश्य जगत् के पदार्थों से, उनके गुणों से अलिप्त हैं, सबका कर्ता होते हुए भी अकर्ता है। आत्मा भी उसी मूलतत्त्व के समान अपरिणामी होने पर भी सत्त्व, रजस् और तमस् आदि गुणों से आवृत होने के कारण प्राणी रूप में जन्म लेने को गुणों के व्यवहारानुसार बाध्य है। जब व्यक्ति को ज्ञान होता है तो उसे मूल तत्त्व या परमतत्त्व के सर्वत्र व्याप्त होने की अनुभूति होती है। तब इन गुणों

का आवरण-आवृत्ति नष्ट होने लगती है और अन्तत: शरीर की मृत्यु के पश्चात् आत्मा मूल तत्त्व में निवास कर वहीं अवस्थान करता है अर्थात् पुन: जन्म-मरण के चक्कर में नहीं पड़ता, यही मुक्ति या मोक्ष है।

2 स्वामी ज्ञानानन्द जी के अनुसार- इस अध्याय में जहाँ क्षेत्र अर्थात् शरीर के विकारों की स्थिति स्पष्ट की गई, वहीं क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा को ज्ञान की ओर आकर्षित करने, ज्ञान में अवस्थित रहने हेतु ज्ञान के लक्षणों का वर्णन हुआ। इस रहस्य को प्रकट करते हुए परमात्मा के स्वरूप का निरूपण हुआ है। परमात्मा की सर्वव्यापकता भीतर-बाहर दूर निकट, सबमें सबकुछ, फिर भी अविभक्त अलिप्त परम प्रकाश स्वरूप इस रूप में बहुत प्रेरक भाव- इसलिए ताकि जीव परमात्मा का और परमात्मा में रहे। भूल-भ्रमवश प्रकृति से सम्बन्ध हो गया तो अच्छी-बुरी योनियों में जन्म-आवागमन का चक्र तैयार ऐसी चेतावनी भी इस अध्याय में दी गई। ध्यान, साँख्य और कर्म-यहाँ तक श्रवण को भी उपासना बना लेने पर परमात्मा प्राप्ति का स्वतन्त्र साधन बताया गया। दृष्टि को यथार्थ बनाने - जो वस्तु जैसी है, उसे वैसा देखने, अपनी अहंता, ममता कामनाओं का रंग न चढ़ाने, निर्लिप्त भाव से शरीर तथा व्यवहार-संसार में रहकर ज्ञान चक्षुओं को खुला रखने और इसी के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति की चरम अवस्था को अनुभव करने की प्रेरणा के साथ-साथ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग योग - यह १३वां अध्याय सम्पन्न हो रहा है। आओ क्षेत्र (शरीर) को केवल भोग क्षेत्र नहीं बनाये, धर्म क्षेत्र बनायें। धर्म का प्रारम्भ है उचित-अनुचित का ज्ञान, मध्य है ध्यान और चरम है परमात्मा की पहचान और फिर उसमें उसी का भान।

3 आनन्द मूर्ति गुरु माँ के अनुसार - श्री कृष्ण जी कहते हैं क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ को जानो, फिर उसके भेद को जानो और मस्त रहो। जिसने ऐसा देख लिया , उसी को तत्त्व ज्ञानी कहते हैं। जिसने प्रकृति और पुरुष के भेद को समझ लिया, उसी को साँख्य योगी कहते हैं। जिसने अपने भीतर हृदय में स्थिति पाई उसी को ध्यान योगी कहते हैं। इस ध्यान योग में जो स्थित होते हुए कर्म करता है, उसी को निष्काम कर्म योगी कहते हैं।

मेरी दृष्टि में गीता का १३ वां अध्याय सर्वपूर्ण अध्याय है। ऐसा नहीं है कि शेष अध्याय मूल्यवान् नहीं है, पर यह अपने आप में अतुलनीय है। जिसको यह १३वां अध्याय समझ में आ गया, उसके भ्रम के सब पर्दे उठ गये। वह

अहंकार मुक्त हुआ, ममता, वासनाओं से मुक्त हुआ, परम शान्ति को पाता है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार – गीता ३/२९ में कहा गया है कि 'जीव' कर्ता नहीं है। 'प्रकृति' ही कर्ता है। साँख्य का भी यही मत है। जीव तो गीता ११/३३ के अनुसार निमित्त मात्र है, वास्तविक कर्ता तो प्रकृति है। गीता का यह कथन गीता के इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिए है कि मनुष्य जो कुछ करे निष्काम-भावना से करे, सकाम भावना से न करे। जब कर्म करने वाला ही 'मैं नहीं हूँ', तब सकामता रह ही कहाँ जाती है ?

क्या अनुभव यह बतलाता है कि मैं 'कर्ता' नहीं हूँ? अनुभव तो यही बतलाता है कि 'कर्म करने वाला मैं हूँ,' प्रकृति नहीं है, प्रकृति तो मेरा साधन है, मैं प्रकृति का साधन नहीं हूँ। अनुभव यह बतलाता है कि मैं कर्म करने में स्वतन्त्र हूँ। हाँ, फल मेरे अधीन नहीं है। हमारा विचार है कि जीव को कर्म करने में स्वतन्त्र और फल भोगने में परतन्त्र मान लेने पर भी कर्म के विषय में 'निमित्तमात्र' की धारणा ही जीवन का व्यावहारिक दर्शन बना रहता है, क्योंकि वास्तविक समस्या 'कर्म' की नहीं, 'कर्म-फल' की है। जब कर्म का फल मेरे अधीन नहीं है। ''मैं जो चाहूँ '', वह फल भी हो सकता है, मैं जो न चाहूँ, वह फल भी हो सकता है,' तब सकाम-कर्म करने के स्थान में निष्काम-कर्म करना, फलासक्ति का त्याग करके कर्म करना, निमित्त मात्र बनकर कर्म करना ही व्यावहारिक दृष्टिकोण है, क्योंकि सकाम कर्म करने से तो घोर निराशा का सामना प्रत्येक समय बना रहता है।

हमें यह ध्यान में रखना होगा कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय निष्कामता है। फलासक्ति का त्याग है। इस सिद्धान्त को मुख्य रखते हुए गीता का कोई द्वैतपरक अर्थ करे, कोई अद्वैतपरक, कोई कर्मपरक अर्थ करे, कोई भक्तिपरक या ज्ञान परक इससे गीता के केन्द्रीय विचार में कोई भेद नहीं पड़ता।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योग-शास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन-संवाद है, उस संवाद का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योग नामक १३वां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ चतुर्दशोऽध्यायः
गुण-त्रय-विभाग-योग

प्रधान विषय –

(1) ज्ञान की महिमा और प्रकृति-पुरुष से जगत् की उत्पत्ति –श्लोक संख्या 1 से 4 तक।

(2) सत्त्व, रजस्, तमस् तीनों गुणों का विषय –श्लोक संख्या 5 से 18 तक।

(3) भगवत्-प्राप्ति का उपाय और गुणातीत पुरुष के लक्षण- श्लोक संख्या 19 से 27 तक।

भूमिका :- श्री कृष्ण जी ने १३ वें अध्याय के अन्त में कहा है कि ज्ञानचक्षु से क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेद को देखने वाला परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अब प्रश्न होता है कि वह ज्ञान क्या है ? और उसकी क्या महिमा है तथा उस ज्ञान की प्राप्ति का सरल उपाय क्या है ? बन्धन दो से होता है- प्रकृति से और प्रकृति के कार्यगुणों से। प्रकृति के बन्धन से छूटने के लिए श्री कृष्ण जी ने १३वें अध्याय का विषय बता दिया। अब प्रकृति के कार्य गुणों के बन्धन से छूटने के लिए श्री कृष्ण जी ने १४वें अध्याय का आरम्भ किया है।

इस अध्याय में सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीनों गुणों के स्वरूप का, उनके कार्य कारण और शक्ति का; तथा किस प्रकार इनसे छूट कर मनुष्य परम पद को प्राप्त हो सकता है तथा इन तीनों गुणों से अतीत होकर परमात्मा को प्राप्त मनुष्य के क्या लक्षण हैं ? इन्हीं त्रिगुण-सम्बन्धी बातों का विवेचन किया गया है। पहले साधन काल में रजस् और तमस् का त्याग करके सत्त्वगुण को ग्रहण करना और अन्त में सभी गुणों से सर्वथा सम्बन्ध त्याग देना चाहिये। इसको समझाने के लिए उन तीनों गुणों का विभागपूर्ण वर्णन किया गया है। इसलिए इस अध्याय का नाम गुण-त्रय विभाग-योग रखा है।

१३वें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के लक्षणों का निर्देश करके उन दोनों के ज्ञान को ही ज्ञान बतलाया गया है और उसके अनुसार क्षेत्र के स्वरूप, स्वभाव,

विकार और उसके तत्त्वों की उत्पत्ति के क्रम आदि तथा क्षेत्रज्ञ के स्वरूप और उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है। वहाँ १९वें श्लोक से प्रकृति पुरुष के नाम से प्रकरण प्रारम्भ करके गुणों को प्रकृतिजन्य बतलाया गया हैँ। और २१वें श्लोक में यह बात भी कही गई है कि पुरुष के बार-बार अच्छी बुरी योनियों में जन्म होने में गुणों का संग हेतु है। गुणों के भिन्न-भिन्न स्वरूप क्या हैं ? ये जीवात्मा को कैसे शरीर में बाँधते है ? किस गुण के संग से किस योनि में जन्म होता है ? गुणों से छूटने के उपाय क्या हैं ? गुणों से छूटे हुए पुरुषों के लक्षण क्या हैं तथा आचरण कैसे होते हैं ? ये सब बातें जानने की स्वाभाविक ही इच्छा होती हैं। अतएव इस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए १४वें अध्याय का आरम्भ किया गया है।

श्री कृष्ण उवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।। १।।

ज्ञानानाम्, उत्तमम् (ज्ञानों में, अति उत्तम), परम्, ज्ञानम् (परम, ज्ञान को), भूयः, प्रवक्ष्यामि (फिर, कहूँगा), यत्, ज्ञात्वा (जिसको, जानकर), सर्वे, मुनयः (सभी, मुनिजन) , इतः (इस संसार से), पराम्, सिद्धिम्, गताः (परम, सिद्धि को, प्राप्त हो गये हैं)।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।। २

इदम्, ज्ञानम्, उपाश्रित्य (इस, ज्ञान को, धारण करके), मम, साधर्म्यम् आगताः (मेरे, स्वरूप को, प्राप्त हुए पुरुष), सर्गे, न, उपजायन्ते (सृष्टि के आदि में, [पुनः] उत्पन्न नहीं होते), च, प्रलये, अपि, न, व्यथन्ति (और प्रलय काल में, भी, व्याकुल, नहीं होते)।

प्रश्न 1- ऐसा कौन-सा ज्ञान है जिसे पाकर सृष्टि के प्रारम्भ में भी मनुष्य पुनः उत्पन्न हुए से नहीं लगते ?

उत्तर- १३वें अध्याय में वर्णित ज्ञान को ही स्पष्ट करके १४वें अध्याय में विस्तारपूर्वक समझाया है, इसलिए पहले श्री कृष्ण जी इन श्लोकों में उस ज्ञान का महत्त्व बतलाकर उसके पुनः वर्णन करने की प्रतिज्ञा करते हैं। प्रकृति अपने सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों से कैसे भोग कर रही है- इस बात का स्पष्टीकरण जो पिछले अध्याय में नहीं हुआ, यहाँ किया जा रहा है। श्री कृष्ण जी ने कहा, ''हे

अर्जुन! मैं फिर तुझे ज्ञानों में परम, सर्वोत्तम ज्ञान बतलाऊँगा जिसे जानकर सब मुनि इस संसार से ऊपर उठकर परम सिद्धि को पहुँच गये हैं। इस ज्ञान का आश्रय लेकर वे बिल्कुल मेरे गुण वाले हो जाते हैं। (यहाँ श्री कृष्ण जी ने फिर उस अनुकरणात्मक भक्ति की ओर निर्देश किया है, जिसका '**मद् भक्त एतद् विज्ञाय मद् भावायोपपद्यते**
गीता १३/१८ में वर्णन किया है) सो इस ज्ञान को पाकर उनमें मेरे जैसा विश्वास उत्पन्न हो जाता है और वे सृष्टि में आकर भी न पैदा हुए के समान रहते हैं और प्रलय में भी व्याकुल नहीं होते अर्थात् जीवन्मुक्त रहते हैं और मृत्यु से घबराते नहीं है।

वे घबरायें भी क्यों ? वे मेरा अनुकरण करते हैं और मैं यद्यपि भक्ति-निमग्न रहता हूँ तथा आत्म विश्वास अभिमान के रूप में परिणत न हो जाये, इसलिए विराट् पुरुष का सदा स्मरण करता हूँ।

इस श्लोक में 'साधर्म्य'- शब्द विशेष महत्त्व का है। श्री सातवलेकर जी 'साधर्म्य' पर लिखते हुए कहते हैं कि ईश्वर के जो धर्म हैं, गुण हैं, उनके समान साधक के गुण हो जाना 'साधर्म्य' है, जैसे तपा हुआ लोहा, अग्नि के गुणों से युक्त हो जाता है। श्री अरविन्द जी साधर्म्य शब्द पर कहते हैं कि मानव देह में जीव भी रहता है, परमात्मा भी रहता है परन्तु जीव तो देह में प्रकृति के गुणों से बँधा रहता है, प्रकृति के भोग को भी अपना भोग मानने लगता है। परमात्मा मानव देह में रहता हुआ भी प्रकृति के गुणों के वश में नहीं रहता, वह मानव-देह में रहता हुआ भी देह से अलग द्रष्टा बना रहता है। जीव ने यही करना है। जीव की मुक्ति का अर्थ यही है कि वह परमात्मा की तरह मानव-देह में रहता हुआ भी अपने को उससे अलग समझे, वह यह समझे कि वह क्षेत्र नहीं, क्षेत्रज्ञ है, भोक्ता नहीं, द्रष्टा है। जब जीव भी स्वयं को परमात्मा की तरह देह से अलग समझने लगता है, तब वह परमात्मा के 'साधर्म्य' में पहुँच जाता है - यही तो गीता का लक्ष्य है।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।। ३

भारत (हे अर्जुन!), मम्, महत्, ब्रह्म (मेरी, महद् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति), योनिः (गर्भाधान का स्थान है), अहम् (मैं), तस्मिन्, गर्भम्, दधामि (उसमें, गर्भ को, धारण करता हूँ, ततः, सर्वभूतानाम् (उस बीज से, सब प्राणियों की), सम्भवः,

भवति (उत्पत्ति, होती है)।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।। ४

कौन्तेय (हे अर्जुन!), सर्वयोनिषु (नाना प्रकार की सब योनियों में), याः (जितनी), मूर्तयः (मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी), सम्भवन्ति (उत्पन्न होते हैं), महत्, ब्रह्म (महद्ब्रह्म अर्थात् प्रकृति तो), तासाम्, योनिः (उन सबकी, गर्भ धारण करने वाली माता है), अहम् (मैं {परमात्मा}), बीजप्रदः पिता (बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ)।

प्रश्न 2- प्रकृति-पुरुष के संयोग से सब प्राणियों की उत्पत्ति कैसे हुई ?

उत्तर- महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति इस ब्रह्माण्ड की योनि है। उसके गर्भ में परमात्मा चेतन रूप गर्भ स्थापित करता है, उस गर्भ से सब प्राणी जगत् उत्पन्न होता है। सब योनियों के शरीरों में जो उत्पन्न होते हैं, उन सबकी योनि (गर्भ को धारण करने वाली जननी) महद्ब्रह्म है। उसमें परमात्मा बीज प्रदान करने वाला है।

इन दोनों श्लोकों की व्याख्या स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस प्रकार की है- हे भारत! मुझे अगला जन्म कैसा प्राप्त होगा? यह मैं किसी से पूछने क्यों जाऊँ? महान् ब्रह्म वह योनि है जिसमें मैं जीवन भर जो कर्म करता हूँ वह अगले जन्म के लिए गर्भाधान करता हूँ। प्राणी-मात्र का जन्म इसी स्वकर्म रूपी गर्भाधान से ही तो होता है। इसी प्रकार जिसने जीवन भर उत्तम से भी उत्तम स्वकर्म से भगवान् रूपी योनि की आराधना की है, वह अगले जन्म में कैसा बनेगा, यह वह भली प्रकार जानता है। वह स्वकर्म द्वारा भगवान् की अर्चना भगवान् रूपी योनि में गर्भाधान करके अपने नवीन आगामी जन्म का पिता स्वयं बनता है। हर पुरुषार्थ-परायण आत्मविश्वासी कहता है कि मैं स्वयं अपना भाग्य विधाता हूँ। यहाँ पर श्री कृष्ण जी ने कहा है- मैं स्वयं ब्रह्म योनि में पुण्यकर्म रूपी जीव का आधान करके अपने भावी जीवन का पिता बनता हूँ।

ज्ञानहीन होकर लोग कहते हैं कि मुझे भगवान् ने अमुक् योनि में उत्पन्न किया। वास्तव में हर जीव को यह समझना चाहिए कि जितनी पृथक्-पृथक् योनियों में जो पृथक्-पृथक् मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी एक महायोनि प्रकृति है और उसमें बीज योनि वाला पिता परमात्मा है। जीवन भर का कर्म-कलाप रूप बीज जैसा है, फल भी वैसा ही पाऊँगा। जब अपना निर्माता मैं स्वयं

हूँ तो दोष किस को दूँ? अब वे मूर्तियाँ जिन्हें जीव अपने कर्मों से बनाता है, बनी हुई तो प्रकृति की हैं, और प्रकृति उनके भिन्न-भिन्न रूप दिखाती है, जिससे मनुष्य अपने लिए अच्छी मूर्ति चुन सके।''

सृष्टि की उत्पत्ति के लिए महान् प्रकृति को दैवीय योनि तथा भगवान् को वीर्य दाता मानकर इन्हें सृष्टि के सब पदार्थों का माता-पिता सूचित किया गया है। 'महद् ब्रह्म' तथा 'ब्रह्म महत्' का एक और अर्थ भी हो सकता है। साँख्य परिभाषा में महत् का अर्थ 'प्रकृति' है। प्रकृति का पहला रूप महान् का ही तो है। उसी महत् को जब भगवान् प्रेरणा देते हैं, तब सृष्टि चक्र चल पड़ता है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। ५।।

महाबाहो (हे अर्जुन!), सत्त्वम्, रजः, तमः (सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण), इति, प्रकृतिसम्भवः, गुणाः (ये, प्रकृति से उत्पन्न, तीनों गुण), अव्ययम्, देहिनाम् (अविनाशी, जीवात्मा को), देहे, निबन्धन्ति (शरीर में बाँधते हैं)।

प्रश्न 3- प्रकृति से उत्पन्न होने वाले कौन से गुण जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं?

उत्तर- उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री कृष्ण जी कहते हैं, ''हे अर्जुन! प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सत्त्व, रजस्, तमस् - ये तीनों गुण इस अविनाशी देही (आत्मा) को, क्षेत्रज्ञ को देह में, शरीर में, क्षेत्र में बाँध लेते हैं।''

श्री गुरुदत्त जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-

विज्ञान में जिसे प्रोटोन, इलैक्ट्रोन और न्यूट्रोन कहते हैं वही वैदिक भाषा में सत्त्व, रजस् और तमस् है। प्रकृति के सब पदार्थ जिनमें प्राणी का शरीर भी है, इन तीनों गुणों से बने हैं। इसका शरीर में समावेश न्यूनाधिक होता रहता है अर्थात् एक की प्रमुखता और दूसरे की हीनता होती रहती है।

जब प्रकृति में ब्रह्म अपना बीज डाल देता है, तब प्रकृति जो निश्चेष्ट थी, क्रियाशील हो जाती है और प्रकृति में क्रियाशीलता आते ही उसमें सत्त्व, रजस्, तमस्- ये गुण प्रकट हो जाते हैं।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।। ६।।

अनघ (हे निष्पाप), तत्र, सत्त्वम्, निर्मलत्वात् (उन तीनों गुणों में, सत्त्व, निर्मल होने के कारण), प्रकाशकम्, अनामयम् (प्रकाश करने वाला और विकार रहित

है), सुखसङ्गेन, च (सुख के सम्बन्ध से, और), ज्ञानसङ्गेन बध्नाति (ज्ञान के सम्बन्ध से बाँधता है)।

प्रश्न 4- सत्त्वगुण मनुष्य को कैसे बाँधता है ?

उत्तर- इन गुणों में से सत्त्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और आरोग्यकर है। यह सत्त्वगुण सुख और ज्ञान के प्रति आसक्ति के कारण मनुष्य को बाँधता है। श्री गुरुदत्त जी के अनुसार - यदि सत्त्वगुण प्रधान हो तो सुख की अनुभूति होती है और जब रजस् गुण बढ़ जाता है तो दु:ख की अनुभूति होती है। सुख जब होता है तो शरीर में मोह बढ़ जाता है। इस प्रकार सत्त्वगुण भी जीवात्मा को शरीर से बाँधता है।

वर्तमान विज्ञान भी यह मानता है कि शरीर के काम करने के समय विद्युत् की लहर इन शिराओं में चलती है। विद्युत् की लहरें इलैक्ट्रोन का प्रभाव ही होता है। यह भी अनुभव होता है कि विद्युत् की लहरें अर्थात इलैक्ट्रोन (तेजस् अहंकार) का प्रवाह न्यूनाधिक कष्ट ही देता है। इससे सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतएव वैदिक सिद्धान्त ठीक ही प्रतीत होता है कि शिराओं में मुख्य गुण सत्त्व होता है और गौण रूप में तेजस् होता है।

इसी कारण इन्द्रियों को सत्त्व गुण प्रधान माना गया है, तथापि ये रजोगुण की सहायता से ही कार्य करती हैं।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।। ७

कौन्तेय (हे अर्जुन!), रागात्मक, रजः (रागरूप रजोगुण को), तृष्णा सङ्गसमुद्भवम्, विद्धि (कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान), तत् (वह), देहिनम् (इस जीवात्मा को), कर्मसङ्गेन, निबध्नाति (कर्म के प्रति आसक्ति के कारण बाँधता है)।

प्रश्न 5- रजोगुण मनुष्य को कैसे बाँधता है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी रजोगुण की विशेषता बतलाते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! तू यह समझ ले कि रजोगुण रागात्मक है। यह तृष्णा के प्रति आसक्ति के कारण उत्पन्न होता है। यह देहधारी को कर्म के प्रति आसक्ति में बाँध देता है।''

रजोगुण का स्वरूप भी राग है और उसके प्रभाव से कामनाएँ, तृष्णाएँ, आसक्ति और अधिक बढ़ती है। जितनी आसक्ति होगी, उतनी कामनाएँ बढ़ेगी। ''**सङ्गात् संजायते कामः**'' (गीता २/६२)। कामनाओं की पूर्ति के लिए

कर्म होंगे। कर्म के साथ कामना, कामना के कारण यह चक्र चलता रहेगा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से फिर बीज- अन्त कहीं नहीं। यह प्राप्त कर लिया, यह और करना है और इसी के लिए-यह काम कर लिया, यह कर रहा हूँ, यह करूँगा- जीव इस कर्मबन्धन में उलझा रहता है।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।। ८।।

भारत (हे अर्जुन!), सर्वदेहिनाम् (सब देहधारियों का), मोहनम्, तमः (मोहित करने वाले, तमोगुण को), तु, अज्ञानजम्, विद्धि (तो, अज्ञान से उत्पन्न, मान), तत् (वह [इस जीवात्मा को]) प्रभादालस्यनिद्राभिः (प्रमाद, आलस्य, और निद्रा के द्वारा), निबध्नाति (बाँधता है)।

प्रश्न 6- तमोगुण मनुष्य को कैसे बाँधता है ?

उत्तर- तमोगुण अज्ञानमूलक है। यह देहधारी को भ्रम में डाल देता है, यह मनुष्य को लापरवाही, आलस्य और निद्रा के पाश में बाँध देता है।

श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार- अन्तःकरण और इन्द्रियों में ज्ञानशक्ति का अभाव करके उनमें मोह उत्पन्न कर देना ही तमोगुण का सब देहधारियों को मोहित करना है।

तमोगुण से अज्ञान बढ़ता है और अज्ञान से तमोगुण बढ़ता है। इन दोनों में बीज और वृक्ष की भाँति अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अज्ञानबीज स्थानीय है और तमोगुण वृक्षस्थानीय है। इसलिए कहीं तमोगुण से अज्ञान की ओर कहीं अज्ञान से तमोगुण की उत्पत्ति बतलाई गई है।

प्रमाद-अन्तःकरण और इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा का एवं शास्त्रविहित कर्तव्य पालन में अवहेलना का नाम प्रमाद है। **कर्तव्य**-कर्मों में अप्रवृत्ति रूप निरुद्यमता का नाम आलस्य है। **निद्रा**- तन्द्रा, स्वप्न और सुषुप्ति-इन सब का नाम निद्रा है।

इन सबके द्वारा जो तमोगुण का इस जीवात्मा को मुक्ति के साधन से वंचित रखकर जन्म-मृत्युरूप संसार में फँसाये रखना है- यही उसका प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा जीवात्मा को बाँधना है।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।। ९

भारत (हे अर्जुन!), सत्त्वम्, सुखे, सञ्जयति (सत्त्वगुण, सुख में, लगाता है), रजः, कर्मणि (रजोगुण, कर्म में), तमः, तु, ज्ञानम् (तमोगुण तो ज्ञान को),

आवृत्य (ढककर), प्रमादे, उत, सञ्जयति (प्रमाद में, भी, लगाता है)।

प्रश्न 7- तीनों (सत्त्व, रजस्, तमस्) गुणों का स्वाभाविक व्यापार क्या है ?

उत्तर- सत्त्वगुण सुख में लगाता है, रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में भी लगाता है।

'सुख' शब्द यहाँ सात्त्विक सुख का वाचक है। सत्त्वगुण का जो इस मनुष्य को सांसारिक भोगों और चेष्टाओं से तथा आलस्य, प्रमाद और निद्रा से हटाकर आत्मचिन्तन आदि के द्वारा सात्त्विक सुख से संयुक्त कर देना- यही उसको सुख में लगाना है।

'कर्म' शब्द यहाँ इस लोक और परलोक के भोग रूप फल देने वाले शास्त्र विहित सकाम कर्मों का वाचक है। नाना प्रकार के भोगों की इच्छा उत्पन्न करके उनकी प्राप्ति के लिए उन कर्मों में मनुष्य को प्रवृत्त कर देना ही रजोगुण का मनुष्य को उन कर्मों में लगाना है।

जब तमोगुण बढ़ता है तब वह कभी तो मनुष्य की कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करने वाली विवेक शक्ति को नष्ट कर देता है और कभी अन्त:करण और इन्द्रियों की चेतना को नष्ट करके निद्रा की वृत्ति उत्पन्न कर देता है। यही उसका मनुष्य के ज्ञान को आच्छादित करना है और कर्तव्य पालन में अवहेलना कराके व्यर्थ चेष्टाओं में नियुक्त कर देना प्रमाद में लगाना है।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रज: सत्त्वं तमश्चैव तम: सत्त्वं रजस्तथा।। १०।।

भारत (हे अर्जुन!), रज:, च, तम: (रजोगुण और तमोगुण को), अभिभूय (दबा कर), सत्त्वम् (सत्त्वगुण), सत्त्वम्, च, तम: (सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर), रज: (रजोगुण) तथा, एव, सत्त्वम्, रज: (वैसे, ही, सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर), तम:, भवति (तमोगुण, बढ़ता है)।

प्रश्न 8- एक-एक गुण पर मनुष्य कैसे विजय प्राप्त करता है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते हैं ''हे अर्जुन! रजोगण और तमोगुण को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण वैसे ही सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण बढ़ता है।''

स्वामी राम सुखदास जी के अनुसार:-

सत्त्वगुण का बढ़ना :- रजोगुण की लोभ, प्रवृत्ति, नये-नये कर्मों का

आरम्भ, अशान्ति, स्पृहा, सांसारिक भोग और संग्रह में प्रियता आदि वृत्तियां और तमोगुण की आलस्य, प्रमाद, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ- इन सबको 'सत्त्वगुण' दबा देता है और अन्त:करण में स्वच्छता निर्मलता, वैराग्य, नि:स्पृहता, उदारता, निवृत्ति आदि वृत्तियों को उत्पन्न कर देता है।

रजोगुण का बढ़ना :- सत्त्वगुण की ज्ञान, प्रकाश, वैराग्य, उदारता आदि वृत्तियाँ, तमोगुण की आलस्य, प्रमाद, अनावश्यक निद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियाँ- इन सबको रजोगुण दबा देता है और अन्त:करण में लोभ, प्रवृत्ति, आरम्भ, अशान्ति स्पृहा आदि वृत्तियों को उत्पन्न कर देता है।

तमोगुण का बढ़ना- सत्त्वगुण की स्वच्छता, निर्मलता, प्रकाश, उदारता, आदि वृत्तियों और रजोगुण की चंचलता, अशान्ति, लोभ आदि वृत्तियाँ- इन सबको तमोगुण दबा देता है और अन्त:करण में प्रमाद, आलस्य, अतिनिद्रा, मूढ़ता आदि वृत्तियों को उत्पन्न कर देता है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। ११।।

यदि (जिस समय), अस्मिन्, देहे (इस, देह में तथा), सर्वद्वारेषु (अन्त:करण और इन्द्रियों में), प्रकाश:, ज्ञानम्, उपजायते (चेतनता और विवेकशक्ति, उत्पन्न होती है), तदा, इति, विद्यात् (उस समय, ऐसा, जानना चाहिये), उत, सत्त्वम्, विवृद्धम् (कि, सत्त्वगुण, बढ़ा है)।

प्रश्न 9- सत्त्वगुण की वृद्धि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- जिस समय देह में इन्द्रियों के सब द्वारों में प्रकाश तथा ज्ञान का उदय हो जाता है तब यह समझ लेना चाहिये कि सत्त्वगुण बढ़ रहा है। श्री गुरुदत्त जी के अनुसार- देह के द्वार नौ हैं- दो आँखें, दो कान, दो नासिकायें, एक मुख, एक मल द्वार, एक मूत्रद्वार। इनमें प्रकाश होता है अर्थात् इनके काम उचित ढंग से और उचित मात्रा में होने लगते हैं तो अनुभव और अभ्यास की वृद्धि होती है, क्योंकि ज्ञान प्राप्त करने के मुख्य साधन यही है (आँखे, नाक, कान और जिह्वा आदि)। यदि ये ठीक प्रकार से कार्य करते रहें तो ज्ञान और विद्या में वृद्धि होती है। ज्ञान और विद्या में भी अन्तर जान लेना चाहिये। जैसे देखा जाता है, सुना जाता है, चखा जाता है, वैसा स्मरण रखना ज्ञान है, परन्तु विद्या उस ज्ञान से प्राप्त किए परिणामों का नाम है। उदाहरण के रूप में यदि कोई व्यक्ति आम खाता है तो उसकी यह पहचान कि वह दशहरी है, सफेदा है, लँगड़ा है अथवा चौसा है,

ज्ञान का क्षेत्र है। परन्तु आम खाने से हानि-लाभ, इसके खाने का समुचित, ढंग इत्यादि की जानकारी विद्या है।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। १२

भरतर्षभ (हे अर्जुन!), रजसि, विवृद्धे (रजोगुण के, बढ़ने पर), लोभः (लोभ), प्रवृत्तिः (स्वार्थ बुद्धि से प्रवृत्ति), कर्मणाम्, आरम्भः (सकाम भाव से कर्मों का, आरम्भ) अशमः, स्पृहा (अशांति और विषय भोगों की लालसा), एतानि, जायन्ते (ये सब, उत्पन्न होते हैं)।

प्रश्न 10- रजोगुण की वृद्धि के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को रजोगुण की वृद्धि के लक्षण बतलाते हुए कहते हैं, ''हे भरतकुल में श्रेष्ठ अर्जुन जब रजोगुण की वृद्धि होती है, तब लोभ, प्रवृत्ति, सकाम कामों का आरम्भ, अशान्ति और वस्तुओं की लालसा ये सब उत्पन्न होती है।''

स्वामी ज्ञानानन्द जी के अनुसार :- मनुष्य जीवन में कर्मों की प्रवृति तो रहेगी ही। मनुष्य शरीर है ही कर्मयोनि। कर्म तो ज्ञानी, गुणातीत महापुरुष भी करते हैं, लेकिन यहाँ लोभ के साथ 'प्रवृत्ति' शब्द है। प्रत्येक समय कुछ-कुछ पाने की धुन! यह मिल गया, यह और मिल जाये, यह क्यों नहीं मिला- इस भाव से कर्मों की प्रवृत्ति। कभी-कभी उस लोभ पूर्ति के लिए अनुचित कर्म और साधन भी अपनाने पड़ते हैं। यही रजोगुण है।

कर्म का आरम्भ ही सकाम भाव से अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए:- कर्म करने से पहले ही भीतर वासनाएँ, इच्छायें एवं अपने हित साधन का ही भाव होता है। मुझे सुख मिले मेरी यह भावना पूरी हो जाये, किसी और से मुझे क्या मतलब। कर्मों की अत्यधिक प्रवृत्ति, कामनाओं का अम्बार, फिर भी भीतर अशान्ति, अस्थिरता, मानसिक विक्षेपता, यह स्वाभाविक भी है। लोभ, स्वार्थ, स्पृहा कभी भी शान्ति का आधार हो ही नहीं सकते। इन सबका परिणाम तो है ही अशान्ति। सोचो! विचारो और स्वयं को देखो- कहीं हमारे जीवन में ऐसा तो नहीं है? है, तो समझ लो कि रजोगुण बढ़ रहा है।''

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। १३

कुरुनन्दन (हे अर्जुन!), तमसि, विवृद्धेः (तमोगुण के बढ़ने पर [अन्तःकरण

और इन्द्रियों में]), अप्रकाशः (प्रकाश-हीनता), अप्रवृत्तिः, च, प्रमादः च, मोहः (कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति, प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा आदि, मोहिनी वृत्तियाँ), एतानि, एव, जायन्ते (ये सब ही, उत्पन्न होते हैं)।

प्रश्न 11- तमोगुण की वृद्धि के क्या लक्षण है?

उत्तर- तमोगुण को वृद्धि के लक्षण पर प्रकाश डालते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में प्रकाशहीनता, कर्तव्य - कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और अति निद्रादि, अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ- ये सब उत्पन्न होती हैं।

श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार- जिस समय तमोगुण बढ़ता है, उस समय मनुष्य के इन्द्रिय और अन्तःकरण में दीप्ति (प्रकाश) का अभाव हो जाता है, यही 'अप्रकाश' का उत्पन्न होना है। कोई भी कर्म अच्छा नहीं लगता, केवल निठल्ले पड़े रहकर ही समय व्यतीत करने की इच्छा उत्पन्न होती है। यह 'अप्रवृत्ति' का उत्पन्न होना है। शरीर और इन्द्रियों द्वारा व्यर्थ चेष्टा करते रहना और कर्तव्य कर्म में अवहेलना करना, यह 'प्रमाद' का उत्पन्न होना है। मन का मोहित हो जाना, किसी बात की स्मृति न रहना, तन्द्रा, स्वप्न या सुषुप्ति अवस्था का प्राप्त हो जाना, विवेक शक्ति का अभाव हो जाना, किसी विषय को समझने की शक्ति का न होना- यही सब मोह उत्पन्न होना है। ये सब लक्षण तमोगुण की वृद्धि के समय उत्पन्न होते हैं, अतएव इनमें से कोई-सा भी लक्षण अपने में देखा जाये, तब मनुष्य को समझना चाहिये कि तमोगुण बढ़ा हुआ है।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।। १४।।

यदा, देहभृत् (जब, यह मनुष्य), सत्त्वे, प्रवृद्धे (सत्त्व गुण की, वृद्धि में), प्रलयम्, याति (मृत्यु को, प्राप्त होता है), तदा (तब) तु (तो), उत्तमविदाम् (उत्तम ज्ञानियों के), अमलान् (निर्मल), लोकान् प्रतिपद्यते (लोकों को प्राप्त होता है)।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।। १५

रजसि (रजोगुण के बढ़ने पर), प्रलयम्, गत्वा (मृत्यु को, प्राप्त होकर) कर्मसङ्गिषु (कर्म में आसक्त लोगों के) [मनुष्यों में], जायते (उत्पन्न होते हैं) तथा तमसि (तथा, तमोगुण के बढ़ने पर), प्रलीनः (मरा हुआ मनुष्य), मूढ-योनिषु (मूढ़

योनियों में कीट पशु आदि), जायते (उत्पन्न होता है)।

प्रश्न 12– सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों की वृद्धि होने पर मरने वाले की क्या गति होती है?

उत्तर– जब देहधारी आत्मा उस अवस्था में मरे जब सत्त्वगुण उभरा हुआ हो, वह उत्तम योनियों के निर्मल लोकों को प्राप्त करता है। जब देहधारी रजोगुण की अवस्था में मरे, तब कर्मों में आसक्त (सकाम कर्म करने वाले) लोगों में जन्म लेता है और तमोगुणी अवस्था में मर कर मूढ योनियों में जन्म लेता है।

मृत्यु के पश्चात् जीव कहाँ जायेगा? इन दो श्लोकों में इसका युक्ति युक्त उत्तर है– जिस गुण की वृद्धि पर देह त्याग होगा, वैसी ही गति, उसी के अनुसार आगे का जन्म मिलेगा? गीता ८/६ के अनुसार "**सदा तद्भावभावितः**" – जैसा भाव देह त्याग के समय होगा, वैसा ही आगे जन्म मिलेगा। सत्तोगुण स्वभाव से निर्मल है। सत्तोगुण क्रियाओं को आचरण में लाने से अन्तःकरण निर्मल होता है। निर्मल अन्तःकरण वाले को निर्मल लोकों की प्राप्ति होती है, अर्थात् वह व्यक्ति विद्वानों के कुल में जन्म लेता है।

रजोगुण की वृद्धि लोभ, कामना आदि के साथ कर्मों में अत्याधिक प्रवृत्ति करवाये रखती है। कर्म के साथ कामना रहने पर देह त्याग के समय कुछ कामनाएँ शेष रह जाती हैं। इन्हीं की पूर्ति के लिए जीव को फिर मनुष्य योनि मिलती है। वह व्यक्ति पुरुषार्थ में आसक्त होने वालों में जन्म लेता है।

तमोगुण में निम्नवृत्तियाँ, निकृष्ट काम ही होते हैं। न उनका खाना-पीना अच्छा होता है और न ही आचार-व्यवहार। वृत्तियों और क्रियाओं में पशुता का पूरा प्रभाव रहता है, इसलिए आगे जन्म भी पशु-पक्षी या कीट-पतंग आदि निम्न योनि में मिलता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।। १६

सुकृतस्य, कर्मणः, सात्त्विकम् (श्रेष्ठ, कर्म का, सात्त्विक), निर्मलम्, फलम्, आहुः (निर्मल, फल, कहा है), तु, रजसः, फलम् दुःखम् (किन्तु, राजस् कर्म का, फल, दुःख है), तमसः, फलम्, अज्ञानम् (तामस् कर्म का, फल, अज्ञान है)।

प्रश्न 13– सात्त्विक, राजस और तामस कर्म का फल क्या है?

उत्तर– श्रेष्ठ कर्म का तो सात्त्विक अर्थात् सुख, ज्ञान और वैराग्यादि फल कहा

है। जो शास्त्र विहित कर्तव्य– कर्म निष्काम भाव से किये जाते हैं, उन सात्त्विक, कर्मों का वाचक यहाँ 'सुकृतस्य' विशेषण के सहित 'कर्मणः' पद है। ऐसे कर्मों के संस्कारों से अन्तःकरण में जो ज्ञान-वैराग्यादि निर्मल भावों का बार-बार प्रादुर्भाव होता रहता है और मरने के बाद जो दुःख और दोषों से रहित दिव्य प्रकाशमय लोकों की प्राप्ति होती है, वही उनका सात्त्विक और निर्मल फल है।

राजस कर्म का फल दुःख कहा है। जो कर्म भोगों की प्राप्ति के लिए अहंकारपूर्वक बहुत परिश्रम के साथ किए जाते हैं, वे राजस हैं। ऐसे कर्मों के करते समय तो परिश्रम रूप दुःख होता ही है, परन्तु उसके बाद भी वे दुःख ही देते रहते हैं। उनके संस्कारों से अन्तःकरण बार-बार भोग, विक्षिप्त होकर अशान्ति और दुःख से भरा रहता है। इस प्रकार उनका जो कुछ भी फल मिलते हैं वे भी ' 'बार-बार जन्म-मरण सब दुःख रूप ही होते हैं।

तामस कर्म का फल अज्ञान कहा है– जो कर्म बिना सोचे-समझे मूर्खता वश किए जाते हैं और जिनमें हिंसा आदि दोष भरे होते हैं, वे तामस हैं। उनके संस्कारों से अन्तःकरण में मोह बढ़ता है और मरने के बाद जिन योनियों में तमोगुण की अधिकता है– ऐसी जड़ योनियों की प्राप्ति होती है, वही उसका फल अज्ञान है।

सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसोभवतोऽज्ञानमेव च।। १७

सत्त्वात्, ज्ञानम्, सञ्जायते (सत्त्वगुण से, ज्ञान, उत्पन्न होता है), च (और), रजसः, एव, लोभः (रजोगुण से, निःसंदेह, लोभ), च (और), तमसः, प्रमाद मोहौभवतः (तमोगुण से, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं), अज्ञानम्, एव (अज्ञान, भी)।

प्रश्न 14– सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण से किस चीज की उत्पत्ति होती है?

उत्तर– सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ ज्ञान शब्द उपलक्षण मात्र है अतएव इस कथन से यह समझना चाहिये कि ज्ञान, प्रकाश, सुख और शान्ति सभी सात्त्विक भावों की उत्पत्ति सत्त्वगुण से होती है।

रजोगुण से 'लोभ' उत्पन्न होता है। 'लोभ' शब्द का प्रयोग भी यहाँ उपलक्षण मात्र है। इस कथन से भी यह समझना चाहिये कि 'लोभ', प्रवृत्ति 'आसक्ति', 'कामना' स्वार्थपूर्वक कर्मों का आरम्भ आदि सभी राजस भावों की

उत्पत्ति रजोगुण से होती है।

तमोगुण से प्रमाद, मोह और अज्ञान तो उत्पन्न होते ही हैं, इनके अतिरिक्त अतिनिद्रा, आलस्य, प्रकाशहीनता, अप्रवृत्ति आदि जितने भी तामस भाव हैं- वे सब भी तमोगुण से उत्पन्न होते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। १८

सत्त्वस्थाः (सत्त्वगुण में स्थित पुरुष), ऊर्ध्वम् (उच्चलोकों की ओर), गच्छन्ति (जाते हैं), राजसाः, मध्ये, तिष्ठन्ति (रजोगुण वाले, मनुष्य लोक, में रहते हैं), जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (जघन्यवृत्ति में पड़े लोग), तामसाः, अधः, गच्छन्ति (तामस पुरुष, अधोगति को, प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 15- तीनों गुणों में स्थित पुरुषों की भिन्न-भिन्न गतियों का वर्णन करें?

उत्तर- सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य ऊर्ध्वलोकों में जाते हैं, जिन्होंने जीवन का सदुपयोग किया है। सत्तोगुणों को भावों में सुरक्षित रखा है। परोपकार के श्रेष्ठ कार्य किए हैं, ऐसे लोग ऊँचे लोकों में जाते हैं।

रजोगुण में स्थित मनुष्य मृत्यु लोक में जन्म लेते हैं। जो सांसारिक कार्यों में लगे रहते हैं, जिनके मन में कामनाएँ-वासनाएँ हैं, उन्हीं की पूर्ति हेतु जिनका कर्म-चक्र चलता रहता है, वे मृत्यु लोक में फिर से आते हैं।

तमोगुण की निम्नवृत्ति में स्थित तामस पुरुष अधोगति में जाते हैं। तमोगुणी व्यक्ति की जब वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ ही निम्न श्रेणी की हैं तो वह जीव अधोगति को अर्थात् पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि निम्न योनियों में जन्म लेता है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।। १९

यदा, द्रष्टा (जब द्रष्टा), गुणेभ्यः, अन्यम् (तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को) कर्तारम्, न, अनुपश्यति (कर्ता, नहीं, देखता), च, गुणेभ्यः, परम् (और, तीनों गुणों से अत्यन्त परे, परमात्मा को), वेत्ति (तत्त्व से जानता है), सः (वह), मद्भावम्, अधिगच्छति (मेरे स्वरूप को, प्राप्त होता है)।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते।। २०।।

देही (आत्मा), देहसमुद्भवान् (शरीर के उत्पत्ति के कारण रूप), एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतीत्य (इन, तीनों, गुणों को, उल्लंघन करके), जन्ममृत्युजरा दुःखैः (जन्म-मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से), विमुक्तः (मुक्त हुआ), अमृतम्, अश्नुते (परमानन्द को, प्राप्त होता है)।

प्रश्न 16- गुणातीत होने के उपाय और गुणातीत अवस्था का फल क्या है?

उत्तर- जिस समय द्रष्टा तीनों गुणों के अतिरिक्त अन्य किसी को कर्ता नहीं देखता और तीनों गुणों से अत्यन्त परे परमपिता परमात्मा को तत्त्व से जानता है, उस समय वह उस परमात्मा के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने श्लोक संख्या १९ के बारे में यह लिखा है- जब द्रष्टा जीवात्मा अपनी आत्म-विजय द्वारा ऐसी अवस्था बना लेता है कि गुण-रूप सेवक पूर्ण रूप से उसकी आज्ञा का पालन करते हैं तथा जीवात्मा आसक्त होकर उनमें फँसा नहीं होता और अपने गुणों में परे जो सत्ता है उसे पूर्णतया अनुभव कर लेता है, तब वह ठीक वही हो जाता है जो मैं कृष्ण हूँ अर्थात् वह भी योगीराज हो जाता है।

जब देहधारी आत्मा देह से उत्पन्न होने वाले इन तीन गुणों को लाँघ जाता है अर्थात् इन तीन गुणों के बन्धन में नहीं बँधा रहता। तब वह जन्म-मरण, वृद्धावस्था के दुःखों से मुक्त हो जाता है और अमर जीवन को प्राप्त करता है।

श्री ज्ञानानन्द जी के अनुसार :-

ये तीन गुण ही सब कुछ नहीं है और न ही इन तक उलझे रहना जीवन की वास्तविक स्थिति है। जीवन का लाभ तीन गुणों तक सिमटे रहने में नहीं इनमें ऊपर उठने में हैं। यह सत्य है कि शरीर की उत्पत्ति में ये तीन गुण ही कारण है। तीनों में से जिस गुण की प्रधानता होगी उसके अनुसार शरीर मिलेगा, परन्तु यह भी सत्य है कि शरीर में रहकर ही इन तीन गुणों से अतीत हुआ जा सकता है। वही जीवन का यथार्थ आनन्द है। जन्म-मृत्यु-वृद्धावस्था आदि के जितने दुःख हैं, वे सब गुणों के प्रभाव से हैं। गुणों में लिप्त रहने से ही जन्म-मृत्यु रूप, चक्र चलता है। यह आत्मा दुःखों के अधीन- सा हो जाता है, परन्तु गुणों से ऊँचा उठते ही अपना वही स्वरूप जो अमृत है, आनन्द है, अजर-अमर है, उसमें सहज स्थिति हो जाती है।

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते।। २१

एतान्, त्रीन्, गुणान्, अतीतः (इन, तीनों, गुणों से, अतीत पुरुष), कैः, लिङ्गैः, भवति (किन-किन, लक्षणों से, युक्त होता है), च, किमाचारः (और, किस प्रकार के आचरण वाला [होता है तथा]), प्रभो (हे प्रभु!) कथम्, एतान् (मनुष्य, किस उपाय से, इन), त्रीन्, गुणान्, अतिवर्तते (तीनों, गुणों से, अतीत होता है)।

प्रश्न 17- गुणातीत पुरुषों के किन किन कार्यो के बारे में अर्जुन प्रश्न पूछता है ?

उत्तर- पिछले श्लोक में इस प्रकार जीवन-अवस्था में इन तीनों गुणों से अतीत होकर मनुष्य अमृत को प्राप्त होता है- इस रहस्ययुक्त बात को सुनकर गुणातीत पुरुष के लक्षण, आचरण और गुणातीत पुरुष बनने के उपाय अर्जुन श्री कृष्ण जी से पूछते हैं- अर्जुन बोले- इन तीनों गुणों से अतीत पुरुष किन-किन लक्षणों से युक्त होता है और किस प्रकार के आचरणों वाला होता है तथा हे कृष्ण! मनुष्य किस उपाय से इन तीनों गुणों से अतीत होता है ? **लक्षण**- जो गुणातीत पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं और साधकों के लिए सेवन करने योग्य आर्दश हैं। **आचरण**- गुणातीत पुरुष का व्यवहार, रहन सहन कैसा है ? **उपाय**- ऐसा कोई सरल उपाय जिसके द्वारा मनुष्य शीघ्र ही अनायास इन तीनों गुणों के पार हो सके।

श्री कृष्ण उवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव व पाण्डव।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।। २२।।

पाण्डव (हे अर्जुन!), प्रकाशम् (सत्त्वगुण के कार्य रूप प्रकाश को), च, प्रवृत्तिम् (और, रजोगुण के कार्यरूप प्रवृत्ति को), च, मोहम् (तथा, तमोगुण के कार्य को, मोह को), एव, न (भी, न तो), समप्रवृत्तानि (प्रवृत्त होने पर उससे), द्वेष्टि (द्वेष करता है), च, न, निवृत्तानि, काङ्क्षति (और, न, निवृत्त होने पर, उनकी आकांक्षा करता है)।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।। २३

यः, उदासीनवत् (जो, साक्षी के सदृश), आसीनः, गुणैः (स्थित हुआ, गुणों के द्वारा) न, विचाल्यते (विचलित नहीं किया जा सकता और), गुणाः, एव, वर्तन्ते (गुण, ही, गुणों में बरतते हैं), इति (ऐसा समझता हुआ), यः (जो) अवतिष्ठति (स्थित रहता है और), न, इङ्गते (इस स्थिति से कभी विचलित नहीं होता)।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।। २४

स्वस्थः (जो निरन्तर आत्म भाव में स्थित), समदुःखसुखः (दुःख-सुख को समान समझने वाला), समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समान भाव वाला), धीरः (ज्ञानी), तुल्य, प्रियाप्रियः (प्रिय और अप्रिय को, एक सा मानने वाला), तुल्य, निन्दात्मसंस्तुति (अपनी निन्दा-स्तुति में, समान भाव वाला है)।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।। २५

मानापमानयोः, तुल्यः (जो मान-अपमान में सम है), मित्रारिपक्षयोः, तुल्यः (मित्र और वैरी के पक्ष में, सम है तथा), सर्वारम्भपरित्यागी (सम्पूर्ण आरम्भों में कर्तापन के अभिमान से रहित है), सः, गुणातीत, उच्यते (वह पुरुष, गुणातीत, कहा जाता है)।

प्रश्न 18- उपर्युक्त श्लोकों में अर्जुन द्वारा श्री कृष्ण जी से पूछे गये दो प्रश्न गुणातीत के लक्षण, व्यवहार, का श्री कृष्ण जी ने क्या उत्तर दिया ?

उत्तर- लक्षणः -

(1) गुणातीत पुरुष प्रकाश (सत्त्वगुण), प्रवृत्ति (रजोगुण) और मोह (तमोगुण) के उत्पन्न होने पर दुःख नहीं मनाता।

(2) गुणातीत पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह की इच्छा नहीं करता।

जब तक शरीर है तब तक ये गुण किसी न किसी रूप में साथ तो रहेंगे ही। सद्गुणों, सद्भावनाओं का प्रकाश भी होगा। कभी-कभी कर्मों में प्रवृत्ति भी रहेगी, कर्म समूलतः नहीं छोड़े जा सकते, छूट सकते भी नहीं। कभी-कभी शारीरिक विश्राम की दृष्टि से ही सही प्रमाद, निद्रा आदि भी रहेगी। यह सत्य है कि गुणातीत इन सब से ऊपर तो उठ चुका होता है तो भी विवेक के प्रकाश सद्गुण, सद्भावना का उदय होगा, कर्म भी होंगे, शरीर को विश्राम भी दिया जायेगा। निद्रा-तन्द्रा भी आयेगी ही। गुणातीत होते हुए भी इनके आने पर

गुणातीत द्वेष नहीं करता, मानसिक रूप से उद्विग्न या उद्वेलित नहीं होता और इनसे अलग होने पर भी इच्छा आकांक्षा नहीं करता। दोनों स्थितियों में अपने आपको निर्लिप्त अनासक्त ही रखता है।

(3) जो उदासीन की भाँति स्थिर है, "न काहू से दोस्ती, न काहू से वैर" की नीति पर चलता है।

(4) यदि सत्त्व, रजस्, तमस्, गुण आ भी जायें तो विचलित नहीं होता, क्योंकि वह समझता है कि गुण अपना-अपना काम कर रहे हैं अत: डिगता नहीं, स्थिर रहता है, विकार को प्राप्त नहीं होता। गुणातीत व्यक्ति गुणों के प्रभाव से विचलित नहीं होता। सत्तोगुण की क्रियायें हो रही हैं, यज्ञ, दान, तप, सत्संग-उनका आनन्द भी है परन्तु उनमें आसक्त बुद्धि या अहं बुद्धि नहीं। शरीर का विश्राम, शरीर के लिए आवश्यक है। उसमें सुख बुद्धि नहीं। मेरा, विश्राम, मेरा आनन्द तो मेरे स्वरूप में है अथवा ईश्वरीय भाव स्थिति में है। यह है संसार और संसार के गुणों में अतीत अवस्था।

आचरण :- (1) गुणातीत पुरुष (धीर पुरुष) सुख-दु:ख में समभाव में रहता है। राज्य मिल जाये तो ठीक और वन गमन का आदेश हो जाये तो भी ठीक दोनों परिस्थितियों में समभाव रहता है।

(2) गुणातीत व्यक्ति आत्म भाव में स्थित रहता है।

(3) जो मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण में समानभाव रखता है उसके लिए सोना भी एक पत्थर के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इससे यह भाव दिखाया गया है कि संसार के जितने भी पदार्थ हैं- जिनको लोग उत्तम, मध्यम और नीच श्रेणी के समझते हैं- उन सब में गुणातीत की समता होती है।

(4) ज्ञानी अर्थात् स्थिरप्रज्ञ पुरुष को धीर कहते हैं। वह बड़े से बड़े सुख दु:ख की प्राप्ति में भी अपनी स्थिति से विचलित नहीं होता।

(5) प्रिय और अप्रिय अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थों में भेदबुद्धि नहीं करता। वह सदा सर्वदा राग-द्वेष, हर्ष-शोक से सर्वथा अतीत रहता है।

(6) कोई निन्दा करे तो दु:खी नहीं होता, कोई प्रशंसा करे तो फूल कर कुप्पा नहीं बनता। निन्दा में द्वेष नहीं और स्तुति में राग नहीं करता, प्रत्येक स्थिति में सम रहता है।

(7) मान और अपमान में सम रहता है। मान और अपमान का सम्बन्ध शरीर से है, परन्तु गुणातीत पुरुष का शरीर से कुछ भी सम्बन्ध न रहने के कारण न तो

शरीर का मान होने से उसे हर्ष होता है और न अपमान से उसे शोक होता है।

(8) वह मित्र और शत्रु के साथ भी सम रहता है, उसमें राग-द्वेष नहीं होता। मित्रों में राग और शत्रु के साथ द्वेष नहीं करता। उसका न तो कोई अपना होता है और न ही कोई पराया। ऐसा व्यक्ति किसी से द्वेष न करने के कारण शत्रु तो बनाता ही नहीं। उसके सभी मित्र ही होते हैं तो समभाव रहेगा ही।

(9) वह सम्पूर्ण क्रियाओं का पूर्ण रूप से त्याग करने वाला है

(10) वह सभी क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान से रहित रहता है।

यही गुणातीत लोगों की पहचान के चिन्ह है और यही उनका आचार व्यवहार है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते।। २६।।

च, य: (और, जो पुरुष), अव्यभिचारेण (एक निष्ट और अविचल), भक्तियोगेन, माम्, सेवते (भक्ति योग के द्वारा, मुझको, निरन्तर भजते है), स:, एतान्, गुणान् (वह भी, इन तीनों, गुणों को), समतीत्य (भली-भांति लाँघकर), ब्रह्मभूयाय, कल्पते (ब्रह्मरूप बनने के योग्य, समर्थ होता है)।

प्रश्न 19- अर्जुन के द्वारा पूछा गया तीसरा प्रश्न :- गुणातीत बनने के उपाय क्या हैं और उसका फल क्या है ?

उत्तर- जो व्यक्ति सरल सीधे मार्ग पर चलता हुआ परमात्मा के प्रति अविचल एवं एकनिष्ठ भक्तिभाव बनाकर परमात्मा द्वारा बताये गये निर्देशित शुद्धाचरण करता है। वह परमात्मा को पाने में समर्थ हो जाता है।

गीता के द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ का बाहरवें अध्याय में प्रियभक्त का, तेहरवें अध्याय में ज्ञानीयोगी का और चौदहवें अध्याय में त्रिगुणातीत का जो वर्णन किया है वह सब एक सा है जिसका अभिप्राय यही है कि पूर्णता की स्थिति को किसी मार्ग से पाया जा सकता है परन्तु उसके लिए उसकी भक्ति एकनिष्ट और अविचल होनी चाहिये।

मात्र एक परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ हैं। वे ही हमारे स्वामी, शरण लेने योग्य, परम गति, परम आश्रय तथा माता-पिता भाई-बन्धु, परम हितकारी और सर्वस्व हैं। उनके अतिरिक्त हमारा और कोई नहीं है- ऐसा समझकर जो स्वार्थ रहित, अतिशय श्रद्धापूर्वक अनन्य प्रेम किया जाता है, जिसमें स्वार्थ, अभिमान और व्यभिचार का ज़रा भी दोष नहीं है, उस अनन्य प्रेम का नाम अव्यभिचारी

भक्तियोग है।

यहाँ पर 'माम्' शब्द सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामि, सर्वव्यापी, सर्वाधार, समस्त जगत् के हर्ता-कर्ता, परम दयालु, सबके सुहृद्, परम प्रेमी परमेश्वर का वाचक है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।। २७

हि (क्योंकि), अव्ययस्य, ब्रह्मण: (अविनाशी, परब्रह्म का), च, अमृतस्य (और, अमृत का), च, शाश्वतस्य, धर्मस्य (और, नित्य, धर्म का), च (और), ऐकान्तिकस्य, सुखस्य (अखण्ड एक रस, आनन्द का), प्रतिष्ठा, अहम् (आश्रय मैं हूँ)।

प्रश्न 20- इस श्लोक में ईश्वर की कैसी महिमा वर्णन किया गया है?

उत्तर- (1) परमात्मा अमर है वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से परे है।

(2) वह अव्यय है अर्थात् उसका विनाश नहीं होता।

(3) शाश्वत धर्म (जो परिवर्तन शील नहीं होता) और जिस परम आनन्द को पाने के लिए साधक प्रयत्नशील है उन सबका निवास स्थान परमात्मा ही है, क्योंकि वह वसु है, सबको बसाता है।

अविनाशी होने से शाश्वत ऐकान्तिक सुख का आधार भी वही है। संसार परिवर्तनशील एवं नाशवान् है। इसलिए संसार से मिलने वाला सुख भी आने जाने वाला और दु:ख में बदल जाने वाला है। ऐसा एकान्तिक सुख जो कभी किसी भी स्थिति-परिस्थिति में दु:खरूप न बने, वह केवल अविनाशी ब्रह्म से संभव है।

शाश्वत धर्म की प्रतिष्ठा-बिना धर्म के मनुष्य की गति, मति, स्थिति है ही नहीं। धर्म की आवश्यकता प्रत्येक क्षेत्र में अनिवार्य रूप से है। धर्म कोई संकीर्ण मत-मतान्तर, पंथ, विचारधारा नहीं- यह तो जीवन पद्धति है। जीवन को जीवन बनाने का ढंग है। मनुष्य के भीतर की मानवता प्रकट करना दैवी सद्गुणों के द्वारा देवत्व की स्थिति में लाना, यही नहीं भीतर ब्रह्मत्व की पहचान करवा कर और फिर सबमें ब्रह्म का दिग्दर्शन करवाना, सद्भावना का खुला, उदार, विश्वव्यापी मंच देना - यही धर्म है। आओ भीतर की संकीर्णता छोड़े, वास्तविकता को पहचाने।

उपसंहार या सन्देश :- १४वें अध्याय के समापन में छिपे इन रहस्यमय

संकेतों को समझें। तीन गुणों का इस अध्याय में वर्णन है। कभी अकेले बैठे हुए अपने को देखे। अपने भीतर का चित्र सम्मुख आ जाएगा। यदि खाली बैठे हुए बार-बार नींद अथवा अत्यधिक प्रमाद, आलस्य में ही समय निकलता है तो समझो तमोगुण अधिक प्रभावी है। यदि खाली बैठे भी मन कामनाओं के अधीन प्रवृत्ति की ओर अथवा व्यर्थ चेष्टाओं टेलीविज़न आदि देखना तो समझो कि रजोगुण बढ़ा हुआ और खाली समय होने पर स्वाध्याय, चिन्तन, सत्संग, दान, यज्ञ आदि का भाव बनता है तो सत्त्वगुण का प्रभाव अधिक है। क्रियाओं में ईश्वरीय भाव को जोड़ें। सत्त्वगुण में भी अटके न रहो उससे भी धीरे-धीरे अतीत बनिये।

एकनिष्ठ एवं अविचल भक्ति मार्ग अपनायें यह गुणातीत होने की दिव्य स्थिति है। यही इस अध्याय का सार है। अब इस अध्याय पर आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें। ऊर्जा या शक्ति, जो अव्यक्त है, अव्यय है, निराकार, निर्गुण, सर्वतोमुखी, अनन्तरूप है, वह सघन होकर जब व्यक्त पदार्थ में परिवर्तित होती है तो प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के तीन सूक्ष्म गुण होते हैं।

1. उसका विद्युत् चुम्बकीय मूल 2. उसकी अपनी आवृत्ति 3. उसकी न्यूनाधिक गुणात्मक आवृत्तियाँ। इन सब आवृत्तियों के कारण वह अपने मूल रूप से कभी मिल नहीं पाती। मनुष्य का आत्मा भी ऐसे ही शक्ति का प्रतिरूप है जो तीन प्रकार की गुणात्मक आवृत्तियों से घिरा है। इसका प्रत्येक कार्य, विचार, भावना, इन आवृत्तियों को जन्म देता है, कर्म करने को प्रेरित करता है और इस प्रकार वह सब त्रिगुणात्मक संसार चक्र का अवयव बन जाता है। इस त्रिगुणात्मक आवृत्ति चक्र से निस्तार का एक ही उपाय है कि ये आवृत्तियाँ उत्पन्न ही न हों अर्थात् भावनात्मक रूप से आसक्त न होकर, साधक कर्मों को कर्तव्य रूप में, अपने मूलरूप के ज्ञान की अनुभूति को स्मरण रखते हुए करता रहे। यही गीता का ज्ञान-भक्ति सहित निष्काम कर्मयोग है। इसी से जीवन-ध्येय अर्थात् मुक्ति ब्राह्मी अवस्था (स्थिति) के रूप में जीवितावस्था में भी अनुभव की जा सकती है और मृत्यु-पर्यन्त यही स्थिति बनाये रखकर जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल जाती है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, इस संवाद का गुण-त्रय-विभाग-योग नामक चतुर्दश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ पञ्चदशोऽध्यायः
पुरुषोत्तम - योग

प्रधान विषय -

(1) संसार वृक्ष का कथन और भगवत् प्राप्ति का उपाय -श्लोक संख्या 1 से 6 तक।

(2) जीवात्मा का विषय -श्लोक संख्या 7 से 11 तक।

(3) प्रभावसहित परमेश्वर के स्वरूप का विषय- श्लोक संख्या 12 से 15 तक

(4) क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम का विषय - श्लोक संख्या 16 से 20 तक।

भूमिका :- ज्ञान का प्रकरण चल रहा है। संसार, जीव और परमात्मा- इन तीनों का विवेचन ज्ञान के तत्त्व तक पहुंचने के लिए आवश्यक है। चौदहवें अध्याय में तीन गुणों की बात विस्तार से कही। संसार की रचना में तीनों की भूमिका इन गुणों की वृद्धि पर जीव की स्थिति, देह त्याग के पश्चात् इन्हीं गुणों के आधार पर अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने की बात और फिर तीन गुणों से अतीत अवस्था पर वर्णन किया गया है। वास्तव में यही अवस्था जीव का प्राप्तव्य अथवा गन्तव्य है, परन्तु कहीं न कहीं यह जीव बहिर्मुखी होकर गुणों के आकर्षण में जन्म-मृत्यु के अधीन हो जाता है। जीव लक्ष्योन्मुख रहे, ईश्वरोन्मुखी रहे, इसलिए आवश्यक है कि ईश्वर के महत्त्व को समझें। यह जान लें कि परमात्मा सर्वोत्तम है, पुरुषोत्तम है। चौदहवें अध्याय के समापन में श्री कृष्ण जी ने एक निष्ठ एवं अविचल भक्ति को गुणातीत अवस्था का साधन बताया। ऐसी भक्ति को व्यावहारिक धरातल में संभव बनाने के लिए, जीव का आकर्षण परमात्मा की ओर रहे, जीव इस हेतु से परमात्मा को श्रेष्ठ-सर्वोत्तम-पुरुषोत्तम मान ले, इस हेतु से गीता के दिव्य उद्घोषक श्री कृष्ण जी "पुरुषोत्तम-योग" नामक पन्द्रहवें अध्याय का आरम्भ करते हैं।

तेहरवें अध्याय से ज्ञानयोग की की चर्चा चल रही है। उस अध्याय में क्षेत्र-क्षेत्रज प्रकृति-पुरुष, इन दो नामों से देही को देह से, आत्मा को शरीर से

अलग समझाने का प्रयत्न किया गया है। उसी विचारधारा को आधार बनाकर पन्द्रहवें अध्याय में प्रकृति को क्षर तथा पुरुष को अक्षर कहा गया है। इन दोनों के अतिरिक्त इनका नियन्त्रण करने वाली सत्ता को पुरुषोत्तम कहा गया है, परमात्मा कहा गया है। गीताकार ने क्षर तथा अक्षर - इन दोनों को पुरुष का नाम दिया है, परमात्मा को पुरुषोत्तम का नाम दिया है। इस प्रकार ये तीन पुरुष हो जाते हैं- दो तो क्षर तथा तीसरा अक्षर- इन दो पुरुषों का वर्णन है। वह तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में हो चुका, पन्द्रहवें अध्याय में तीसरे पुरुष पुरुषोत्तम का वर्णन करते हुए उसका क्षर-अक्षर से सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है।

श्री कृष्ण जी ने इस अध्याय में अर्जुन को जीवन के वृक्ष के बारे में बताया है। संसार और सृष्टि का स्वरूप बताया है। जो शरीर में है वही ब्रह्माण्ड में है। जीवन वृक्ष की जड़ ऊपर है, शाखाएँ नीचे हैं, मूल ऊपर है। परमात्मा ही मूल है। जीवन रूपी वृक्ष की जड़ ऊपर है, क्योंकि जड़ ही जीव का मुख है, जिससे वह भोजन ग्रहण करता है। वृक्ष अपने ऊपरी भाग से ही प्रकृति से आहार, वायु और जल ग्रहण करता है और ऊपर से नीचे की ओर भेजता है। माँ के गर्भ से शिशु केवल अंकुरित होता है, आहार, भोजन, वायु, पानी सब बाहर से माँ के माध्यम से प्राप्त करता है। मनुष्य कर्म-योनि और भोग-योनि के चक्रव्यूह में फँसा है। शेष सब प्राणी परमात्मा द्वारा बनाई व्यवस्था में जीवन जीते हैं।

जीवन एक वृक्ष अश्वत्थ (पीपल) है, जो कल नहीं रहेगा, परन्तु निरन्तर एवं शाश्वत है। वह पत्ता, वह शाख, पत्ते पर चमक रही ओस की वह बूँद नहीं रहेगी, परन्तु पत्ता और ओस की बूँद रहेगी। आने वाले कल की कोंपल और ओस की बूँद में आज का पत्ता और ओस की बूँद पुनर्जीवित होकर चमकेगी, उनकी ताजगी और सौन्दर्य भी रहेगा।

श्री कृष्ण जी अर्जुन के माध्यम से मनुष्य से कहते है कि इस परिवर्तनशील संसार के साथ बदलो नहीं, स्थिर रहो। मौसम बदलेंगे, दिन-रात्रि में परिवर्तन होगा, सृष्टि में सब कुछ परिवर्तित होता रहेगा, परन्तु सृष्टि स्थिर रहेगी। अपनी बढ़ती आयु के साथ अपना स्वभाव, व्यवहार, खान-पान बदलो लेकिन तुम स्थिर रहो, क्योंकि तुम्हारी जीवात्मा भी स्थिर और शाश्वत है। शरीर त्याग करते समय जीवात्मा सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में अन्तर्निहित संस्कार और वृत्तियों को वैसे साथ ले जाती है जैसे पुष्पों के उद्यान से बहती हवा पुष्प की सुगन्ध को साथ ले जाती है और अवसर पाकर उन्हें जन्म में प्राप्त शरीर में

संप्रेषित करती है।

वृत्तियों में तीन अग्नियाँ, तृष्णाग्नि, जठराग्नि और कामाग्नि तथा तीन तृष्णाओं लोकैषणा, वित्तैषणा एवं पुत्रैषणा के अतृप्त अंश की जीवात्मा के संग ही नए जन्म में तिरोहित होती है और पुनः संसार के जन्म-मृत्यु में बाँधती है। इस बन्धन में मनुष्य अज्ञान के कारण बँधता है और इससे मुक्त होने तथा इस उलझन को सुलझाने का उपाय भी ज्ञान है। ज्ञान संसार में भागकर प्राप्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि जहाँ भी जाओगे वह स्थान कहीं न कहीं इस संसार में ही होगा। अत: संसार में रहना है, कर्तव्य कर्म करना है, अपने मूल (परमात्मा) को पकड़ना है और जन्म-मृत्यु के चक्रव्यूह से मुक्त होना है। इतने सारे कार्य करने के लिए परमात्मा ने हमें दो उपकरण दिये है- बुद्धि और मन। दोनों के लिए अन्य अनेक सांसारिक भावनाओं के साथ ही बुद्धि के लिए विवेक और मन के लिए वैराग्य की भावना दी है, जिन्हें अभ्यास द्वारा हमें नियन्त्रित कर परिष्कृत एवं विकसित करना होगा।

गीता के पन्द्रहवें अध्याय में श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को बताया है कि जीवन का वृक्ष क्या है ? संसार और सृष्टि का स्वरूप क्या और कैसा है ?

श्री कृष्ण उवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।। १ ।।

ऊर्ध्वमूलम् (ऊपर की ओर जड़ों को किये हुए), अधः, शाखम् (नीचे की ओर, शाखाओं को किए हुए), अश्वत्थम् (संसार रूपी पीपल के वृक्ष को), अव्ययम्, प्राहुः (अविनाशी, कहते हैं), छन्दांसि, यस्य, पर्णानि (वेद, जिसके, पत्ते कहे गये हैं), तम् (उस संसार रूप वृक्ष को), यः (जो पुरुष [मूल सहित]) वेद (तत्त्व से जानता है), सः, वेदवित् (वह, वेद के तात्पर्य को जानने वाला है)।

प्रश्न 1- अश्वत्थ रूप में वर्णन से संसार का कैसा वर्णन किया गया है ?

अथवा

संसार-वृक्ष का 'अश्वत्थ' के रूप में कैसा आध्यात्मिक वर्णन किया गया है ?

अथवा

वेद का विद्वान कौन है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने कहा- विद्वान् लोग जिस ऊर्ध्वमूल वाले नीचे की ओर शाखाओं वाले 'अश्वत्थ' अर्थात् पीपल के वृक्ष का वर्णन करते हैं, जो कभी नष्ट नहीं होता अर्थात् अव्यय है, सनातन काल से चला आ रहा है, 'छन्दांसि' अर्थात् वेद जिसके पत्ते हैं, उस वृक्ष को जो जानता है वह पुरुष सच्चा वेदवेत्ता अर्थात् ज्ञानी है।

स्वामी रामदेव जी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है- उक्त वर्णन ब्रह्मवृक्ष अर्थात् संसार- वृक्ष का है। इस संसार को ही साँख्यमत वाले प्रकृति का विस्तार या वेदान्ती परब्रह्म की माया (निजशक्ति) का विस्तार कहते हैं। एक सूक्ष्म बीज से जिस प्रकार एक बहुत बड़े पीपल के वृक्ष का निर्माण होता है, उसी प्रकार बीजरूप अव्यय तथा अव्यक्त स्वरूप से इस विशाल अनन्त दृश्य जगत् (ब्रह्माण्ड) का निर्माण हुआ है। ऋग्वेद में इसका वर्णन मिलता है तथा अन्य भी कई प्राचीन ग्रन्थों में ऐसी कल्पना की गई है-

''किं स्विद् वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।''

ऋग्वेद १०/८१/४

वह कौन सा वन है और वह कौन सा वृक्ष है? जिसे काट-छाँटकर आकाश एवं पृथ्वी रूप संसार बनाया गया। हे विद्वानो! अपने मन से ही यह प्रश्न करो कि इस जगत् को कौन से वृक्ष से बनाकर और उसे अपने में धारण करके परमेश्वर सबका अधिष्ठाता बना हुआ है ? इस प्रश्न का समाधान खोजा गया और बहुत ही निश्चित, स्पष्ट उत्तर दिया गया।

''ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमिवो ब्रह्माध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।''

(तैत्तिरीय ब्राह्मण)

अर्थात् ब्रह्म वन है, ब्रह्म ही वह वृक्ष है जिसने आकाश और पृथिवी बनाये हैं। इस वृक्ष के मूल में अमृत और विष दोनों हैं। कुशल और जागरण-शील नर-नारी अमृत ग्रहण करते हैं, विष को त्याग देते हैं। अविवेकी और असावधान जन विष को लेकर दु:खी होते हैं।

गीता का यह श्लोक और उसका सम्पूर्ण भाव कठोपनिषद से लिया है-

''ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।''

कठोपनिषद् षश्ठी वल्ली, प्रथम मन्त्र

जिसका मूल अथवा जड़ (मूल कारण) काल से ऊपर सनातन पुरुष में है (अर्थात् बीज रूप में विद्यमान वह पुरुष सर्वश्रेष्ठ, सबसे सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है), ऐसा यह पीपल का वृक्ष नीचे की ओर शाखाओं वाला प्रवाह से सनातन (अव्ययी= अविनाशी) है। इसका जो मूल कारण है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे पोषण पाता है और जिसमें विलीन होता है, वही विशुद्ध दिव्य-तत्त्व शुक्र है, वही ब्रह्म है, उसे ही अमृत भी कहते हैं।

परिवर्तनशील होने के कारण संसार को अश्वत्थ कहा है। इस अश्वत्थ वृक्ष का वर्णन आश्चर्यमय है, सर्वोपरि परमेश्वर से सारे संसार का विस्तार है। वही जगत् का मूल है वही यहाँ 'ऊर्ध्व' इस पद से कहा गया है। अतः जगत् की जड़ ऊपर (मूल कारण परमेश्वर में) कही गई है।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।। २।।

तस्य (उस संसार वृक्ष की), गुणप्रवृद्धाः (तीनों गुणों से बढ़ी हुई) विषय, प्रवालाः (विषय भोग रूपी, कोंपलों वाली), शाखाः (देव, मनुष्य और तिर्यक् आदि योनि रूप शाखाएँ), अधः, च, ऊर्ध्वम्, प्रसृताः (नीचे और ऊपर सर्वत्र फैली हुई हैं) मनुष्य लोके (मनुष्य लोक में) कर्मानुबन्धीनि (कर्मों के अनुसार बाँधने वाली), मूलानि (अहंता, ममता और वासना रूपी जड़ें), {भी} अधः, च (नीचे, और) {ऊपर}, अनुसन्तानि (सभी लोकों में व्याप्त हो रही है)

प्रश्न 2- संसार वृक्ष का और विस्तार से किस प्रकार वर्णन किया गया है?

उत्तर- उस वृक्ष की शाखायें नीचे और ऊपर की ओर फैली हुई हैं जो कि सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के खाद-पानी से दिनों-दिन वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं, जिससे इन्द्रिय विषयों (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) की कोंपलें फूटी हुई हैं और मनुष्य लोक में कर्म के अनुसार बाँधने वाली जड़ें (मूलानि) नीचे अर्थात् संसार में जल की तरह फैली हुई हैं।

ये शाखायें उस पीपल की हैं, जिसकी मुख्य जड़ (मूल) ऊपर विद्यमान है और कर्म के अनुसार बाँधने वाली जिसकी अन्य वासना रूपी जड़ें नीचे मनुष्य लोक तक चली गई हैं। इस प्रकार कर्म विपाक क्रिया का धागा जोड़ दिया गया है। मनुष्य जन्म पाकर बन्धन में बाँधने वाली ममता, वासना और अहंता की जड़ों को काटने में ही जीवन की सफलता है।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार- इस संसार को एक अलंकार द्वारा समझाने का यत्न किया गया है। परमात्मा से ही संसार उत्पन्न हुआ है और कार्य-जगत् चारों और फैला हुआ है। यह कामनाओं के कारण फलता-फूलता है। अलंकार यद्यपि सर्वथा ठीक नहीं है, इस पर भी इस विषय को समझाने का बहुत अच्छा प्रयास है।

परमात्मा, प्रकृति और जीवात्मा तुरीय अवस्था में पृथक्-पृथक् रहते हैं। साम्यावस्था में प्रकृति निश्चल होती है, प्रकृति निश्चल होने के कारण जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होते हैं। एक परमात्मा ही है जो इस सब में व्याप्त होता है।

जब रचना प्रारम्भ होती है तो परमात्मा का तेज घोर शब्द करता हुआ उत्पन्न होता है और फिर परमाणुओं की साम्यावस्था भंग होती है, तब जगत् रचना आरम्भ हो जाती है और फिर चलते-चलते जगत् का आविर्भाव होता है। यह क्रम संसार का है और इसका आदिमूल परमात्मा कहा जाता है, क्योंकि उसके तेज (सामर्थ्य)से ही रचना आरम्भ होती है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो च चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूल मसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।। ३।।

अस्य, रूपम् (इस संसार वृक्ष का, स्वरूप [जैसा कहा है]), तथा, इह, न (वैसा, यहाँ, नहीं), उपलभ्यते (पाया जाता), [क्योंकि], न आदिः, च, न, अन्तः (न तो, इसका आदि, और, न, अन्त है), च, न, सम्प्रतिष्ठा (और, न, अच्छी प्रकार से स्थिति है), [इसलिए], एनम् (इस), सुविरूढमूलम् (गहराई तक पहुँची हुई जड़ों वाले), अश्वत्थम् (संसार रूप वृक्ष के फल को), दृढेन, असङ्गशस्त्रेण, छित्त्वा (दृढ़, वैराग्य रूप शस्त्र द्वारा, काट कर)......

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।। ४।।

ततः, तत्, पदम्, परिमार्गितव्यम् (उसके पश्चात्, उस, परमपद परमेश्वर को, भली-भाँति खोजना चाहिये), यस्मिन्, गताः (जिसमें, गये हुए पुरुष), भूयः, न, निवर्तन्ति (फिर, लौटकर संसार में, नहीं आते), च, यतः (और, जिस परमेश्वर से), पुराणी, प्रवृत्तिः (पुरातन, संसार वृक्ष की प्रवृत्ति), प्रसृता (विस्तार को प्राप्त हुई है), तम्, एव, आद्यम् (उसी आदि पुरुष के), प्रपद्ये (मैं शरण हूँ)।

प्रश्न 3- संसार-वृक्ष का क्या प्रयोजन है और इस संसार वृक्ष का छेदन

करने के लिए साधक को क्या करना चाहिये ?

उत्तर– जिस प्रकार के संसार वृक्ष का यहाँ वर्णन किया गया है ऐसे रूप वाला (संसार-वृक्ष) यहाँ कहीं मिलता तो है नहीं, न उसका (ऊपर की ओर) आदि मिलता है, न (नीचे की ओर) अन्त मिलता है, न (वह नहीं) प्रतिष्ठित अर्थात् जमा हुआ दिखाई देता है, परन्तु फिर भी वह अश्वत्थ-वृक्ष गहराई तक पहुँची हुई जड़ों वाला है। इसको अनासक्ति की दृढ़ तलवार से काटकर फिर उस स्थान को खोज निकालना चाहिये जहाँ पहुँचकर फिर लौटा नहीं जाता (इस प्रकार का साधक यह संकल्प करे कि) मैं उस आदि-पुरुष की ओर जाता हूँ जिससे विश्व की यह पुरातन धारा बह निकली है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार –

इन श्लोकों का ब्रह्माण्ड-परक अर्थ– इन श्लोकों में संसार को पीपल के वृक्ष से उपमा दी गई है। तीसरे श्लोक में यह भी कह दिया कि ऐसा वृक्ष संसार में कोई देखने में तो नहीं आता, परन्तु न दीखने पर भी उपमा का यह वृक्ष ऐसा विशाल है कि इसकी जड़ ऊपर दूर तक पहुँची हुई है। अन्य वृक्षों की जड़ नीचे को होती है और टहनियाँ ऊपर की ओर, परन्तु इसकी टहनियाँ नीचे को हैं और जड़ ऊपर को। इस उल्टे वृक्ष का क्या अर्थ है ? अश्वत्थ वृक्ष प्रकृति का सूचक है। प्रकृति की जड़ जहाँ से यह प्राण लेती है, ब्रह्म में है। ब्रह्म चाहे सब जगह हैं, परन्तु उसको सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक, सर्वज्ञ मानने के कारण ब्रह्म ऊपर है, ऐसा माना गया है। इसलिए प्रकृति रूपी अश्वत्थ वृक्ष की जड़ यदि ब्रह्म में है, तो स्पष्ट है यह वृक्ष उल्टा है। ऊपर का क्या अर्थ है ? क्या ब्रह्म आकाश में है ? नहीं, ऊपर का अर्थ है उत्कृष्ट, इस संसार से परे। ठीक ऐसे जैसे हम 'ऊपर के वर्ग' शब्द का प्रयोग करते हैं। 'ऊपर के वर्ग' किसी के सिर पर थोड़े बैठे होते हैं, 'ऊपर के' अर्थात् 'उच्च श्रेणी के'। संसार-रूपी इस अश्वत्थ वृक्ष की जड़ पर ब्रह्म में है, वह उत्कृष्ट है, ऊपर है इसलिए यह वृक्ष मानो उल्टा लटका हुआ है। इस वृक्ष की टहनियाँ नीचे हैं। जब वृक्ष उल्टा लटका दिया तब टहनियाँ नीचे की तो हो गई।

संसार-वृक्ष की टहनियाँ क्या है ? प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, फिर पंच तन्मात्रायें, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत, मन- ये सब इस वृक्ष की टहनियाँ हैं। ये टहनियाँ और इनमें से प्रत्येक टहनी, सत्त्व, रजस्, तमस् – इन गुणों की खाद पाकर बढ़ती हैं। टहनियों पर फूट रही कोपलें संसार के

शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श- ये पाँच विषय है। आत्मा को पाने के लिए इस वृक्ष की जड़ों को खड़ग से काटना है।

मानुष जन्म में जब इस रूपक को घटाया जाता है तब कर्मों के बन्धन के कारण ये टहनियां नीचे ऊपर दोनों ओर जाती हैं। इसका अभिप्रायः यह है कि मनुष्य जन्म में कर्म के बन्धनों के कारण मनुष्य उच्च योनियों में भी जा सकता है, निम्न योनियों में भी जा सकता है। वृक्ष की टहनियाँ जन्मों की योनियाँ हैं। इस उल्टे वृक्ष पर नीचे से ऊपर चढ़कर, विषयों, इन्द्रियों के सहारे मूल प्रकृति में जाकर प्रकृति की जड़ को पकड़ कर उसे काट डालते हैं, तब ब्रह्म में पहुँच जाते हैं क्योंकि इस वृक्ष की जड़ के नीचे नहीं, ऊपर है, ब्रह्म में हैं।

संसार के इस वृक्ष को 'अश्वत्थ' कहा है। 'अश्वत्थ' का अर्थ है- अ=नहीं, श्वः = कल, स्थ= स्थिर रहने वाला- जिसके कल तक भी टिकने का विश्वास न हो वह 'अश्वत्थ'। यद्यपि यह कल तक भी नहीं टिकता तो भी यह सनातन है। प्रवाह रूप में लगातार चल रहा है- इसलिए इसे अश्वत्थ तथा अव्यय इन विरोधी गुणों का कह दिया है। सृष्टि का व्यक्त रूप विनाशी है, अव्यक्त रूप अव्यय है, अविनाशी है- यही अर्थ है अश्वत्थ और अव्यय का।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञै गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।। ५।।

निर्मानमोहा (जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है), जितसङ्गदोषा (जिसने आसक्ति रूप दोष को जीत लिया है), अध्यात्मनित्याः (जिसकी परमात्मा के स्वरूप में, नित्य स्थिति है), विनिवृत्तकामाः (जिसकी कामनायें पूर्ण रूप से नष्ट हो गई है), सुखदुःखसञ्ज्ञैः (सुख और दुःख नाम वाले), द्वन्द्वैः, विमुक्ताः (द्वन्द्वों से, विमुक्त), अमूढाः (ज्ञानीजन), तत्, अव्ययम्, पदम्, गच्छन्ति (उस, अविनाशी, परम पद को प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 4- कौन जन अविनाशी परम पद परमात्मा को प्राप्त होते हैं ?

उत्तर- अर्जुन को अविनाशी परमेश्वर की प्राप्ति अधिकारीजनों के विषय में बतलाते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि हे अर्जुन! मैं उस आद्य पुरुष की शरण में प्रतिदिन जाता हूँ और यह जो प्रभु भक्त का पद मैंने पाया है, इसे पाने के लिए क्या करना पड़ता है, सो सुनो।

(1) जिन्होंने मान तथा मोह को अपने अन्दर से बिल्कुल निकाल दिया है।
(2) जिन्होंने फल में आसक्ति का दोष बिल्कुल दूर कर दिया है।

(3) जो योगाभ्यास आदि आध्यात्मिक उन्नति के साधनों में निरन्तर लगे रहते हैं।
(4) जो आप्तकाम होने के कारण निवृत्तकाम हैं अर्थात् जिनकी कामनाएं पूर्ण रूप से नष्ट हो गई हैं।
(5) जो सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से मुक्त है, वे सुख में इतराते नहीं और दु:ख में पीड़ित नहीं होते अर्थात् सदैव, सम अवस्था में रहते हैं।
(6) जो सब अवस्थाओं में भक्ति-परायण होते हैं।
(7) ऐसे ज्ञानी लोग ही उस अव्यय (अविनाशी) पद पर पहुँचते हैं।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निर्वतन्ते तद्धाम परमं मम।। ६।।

यत्, गत्वा (जिस, परम पद को प्राप्त होकर, मनुष्य), न, निवर्तन्ते (लौटकर संसार में नहीं आते), तत् (उस स्वयं प्रकाश, परम पद को), न, सूर्य, भासते (न, सूर्य, प्रकाशित कर सकता है), न, शशाङ्क, न, पावक: (न, चन्द्रमा और न अग्नि ही), तत्, मम, परमम्, धाम (वही, मेरा, परमधाम है)।

प्रश्न 5- वह परम पद कैसा है ?

उत्तर- अर्जुन को परमपद के स्वरूप से परिचित कराते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि - ''हे अर्जुन! वह अव्यय पद मेरा परमधाम है। वहाँ पहुँचकर लौटना नहीं पड़ता। जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ना पड़ता। वहाँ पर ब्रह्म के कारण इतना प्रकाश है कि न वहाँ सूर्य को प्रकाश देना पड़ता है और न चन्द्रमा और अग्नि को (ये तो स्वयं उसकी ज्योति से प्रकाशित होते हैं)।''

इस श्लोक से मिलता जुलता मन्त्र कठोपनिषद् (पाँचवी वल्ली/१५) मुण्डकोपनिषद (द्वितीय अध्याय, द्वितीय मुण्डक, मन्त्र संख्या १०) तथा श्वेताश्वेतर उपनिषद् (षष्ठ अध्याय, १४) में निम्न रूप में उपलब्ध होता है -

''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।''

वहाँ न सूर्य प्रकाशित होता है और न चन्द्र व तारागण चमकते हैं, न वहाँ विद्युत का प्रकाश होता है, फिर लौकिक अग्नि का तो कहना क्या है? उस चैतन्य स्वरूप के प्रकाशमान होते हुए ही यह सब प्रकाशित होता है। उसकी ज्योति से ही यह ज्योतिष्मान् है, क्योंकि इस प्राकृत जगत् में जितने तत्त्व प्रकाशशील हैं, वे उस ब्रह्म की शक्ति का ही अंश मात्र है।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। ७।।

जीवलोके (इस देह में), सनातनः, जीवभूत: (यह सनातन, जीवात्मा), मम, एव, अंश: (मेरा, ही, अंश है और वही), प्रकृतिस्थानि (इस प्रकृति में स्थित), मन: षष्ठानि, इन्द्रियाणि, कर्षति (मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है)।

प्रश्न 6- जीवात्मा का स्वरूप कैसा है ?

उत्तर- अर्जुन को जीवात्मा के स्वरूप से परिचित कराते हुए श्रीकृष्ण जी कह रहे हैं कि ''हे अर्जुन! मैं तीन अंशों से बना हूँ, अर्थात् मेरे व्यक्तित्व के तीन भाग हैं- एक मैं जीवात्मा प्रतिबिम्ब ग्राहक, दूसरा परमात्मा का जितना प्रतिबिम्ब मैं योगाभ्यास द्वारा अपने अन्दर उतारने में समर्थ हुआ हूँ, तीसरा भौतिक देह जिसकी आसक्ति को मुझे दृढ़ शास्त्र से काटना है। इनमें जो मन सहित पाँच ज्ञानेन्द्रियों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द) को भीतर त्याग के समय नये शरीर में अपने साथ खींचकर ले जाता है, वह मेरे व्यक्तित्व का वह मुख्य अंश है, जो मेरा ही है। यह वही सनातन सत्ता है, जिसे जीवलोक में जीव नाम से पुकारा जाता है। यह मेरा अंश जीव प्रकृति में रहने वाली पाँचों इन्द्रियों और मन- इन छह को अपनी ओर खींच लेता है और यह जन्म हो जाता है।''

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वार्युगन्धानिवाशयात्।। ८।।

वायु: (वायु), आशयात्, गन्धान् (आशय=मूल स्थान से, गन्ध को), इव (जैसे ग्रहण करके ले जाता है वैसे ही), ईश्वर: (देहादि का स्वामी जीवात्मा), अपि (भी), यत्, उत्क्रामति (जिस शरीर का, त्याग करता है उससे), एतानि, गृहीत्वा (इन, मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके), च, यत् (फिर, जिस), शरीरम्, आप्नोति, संयाति (शरीर को प्राप्त होता है, उसमें, जाता है)।

प्रश्न 7- वायु के दृष्टान्त से जीवात्मा के गमन का कैसा वर्णन किया गया है?

उत्तर- जब यह जीव जन्म धारण करता है या जब यह इस शरीर को छोड़ता है, तब यह इन (छहों को- पांचों इन्द्रियों और छठे मन को) साथ ले जाता है, ठीक ऐसे, जैसे वायु गन्ध को अपने आशय से, अपने उद्गम स्थान से, अपने साथ ले जाती है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।। ९।।

अयम् (यह जीवात्मा), श्रोत्रम्, चक्षुः, च, स्पर्शनम्, च, रसनम्, घ्राणम् (श्रोत्र, चक्षु, स्पर्श, रसना और घ्राण=सूँघना), च मनः (और मन को), अधिष्ठाय, एव (इन सबके सहारे ही), विषयान्, उपसेवते (विषयों का सेवन करता है)।

प्रश्न 8- किस के सहारे यह जीवात्मा विषयों का सेवन करता है?

उत्तर- जिस समय यह जीव शरीर धारण करता है अर्थात् इस जन्म में विराजता है, वह कान, आँख, त्वचा, जीभ, नाक और मन का आश्रय लेकर विषयों का सेवन करता है।

श्लोक ७,८,९ पर विशेष टिप्पणीः- इन श्लोकों में दो महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं।

(1) ''ममैवांशः'' (2) जीव के लिंग शरीर की चर्चा के प्रसङ्ग में टीकाकारों ने 'ममैवांशः' के पद को महत्त्व दिया है। 'अंश' का विचार गीता में १५वें अध्याय के अतिरिक्त गीता के १०/४२ में भी कहा है- **'विष्टभ्य अहम्, इदम्, कृत्स्नम् एकांशेन'** अपने एक अंश से परमात्मा ने इस सम्पूर्ण जगत् को धारण किया हुआ है। यही बात ऋग्वेद के प्रथम सूक्त (१०/९०/३) में कही गई है-

''**पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि**'' अर्थात् उसके एक पद से, एक अंश से यह विश्व बना है, तीन पाद, तीन अंश, उसके द्युलोक में है। इसका यह अभिप्रायः है कि यह जो चराचर जगत् दिखता है, वह तो उसका कुछ ही अंश है, द्युलोक में देखें तो न जाने यह सृष्टि कहाँ तक चली गई है।

गीता (१५/७)का यह कथन, ''**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**'' ऋग्वेद के १०/१३/१ ''**शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः**'' वेद के कथन का शब्दान्तर है।

डॉ. राधा कृष्णन् के अनुसार, ''वेद ने कहा 'सृष्टि' ब्रह्म का एक पाद है। गीता ने कहा 'जीव' ब्रह्म का एक अंश है। अंश का स्पष्टीकरण करते हुए वेदान्त के समर्थक शंकराचार्य का कथन है कि जैसे आकाश सर्वव्यापक है, परन्तु घड़े का आकाश, घर के भीतर का आकाश-घटाकाश-मठाकाश- उसके अंश कहे जा सकते हैं, वैसे ब्रह्म जीव का अंश है। इस देह में जो ब्रह्म जीव रूप में वर्तमान है, वह ब्रह्म का अंश है।''

टिप्पणी -

इसका यह अर्थ नहीं कि भगवान् को टुकड़ों में विभक्त या खण्डित किया जा सकता है। आत्मा परमेश्वर का अंश नहीं है, आत्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।। १०।।

उत्क्रामन्तं, वा (शरीर को छोड़कर जाते हुए को अथवा), स्थितम्, वा (शरीर में स्थित हुए को, अथवा), भुञ्जानम् (विषयों को भोगते हुए को), गुणान्वितम् (तीनों गुणों से युक्त हुए को), अपि (भी), विमूढाः, न, अनु पश्यन्ति (अज्ञानी जन, नहीं जानते), ज्ञानचक्षुषः, पश्यन्ति (ज्ञानी, तत्त्व से जानते हैं)।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।। ११।।

यतन्तः योगिनः (यत्न करने वाले योगीजन भी), आत्मनि, अवस्थितम् (अपने हृदय में, स्थित), एनम्, पश्यन्ति (इस आत्मा को, तत्त्व से जानते हैं), च, अकृतात्मानः, अचेतसः (किन्तु, जिन्होंने अपना अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन), यतन्तः, अपि (यत्न करते रहने पर भी), एनम्, न, पश्यन्ति (इस आत्मा को, नहीं, जानते)।

प्रश्न 9- कौन लोग आत्मा का परमात्मा में देख लेते हैं और कौन लोग नहीं देख पाते?

उत्तर- यह जीव जो शरीर से निकल जाता है या जो शरीर में आकर स्थित हो जाता है (जन्म लेता है), और प्रकृति के सत्त्व-रजस्-तमस्- इन तीनों गुणों के सम्पर्क में आकर (सात्त्विक, राजसिक, तामसिक) भोग भोगता है, उसे मूढ़ (अज्ञानी) जन नहीं देख पाते, परन्तु जिन के पास ज्ञान की आँख है अर्थात् ज्ञानी हैं, वे उसे देख पाते हैं।

शरीर में आत्मा स्थित है, आत्मा में परमात्मा स्थित है- इस सत्य को प्रकट करते हुए गीता कहती है- यत्नपूर्वक साधना में लगे हुए योगी लोग जैसे शरीर में आत्मा को देख लेते हैं, वैसे आत्मा में परमात्मा को देख लेते हैं। ऐसे लोग जो चित्त और बुद्धि से काम नहीं लेते ऐसे अचेता अकृतात्मा जो अपने अन्तःकरण को शुद्ध नहीं कर पाये, वे यत्न करने पर भी उसे नहीं देख पाते।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेखिलम्।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। १२।।

आदित्यगतम्, यत्, तेजः (सूर्य में स्थित, जो, तेज), अखिलम्, जगत्, भासयते (सम्पूर्ण, जगत् को, प्रकाशित करता है), च, यत्, चन्द्रमसि (और, जो तेज, चन्द्रमा में है), यत्, अग्नौ (जो, अग्नि में है), तत्, मामकम्, तेजः विद्धि (उसको तू, मेरा ही, तेज, जान)।

प्रश्न 10- परमेश्वर के तेज की कैसी महिमा का वर्णन है?

उत्तर- सूर्य में पहुँचा हुआ तेज जो समूचे जगत् को प्रकाशित करता है, और जो तेज चन्द्रमा और अग्नि में विद्यमान है वह परमात्मा का ही है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है- वेद में लिखा है कि "**चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत्** (यजुर्वेद ३१/१२)" अर्थात् जो स्थान सौरमण्डल में सूर्य का है वह मनुष्य के ज्ञान क्षेत्र में चक्षु आदि इन्द्रिय-जन्म प्रत्यक्ष का है, तथा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित होता है, इसी प्रकार मानस-चिन्तन-जन्म अनुमान तथा शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष से भाषित होते हैं। इसलिए अध्यात्म क्षेत्र का चन्द्रमा (मन) मस्तिष्क है तथा भौतिक अग्नि का स्थानापन्न दीक्षारूप और तप रूप अग्नि मनुष्य के अन्दर प्रज्ज्वलित होता है "**दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहा**" (यजुर्वेद ४/७)। परन्तु ये सब अध्यात्म-साधना के बिना मनुष्य के अन्दर प्रकट नहीं होते। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि अध्यात्म-साधन से ये तेज मैंने अपने अन्दर प्रकट कर लिये हैं और अब वे तेज मेरे हो गये हैं।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।। १३।।

च, अहम् (और, मैं ही), गाम्, आविश्य (पृथ्वी में, प्रवेश करके) ओजसा (अपनी शक्ति से), भूतानि, धारयामि (सब भूतों को, धारण करता हूँ), च रसात्मकः, सोमः, भूत्वा (और, रसस्वरूप अर्थात्, अमृतमय, चन्द्रमा, होकर), सर्वाः, औषधिः, पुष्णामि (सम्पूर्ण, औषधियों को अर्थात् वनस्पतियों को, पुष्ट करता हूँ)।

प्रश्न 11- परमात्मा पृथ्वी रूप और चन्द्रमा रूप से क्या करता है?

उत्तर- परमात्मा ही अपनी शक्ति से चन्द्रमा होकर समस्त वनस्पतियों को पुष्ट करता है। चन्द्रमा, पृथ्वी, आदि सब भगवान् की अपरा प्रकृति हैं। (गीता ७/४)

अतः इसके उत्पादक, धारक, पालक, संरक्षक, प्रकाशक आदि सब कुछ भगवान् ही हैं।

सृष्टि के किसी भी रूप को देख लो और कोई क्षेत्र देख लो। सार-तत्त्व की बात यही है कि मूल में परमात्मा ही है। कारण भी स्पष्ट है प्रकृति तो जड़ है चेतन सत्ता एक मात्र ईश्वर और जीव ही है। पृथ्वी अपने आप में चेतन नहीं है, परन्तु जो भी बीजारोपण इसमें किया जाता है, उसका अंकुरित पल्लवित होना- इसके पीछे कौन है? पृथ्वी के नीचे जल, चारों ओर जल, पृथ्वी से कहीं-कहीं अधिक जल- फिर भी पृथ्वी सुरक्षित है, जल मग्न नहीं हो गई- इसका कारण? परमात्मा स्वयं कहते हैं- पृथ्वी की धारण शक्ति, मैं हूँ। वनस्पतियों मे जो रस है, वह चन्द्रमा के माध्यम से है, परन्तु चन्द्रमा के रूप में जो वस्तुतः स्वयं भगवान् ही वह रस का संचार करते हैं। श्री कृष्ण जी के अनुसार :- रस का मूल स्रोत केवल वही एक है।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।। १४।।

अहम्, प्राणिनाम् (मैं, सब प्राणियों के), देहम्, आश्रितः (शरीर में स्थित रहने वाला), प्राणापान, समायुक्तः (प्राण और अपान से, संयुक्त), वैश्वानरः (वैश्वानर, अग्निरूप), भूत्वा (होकर), चतुर्विधम्, अन्नम्, पचामि (चार प्रकार के, अन्न को, पचाता हूँ)।

प्रश्न 12- परमात्मा का वैश्वानर रूप कैसा है?

उत्तर- परमात्मा ही सब प्राणियों के शरीर में स्थित रहने वाला प्राण और अपान से संयुक्त वैश्वानर अग्नि रूप होकर चार प्रकार के अन्न पचाता है।

1. **भक्ष्य**- जो चबाकर खाये जाते हैं जैसे रोटी आदि।
2. **भोज्य**- जो पीया जाता है जैसे दूध आदि।
3. **लेह्य**- जो चाटा जाता है जैसे चटनी आदि।
4. **चोष्य** - जो चूसा जाता है जैसे ईंख, गन्ना आदि।

प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान पाँच प्राण हैं। पाँच उपप्राण होते हैं- नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय। बाह्य प्रकृति में जो कुछ भी है तथा शरीर के भीतर जो भी कुछ हो रहा है- उसी परमात्मा की सत्ता अथवा चेतना से हो रहा है। शरीर के भीतर की व्यवस्था अपने आप में चमत्कार है चार प्रकार का भोजन हम अपने पेट में डालते हैं। विचार करो- इतने अलग-अलग प्रकार का

अन्न पेट में जाता है, पचाने वाला कौन है ? यह श्लोक इसी प्रश्न का उत्तर है। सब के शरीर में स्थित होकर प्राण अपान से संयुक्त वैश्वानर (जठराग्नि) बनकर सब प्रकार का अन्न वही चेतन परमेश्वर पचाता है।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। १५।।

अहम्, सर्वस्य, हृदि (मैं ही, सब प्राणियों के हृदय में), सन्निविष्टः, (अन्तर्यामी रूप से स्थित हूँ), च (तथा), मत्तः (मुझ से ही), स्मृतिः, ज्ञानम् च, अपोहनम् (स्मृति, ज्ञान और अपोहन = ज्ञान के संशय-विषय आदि दोषों को दूर होना), च, सर्वैः, वेदैः, अहम्, एव, वेद्यः (और सब, वेदों का जानने वाला भी, मैं, हूँ), वेदान्तकृत्, च, वेदवित्, अहम्, एव (वेदान्त का कर्ता, और, वेदों का जानने वाला मैं ही हूँ)

प्रश्न 13- परमात्मा को यहाँ सर्वान्तर्यामी तथा सर्वज्ञ कैसे कहा गया है अथवा परमात्मा की कैसी महिमा है ?

उत्तर- परमात्मा ही सब के हृदय में बैठा हुआ है, वह सर्वान्तर्यामी है। उसी के द्वारा ही स्मृति और ज्ञान तथा सब दोषों का नाश अपोहन के माध्यम से होता है। वह है, जो सब वेदों के द्वारा जाना जाता है, वही वेदान्त शास्त्र का निर्माता है, वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादक है, वही वेद का जानने वाला भी है।

स्वामी ज्ञानानन्द जी के अनुसार-

परमात्मा कहाँ है ? उसका पता क्या है ? उसे कहाँ ढूंढे ? गीताकार का कथन है कि वह परमात्मा सब प्राणियों के हृदय में स्थित है, उसे बाहर ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। संसार चक्र में उलझा जीव वास्तविकता को भूल जाता है। कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ और किसलिए आया हूँ ? इसका ज्ञान नहीं रहता। अज्ञानता कई तरह के भ्रम, संशय और विपर्यय का शिकार बना देती है। भगवत्कृपा के प्रकाश में ही वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। संशय दूर हो जाते हैं और यह स्मृति पुनः हो जाती है कि मेरा लक्ष्य संसार नहीं परमात्मा है; क्योंकि मेरा मूल वही है, वहीं से आया हूँ, वहीं जाना है।

वेद मानवीय रचना नहीं है, वेद अपौरुषेय अथवा ईश्वरीय है। जो जिसके द्वारा रचित या निर्मित होता है, वहीं उसकी वस्तुस्थिति को शत-प्रतिशत समझ सकता है। वेदों में यद्यपि कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड तथा उपासना काण्ड तीन भाग है, परन्तु इसका सार तत्त्व स्वयं परमात्मा है। वेदों की बहुत सारी जानकारी ले

ली, कर्मकाण्ड में पारंगत हो गये, उपासना काण्ड को समझ लिया, ज्ञानकाण्ड के मन्त्र कण्ठस्थ हो गये, वेद पाठी बन गये सब हो गया, परन्तु यदि परमात्मा को नहीं जाना तो सब अधूरा है। वेदों के द्वारा जानने योग्य तत्त्व स्वयं परमात्मा है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। १६।।

लोके (इस संसार में), क्षरः, च, अक्षरः, एव, इमौ (नाशवान् और अविनाशी, भी, ये), द्वौ, पुरुषौ (दो प्रकार के, पुरुष हैं), सर्वाणि, भूतानि, क्षरः (सब, प्राणियों के शरीर तो, नाशवान्), च, कूटस्थः, अक्षरः, उच्यते (और, जीवात्मा=कूटस्थ, अविनाशी कहा जाता है)।

प्रश्न 14- विनाशी और अविनाशी पुरुष कौन-कौन से हैं ?

उत्तर- इस संसार में दो पुरुष हैं- एक 'क्षर' है, नश्वर है, विनाशी है, दूसरा 'अक्षर' है, अविनाशी है। सब प्राणियों को क्षर कहते हैं और जीवात्मा को अविनाशी कहा जाता है।

श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार - ''जिनका प्रसंग इस अध्याय में चल रहा है, उन्हीं में से दो तत्त्वों का वर्णन यहाँ क्षर और अक्षर नाम से किया जाता है- यह भाव दिखलाने के लिए 'इमौ' और 'द्वौ' - इन दोनों पदों का प्रयोग किया गया है। जिन दोनों तत्त्वों का वर्णन सातवें अध्याय में अपरा और परा प्रकृति के नाम से (७/४-५), आठवें अध्याय में 'अधिभूत' और 'अध्यात्म' नाम से (८/३-४), तेहरवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से (१३/१) और इसी अध्याय में पहले अश्वत्थ और जीव के नाम से किया गया है- उन्हीं दोनों तत्त्वों का वाचक 'पुरुषौ' पद है। उनमें से एक को क्षर और दूसरे को अक्षर कहकर श्री कृष्ण जी ने यह भाव दिखलाया है कि दोनों परस्पर विलक्षण हैं।

''भूतानि'' पद यहाँ समस्त जीवों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर - तीनों प्रकार के शरीरों का वाचक है। यहाँ 'भूतानि' से तात्पर्य नाशवान् और अनित्य तत्त्व है। कूटस्थ शब्द यहाँ समस्त शरीरों में रहने वाले आत्मा का वाचक है। यह सदा एक-सा रहता है। इसमें परिवर्तन नहीं होता, इसलिए इसे कूटस्थ कहते हैं और इसका कभी किसी अवस्था में क्षय, नाश या अभाव नहीं होता, इसलिए यह अक्षर है।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।। १७।।

उत्तमः, पुरुषः, तु, अन्यः (उत्तम पुरुष, तो, 'अन्य' है), यः, लोकत्रयम्, आविश्य (जो, तीनों लोकों में, प्रवेश करके), बिभर्ति (सब का धारण, पोषण करता है), अव्ययः, ईश्वरः, परमात्मा (अविनाशी, ईश्वर, परमात्मा), इति, उदाहृतः (इस प्रकार कहा गया है)।

प्रश्न 15- पुरुषोत्तम का स्वरूप कैसा है?

उत्तर- उत्तम पुरुष तो अन्य ही है, जो परमात्मा नाम से जाना जाता है। वही अविनाशी, ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सबका भरण पोषण करता है।

स्वामी रामसुखदास जी के अनुसार- यहाँ 'अन्य' पद परमात्मा को अविनाशी, अक्षर जीवात्मा से भिन्न बताने के लिए नहीं, बल्कि उससे विलक्षण बताने के लिए गया है। उस उत्तम पुरुष को परमात्मा नाम से कहा गया है जिसका अर्थ है सब पर शासन करने वाला। अव्यय का अर्थ है सम्पूर्ण लोकों में भरण-पोषण करने वाला होने पर भी भगवान् का कोई भी व्यय नहीं होता अर्थात् उसके भण्डार में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। 'बिभर्ति' शब्द से तात्पर्य कि वह परमात्मा वास्तव में सम्पूर्ण प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं, पर जीवात्मा संसार में अपना सम्बन्ध मान लेने के कारण भूल से सांसारिक व्यक्तियों आदि को अपना मानकर उनके भरण-पोषणादि का भार अपने ऊपर ले लेता है। इससे वह व्यर्थ दु:ख पाता है। पालन-पोषण करने में परमात्मा किसी के साथ कोई पक्षपात नहीं करते। वे भक्त-अभक्त, पापी-पुण्यात्मा, आस्तिक-नास्तिक आदि सभी का समान-रूप से पालन करते हैं। प्रत्यक्ष देखने में आता है कि परमात्मा द्वारा रचित सृष्टि में सूर्य सब को समान प्रकाश देता है, पृथ्वी सब को समान रूप से धारण करती है, वैश्वानर -अग्नि सब के अन्न को समान रूप से पचाती है। वायु सब को समान रूप से प्राप्त होती है, अन्न-जल सबको समान रूप से तृप्त करता है।

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरूषोत्तमः।। १८।।

यस्मात्, अहम् (क्योंकि, मैं), क्षरम्, अतीतः (नाशवान्, जड़वर्ग से सर्वथा अतीत हूँ), च, अक्षरात्, अपि, उत्तमः (और, अविनाशी जीवात्मा से भी, उत्तम

हूँ), अतः, लोके, च, वेदे (इसलिए, लोक में और वेद में), पुरुषोत्तमः, प्रथितः, अस्मि (पुरुषोत्तम नाम से, प्रसिद्ध, हूँ)।

प्रश्न 16- परमात्मा पुरुषोत्तम नाम से क्यों प्रसिद्ध है?

उत्तर- परमात्मा जड़वत नाशवान् शरीर से पृथक् है और अविनाशी जीवात्मा से भी श्रेष्ठ है। इस कारण से लोकों में और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध है। स्वामी रामदेव जी के अनुसार- जैसा कि १६ वें श्लोक की व्याख्या में क्षर और अक्षर शब्द के बारे में कहा गया है कि ये शब्द साँख्य दर्शन के प्रकृति और पुरुष के समानार्थक हैं। यहाँ अक्षर परम ब्रह्म के अर्थ में नहीं हैं। कूटस्थ शब्द के प्रयोग से क्षर से भिन्न अक्षर के अर्थ को स्पष्ट कर दिया है कि क्षर कूटस्थ नहीं है, अक्षर ही कूटस्थ ही तथा १८वें श्लोक में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि साँख्य के क्षर और अक्षर से जो परे और उससे उत्तम है वही पुरुषोत्तम परब्रह्म है। इस क्षर-अक्षर, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के ज्ञान-विज्ञान के अन्त में यही सिद्ध होता है कि पिण्ड में सर्वत्र परिपूर्ण एक ही पुरुषोत्तम है। इस सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान के अन्तिम निष्कर्ष- सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व परब्रह्म है, जिसे आज की वैज्ञानिक भाषा में ऊर्जा या शक्ति कहते हैं। प्राचीन भारतीय मनीषी इस ऊर्जा को सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त देखते थे। यह सृष्टि-चक्र उसी के नियमानुसार संचालित हो रहा है। निष्काम भाव से अपने कर्तव्य से रत रहते हुए जो इस बात को विस्मृत नहीं करता वही उसे पा लेता है। अपने जीवन लक्ष्य तक पहुँच जाता है।

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।। १९।।

भारत (हे अर्जुन!), यः, असम्मूढ, माम् (जो, ज्ञानी पुरुष मुझ को) एवम्, पुरुषोत्तमम् जानाति (इस प्रकार तत्त्व से, पुरुषोत्तम जानता है), सः, सर्ववित् (वह, सर्वज्ञ पुरुष), सर्वभावेन (सब प्रकार से निरन्तर), माम्, भजति (मुझको, भजता है)।

प्रश्न 17- परमात्मा को पुरुषोत्तम समझने वाले की क्या महिमा है?

उत्तर- जो ज्ञानी पुरुष परमात्मा को पुरुषोत्तम जान लेता है, वह सब प्रकार से निरन्तर सर्वव्यापक परमात्मा का ही भजन करता है।

परमात्मा को तीनों लोकों में उपस्थित जान लेने का अभिप्राय: यह है कि उसके अस्तित्व का विश्वास हो। सन्देह रहित जो परमात्मा को सब स्थानों पर व्यापक जानता है, वह ही उसे जानता है। ऐसा मानने वाले का व्यवहार विलक्षण

हो जाता है। वह इस संसार से विरक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति परमात्मा का भक्त अर्थात् उसका भजन करने वाला हो जाता है। इसका फल उसके अपने कर्मों में श्रेष्ठता उत्पन्न होना है। इससे यह श्रेष्ठ फल का भोक्ता हो जाता है।

'माम्' पद यहाँ सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, समस्त जगत का सृजन, पालन और संहार आदि करने वाले, सबसे परम सुहृद्, सबके एकमात्र नियन्ता, सर्वगुण सम्पन्न, परमदयालु, परम प्रेमी, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी परमेश्वर का वाचक है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत।। २०।।

अनघ, भारत (हे निष्पाप, अर्जुन!), इति, इदम् (इस प्रकार, यह), गुह्यतमम् (अति रहस्युक्त गोपनीय), शास्त्रम्, मया, उक्तम्, (शास्त्र, मेरे द्वारा, कहा गया), एतत्, बुद्ध्वा (इसको, तत्त्व से जानकर), बुद्धिमान् च, कृतकृत्यः स्यात् (ज्ञानवान् और कृतार्थ, हो जाता है)।

प्रश्न 18- श्री कृष्ण जी के अनुसार कौन व्यक्ति ज्ञानवान् और कृतार्थ हो जाता है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को सफल मनोरथ वाले व्यक्ति के बारे में बताते हैं, "हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अति रहस्ययुक्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया, इसको तत्त्व से जानकर मनुष्य ज्ञानवान् और कृतार्थ अर्थात् सफल मनोरथ वाला हो जाता है।

यहाँ अर्जुन के साथ 'अनघ' शब्द का प्रयोग श्री कृष्ण जी ने इस लिए किया है, क्योंकि श्री कृष्ण जी अर्जुन को निष्पाप एवं शुद्ध अन्तःकरण वाला मानते हैं। अतः अर्जुन ही श्री कृष्ण जी के इस गुह्यतम उपदेश सुनने और धारण करने का पात्र है।

इसे 'गुह्यतम' बतलाकर श्री कृष्ण जी ने यह भाव दिखलाया है कि परमात्मा का यह ज्ञान अति गुप्त रखने योग्य है। मैं हर किसी के सामने यह प्रकट नहीं करता। अतः तुम्हें भी अपात्र के सामने इस रहस्य को प्रकट नहीं करना चाहिये।

उपसंहार या सन्देश :- इस अध्याय में एक विशेष बात यह बताई है कि प्राणी के शरीर में गतियाँ परमात्मा की शक्ति से ही होती है। यह भी बताया गया है कि मनुष्य के मन में ज्ञान-संचय और बुद्धि का कार्य भी परमात्मा की शक्ति

से होता है। यह शक्ति परमात्मा की ओर से जीवात्मा को प्राप्त होती है। यह सबको समान रूप से नहीं मिलती। जीवात्मा के पूर्वजन्म के कर्मफलों के अनुसार ही शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की शक्ति मिलती है। मनुष्य वर्तमान जीवन में उस प्राप्त शक्ति में कुछ तो वृद्धि कर ही सकता है, परन्तु पूर्व की प्राप्त शक्ति अर्थात् इन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि के आश्रय से ही वह उन्नति होती है। परमात्मा की व्यवस्था से शक्ति मनुष्य के शरीर में कार्य करती है, परन्तु क्योंकि यह शक्ति जीवात्मा की इच्छानुसार प्रयुक्त होती है, इस कारण इस प्रयोग का अच्छा-बुरा फल जीवात्मा को ही मिलता है।

चिन्तक, विचारक, सन्त-योगी इसलिए इस अध्याय को विशेष महत्त्व भी देते हैं, क्योंकि इसमें जानने योग्य तत्त्व का पूरा वर्णन है। यही नहीं इसको जान लेने के पश्चात् जीवन को कृतार्थ करने की क्षमता है। मनुष्य जीवन मिला है, दुर्लभ अवसर हाथ में है, इसका पूर्ण सदुपयोग करें। कर्म करते रहें, यदि लक्ष्य संसार ही बना रहा तो होगा क्या? जन्म ले ले कर मरना, मर-मर कर फिर जन्म लेना। बहुत कुछ प्राप्त कर लेने पर भी अतृप्ति-अशान्ति। इस चक्र से बचें। पन्द्रहवें अध्याय का गहराईसे पठन एवं मनन करें। इसमें निहित रहस्यों को समझें। परमात्मा के तत्त्व स्वरूप पर बार-बार विचार करें।

वही क्षर-अक्षर से अतीत उत्तम है, पुरुषोत्तम है, सर्वोत्तम है, ऐसा निश्चित मान लो और प्रयास-अभ्यास और विश्वासपूर्वक जान लो। जीवन की यही सफलता, कृतार्थता है। यह पन्द्रहवाँ अध्याय उसी दिव्य अवस्था की ओर प्रेरित करता हुआ पूर्ण हो रहा है।

संसार में जन्म लेकर समझने की शक्ति के विकसित होते ही मानव मात्र के हृदय में उठने वाली स्वाभाविक जिज्ञासायें यथा यह संसार क्या है? इसे किस ने निर्मित किया है? यह संसार किस कारण से उत्पन्न होता है? इसकी रचना का प्रयोजन क्या है? आदि का इस अध्याय में समुचित समाधान किया गया है। समस्त संसार को एक विचित्र वृक्ष के रूप में कल्पित किया गया है, जिसकी जड़ें ऊपर की ओर हैं वा (विभिन्न कर्म समूह रूप) शाखाएं नीचे की दिशा में सब ओर फैली हुई हैं, वेद जिसके पत्तों के समान हैं, इस महावृक्ष के अद्भुत रहस्य को विशिष्ट गुणयुक्त पुरुष ही यत्नपूर्वक जानकर अपनी अध्यात्मविषयक जिज्ञासाओं का पार पा सकता है। असङ्ग रूप शस्त्र विशेष द्वारा सभी बन्धनों को काट कर संसार में जन्म देने वाले कामादि दोषों को समाप्त कर, क्षर और

अक्षर दोनों से परे विराजमान परमपद पुरुषोत्तम को प्राप्त करके ही बुद्धिमान् मनुष्य कृतकृत्यतापूर्ण सफलता की अनुभूति में समर्थ हो सकता है।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद हैं, उस संवाद का 'पुरुषोत्तम-योग' नामक पञ्चदश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ षोडशोऽध्यायः
देवासुर-संपद्-विभाग-योग

प्रधान विषय –

(1) फल सहित दैवी तथा आसुरी सम्पदा का कथन –श्लोक संख्या 1 से 5 तक।

(2) आसुरी सम्पदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन – श्लोक संख्या 6 से 20 तक।

(3) शास्त्र–विपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्र के अनुकूल आचरण करने के लिए प्रेरणा– श्लोक संख्या 21 से 24 तक।

भूमिका :– सृष्टि की उत्पत्ति से अब तक परमात्मा ने जैसे ही मनुष्य बनाये हैं, उनमें दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती है। एक भद्र भाव वाले, जिनकी भावनायें अपना भला चाहने के साथ–साथ दूसरों की मंगल कामना वाली हैं। दूसरी प्रकृति के वे लोक हैं जो केवल अपना ही सोचते रहते हैं। अपनी सुख, सुविधा, अपनी सत्ता, अपना यश, अपना सम्मान प्राप्त करने के लिए वे कुछ भी करने के लिए तैयार हैं। दूसरों को उनके कारण कितना कष्ट पहुँचा है, इस बात का उन्हें कोई ध्यान नहीं रहता।

भगवान् राम की संस्कृति को हम श्रेष्ठ मानते हैं। इस संस्कृति में दिव्य गुण हैं। दूसरी संस्कृति जिसको हम रावण की संस्कृति कहते हैं, वहाँ केवल अंधकार है, स्वार्थ है, लिप्सा है। इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का संघर्ष आदिकाल से अब तक चला आ रहा है। एक ओर राम, कृष्ण तो दूसरी ओर रावण और कंस। मनुष्य के अन्दर शुभ–अशुभ, बुरा–भला, सफ़ेद–काला, दिन–रात का संगम सदैव बना रहा है, परन्तु ऐसा भी नहीं है कि कोई व्यक्ति बुरा ही बुरा है, क्योंकि उसके अन्दर कहीं–न–कहीं अच्छाई भी है। यह भी सत्य है कुछ लोगों के स्वभाव में निकृष्टता ही होती है, जहाँ सुधार और विकास की कोई सम्भावनाएँ नहीं दिखाई देती। महर्षि वेद व्यास ने गीता के १६वें अध्याय में श्री कृष्ण जी के मुख से दैवी और आसुरी सम्पदा (प्रवृत्तियाँ) को

लेकर उत्पन्न हुए व्यक्तियों के स्वभाव का दिग्दर्शन कराया है।

पिछले अध्याय में प्रकृति, जीव तथा परमात्मा का वर्णन है। इस का अभिप्राय यह है कि जीव प्रकृति से नाता तोड़ कर परमात्मा से अपना नाता जोड़े। प्रकृति से नाता बनाये रखने से मनुष्य प्रकृति के गुणों से- सत्त्व, रजस्, तमस् से बँधा रहता है। इनमें बन्धे रहना ही आसुरी प्रकृति है। प्रकृति से नाता तोड़कर जीव का परमात्मा से नाता जोड़ना दैवी प्रकृति है। आसुरी तथा दैवी प्रकृति का विचार केवल गीता में या संस्कृत वाड्.मय में ही नहीं पाया जाता, संसार की इन दो परस्पर विरोधी धाराओं का विचार विश्व के प्रत्येक सम्प्रदाय में पाया जाता है। इसी को संस्कृत साहित्य में देवासुर संग्राम के नाम से जाना जाता है।

गीता जीवन को सही दिशा में ले जाने वाला एक ग्रन्थ है। क्या उचित है और क्या अनुचित है? गीता- प्रेरणाओं में इसका युक्तियुक्त एवं तर्कसंगत विवेचन है। मनुष्य जीवन महान् है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। गीता के श्री कृष्ण जी नहीं चाहते कि मनुष्य अपने जीवन की महानता से किसी भी तरह पतित हो। इसी मनुष्य जीवन में देवत्व भी है और पशुता भी। विवेक से काम लेना आवश्यक है। वैचारिक विश्लेषण करते रहना होगा। जीवन की यात्रा में प्रत्येक पग समझकर और सँभालकर रखना आवश्यक है। गीता का चिन्तन इसमें परम सहयोगी है। इस पावन वैचारिक ग्रन्थ का १६वां अध्याय इस विषय की चेतावनी और प्रेरणा है। अध्याय का नाम है- देवासुर-संपद-विभाग-योग।

'योग' प्रत्येक अध्याय का लक्ष्य है। इस अध्याय में दैवी सद्गुणों एवं आसुरी दुर्गुणों में विवेचनात्मक भेद किया गया है। दैवी सम्पदा कैसे भीतर के देवत्व को प्रकट करके मनुष्य जीवन को सार्थक बनाती है तथा आसुरी सम्पदा किस प्रकार जीवन में पतन के द्वार खोलकर घोर नरकों में गिरा देती है- यह अध्याय विस्तारपूर्वक इसीकी विवेचना प्रस्तुत करता है। अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में दैवी सम्पदा का अनूठा वर्णन है-

श्री कृष्ण उवाच

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। १।।

अभयम् (निर्भीकता), सत्त्वंसशुद्धिः (अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता), ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (ज्ञान और योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति), दमः (इन्द्रियों का

दमन), यज्ञः (अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण), स्वाध्याय (वेद-शास्त्रों का पठन-पाठन एवं अपना अध्ययन), तपः (स्वधर्मपालन के लिए कष्ट सहना), च (और), आर्जवम् (शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता)।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्तवं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। २।।

अहिंसा (अहिंसा), सत्यम् (सत्यवादी होना), अक्रोधः (क्रोध का त्याग करना), त्यागः (त्याग), शान्तिः (शान्ति), अपैशुनम् (किसी की निन्दा न करना), भूतेषु, दया (सब प्राणियों में, दया), अलोलुप्त्वम् (लोभ का न होना), मार्दवम् (कोमलता), ह्रीः (लज्जा), अचापलम् (चपलता न होना)।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।। ३।।

तेजः, क्षमा, धृतिः (तेज, क्षमा, धैर्य), शौचम् (बाहर, भीतर की पवित्रता), अद्रोहः (द्रोह न होना), नातिमानिता (अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव), भारत (हे अर्जुन!), दैवीम्, सम्पदम् (दैवी, सम्पदा को), अभिजातस्य, भवन्ति (लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण, होते हैं)।

प्रश्न 1- दैवी सम्पदा प्राप्त करने वाले पुरुष के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी बोले, "हे अर्जुन! दैवी सम्पदा वाले पुरुष के निम्नलिखित लक्षण हैं।

(1) उसके जीवन में भय का सर्वथा अभाव होता है, अभय होना उसके जीवन का उद्देश्य होता है।

(2) उसके अन्तःकरण में पूर्ण निर्मलता होती है। अन्तःकरण राग, द्वेष, हर्ष-शोक, ममत्व- अहंकार, मोह-मत्सर आदि विकारों से रहित होता है।

(3) उसकी तत्त्वज्ञान के लिए ध्यान-योग में निरन्तर स्थिति दृढ़ होती है। परमात्मा के स्वरूप को तत्त्व से जानने के लिए परमात्मा के स्वरूप में एकाकी भाव से ध्यान की निरन्तर गाढ़ स्थिति का नाम "ज्ञानयोग व्यवस्थिति" है।

(4) जो व्यक्ति कर्तव्य समझकर देश, काल और पात्र का विचार करके निष्काम भाव से अपनी पवित्र कमाई का कुछ अंश दान करता है।

(5) जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर से हटाकर अपने वश (दम) में कर लेता है।

(6) जो वेदानुकूल आचरण करता है, पँचमहायज्ञ प्रतिदिन करता है (ब्रह्मयज्ञ,

देवयज्ञ= अग्निहोत्र, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ)।

(7) जो वेद शास्त्र आदि मोक्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है तथा अपने जीवन का प्रतिदिन अध्ययन कर उसमें आई त्रुटियों को दूर कर लेता है।

(8) जो व्यक्ति अपने धर्म का पालन करने के लिए कष्ट सहन करके अन्त:करण को शुद्ध तथा इन्द्रियों को वश में रखता है।

(9) जो शरीर, मन तथा वाणी की सरलता रखता है।

(10) जो व्यक्ति किसी भी प्राणी को लोभ, मोह या क्रोध-पूर्वक हानि नहीं पहुँचाता है और यह हानि मन से, शरीर से, वाणी से नहीं पहुँचाते हुए पूर्णता अहिंसा का पालन करता है।

(11) वह व्यक्ति इन्द्रियों और अन्त:करण से जैसा कुछ देखा, सुना और अनुभव किया गया हो। दूसरों को ठीक समझने के लिए कपट छोड़कर जो यथा सम्भवप्रिय और हितकर वाणी का उच्चारण (सत्य) करता है।

(12) वह मन, वचन, कर्म से किसी पर क्रोध नहीं करता।

(13) यह 'मैं' कर रहा हूँ जो व्यक्ति ऐसा विचार न करके कर्तव्य कर्म करते हुए उसमें ममता, आसक्ति, फल और स्वार्थ का सर्वथा त्याग करता है।

(14) उसके मन में सदैव सात्त्विक प्रसन्नता (शान्ति) होती है।

(15) वह किसी की निन्दा और चुगली नहीं करता, दूसरों के दोष नहीं देखता।

(16) वह किसी भी प्राणी को दु:खी नहीं देख सकता सदैव दूसरों को सुख पहुँचाना उसका उद्देश्य होता है अर्थात् वह दया से भरपूर होता है।

(17) उसमें लोभ-नामक दोष नहीं होता।

(18) उसके अन्त:करण, वाणी और व्यवहार में कठोरता का सर्वथा अभाव (मार्दव) होता है।

(19) वह वेद, शास्त्र और लोक व्यवहार के विरुद्ध आचरण न करने का निश्चय वाला होता है।

(20) जिसमें चंचलता का उसमें अभाव होता है। वह व्यर्थ की अधीरता उतावलापन और व्यर्थ चेष्टायें नहीं करता।

(21) जो श्रेष्ठ पुरुषों के समान श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त रहता है (तेज)

(22) अपने प्रति अपराध कर देने वालों को भी दण्ड दिलाने का भाव न रखना ही उसमें निहित रहता है।

(23) भारी से भारी विपत्ति आने पर भी वह विचलित नहीं होता, धैर्य को नहीं

छोड़ता।

(24) वह सत्यतापूर्वक अन्दर के आचरण की एवं बाह्य शरीर की शुद्धता रखता है।

(25) वह अपने साथ शत्रुता करने वाले के साथ भी अद्रोह की भावना रखता है, अर्थात् उसके प्रति द्वेष या शत्रुता नहीं रखता।

(26) वह अपने आप को श्रेष्ठ, बड़ा, पूज्य, प्रतिष्ठावान् न मानकर दूसरों का सम्मान करता है।

हे अर्जुन! उपर्युक्त गुण जिस पुरुष में हों वह पुरुष दैवी सम्पदा का स्वामी होता है।''

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। ४।।

पार्थ (हे अर्जुन!), दम्भः, दर्पः, च, अभिमानः (पाखण्ड, घमण्ड और अभिमान), च, क्रोधः, पारुष्यम्, च, अज्ञानम्, एव (और, क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी), आसुरीम्, सम्पदम् (आसुरी सम्पदा को), अभिजातस्य (लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं)।

प्रश्न 2- आसुरी सम्पदा रखने वाले पुरुष के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को आसुरी सम्पदा वाले पुरुषों के निम्न लक्षण बताते हैं :-

(1) वह व्यक्ति पाखण्डी (दम्भी) होता है। वह व्यक्ति मान, प्रतिष्ठा, धनादि के लोभ से किसी को ठगने के अभिप्राय से अपने को धर्मात्मा, भगवद्भक्त, ज्ञानी या महात्मा प्रसिद्ध करता है उसके सब कार्य केवल मात्र दिखावे के होते हैं, वह केवल ढोंग करता है

(2) वह व्यक्ति अपने आप को विद्या, धन, कुटुम्ब, जाति, अवस्था, बल और ऐश्वर्य के सम्बन्ध में श्रेष्ठ सिद्ध करके सदैव घमण्ड (दर्प) प्रकट करता है

(3) अपने को श्रेष्ठ बड़ा या पूजनीय मानता है और इसी अभिमान में व्यस्त रहता है।

(4) बुरी आदतों के कारण दूसरों को मन, वचन, कर्म से पीड़ित करता है, दूसरों का अपमान करता है, वह उत्तेजित वृत्ति का व्यक्ति होता है।

(5) वह दूसरों को अचानक गाली देना, कटुवचन कहना, व्यंग्य करना - के मार्ग का अभ्यस्त होता है।

(6) वह सत्य-असत्य और धर्म-अधर्म आदि को यथार्थ न समझकर विपरीत निश्चय कर लेता है। (अज्ञान)

उपरोक्त अवगुणों के कारण भगवान् की सत्ता को न मानना, तथा असुर प्रवृत्तियों वाले पुरुष ही आसुरी सम्पदा से युक्त पुरुष कहलाते हैं।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

दैवी सम्पत् (दैवी सम्पदा), विमोक्षाय (मुक्ति के लिए), आसुरी (आसुरी सम्पदा), निबन्धाय मता (बाँधने के लिए मानी गई है इसलिए), पाण्डव (हे अर्जुन! तू), मा, शुचः (शोक, मत कर)[क्योंकि तू], दैवी, सम्पदम्, अभिजातः, असि (दैवी-सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुआ है)।

प्रश्न 3- दैवी और आसुरी सम्पदा का क्या फल है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को दैवी और आसुरी सम्पदा को इस प्रकार समझा रहे हैं, ''हे अर्जुन! दैवी सम्पदा से युक्त पुरुष मोक्ष के अधिकारी बनते हैं और जो आसुरी प्रवृत्तियों में रमे हुए हैं वह जन्म-मरण के बन्धन में पड़े रहेंगे, पर तू शोक मत कर, तू दैवी सम्पदा लेकर जन्मा है।''

गीता का यह श्लोक अर्जुन के माध्यम से हम सब के लिए उत्साहवर्धक प्रेरणा है। दैवी सम्पदा के लक्षण जीव को ईश्वरोन्मुख बनायेंगे, ईश्वर के सन्मुख रहने से भीतर संचित कुसंस्कार नष्ट होते हैं। नए विकृत संस्कार प्रवेश नहीं कर सकते। स्वभावतः जीव मोक्ष पद का अधिकारी बन जाता है। दूसरी ओर आसुरी सम्पदा के दुर्गुण परमात्मा से विमुख करते हैं। भीतर ही भीतर अन्तःकरण में संस्कारों, विकारों, विकृतियों का जमाव कर देते हैं। जन्म-जन्मान्तरों तक जीव इन्हीं में उलझा एवं बन्धा रहता है।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

पार्थ (हे अर्जुन!), अस्मिन्, लोके (इस लोक में), भूतसर्गो, द्वौ, एव (मनुष्य समुदाय, दो, ही प्रकार का है), दैवः, च, आसुरः (दैवी प्रकृति तथा आसुरी प्रकृति वाले), दैवः, विस्तरशः, प्रोक्तः (दैवी प्रकृति वाला तो विस्तारपूर्वक, कहा गया), आसुरम्, मे, शृणु (आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य समुदाय को, मुझ से, सुनो)।

प्रश्न 5- इस श्लोक में श्री कृष्ण जी ने अब अर्जुन को किस बात को विस्तार से सुनने को कहा है?

उत्तर- विस्तार से सुनने योग्य तथ्य को प्रतिपादित करते हुए श्री कृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! इस लोक में दो तरह के प्राणियों की सृष्टि है। एक दैवी प्रकृति वाले तथा दूसरे आसुरी स्वभाव वाले। उनमें से दैवी प्रकृति को तो विस्तारपूर्वक कह दिया है। अब तू मुझ से आसुरी प्रकृति को विस्तार से सुन।

सृष्टि की रचना में दो ही स्थितियों की प्रधानता है। परा-अपरा प्रकृति कहें या परमात्मा एवं प्रकृति या फिर जड़-चेतन - बात एक ही है। जहाँ सम्बन्ध परमात्मा से होगा वहाँ दैवी सम्पदा होगी। परन्तु जहाँ जड़ प्रकृति के आकर्षण में जीव मोहित होगा, वहाँ आसुरी सम्पदा अपना प्रभाव बनाने लगेगी।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

आसुराः, जनाः (आसुर-स्वभाव वाले मनुष्य), प्रवृत्तिम्, च, निवृत्तिम्, च, न, विदुः (प्रवृत्ति, और, निवृत्ति इन दोनों को भी, नहीं, जानते), तेषु, न, शौचम्, न, आचारः (उन मे न तो, बाहर भीतर की शुद्धि है और न ही श्रेष्ठ आचरण है), च, न, सत्यम्, अपि, विद्यते (और, न, सत्यभाषण ही है)।

प्रश्न 6- आसुरी स्वभाव वाले पुरुषों में क्या-क्या नहीं है?

उत्तर- आसुरी प्रकृति के लोग न तो जानते हैं कि क्या करना चाहिये, और न यह जानते हैं कि क्या नहीं करना चाहिये अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति के बारे में कुछ नहीं जानते। उनमें न तो पवित्रता पाई जाती है और न ही सदाचार पाया जाता है, न ही सत्य पाया जाता है (पवित्रता-शारीरिक, सदाचारपूर्ण मानसिकता एवं सत्यता ये आध्यात्मिक गुण हैं), इन तीनों का उनमें अभाव होता है।

जिस कर्म के आचरण से इस लोक और परलोक में मनुष्य का यथार्थ कल्याण होता है, वही कर्तव्य है। मनुष्य को उसी में प्रवृत्त होना चाहिये। जिस कर्म के आचरण से अकल्याण होता है, वह अकर्तव्य है, उससे निवृत्त होना चाहिये। श्री कृष्ण जी ने यहाँ यह भाव दिखलाया है कि आसुर-स्वभाव वाले मनुष्य इस कर्तव्य-अकर्तव्य-सम्बन्धी प्रवृत्ति और निवृत्ति को बिल्कुल नहीं समझते, इसलिए जो कुछ उनके मन में आता है, वही करने लगते हैं। यहाँ 'अपि' शब्द से तात्पर्य है कि आसुर- स्वभाव वालों में केवल अपवित्रता ही नहीं, उनमें सदाचार एवं सत्यभाषण भी नहीं होता।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्।। ८।।

ते, आहु: (वे, आसुरी प्रकृति वाले मनुष्य कहा करते हैं कि), जगत्, अप्रतिष्ठम्, असत्यम् (जगत्, आश्रय रहित तथा सर्वथा असत्य और), अनीश्वरम्, अपरस्पर सम्भूतम् (बिना ईश्वर के, अपने-आप केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुए हैं, अतएव) कामहैतुकम्, अन्यत्, किम् (केवल काम ही इसका कारण है और, इसके सिवा, कुछ नहीं)।

प्रश्न 7- आसुरी स्वभाव वालों की नास्तिकता का श्री कृष्ण जी कैसा वर्णन करते हैं?

उत्तर- नास्तिक लोग ऐसा मानते हैं कि न तो इस चराचर जगत् का न कोई आधार है तथा न ही इस जगत् की कोई नित्य सत्ता है, अर्थात् न तो जन्म से पहले या मरने के बाद किसी भी जीव का अस्तित्व है एवं न कोई इसका रचयिता, नियामक एवं शासक ईश्वर ही है। यह चराचर जगत् केवल स्त्री-पुरुष के संयोग से ही उत्पन्न हुआ है। अतएव केवल काम ही इसका कारण है। इसके सिवा इसका कोई और प्रयोजन नहीं है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।। ९।।

एताम्, दृष्टिम्, अवष्टभ्य (इस, मिथ्या ज्ञान को, अवलम्ब करके), नष्टात्मान:, अल्पबुद्धय: (जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है, जिनकी बुद्धि मन्द हो गई है वे), अहिता:, उग्रकर्माण: (सबका अहित करने वाले, क्रूर कर्मी मनुष्य), जगत:, क्षयाय, प्रभवन्ति (जगत् के, नाश के लिए ही, समर्थ होते हैं)।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।। १०।।

दम्भमानमदान्विता: (दम्भ, मान और मद से युक्त मनुष्य), दुष्पूरम्, कामम्, आश्रित्य (कभी न पूरी होने वाली, कामनाओं का, आश्रय लेकर), मोहात् (अज्ञान से), असद्ग्राहान्, गृहीत्वा (मिथ्या सिद्धान्तों को, ग्रहण करके), अशुचिव्रता: (भ्रष्टआचरणों को धारण करके) [इस संसार में], प्रवर्तन्ते (विचरते हैं)।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।। ११।।

प्रलयान्ताम् (मृत्यु पर्यन्त रहने वाली), अपरिमेयाम्, चिन्ताम्, उपाश्रिता: (असंख्य, चिन्ताओं का, आश्रय लेने वाले), कामोपभोग, परमा: (विषय भोगों के भोगने में, तत्पर रहने वाले), च (और) एतावत्, इति, निश्चिता: ('इतना ही सुख है', इस प्रकार, मानने वाले होते हैं)।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।। १२।।

आशापाशशतै:, बद्धा: (सैकड़ों, आशाओं के जाल से बन्धे हुए), कामक्रोध परायणा: (काम-क्रोध के परायण होकर), कामभोगार्थम् (विषय भोगों के लिए), अन्यायेन (अन्यायपूर्वक), अर्थसञ्चयान्, इहन्ते (धन-संग्रह की, चेष्टा करते रहते हैं)।

प्रश्न 8- आसुरी स्वभाव वाले पुरुषों के कौन-कौन से दुर्गुण होते हैं?

उत्तर- (1) ये लोग नास्तिक दृष्टिकोण रखते हैं।
(2) इस नास्तिक दृष्टिकोण को रखते हुए इनका उत्तम स्वभाव नष्ट हो जाता है।
(3) इनकी बुद्धि मन्द हो जाती है।
(4) यह सब के अपकार करने वाली भावना को रखते हैं।
(5) वे सदैव क्रूर कर्म करते हैं।
(6) अपने कुकर्मों के कारण जगत् का नाश करते रहते हैं।
(7) ये लोग दम्भ (पाखण्ड), अपने मान की सदैव इच्छा और मद (अहंकार) से युक्त रहते हैं।
(8) वे किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली इच्छाओं का आश्रय लेते रहते हैं।
(9) वे अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण कर लेते हैं और अपने भ्रष्ट आचरण के माध्यम से सारे संसार में विचरते रहते हैं।
(10) वे ऐसी असंख्य चिन्ताओं का आश्रय लेते हैं जो प्रलय होने पर ही समाप्त होती है, प्रलय (नाश) ही जिसका अन्त (परिणाम) है।
(11) वे विषय भोगों को भोगने में सदैव तत्पर रहते हैं।
(12) वे विषय भोगों में ही केवल सुख मानने वाले होते हैं।
(13) वे लालसारूपी सैकड़ों बन्धनों से ये मनुष्य बन्धे रहते हैं।
(14) वे काम और क्रोध के पंजे से सदा बन्धे रहते हैं।
(15) वे विषय भोगों के लिए अन्यायपूर्वक धनादि का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।। १३।।

मया, अद्य, इदम्, लब्धम् (मैंने, आज, यह, प्राप्त कर लिया है और अब), इमम्, मनोरथम्, प्राप्यसे (इस, मनोरथ को, प्राप्त कर लूँगा), मे, इदम्, धनम्, अस्ति (मेरे पास, यह, इतना धन है और) पुनः, अपि, इदम्, भविष्यति (फिर, भी, यह, हो जायेगा)।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।। १४।।

असौ, शत्रुः, मया, हतः (यह, शत्रु, मेरे द्वारा, मारा गया), च (और), अपरान्, अपि, अहम्, हनिष्ये (दूसरे, शत्रुओं को, भी, मैं, मार डालूँगा), अहम्, ईश्वरः (मैं, ईश्वर हूँ), भोगी, अहम् (मैं ही, ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ), सिद्धः (सब सिद्धियों से युक्त हूँ), बलवान्, सुखी (मैं ही बलवान् तथा सुखी हूँ)।

प्रश्न 9- आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य के कौन-कौन से मनोरथ हैं?

उत्तर- 'मनोरथ' शब्द यहाँ स्त्री, पुत्र, धन, ज़मीन, मकान, मान-बढ़ाई और सभी मनोवांछित पदार्थों के चिन्तन का वाचक है। अतः श्लोक संख्या १३ में यह दिखलाया गया है कि आसुरी-स्वभाव वाले मनुष्य अहंकारपूर्वक् नाना प्रकार के विचार करते रहते हैं। वे सोचते हैं कि अमुक् अभीष्ट वस्तु तो मैंने अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर ली है और अमुक् मनोवांछित वस्तु को मैं अपने पुरुषार्थ से प्राप्त कर लूँगा। मेरे पास यह इतना धन और ऐश्वर्य तो पहले से है और फिर इतना और हो जायेगा।

श्लोक संख्या १४ के अनुसार कामोपभोग को ही पुरुषार्थ मानने वाले असुर स्वभाव के लोग काम-क्रोध परायण होते हैं। ईश्वर, धर्म और कर्मफल में उनका तनिक भी विश्वास नहीं होता। इसलिए वे अहंकार से युक्त होकर अपने सभी शत्रुओं को मारने में ही अपने आप को अति बलवान् एवं प्रभावशाली पुरुष मानते हैं। 'इन शत्रुओं को मार डाला, औरों को भी मार डालूँगा' इस प्रकार के क्रूरता के भाव ये व्यक्ति रखते हैं। ये यह समझते हैं कि मैं संसार में सबसे बड़ा हूँ, जिसको चाहूँ मार दूँ, जिसको चाहूँ बचा दूँ, मैं तो ईश्वर हूँ। सब प्रकार के ऐश्वर्य भोग करने का अधिकार मुझे ही है। वे अपने आप को सबसे अधिक सुखी एवं बलवान् मानते हैं।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।

यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।। १५।।

आढ्यः, अभिजनवान्, अस्मि (मैं बड़ा धनी, और बड़े कुटुम्ब वाला, हूँ), मया, सदृशः, कः, अस्ति (मेरे, समान, दूसरा कौन, है), यक्ष्ये, दास्यामि, मोदिष्ये (मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, आमोद-प्रमोद करूँगा), इति, अज्ञानविमोहिताः (इस प्रकार अज्ञान से मोहित रहने वाले)।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।। १६।।

अनेकचित्तविभ्रान्ताः (अनेक प्रकार के भ्रमित चित्त वाले), मोह जाल-समावृताः (मोहरूप जाल से घिरे हुए), कामभोगेषु (विषय भोगों में) प्रसक्ताः (अत्यन्त आसक्त असुर लोग), अशुचौ (अत्यधिक अपवित्र) नरके, पतन्ति (नरक में, गिरते हैं)।

प्रश्न 10- आसुरी प्रकृति वाले लोगों की क्या गति होती है?

उत्तर- मैं बड़ा धनी और कुटुम्ब वाला हूँ। मेरे समान सामर्थ्यवान् कौन है, मैं प्रदर्शन हेतु यज्ञ करूँगा, मैं दिखाने के लिए दान करूँगा, आमोद-प्रमोद करूँगा (मस्ती मारूँगा), इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए ऐसे मूढ़ लोग ऐसी बातें करते हैं, जिससे वे अनेक भ्रान्तियों में पड़ जाते हैं, मोह जाल से घिर जाते हैं और भोगों में आसक्त हो जाते हैं। इसी कारण यह आसुरी प्रवृत्ति के लोग अपवित्र नरक में जा गिरते हैं।

आसुरी स्वभाव वाले पुरुष अहंकार से कहते हैं कि हमारे धन का और हमारे कुटुम्बी, मित्र, बान्धव, सहयोगी, अनुयायी और साथियों का पार नहीं है। हमारी एक ही आवाज़ पर असंख्य मनुष्य हमारा अनुगमन करने को तैयार हैं।

उनका यज्ञ और दान सम्बन्धी मिथ्या अभिमान इसमें दिखलाया गया है। आसुरी स्वभाव वाले लोग सात्त्विक यज्ञ व दान नहीं करते, बल्कि वे दूसरों पर रोब जमाने तथा ढोंग करके दिखावा करते हैं। वे आमोद-प्रमोद को ही जीवन का उद्देश्य मानते हैं। ऐसे आसुरी स्वभाव वाले लोगों का चित्त स्थिर नहीं होता। वे मोह जाल में घिरे रहते हैं। वासनाओं की पूर्ति को ही जीवन का ध्येय मानते हैं। ऐसे मनुष्य वासनाओं की पूर्ति हेतु भाँति-भाँति के पाप करते हैं और उनका फल भोगने के लिए उन्हें विष्ठा, मूत्र, रुधिर पीब आदि गन्दी वस्तुओं से भरे दुःखदायक घोर नरक में गिरना पड़ता है अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर में पड़े

रहते हैं।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।। १७।।

ते (वे), आत्मसम्भाविताः (अपने आप को ही श्रेष्ठ मानने वाले), स्तब्धाः (हठी), धनमानमदान्विताः (धन और मान के मद से युक्त होकर), नामयज्ञैः (केवल नाम मात्र के यज्ञों द्वारा), दम्भेन (पाखण्ड से), अविधिपूर्वकम्, यजन्ते (शास्त्र विधि रहित, यज्ञ करते हैं)।

प्रश्न 11- आसुरी प्रकृति वालों का यज्ञ कैसा होता है?

उत्तर- आसुरी प्रकृति के लोग अपने आप को सब से श्रेष्ठ और पूज्य मानते हैं। पूजनीय व्यक्तियों के प्रति विनय का भाव नहीं रखते और धन और मान के मद से उन्मत्त रहते हैं और वह जो भी यज्ञ करते हैं, वह शास्त्र विधि से रहित और केवल नाम मात्र दिखावे का यज्ञ होता है। ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ कहलाता है और इसी से '**अधो गच्छन्ति तामसाः**' के अनुसार वे अपवित्र नरकों में गिरते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।। १८।।

अहंकारम्, बलम्, दर्पम्, कामम्, क्रोधम्, संश्रिताः (अहंकार, बल, घमण्ड, कामना, क्रोधादि के परायण), च (और), अभ्यसूयकाः (दूसरों की निन्दा करने वाले पुरुष), आत्मपरदेहेषु (अपने और दूसरों के शरीर में स्थित), माम्, प्रद्विषन्तः (मुझ से, द्वेष करने वाले होते हैं)।

प्रश्न 12- आसुरी स्वभाव वाले पुरुषों का कैसा स्वभाव होता है?

उत्तर- आसुरी स्वभाव वाले मनुष्य अहंकार का सहारा लेकर कहते हैं कि 'हम ही ईश्वर हैं। ऐसा कौन सा कार्य है जो हम नहीं कर सकते।' वे अपने बल के सामने किसी को कुछ नहीं समझते। काम का आश्रय लेकर नाना प्रकार के दुराचार किया करते हैं। क्रोध का आश्रय लेकर उन्हीं के बल पर वे भांति-भाँति की कल्पना-जल्पना किया करते हैं। दूसरों के दोष देखकर उनकी निन्दा करते हैं। औरों की तो बात क्या वे सन्त पुरुषों में भी दोष देखते हैं। वे यह नहीं समझते कि अन्तर्यामी रूप परमात्मा सबके भीतर है। किसी से विरोध या द्वेष करना, किसी का अहित करना और दूसरों के शरीर में स्थित परमेश्वर से ही द्वेष करना है। श्री कृष्ण जी कहते हैं, "हे अर्जुन! वे (ऐसे आसुरी स्वभाव वाले व्यक्ति) ईर्ष्यावश मुझ से भी द्वेष करते हैं और मेरे पवित्र कार्यों में भी रोड़े

अटकाते रहते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।। १९।।

तान्, द्विषतः (उन द्वेष करने वाले), अशुभान्, क्रूरान्, नराधमान् (पापाचारी, क्रूरकर्मी और नराधमों को), अहम् (मैं), संसारेषु (संसार में), अजस्रम् (बार-बार), आसुरीषु, योनिषु (आसुरी, योनियों में), एव, क्षिपामि (ही, डालता हूँ)।

प्रश्न 13- द्वेष करने वाले नराधमों को परमात्मा कहाँ भेजता है?

उत्तर- जो लोग सब के साथ द्वेष करने वाले, नाना प्रकार के अशुभ आचरण करके समाज को भ्रष्ट करने वाले, निर्दयतापूर्वक बहुत से कठोर कर्म करने वाले और बिना ही कारण दूसरों का बुरा करने वाले अधम श्रेणी के मनुष्य होते हैं, परमात्मा उनको आसुरी योनि में डालते हैं। यहाँ आसुरी योनियों से तात्पर्य सिंह, बाघ, सर्प, बिच्छु, सूअर, कुत्ते और कौए आदि जितने भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग- ये सभी आसुरी योनियाँ हैं।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।। २०।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), मूढाः (वे मूढ), माम्, अप्राप्य, एव (मुझ को, न प्राप्त होकर, ही), जन्मनि जन्मनि (जन्म-जन्म में), आसुरीम्, योनिम्, आपन्नाः (आसुरी, योनि को, प्राप्त होते हैं), ततः अधमाम्, गतिम्, यान्ति (उससे भी, अति नीच, गति को, प्राप्त होते हैं)।

प्रश्न 14- इस श्लोक में पुनः आसुरी योनि वालों की दुर्गति का कैसा वर्णन किया गया है?

उत्तर- मनुष्य योनि में जीव को भगवत् प्राप्ति का अधिकार है। इस अधिकार को प्राप्त होकर भी जो मनुष्य इस बात को भूलकर असुर स्वभाव का अवलम्बन लेते हैं, वे मनुष्य -शरीर का सुअवसर पाकर भी भगवान् को नहीं पा सकते- यहाँ यही भाव दिखलाने के लिए ऐसा कहा गया है। यहाँ दयामय भगवान् मानों जीव की इस दशा पर दया करते हुए चेतावनी देते हैं कि मनुष्य शरीर पाकर आसुरी-स्वभाव का अवलम्बन करके परमात्मा प्राप्ति रूप जन्मसिद्ध अधिकार से वंचित मत होवो। अति अधम गति को प्राप्त करने का भाव यह है कि वे आसुरी-स्वभाव वाले मनुष्य हज़ारों लाखों बार आसुरी योनि में जन्म लेकर फिर उससे

भी नीच महान् यातनामय कुम्भीपाक, महारौरव, तामिस्र और अन्धतामिस्र आदि घोर नरकों में पड़ते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस पर निम्नलिखित टिप्पणी की है– हमें सलाह दी गई है कि हम इस आसुरी–स्वभाव को त्याग दें। इसका अर्थ पूर्व निर्णय नहीं है, क्योंकि यह कहा गया है कि परमात्मा की ओर मुड़ने और पूर्णता प्राप्त करने का मार्ग हमारे लिए सदा खुला है। किसी भी स्थिति में यह असम्भव नहीं है। अन्तर्वासी आत्मा प्रत्येक आत्मा में विद्यमान है, और इसका अर्थ है कि अमरत्व की आशा सर्वदा बनी रहती है। बड़े से बड़ा पापी भी कृतपापों के फल निश्चित रूप से भोगने के पश्चात् सुकर्म पथ पर आरूढ़ होते हुए यदि परमात्मा की ओर अभिमुख हो जाए, तो मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्येजत्।। २१।।

कामः, क्रोधः तथा, लोभः (काम, क्रोध और लोभ), इदम्, त्रिविधम्, नरकस्य, द्वारम् (ये, तीन प्रकार के, नरक के, द्वार हैं), आत्मनः, नाशनम् (आत्मा का, नाश करने वाले हैं), तस्मात्, एतत्, त्रयम्, त्यजेत् (अतएव, इन, तीनों को, त्याग देना चाहिये)।

प्रश्न 15– आत्मा का नाश करने वाले कौन से द्वार हैं?

उत्तर– काम, क्रोध और लोभ– ये तीन प्रकार के नरक के द्वार जीवात्मा का नाश करने वाले अर्थात् उसे अधोगति में ले जाने वाले हैं। अतएव इन तीनों का त्याग कर देना चाहिए।

स्त्री, पुत्र आदि समस्त भोगों की कामना का नाम 'काम' है। इस कामना के वशीभूत होकर मनुष्य चोरी, व्यभिचार ओर अभक्ष्य भोजनादि नाना प्रकार के पाप करते हैं। मन के विपरीत होने पर जो उत्तेजनामय वृत्ति उत्पन्न होती है उसका नाम क्रोध है; क्रोध के आवेश में मनुष्य हिंसा–प्रतिहिंसा आदि भाँति–भाँति के पाप करते हैं। धनादि विषयों की अत्यन्त बढ़ी हुई लालसा को 'लोभ' कहते हैं। लोभी मनुष्य उचित अवसर पर धन का त्याग नहीं करते और संग्रह करने में लगे रहते हैं। इसी कारण उनके द्वारा झूठ, कपट, चोरी और विश्वासघात आदि बड़े–बड़े पाप बन जाते हैं। अतः इन तीनों को नरक के द्वार बतलाया गया है।

इनको आत्मा का नाश करने वाला इसलिए कहा है कि आत्मा का नाश से

अभिप्राय है जीव की अधोगति। मनुष्य जब से इन तीनों के वश में हो जाता है तब से ही शारीरिक पतन होने लगता है। मन बुरे विचारों से भर जाता है। बुद्धि बिगड़ जाती है। सब क्रियाएँ दूषित हो जाती हैं। फलस्वरूप उसका जीवन दुःखमय हो जाता है तथा मरने के बाद उनको आसुरी योनियों की प्राप्ति होती है, अतः इन्हें (काम, क्रोध और लोभ को)विष के समान जानकर इनका तुरन्त ही पूर्ण रूप से त्याग कर देना चाहिये।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।। २२।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), एतैः, त्रिभिः, तमोद्वारैः (इन, तीनों, नरक के द्वारों से), विमुक्तः, नरः (मुक्त, पुरुष), आत्मनः, श्रेयः, आचरति (अपने, कल्याण का, आचरण करता है), ततः, पराम्, गतिम्, याति (इससे वह, परम गति को प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 16– नरक के तीन द्वारों (काम-क्रोध-लोभ) से मुक्त पुरुष की क्या गति होती है?

उत्तर– स्वामी रामसुख दास जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है– पूर्व श्लोक में जिनको नरक का द्वार बताया गया है, उन्हीं काम, क्रोध और लोभ को यहाँ 'तमोद्वार' कहा गया है। 'तम' नाम अन्धकार का है, जो अज्ञान से उत्पन्न होता है **(गीता १४/८ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि)**। तात्पर्य यह है कि कामादि के कारण 'मेरे साथ ये धन–सम्पत्ति, स्त्री–पुरुष, घर–परिवार आदि पहले भी नहीं थे और आगे भी नहीं रहेंगे और अब भी इनसे प्रतिक्षण वियोग हो रहा है। अतः इनसे ममता करने से आगे मेरी दशा क्या होगी?' आदि बातों की ओर दृष्टि जाती ही नहीं अर्थात् बुद्धि में अन्धकार छाया रहता है। अतः इन कामादि से मुक्त होकर जो अपने कल्याण का आचरण करता है वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। अतः साधक को इन तीनों नरक के द्वारों से सावधान रहना चाहिये। ''एतैर्विमुक्तः'' का यह अर्थ नहीं है कि जब हम दुर्गुण–दुराचारों से सर्वथा छूट जायेंगे, तब साधना करेंगे किन्तु साधक को भगवत् प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य सम्मुख रखकर इनसे छूटने का भी लक्ष्य रखना है। कारण कि झूठ, कपट, बेईमानी, काम, क्रोध आदि हमारे साथ में रहेंगे तो नयी–नयी अशुद्धि– नये–नये पाप आदि होते रहेंगे जिससे साधना का साक्षात् लाभ नहीं मिलेगा। इन दोषों से रहित होने पर ही शुद्धि स्वतः स्वाभाविक हो जाती है। अतः इन दोषों का त्याग

करना होगा तभी परम गति को प्राप्त कर सकेंगे।'

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।। २३।।

यः (जो पुरुष), शास्त्रविधिम्, उत्सृज्य (शास्त्र विधि को, त्यागकर), कामकारतः, वर्तते (अपनी इच्छा से मनमाना, आचरण करता है), सः, न, सिद्धिम्, अवाप्नोति (वह, न, सिद्धि को, प्राप्त होता है), न, पराम, गतिम् (न, परम गति को), न, सुखम् (और न, सुख को प्राप्त होता है)।

प्रश्न 17- जो व्यक्ति शास्त्रविधि को त्याग देता है, उसकी क्या स्थिति होती है?

उत्तर- जो पुरुष शास्त्र विधि को छोड़ देता है। अपनी इच्छा से मनमाना आचरण करता है। वह तो न तो सिद्धि (कार्य में सफलता) प्राप्त करता है और न ही परमगति और न ही सुख को प्राप्त करता है।

श्री गुरुदत्त जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है- शास्त्र का अर्थ है किसी भी कार्य के ज्ञान का वर्णन करने की विद्या। केवल धर्म-कर्म के ज्ञान से ही उसका अभिप्राय नहीं है। वैसे तो शास्त्र भले ही किसी विषय पर हो, वह धर्मशास्त्र ही होता है, परन्तु वह उस विषय के धर्म अर्थात् उस विषय में करणीय बताने वाला ही शास्त्र कहाता है, जैसे एक व्यक्ति पाचक का कार्य करता है, तब पकवान बनने की विधि-विधान को बताने वाला ग्रन्थ पाक-शास्त्र कहलायेगा।

इस श्लोक में इस प्रकार के शास्त्र से ही अभिप्राय है। यहाँ कहा गया है कि कोई भी कार्य हो, उस कार्य को शास्त्र में बताये विधि-विधान के अनुसार करना चाहिये। ऐसा करने से कार्य में सफलता और फिर कल्याण की प्राप्ति होती है। कोई होटल खोल लेता है, परन्तु खाना बनाने के नियमोपनियमों को नहीं जानता और भोजन की दुर्व्यवस्था करता है। उसका होटल का व्यवसाय भी असफल होगा ही। साथ ही जीवन के अन्य कल्याण की उपलब्धियों से भी वंचित रह जायेगा। उसे न तो इस संसार में सफलता प्राप्त होगी, न ही परलोक में।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। २४।।

तस्मात्, ते, इह (इससे, तेरे लिए, इस), कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कर्तव्य और

अकर्तव्य की स्थिति में), शास्त्रम्, प्रमाणम् (शास्त्र ही, प्रमाण है), [ऐसा], ज्ञात्वा (जानकर, तु), शास्त्रविधानोक्तम् (शास्त्र विधि में नियत), कर्म, कर्तुम्, अर्हसि (कर्म ही, करने, योग्य है)।

प्रश्न 18- श्री कृष्ण जी अर्जुन को किस प्रकार के कार्य करने का (कर्तव्य और अकर्तव्य की स्थिति में) आदेश दे रहे हैं?

उत्तर- जब भी कोई व्यक्ति कर्तव्य और अकर्तव्य की स्थिति में आये अर्थात् क्या करना है और क्या नहीं करना? उस स्थिति में व्यवस्था के लिए शास्त्रों को प्रमाणों को मानना चाहिए। शास्त्रों में जो विधान बतलाया गया है जो नियम बतलाये गये हैं, उन्हें जानकर हमें इस संसार में अपना काम करना चाहिये।

'क्या करना है और क्या नहीं करना?' जीवन की सबसे बड़ी दुविधा यही है। इसमें ठीक-ठाक भेद करना आ गया, तब तो मानव जीवन की महत्ता मुखरित हो जायेगी, नहीं तो न करने योग्य को ही ठीक मानकर और उसी में स्वयं को लगाकर जीवन आसुरी सम्पदा में प्रवृत्त हो जायेगा। भेद कैसे जाने; इसी के लिए ही गीता की यह महत्त्वपूर्ण प्रेरणा '**शास्त्रं प्रमाणम्**' कहा है। सड़क पर यात्रा करते हुए कई बार हम सामने लगी निर्देश पट्टिकाएँ पढ़ते हैं- 'बाई ओर चलो', 'चौराहों पर रुककर देखो', 'फिर चलो' आदि-आदि। ऐसे निर्देशों का पालन हमारे ही लाभ के लिए होता है। न मानने पर हानि उठानी पड़ सकती है।

शास्त्रों की भूमिका यही है। जीवन जीने के लिए उचित निर्देश शास्त्र से मिलते हैं। कहाँ चलना है? क्या करना है? किसमें जीवन का लाभ है? जीवन का गन्तव्य क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे संभव हो सकती है? इस सबकी व्यवस्था शास्त्र करते हैं। राष्ट्र की व्यवस्थायें ठीक चलाने के लिए एक संविधान होता है। संविधान किसी भी पद या व्यक्ति से बड़ा होता है। संविधान का पालन सबका कर्तव्य भी है और अच्छा भी है कि व्यवस्था संविधान के अनुरूप चलें। हमारे वेद-शास्त्र, स्मृति ग्रन्थ हमारी मानवता का संविधान हैं। व्यवस्थाओं को सुचारू रूप से चलाने हेतु इनका अनुपालन हो- इसी प्रेरणा के साथ यह 'दैवासुर-संपद्-विभाग-योग' सोलहवाँ अध्याय सम्पन्न हो रहा है।

सारांश या सन्देश - देव या असुर केवल योनि नहीं; मनुष्य अच्छे लक्षणों से देवता बन सकता है और दुर्गुणों से असुर भी। मनुष्य जीवन का दुर्लभ अवसर है। सदुपयोग से स्वर्ग तुल्य और दुरुपयोग से नरक तुल्य बन सकता है

तथा ईश्वरीय भाव में रमण करते हुए संसार में अच्छे ढंग से व्यवहार कर मोक्ष के पद का अधिकारी भी मनुष्य बन सकता है। सीढ़ी छत पर ले जाती है, नीचे भी लाती है और यदि सँभलकर न चले तो सीढ़ी गिराने का माध्यम भी बन सकती है। इसमें सीढ़ी केवल माध्यम है। अपना पुरुषार्थ ही ऊपर-नीचे लाने में मध्यस्थता करता है।

इस अध्याय में जगत् में व्याप्त हो रही दो प्रवृत्तियों का हृदयग्राही चित्र खींचा गया है। कुछ लोग दैवी गुणों को सम्पत्ति समझते हैं, कुछ आसुरी गुणों को सम्पत्ति समझते हैं। दैवी प्रकृति के लोग संसार के बन्धन से छूट जाते हैं। आसुरी-प्रकृति के लोग अपने को ही सब कुछ मानते हैं। धन दौलत को किसी भी तरीके से जमा करने में लगे रहते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, चिन्ता से व्याकुल रहते हैं। अपने-आप को स्वर्ग में समझते हैं, परन्तु नरक में घुसने की तैयारी कर रहे होते हैं।

दैवी सम्पत्ति वालों का वर्णन हो चुका है, अब हम स्वयं अपना मन्थन करें कि हम किसी श्रेणी में स्वयं को पाते हैं। हमें स्वयं का अवलोकन करना है। औरों को हम भले ही धोखा दे दें, पर स्वयं को धोखा नहीं दे सकते। अपना, अपने मानस का प्रतिबिम्ब स्वयं के अन्तरात्मा रूपी दर्पण में देखने का प्रयत्न तो करें। हमारा अपना स्वरूप स्पष्ट दिखाई देगा।

काम-क्रोध-लोभ का पारस्परिक सम्बन्ध- गीता के अनुसार आसुरी-प्रकृति वालों के नरक में जाने के तीन द्वार हैं- काम, क्रोध तथा लोभ। काम का अर्थ है वासना, इच्छा। गीता में कहा है- **''संगात् संजायते कामः''** - विषयों के संग से 'कामना' उत्पन्न होती है। हमारी प्रत्येक गतिविधि का मूल आधार कामना है। संसार का प्रवाह ही 'कामना' के स्रोत से बह रहा है। जब 'कामना' अवरुद्ध होती है, उसके पूरा होने में रुकावट, बाधा आ जाती है, तब कामना क्रोध का रूप धारण कर लेती है। यदि कामना अवरुद्ध नहीं होती, पूरी होती चली जाती है तो वह 'लोभ' का रूप धारण कर लेती है। एक कामना की तृप्ति के पश्चात् मनुष्य के मन में दूसरी कामना उठ खड़ी होती है। इस प्रकार 'काम' का एक सिरा 'क्रोध' है, दूसरा सिरा 'लोभ' है, 'क्रोध' और 'लोभ' दोनों 'काम' के ही दो रूप हैं। इन्हीं तीनों को गीताकार ने नरक के त्रिविध द्वार कहा है।

सार की बात यह है कि जीवन का लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति को बना लें। भीतर

ही भीतर ईश्वरीय भाव में रहें। ईश्वरीय निकटता में रहें- सद्गुण, सद्वृत्तियाँ, सद्भाव, सदाचार, सत्कर्म अपने आप उत्पन्न होते जायेंगे। यदि परमात्मा से विमुख हुए, संसार को ही सब कुछ मान लिया तभी दुर्गुणों को भीतर आने का अवसर मिलेगा और जीव आसुरी संपदा के अधीन हो जायेगा।

अपने आप में यह अध्याय गीता का विलक्षण अध्याय है। पढ़ तो लिया। आओ विवेक जगाएँ एवं बिना विलम्ब जीवन यात्रा को पूरी तरह दैवी सम्पदा के सत् लक्षणों के अनुरूप आगे बढ़ने का निर्णय करे।

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्म विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'दैवासुर-संपद्-विभाग-योग' नामक षोडश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ सप्तदशोऽध्यायः
श्रद्धात्रय-विभाग-योग

प्रधान विषय -

(1) श्रद्धा का और शास्त्र विपरीत घोर तप करने वालों का विषय -श्लोक संख्या 1 से 6 तक।

(2) आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक्-पृथक् भेद का विषय -श्लोक संख्या 7 से 22 तक।

(3) ओ३म्, तत्, सत् के प्रयोग की व्याख्या श्लोक संख्या 23 से 28 तक।

भूमिका :- डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार - सोलहवें अध्याय में कहा गया है कि नरक के तीन द्वार हैं- काम, क्रोध तथा लोभ। इन तीनों से मुक्त होकर ही आत्मा को परमगति प्राप्त होती है। 'काम' ही 'क्रोध' तथा लोभ का उद्भव-स्थान है। 'काम' के अवरुद्ध होने से 'क्रोध' उत्पन्न होता है, 'काम' के ही निर्बाध प्रवाह से 'लोभ' उत्पन्न होता है। आत्मा के बन्धन का मुख्य कारण, नरक का महाद्वार 'काम' ही है। 'काम' के पीछे चलने के बजाय गीता में 'शास्त्र' के पीछे चलने का उपदेश दिया है। 'शास्त्र' का अभिप्राय है जीवन की विद्या, कला, आचार-नीति और साथ ही जो श्रेष्ठ आदर्श मनुष्य जाति को उपलब्ध है, वे सभी शास्त्र है। परन्तु 'शास्त्र' का विधि-विधान कितने ही उच्च आदर्शों को लेकर बना हो, समय आता है जब कि वह भी निर्जीव तथा निष्प्राण हो जाता है, अब तक की प्राप्त की हुई उपलब्धियाँ बोदी और थोथी हो जाती हैं। ऐसी अवस्था में 'काम' और 'शास्त्र' दोनों बेकार हो जाते हैं।

इस भूमिका में अर्जुन के हृदय में प्रश्न उठता है कि इन दोनों मार्गों से अलग कर तीसरा दृष्टिकोण भी हो सकता है। 'कामना' को अपना प्रेरणा - सूत्र मानना, पशु के स्तर पर विद्यमान व्यक्ति के लिए ठीक हो सकता है, 'शास्त्र' को अपना प्रेरणा- सूत्र मानना रूढ़िवादी व्यक्ति के लिए प्रमाण रूप हो सकता है, परन्तु जो पशु के स्तर से ऊपर उठ चुका हो, जो यह देख चुका हो कि शास्त्र

रूढ़ि में परिणत हो चुका है, शास्त्र के विधि-विधान मृत प्राय हो चुके हैं, उसके लिए क्या मार्ग है? इसका गीता ने उत्तर दिया है- 'श्रद्धा'। 'कामना' को छोड़कर 'शास्त्र' और शास्त्र को छोड़कर 'श्रद्धा' में आस्था रखना आत्मा के उत्तरोत्तर विकास का मार्ग है।

'श्रद्धा' का अभिप्राय 'अन्ध श्रद्धा' नहीं है। 'श्रद्धा' तामसिक, राजसिक और सात्त्विक हो सकती है। सात्त्विक श्रद्धा जब हम में प्रबल हो जाती है तब वह आत्मा विश्वातीत निरपेक्ष सत्ता में प्रवेश कर जाता है। इसी प्रसंग को लेकर सत्रहवाँ अध्याय प्रारम्भ होता है-

अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य जयन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।। १।।

कृष्ण (हे कृष्ण!), ये (जो मनुष्य), शास्त्रविधिम्, उत्सृज्य (शास्त्रविधि को त्यागकर), श्रद्धया, अन्विताः, यजन्ते (श्रद्धा से युक्त होकर यज्ञ करते हैं), तेषाम्, निष्ठा, तु, का (उनकी, स्थिति, फिर कौन सी है?), सत्त्वम्, आहो, रजः, तमः (सात्त्विक है, अथवा, राजसी, तामसी)।

प्रश्न 1- शास्त्र को न मानने के कारण अर्जुन के हृदय में क्या शंका उठती है?

उत्तर- अर्जुन श्री कृष्ण जी से शास्त्र-प्रमाण न होने की स्थिति में यह जानना चाहता है, ''हे श्री कृष्ण जी! जो शास्त्रों की विधि विधानों की परवाह न करते हुए फिर भी श्रद्धा युक्त होकर यज्ञ करते हैं उनकी निष्ठा (स्थिति) कौन सी है- सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी?''

इस अध्याय का बीजारोपण १६वें अध्याय के २३वें श्लोक में हो गया था। वहाँ श्रीकृष्ण जी ने स्पष्ट कह दिया था कि जो शास्त्रविधि का त्याग करके मनमाने ढंग से आचरण करता है, वे सिद्धि, सुख तथा परमगति कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँ शास्त्र विधि का त्याग तो है, परन्तु 'यजते श्रद्धयान्वितः' अर्जुन ने बहुत बारीकी से यह प्रश्न निकाला है, आवश्यक भी था क्योंकि महाभारत काल के अन्त में समाज मर्यादाविहीन होना प्रारम्भ हो चुका था, ऐसे में या तो शास्त्र को समझने की बुद्धि नहीं था या ठीक समझाने वालों का मिलना दुर्लभ था या फिर समय ही नहीं था शास्त्र को देखने, समझने का अथवा तो फिर विभिन्न मत-मतान्तरों का प्रचलन और उसमें शास्त्र विधि का कोई महत्त्व ही

नहीं था। कुछ भी कारण हो सकता है। अर्जुन ने समय की नब्ज़ को देखकर इस प्रश्न के रूप में बहुत बड़ा लोकोपकार किया है। वन्दनीय है अर्जुन का यह जिज्ञासापूर्ण प्रश्न। श्रद्धा-भाव तो है शास्त्र विधि नहीं, उसकी निष्ठा को हे श्री कृष्ण जी! किस रूप में देखा जाये- सात्त्विकी, राजसी अथवा तामसी?

श्री कृष्ण उवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।। २।।

देहिनाम् (मनुष्यों की), सा (वह[शास्त्रीय संस्कारों से रहित केवल]), स्वभावजा (स्वभाव से उत्पन्न), श्रद्धा (श्रद्धा), सात्त्विकी, च, राजसी, च, तामसी (सात्त्विकी और राजसी और तामसी), इति, त्रिविधा एव, भवति (ऐसे, तीनों प्रकार की, ही, होती है), ताम्, शृणु (उसको तू मुझ से सुन)।

प्रश्न 2- श्री कृष्ण जी ने गुणों के अनुसार कितने प्रकार की श्रद्धा का वर्णन किया है?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा- "हे अर्जुन! मनुष्यों की यह शास्त्रीय संस्कारों से रहित, केवल स्वभाव से उत्पन्न श्रद्धा, सात्त्विकी, राजसी, तामसी- ऐसे तीनों प्रकार की होती है। उसको तू मुझ से सुन।"

यहाँ पर 'देहिनाम्' शब्द का प्रयोग ऐसे मनुष्यों के लिए हुआ है, जो देह में स्वाभाविक अभिमान रखते हैं।

यहाँ पर 'सा' एवं 'स्वभावजा' पद शास्त्र विधि का त्याग कर श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करने वाले मनुष्यों में रहने वाली श्रद्धा के वाचक हैं। वह श्रद्धा शास्त्र से उत्पन्न नहीं है, स्वभाव से है। जो श्रद्धा शास्त्र के श्रवण-पठनादि से होती है, उसे 'शास्त्रजा' कहते हैं और जो पूर्व जन्मों के तथा इस जन्म के कर्मों के संस्कारनुसार स्वाभाविक होती है उसे 'स्वभावजा' कहते हैं। अनन्त जन्मों में किए कर्मों के संचित संस्कारों से उत्पन्न हुई 'श्रद्धा' 'स्वभावजा श्रद्धा' कही जाती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।। ३।।

भारत (हे अर्जुन!), सर्वस्य, श्रद्धा, सत्त्वानुरूपा (सब मनुष्यों की, श्रद्धा, उनके अन्तःकरण के अनुरूप), भवति (होती है), अयम्, पुरुषः, श्रद्धामयः (यह,

पुरुष, श्रद्धामय है) [इसलिए], यः (जो पुरुष), यच्छ्रद्धः, सः, एव, सः (जैसी श्रद्धावाला है, वह, स्वयं भी, वही है)।

प्रश्न 3- मनुष्यों की श्रद्धा किस के अनुरूप होती है?

उत्तर- सभी मनुष्यों की श्रद्धा उनके अन्तःकरण के अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिए जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार - श्रद्धा स्वभाव के अनुसार होती है। स्वभाव अन्तःकरण का विषय है। इस कारण बिना अन्तःकरण को समझे श्रद्धा और स्वभाव को समझा नहीं जा सकता। अन्तःकरण में मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन पदार्थ मानते हैं। हम समझते है कि अहंकार, सृष्टि रचना क्रम में बहुत स्थूल पदार्थ हैं। वह सदा मन, बुद्धि के साथ नहीं रहता।

साँख्य दर्शन में कहा है कि स्वभाव विवेक (आत्मज्ञान) से ही बदलता है। संसार में अन्य कोई वस्तु नहीं जो स्वभाव को बदल सके।

ज्ञान भी अन्तःकरण को होता है। इस कारण जीवात्मा को जब सत्य ज्ञान हो जाता है, तब देह के छूटने पर अन्तःकरण विखण्डित हो जाता है। मन, बुद्धि तो शरीर के साथ विनष्ट हो जाते हैं परन्तु जीवात्मा ज्ञान का स्वामी बना हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी कारण साँख्य में तथा गीता में ज्ञान की भारी महिमा है। ज्ञान के आधार पर ही यदि स्वभाव में श्रद्धा बन जाये तो काम, क्रोध, मोहादि छूट जाते हैं और बदले हुए स्वभाव वाला जीवात्मा परमात्मा में श्रद्धा बना लेता है।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।। ४।।

सात्त्विकाः, देवान्, यजन्ते (सात्त्विक पुरुष, देवों को पूजते हैं), राजसाः, यक्षरक्षांसि (राजस् पुरुष, यक्ष और राक्षसों को तथा), अन्ये, तामसाः, जनाः (अन्य जो, तामस, मनुष्य हैं वे), प्रेतान्, च, भूतगणान्, यजन्ते (प्रेत और भूतगणों को पूजते हैं)।

प्रश्न 4- विभिन्न स्वभाव वाले पुरूष किस-किस की पूजा करते हैं?

उत्तर- सात्त्विक स्वभाव वाले व्यक्ति देवताओं की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। राजसी स्वभाव वाले यक्षों और राक्षसों की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। तामसिक स्वभाव वाले भूत-प्रेतों की श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं। यहाँ पूजा का अर्थ उनके अनुसार आचरण करने से है, सत्कार करने से है।

सात्त्विक निष्ठा वाले देवों, महापुरुषों जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, दयानन्द आदि को, राजसी निष्ठा वाले राजनेताओं जैसे हिटलर, मुसोलिनी आदि को तथा तामसी निष्ठा वाले लोग भूत-प्रेत अर्थात् पीर, पैगम्बर, कब्रों, समाधियों आदि को अपना आदर्श मानते हैं।

राक्षसों से अभिप्राय: कोई सीगों वाला बड़ा भारी दैत्य नहीं, बल्कि जो भी राक्षस स्वभाव वाला हो, वह राक्षस है। अपने समाज में ऐसे राक्षस बड़े-बड़े पदों पर विराजमान हैं। उनके इर्दगिर्द स्वार्थी, लोभी, लालची लोग चक्कर काटा करते हैं, क्योंकि उनकी भी कुत्तों की तरह टुकड़ों पर आँख लगी होती हैं। ये सब राजसिक वृत्ति के लोग हैं।

भूतप्रेत का अर्थ है जो समाज में अपने स्वार्थों को लेकर आये, उठे, आगे बढ़े, परन्तु उनके स्वार्थों ने ही उन्हें भूत-काल का बना दिया। जिनकी अब समाज में प्रतिष्ठा नहीं रही- वे भूत हैं।'प्रेत' का अर्थ है।'प्र+इत:' - जो अपने कर्मों के कारण भविष्य में जाने वाला है। टिकने वाला नहीं, जो जीते- जी मरे के समान हैं, वह प्रेत है। तामसिक स्वभाव वाले लोग ऐसों में श्रद्धा रखते हैं।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।

ये, जनाः (जो, मनुष्य), अशास्त्रविहितम् (शास्त्र-विधि से रहित अर्थात् केवल मनः कल्पित), घोरम्, तपः, तप्यन्ते (घोर, तप को, तपते हैं), दम्भाहङ्कार संयुक्ताः (दम्भ और अहंकार से युक्त तथा) कामरागबलान्विताः (कामना, आसक्ति और बल के अभिमान से भी युक्त हैं)।

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्धयासुरनिश्चयान्।।६।।

शरीरस्थम्, भूतग्रामम्, च (शरीर में स्थित, पाँच महाभूतों को), अन्तःशरीरस्थम्, माम्, एव (अन्तः करण में स्थित, [मुझ] परमात्मा को, भी), कर्शयन्तः (कृश करने वाले होते हैं), तान्, अचेतसः (उन, अज्ञानियों को तू), आसुरनिश्चयान्, विद्धि (आसुर, स्वभाव वाले, जानो)।

प्रश्न 5- शास्त्र विरुद्ध घोर तप करने वालों को कैसा मानना चाहिये?

उत्तर- कई लोग श्रद्धा में निरे मूर्ख होते हैं। वे समझते हैं कि अपने शरीर को कष्ट देने से भगवान् मिल जाते हैं। ऐसे अन्ध श्रद्धा वाले लोग दम्भ और अहंकार से युक्त होकर काम और आसक्ति के बल पर उग्र तपों को करते हैं जिन तपों का

शास्त्र में कहीं भी विधान नहीं है।

शास्त्र ज्ञान की बात करता है, ज्ञान इस संसार का, इस संसार में प्राणी लोक और अप्राणी लोक का और इस संसार का संचालन करने वाले परमात्मा की बात करता है। जो इस सत्य ज्ञान की बात को छोड़ कर अशास्त्रीय अर्थात् अज्ञान की बात करते हैं वे झूठा तप करते हैं और उनका फल विनाश ही होता है।

ये आसुरी स्वभाव वाले लोग अपनी मूर्खता के कारण शरीर में विद्यमान पँचभूतों के समूह को व्यर्थ कष्ट देते हैं और शरीर के भीतर निवास करने वाले परमात्मा को भी कष्ट देते हैं। इन लोगों को तू आसुरी बुद्धिवाला जान।

तप करना अच्छा है, तप हो तो दम्भ, अहंकार, इच्छा, आसक्ति आदि को समाप्त करने के लिए होना चाहिये, लेकिन यहाँ स्थिति बिल्कुल विपरीत है। यहाँ तप दिखावे के लिए किया जा रहा है। यहाँ ऊपर से तप है, परन्तु भीतर दम्भ है, ऐसा तप तप नहीं है। तप मन को साधने के लिए है उसके लिए जितना आवश्यक हो शारीरिक सुख, सुविधा पर अंकुश लगे, कोई बुराई नहीं, परन्तु शरीर को कष्ट पहुँचाना, सुखाना- यह शारीरिक क्षमताओं को दुर्बल करने के अतिरिक्त कुछ नहीं। जब शरीर को जानबूझकर आवश्यकता से अधिक कष्ट दिया जायेगा तथा कई बार दूसरों के अहित के लिए कोई तप किया जायेगा उससे शारीरिक हानि ही होगी।

एक भाव यह भी हो सकता है कि बच्चा माता-पिता की आज्ञा के अनुसार न चलकर मनमाने ढंग से आचरण करे तब जैसे माता-पिता को कष्ट होता है। वे ऐसा सोचते हैं कि हमने बच्चे से कैसी अपेक्षा की थी, परन्तु यह कैसा मूर्ख निकला। यह स्थिति शास्त्र विधि को छोड़, भगवान् की बात न मानकर मनमाने ढंग से आचरण करने वाले जीव के लिए है। अतः हमें ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये कि जो परमात्मा की व्यवस्था के विपरीत है। जिससे उन्हें "**तान्विद्धियासुर निश्चयान्**" ('उन्हें तू आसुरी स्वभाव वाला जान') जैसे शब्दों का प्रयोग करना पड़े।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

आहारः, अपि, सर्वस्य, त्रिविधः (भोजन, भी, सबको, अपनी प्रकृति के अनुसार, तीन प्रकार का), प्रियः, भवति (प्रिय, होता है), तु, तथा, यज्ञः, तपः, दानम्

(वैसे ही यज्ञ, तप और दान), तेषाम्, इमम्, भेदम्, शृणु (उनके, इस, भेद को, तू सुन)।

प्रश्न 6– श्री कृष्ण जी के अनुसार आहार, यज्ञ, तप और दान के कितने भेद हैं ?

उत्तर– आहार एवं यज्ञादि के तीन भेदों का उल्लेख करते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है और वैसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन–तीन प्रकार के होते हैं। उनके इस पृथक्–पृथक् भेद को तू मुझ से सुन।

आहार आदि के सम्बन्ध में अर्जुन ने कुछ भी नहीं पूछा था, फिर बिना ही पूछे श्री कृष्ण जी ने आहार आदि की बात इसलिए की कि मनुष्य जैसा आहार ग्रहण करता है, वैसा ही उसका अन्त:करण बनता है और अन्त:करण के अनुरूप ही श्रद्धा भी होती है। आहार शुद्ध होगा तो उसके परिणामस्वरूप अन्त:करण भी शुद्ध होगा। '**आहारशुद्धौ सत्त्व शुद्धिः**' छान्दोग्य उपनिषद् ७/२६/२। अन्त:करण की शुद्धि से ही विचार, भाव, श्रद्धादि गुण और क्रियाएँ शुद्ध होगी। अत: इस प्रसंग में आहार का विवेचन आवश्यक है। दूसरे यज्ञ आदि सब लोग नहीं करते, परन्तु आहार सब करते हैं, वैसे कहा भी है– 'जैसा खाओ अन्न वैसा बनेगा मन'। इसी भाव को लेकर श्लोक में ''प्रिय:'' पद देकर विशेष लक्ष्य कराया गया है। अत: आहार की दृष्टि से भी उसकी पहचान हो सकती है।

आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहारः सात्त्विकप्रियाः।। ८।।

आयु:, सत्त्वबलारोग्य, सुख, प्रीति, विवर्धना: (आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले), रस्या:, स्निग्धा:, स्थिरा: (रसयुक्त, चिकने और स्थिर रहने वाले), हृद्या: (स्वभाव से ही मन को प्रिय), आहारा:, सात्त्विकप्रिया: (आहार, सात्त्विक पुरुषों को प्रिय है)।

प्रश्न 7– सात्त्विक पुरुषों को कैसा आहार प्रिय है ?

उत्तर– जो भोजन आयु, सात्तिवक वृति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाते हैं; जो रसीले, स्निग्ध (चिकने), शरीर को स्थिर बनाने वाले, रुचिकर होते हैं, वे सात्त्विक–वृत्ति वालों को प्रिय हैं।

आहार किस प्रकार आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाला है ?

(1) 'आयु' का अर्थ है जीवन, जीवन की अवधि का बढ़ जाना (2) 'सत्त्व' का अर्थ है बुद्धि। बुद्धि का निर्मल तीक्ष्ण एवं यथार्थ तथा सूक्ष्मदर्शी होना (3) 'बल' का अर्थ है सत्कार्य में सफलता दिलाने वाली मानसिक और शारीरिक शक्ति (4) मानसिक और शारीरिक रोगों का नष्ट होना ही आरोग्य का बढ़ना है। (5) हृदय में सन्तोष, सात्त्विक प्रसन्नता और पुष्टि का होना और मुखादि शरीर के अंगों पर भावजनित चिन्हों का प्रकट होना 'सुख' है। (6) चित्तवृत्ति का प्रेमभाव सम्पन्न हो जाना और शरीर में प्रीतिकर चिन्हों का प्रकट होना 'प्रीति' है।

आहार कैसे हों? (1) 'रस्या:' दूध, चीनी आदि रसयुक्त पदार्थ (2) 'स्निग्धा:' मक्खन, घी, तथा सात्त्विक पदार्थों से निकाले हुए तेल आदि स्नेहयुक्त पदार्थ (3) 'स्थिरा:' जिन पदार्थों का सार बहुत काल तक स्थिर रहे, ऐसे ओज उत्पन्न करने वाले पदार्थ (4) 'हृद्या:' जो गन्दे और अपवित्र नहीं है तथा देखते ही मन में सात्त्विक रूचि उत्पन्न करने वाले हों।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।। ९।।

कटु, अम्ल, लवण, अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाहिन: (कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गर्म, तीखे, रूखे और दाहकारक), दु:खशोकामयप्रदा: (दु:ख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले), आहारा: राजसस्य, इष्ट: (आहार, राजस पुरुषों को, प्रिय होते हैं)।

प्रश्न 8– राजस् पुरुषों को कैसा आहार प्रिय है ?

उत्तर– कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गर्म, तीख, रूखे, दाहकारक और दु:ख, चिन्ता तथा रोगों को उत्पन्न करने वाले आहार राजस पुरुष को प्रिय हैं।

श्लोक में प्रयुक्त 'अति' शब्द केवल उष्ण के साथ ही न समझें। श्लोक व्यवस्था के अनुरूप एक ही बार यह शब्द आया वस्तुत: कड़वा, खट्टा, तीखा, रूखा सबके साथ इसे लें। सोचो– उस आहार का क्या लाभ, जो क्षणिक स्वाद की अधीनता के कारण परिणाम में सदैव दु:खद स्थिति बना देता है। ऐसा अति कड़वा, अति खट्टा, अति गर्म, अति चटपटा आदि भोजन करने से न तो शारीरिक लाभ है तथा न ही मानसिक। ऐसा भोजन स्वभाव में भी उसी प्रकार का तीखा रूखापन लाता है तथा भजन में भी वृत्ति नहीं लगने देता।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।। १०।।

यत्, भोजनम् (जो, भोजन), यातयामम्, गतरसम्, पूति, पर्युषितम्, च (अधपका, रसरहित, दुर्गन्ध युक्त, बासी), च, उच्छिष्टम्, च, अमेध्यम्, अपि (और, झूठा, तथा अपवित्र, भी है), [वह भोजन], तामसप्रियम् (तामस् पुरुष को प्रिय है)।

प्रश्न 9- तामस् पुरुष को कैसा भोजन प्रिय है?

उत्तर- जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी या जूठा है तथा जो अपवित्र भी है, वह भोजन तामस पुरुष को प्रिय है।

(1)**यातयामम्, पर्युषितम्**- जो भोजन एक पहर पूर्व बना हो या रात्रि का बना हो।

(2) **गतरसम्**- जिस का रस सूख गया हो।

(3) **पूति**- दुर्गन्धयुक्त पदार्थ प्याज़, लहसुन आदि।

(4) **उच्छिष्ट**- अपने या दूसरे के भोजन कर लेने पर बची हुई जूठी चीज़

(5) **अमेध्यम्**- माँस, अण्डे आदि हिंसामय, शराब-ताड़ी आदि निषिद्ध मादक वस्तुएँ आदि।

इन उपर्युक्त पदार्थों का सेवन करने वाला पुरुष तामस स्वभाव का होता है।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।। ११।।

यः, विधिदृष्टः, यज्ञः (जो, शास्त्र विधि से नियत, यज्ञ है), यष्टव्यम्, एव (यज्ञ करना, ही कर्तव्य है), इति, मनः, समाधाय (इस प्रकार, मन को समाधान (एकाग्र, करके), अफलाकाङ्क्षिभिः (फल न चाहने वाले पुरुषों द्वारा), इज्यते (किया जाता है), सः, सात्त्विकः (वह, सात्त्विक यज्ञ है)।

प्रश्न 10- सात्त्विक यज्ञ के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- जो यज्ञ फल की आकांक्षा छोड़कर, यज्ञ करना हमारा कर्तव्य है- यह समझकर, शास्त्र की विधि के अनुसार, मन को एकाग्र करके किया जाता है, वही सात्त्विक यज्ञ है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है- गीता का यज्ञ वेदों के समारोहपूर्ण जैसा यज्ञ नहीं है। यह तो सामान्य तौर पर बलिदान का कार्य है, जिसके द्वारा मनुष्य अपनी सम्पत्ति और अपने कार्यों को सब के अन्दर

विद्यमान एक ही जीवन की सेवा के लिए समर्पित कर देता है। इस प्रकार बलिदान की भावना वाले लोग प्रसन्नतापूर्वक मृत्यु तक को भी, चाहे वह अन्यायपूर्ण ही क्यों ना हो, स्वीकार कर लेंगे जिससे कि संसार उनके बलिदान द्वारा उन्नति कर सके। सावित्री यम से कहती है कि अच्छे लोग अपने कष्ट सहन और बलिदान द्वारा संसार को सँभालते हैं **''सन्तो भूमिं तपसा धारयन्ति''**

''अफलाकाङ्.क्षभिः'' जो किसी फल की आशा नहीं रखते। वे सही काम करते हैं परन्तु उनके परिणामों के प्रति निरपेक्ष रहते हैं। किसी भी सुकरात या दयानन्द को केवल इस बात का ध्यान रहता है कि वह ठीक काम कर रहा है या गलत, वह भले आदमी का अभिनय कर रहा है, या बुरे आदमी का और इस बात का ध्यान नहीं रहता कि वह जीवित रह सकेगा या उसे मरना पड़ेगा।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।। १२।।

तु, भरतश्रेष्ठ (परन्तु हे अर्जुन!), दम्भार्थम्, एव (केवल दम्भ आचरण के लिए, ही), च, फलम्, अपि, अभिसन्धाय (और, फल को, भी, दृष्टि में रखकर), यत्, इज्यते (जो यज्ञ, किया जाता है), तम्, यज्ञम्, राजसम्, विद्धि (उस, यज्ञ को, तू राजस जान)।

प्रश्न 11- राजस् यज्ञ के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- केवल दम्भाचरण के लिए अथवा फल को ही दृष्टि में रखकर जो यज्ञ किया जाता है, उस यज्ञ को राजस यज्ञ कहा जायेगा।

यज्ञकर्म में आस्था न होने पर भी जगत् में अपने को 'यज्ञनिष्ठ' प्रसिद्ध करने के उद्देश्य से जो यज्ञ किया जाता है, उसे दम्भ के लिए यज्ञ करना कहते हैं। स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, यश, प्रतिष्ठा, विजय और स्वर्गादि की प्राप्ति रूप इस लोक और परलोक के सुख भोगों के लिए या किसी प्रकार की अनिष्ट निवृत्ति के लिए जो यज्ञ करना है - वह फल प्राप्ति के उद्देश्य से यज्ञ करना है। वह शास्त्र विहित और श्रद्धापूर्वक किया होने पर भी राजस यज्ञ है।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।। १३।।

विधिहीनम् (शास्त्रविधि से हीन), असृष्टान्नम् (अन्नदान से रहित), मन्त्रहीनम्, अदक्षिणम् (बिना मन्त्रों के, बिना दक्षिणा के), [और], श्रद्धाविरहितम्, यज्ञम् (श्रद्धारहित किये जाने वाले, यज्ञ को), तामसम् परिचक्षते (तामस यज्ञ कहते

हैं)।

प्रश्न 12- तामस् यज्ञ के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- शास्त्रविधि से हीन, जिसमें अन्नदान नहीं किया जाता है जिसमें मन्त्र पाठ नहीं होता, दक्षिणा नहीं दी जाती है और बिना श्रद्धा के किया जाता है, वह तामस यज्ञ कहलाता है।

(1) विधिहीनम् - जो यज्ञ शास्त्र विहित न हो अर्थात् जिसके सम्पादन में शास्त्र विधि की कमी हो अथवा जो शास्त्रोक्त विधान की अवहेलना करके, मनमाने ढंग से किया गया हो।

(2) असृष्टान्नम्- जिस यज्ञ में अन्नदान न किया गया हो।

(3) मन्त्रहीनम्- जो यज्ञ शास्त्रोक्त मन्त्रों से रहित हो, जिसमें मन्त्र प्रयोग हुए ही न हों अथवा विधिवत् न हो अथवा अवहेलना से त्रुटि की गई हो।

(4) अदक्षिणम्- जिस यज्ञ में यज्ञ कराने वालों को दक्षिणा नहीं दी जाती।

(5) श्रद्धाविरहित- जो यज्ञ केवल मान, मद, मोह, दम्भ और अहंकार आदि की प्रेरणा से श्रद्धा के बिना किया जाता है।

श्री गुरुदत्त जी ने यज्ञ के सम्बन्ध में विशेष टिप्पणी की है-

केवल अग्निहोत्र ही यज्ञ नहीं है। अग्निहोत्र को देवयज्ञ कहते हैं। जहाँ-जहाँ भी गीता में यज्ञ का उल्लेख हुआ है, इसके व्यापक अर्थों में ही हुआ है। वास्तव में संसार का कोई भी कार्य, जब मनुष्य समाज के सांझे हित के लिए किया जाए, वह यज्ञ होगा। एक व्यक्ति का निजी व्यापार अथवा उद्योग धन्धा भी यज्ञमय हो सकता है। दुकानदार अपने माल की बिक्री करता हुआ, जब ग्राहकों से केवल मात्र अपने बेचने के परिश्रम मात्र का ही मूल्य लेता है, तब वह यज्ञ करता हुआ ही माना जायेगा। जो कुछ वह अपने परिश्रम का फल लेता है, वह भी यज्ञश्रेष्ठ कहलाता है।

सात्त्विक यज्ञ की व्याख्या इसी प्रकार है- वह शास्त्र में कहे अनुसार विधियुक्त होना चाहिये। इसका अभिप्राय है कि समाज में अथवा राज्य में किसी व्यापार अथवा उद्योग के जो नियमोपनियम हैं, उनका पालन करते हुए व्यापार तथा उद्योग होना चाहिये। दक्षिणा का अभिप्राय है कि व्यापार अथवा उद्योग में काम करने वालों को दिया गया उचित पुरुस्कार।

श्रद्धा का अभिप्राय है कि उद्योग तथा व्यापार में विश्वास होना चाहिये कि वह समाज की किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए है। अतएव 'श्रद्धारहित'

का अभिप्राय है समाज में अविश्वास उत्पन्न करने वाला अर्थात् स्वार्थयुक्त। इन लक्षणों से रहित व्यापार तथा उद्योग तामसी होगा।

यदि इन बातों का ध्यान रखा जाये तो जीवन का प्रत्येक कार्य यज्ञमय ही होगा। जिस कार्य में समाज का सांझा हित हो, वह कार्य, व्यापार, उद्योग अथवा कोई भी धन्धा यज्ञमय हो सकता है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। १४।।

देवद्विजगुरूप्राज्ञ पूजनम् (देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानीजनों का सम्मान), शौचम्, आर्जवम्, ब्रह्मचर्यम्, च, अहिंसा (पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा), शारीरम्, तपः, उच्यते (शरीर सम्बंधी तप कहा जाता है)।

प्रश्न 13- शारीरिक तप के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वानों का सम्मान करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसापूर्वक जीवन व्यतीत करना - यह सब शरीर का तप कहलाता है।

मनुष्य शरीर प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट रचना है, समस्त योनियों में श्रेष्ठ है। कल्याण का उचित अवसर है। साथ ही नश्वर है, क्षणभंगुर है- यह भी सत्य है। शरीर केवल भोगायतन न बनकर रह जाये, इसकी गति विषयों तक सीमित न रह जाये, इसके लिए शारीरिक तप है।

(1) देवता- सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, जल, वायु आदि इनका यथाशक्ति उपयोग करना एवं इनको दूषित न करना।

(2) ब्राह्मण- जन्मना नहीं बल्कि कर्मणा ब्राह्मण को ब्राह्मण मानना।

(3) गुरु अर्थात् माता-पिता और आचार्य और वृद्धजन एवं अपने से बड़े सन्मार्ग दिखलाने वाले का सम्मान करना।

(4) ज्ञानी जन- वेद के विद्वान्। इन सबका यथायोग्य सम्मान करना।

(5) शौचम्-शरीर की स्वच्छता, शुद्धि आवश्यक है। आन्तरिक पवित्रता अर्थात् छल-कपट से रहित होना भी आवश्यक है।

(6) सरलता- शरीर के उठने-बैठने-चलने या किसी भी क्रिया में अकड़-अभिमान ठीक नहीं।

(7) ब्रह्मचर्य- शारीरिक ऊर्जा का संरक्षण हो, पतन नहीं, ऊर्जा की गति ऊर्ध्वमुखी हो, अधोमुखी नहीं।

(8) अहिंसा– जानबूझ कर किसी का दिल दुःखाने, पीड़ा, पहुँचाने अथवा अपने सुख के लिए किसी को कष्ट देने का नाम हिंसा है इससे यथासंभव बचें।

मनुष्य शरीर रूपी देव दुर्लभ अवसर का पूरा लाभ लें। शारीरिक तप के रूप में गीता गायक श्री कृष्ण जी के भाव को गहराई से समझें। यह केवल उपदेश नहीं, नर तन रूपी प्राप्त अवसर के सदुपयोग की दिव्य प्रेरणा है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। १५।।

यत्, अनुद्वेगकरम् (जो, उद्वेग न करने वाला), प्रियहितम्, च, सत्यम्, वाक्यम् (प्रिय और हितकारी, एवं, यथार्थ भाषण है), च (तथा), स्वाध्याय, अभ्यसनम् (स्वाध्याय के रूप में किए गए वेदादि ग्रन्थों के अनुसार अभ्यास), एव (वही), वाङ्मयम्, तपः, उच्यते (वाणी का, तप कहा जाता है)।

प्रश्न 14– वाणी का तप क्या है ?

उत्तर– दूसरे के मन को उद्विग्न न करने वाले, सत्य और प्रिय लगने वाले हितकारक सम्भाषण को तथा स्वाध्याय के अभ्यास को, वाङ्मय (वाचिका या वाणी का) तप कहते हैं।

वाणी के तप के माध्यम से श्री कृष्ण जी यहाँ बोलने का ढंग बता रहे हैं। वाणी के शब्द का प्रभाव भीतर अन्तःकरण में भी पड़ता है तथा बाहर के वातावरण में भी। स्मरण रहे – जो शब्द हम वाणी से निकाल रहे हैं, वह शब्द केवल वाणी तक सिमटा हुआ शब्द नहीं, हमारे भाव, स्वभाव तथा व्यक्तित्व का परिचायक है। हमारी मनःस्थिति वाणी के शब्दों से परिलक्षित होती है।

यहाँ 'उद्वेग' न करने वाले इत्यादि लक्षणों से वाक्य को विशेषित किया गया है और 'च' शब्द सब लक्षणों का समुच्चय बतलाने के लिए है। अतः यह समझना चाहिये कि दूसरे को किसी बात का बोध कराने के लिए कहे हुए वाक्य में यदि सत्यता, प्रियता, हितकारिता और उद्वेग न करने वाले– इन सबका अथवा इनमें से किसी एक, दो या तीन का अभाव हो तो वह वाणी सम्बन्धी तप नहीं है। यदि सत्य के साथ प्रियता, हितकारिता और अनुद्विग्नता नहीं है तो वह वाणी का तप नहीं है। वैसे ही प्रिय वचन के साथ सत्यता, हितकारिता और अनुद्विग्नता नहीं है तो वह वाणी का तप नहीं है इसी प्रकार हितकारक वचन में भी यदि प्रियता, सत्यता और अनुद्विग्नता नहीं है तो वह भी वाणी का तप नहीं

है।

मनुस्मृति के अध्याय ४ के श्लोक संख्या ३८ में कहा है–

''सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।।''

यह हमारा पुरातन धर्म है कि सत्य बोलें किन्तु मधुर और प्रिय बोलें, अप्रिय सत्य (कड़वा) न बोलें।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।। १६।।

मनः प्रसादः (मन की प्रसन्नता), सौम्यत्वम् (सौम्यता), मौनम् (कम से कम बोलना), आत्मविनिग्रहः (मन का निग्रह, आत्मसंयम), भावसंशुद्धि (अन्तःकरण के भावों की भली भाँति पवित्रता), इति, एतत्, मानसम् (इस प्रकार, यह, मन सम्बन्धी), तपः, उच्यते (तप, कहा जाता है)।

प्रश्न 15– मानसिक तप के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– (1) मनः प्रसादः– मन की निर्मलता और प्रसन्नता को मनः प्रसाद कहते हैं अर्थात् विषाद-भय, चिन्ता-शोक व्याकुलता-उद्विग्नता आदि दोषों से रहित होकर मन का शुद्ध होना तथा प्रसन्नता, हर्ष और बोधशक्ति से युक्त हो जाना 'मन:प्रसाद' है।

(2) सौम्यत्वम्– रूक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारक दोषों से सर्वथा शून्य होकर मन का सर्वदा शान्त और शीतल रहना।

(3) मौनम्– मन का निरन्तर प्रभु चिन्तन में लगे रहना और कम से कम बोलना।

(4) आत्मनिग्रह– अन्तःकरण की चंचलता का नाश होकर उसका स्थिर तथा अच्छी प्रकार अपने वश में हो जाना।

(5) भावसंशुद्धि – अन्तःकरण में राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर, ईर्ष्या-वैर, घृणा-तिरस्कार आदि दुर्भावों का सर्वथा नष्ट हो जाना और दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि सद्‌भावों का सदा विकसित रहना।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।। १७।।

अफलाकाङ्क्षिभिः, युक्तैः, नरैः (फल को न चाहने वाले, योगी पुरुषों द्वारा),

परया, श्रद्धया, तप्तम् (परम, श्रद्धा से, किये हुए), तत्, त्रिविधम्, तप: (उस पूर्वोक्त=शारीरिक वाचिक, मानसिक, तीन प्रकार के, तप को), सात्त्विकं, परिचक्षते (सात्त्विक तप कहते हैं)।

प्रश्न 16– सात्त्विक तप के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– फल को न चाहने वाले योगी पुरुषों द्वारा परमश्रद्धा से किए हुए (शारीरिक, वाचिक, मानसिक) तीन प्रकार के तप को सात्त्विक तप कहते हैं।

(क) शारीरिक तप

(1) देवता, ब्राह्मण, विद्वान्, गुरु का सम्मान करना।

(2) बाहर और अन्दर की शुद्धता।

(3) सरलता अर्थात् कुटिलता का अभाव।

(4) ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन व्यतीत करना।

(5) मन, वचन कर्म से किसी की हिंसा न करना।

(ख) वाचिक तप

(1) दूसरे के मन को उद्विग्न न करने वाले शब्दों का प्रयोग करना।

(2) सत्य वचनों का प्रयोग करना।

(3) सत्य के साथ प्रिय वचन बोलना।

(4) हितकारक सम्भाषण करना।

(5) स्वाध्याय का अभ्यास।

(ग) मानसिक तप–

(1) मन की निर्मलता रखना

(2) सौम्य रहना (3) मौन रहना (4) आत्मसंयम रखना

(5) अन्त:करण के भावों की भली–भाँति पवित्रता होना।

इसके अतिरिक्त फल की इच्छा न रखना और अत्यधिक श्रद्धा से युक्त रहना भी सम्मिलित है।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।। १८।।

यत्, तप: (जो, तप), सत्कारमानपूजार्थम् (सत्कार, मान और पूजा को प्राप्त करने की इच्छा से), च, एव (और, ही), दम्भेन, क्रियते (पाखण्ड से, किया जाता है), तत्, अध्रुवम् (वह, अस्थिर) चलम्, (क्षणिक फल वाला), इह, राजसम्, प्रोक्तम् (यहाँ, राजस, कहा गया है)।

प्रश्न 17– राजस तप के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप सत्कार, मान एवं पूजा प्राप्त करने के लिए या दम्भ के लिए– पाखण्ड, दिखावे प्रदर्शन के लिए– किये जाते हैं, वे अस्थिर होते हैं, नाशवान् होते हैं– वे राजस तप कहलाते हैं।

तप तो इसमें भी होता है, परन्तु लक्ष्य बदल गया। लक्ष्य परमात्मा प्राप्ति नहीं अपितु स्वार्थ हो गया। भाव में ईश्वरीय कृतज्ञता नहीं अपितु अपने सत्कार और मान–सम्मान का भाव हो गया। 'लोग मुझे श्रेष्ठ तपस्वी कहे, मेरी जय–जयकार हो, मेरा अभिनन्दन हो।' परमात्मा की पूजा पीछे अपनी पूजा का भाव पहले आ जाता है, तप का दिखावा, प्रदर्शन ही मुख्य उद्देश्य बन जाता है। शरीर तक दृष्टि, शरीर का नाम उसके बड़प्पन तक सीमित रहती है। जब यह शरीर नाशवान् है, भोग पदार्थ सब नाशवान् तो इससे होने वाला स्वार्थजनित तप भी स्वाभाविक ही '**राजसं चलमध्रुवम्**' अनिश्चित और अस्थिर होगा।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप:।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।। १९।।

यत्, तप: (जो, तप), मूढग्राहेण (मूढ़तापूर्वक हठ से), आत्मन:, पीडया (मन, वाणी और शरीर की, पीड़ा सहित), वा (अथवा), परस्य, उत्सादनार्थम् (दूसरे का, अनिष्ट करने के लिए), क्रियते (किया जाता है), तत्, तामसम्, उदाहृतम् (वह तप, तामस, कहा गया है)।

प्रश्न 18– तामस तप के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– जो तप मूढ़तापूर्वक हठ से अपने को पीड़ा देकर अथवा दूसरों को पीड़ा देने के लिए किया जाता है, वह तामस तप है।

तामस तप में मूढ़तापूर्वक आग्रह होने से यह तप अपने–आप को पीड़ा देकर किया जाता है। अथवा दूसरों को दु:ख देने के लिए जो तप किया जाता है वह तप ही तामस् तप की कोटि में आता है। ऐसे तप करने वाले का यह भाव रहता है कि शक्ति प्राप्त करने के लिए तप, संयम आदि करने में मुझे भले ही कष्ट सहना पड़े पर दूसरों का नष्ट भ्रष्ट तो करना ही है। तामस मनुष्य दूसरों को दु:ख देने के लिए तीनों तपों के आंशिक भाग के सिवाय मनमाने ढंग से उपवास करना, गर्मी–सर्दी को सहना करना आदि तप भी कर सकता है। वस्तुत: दूसरों को कष्ट देना उनका अनिष्ट करना ही इसका मुख्य उद्देश्य होता है।

तीनों तपों का सारांश – (1) सात्त्विक मनुष्य फल की इच्छा न रखकर

परमश्रद्धा से तप करता है उसका तप सात्त्विक होता है, निष्काम होता है।

(2) राजस मनुष्य सत्कार, मान, पूजा तथा दम्भ के लिए तप करता है, इसलिए वह मनुष्य कहलाने योग्य नहीं है क्योंकि सत्कार, मान आदि तो पशु-पक्षियों को भी प्रिय लगता है, परन्तु वे दम्भ नहीं करते।

(3) तामस् मनुष्य तो पशुओं से भी नीचे हैं क्योंकि पशु-पक्षी स्वयं दुःख पाकर दूसरों को दुःख तो नहीं देते, परन्तु यह तामस मनुष्य तो स्वयं दुःख पाकर दूसरों को दुःख देता है।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।। २०।।

दातव्यम् (दान देना ही कर्तव्य है), इति, यत्, दानम् (ऐसे भाव से, जो, दान), देशे, च, काले, च, पात्रे (देश तथा काल तथा पात्र के प्राप्त होने पर), अनुपकारिणे (उपकार न करने वाले के प्रति), दीयते (दिया जाता है), तत्, दानम्, सात्त्विकम्, स्मृतम् (वह दान, सात्त्विक, कहा गया है)।

प्रश्न 19- सात्त्विक दान किसे कहते हैं ?

उत्तर- जो दान 'देना उचित है'- ऐसा समझकर अपने ऊपर प्रत्युपकार न करने वाले को, देश, काल तथा पात्र का विचार करके दिया जाता है, उस दान को सात्त्विक दान कहा गया है।

देशकाल- जिस देश काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वही ''देशकाल'' उस वस्तु द्वारा प्राणियों की सेवा करने के लिए योग्य समझा जाता है। '**पात्रे**'- भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र, औषधि एवं जिस वस्तु का जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु द्वारा सेवा करने के लिए योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणों वाले विद्वान्, ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकार के पदार्थों द्वारा सेवा करने के लिए योग्यपात्र समझे जाते हैं।

यहाँ अनुपकारी को दान देने की बात कहकर श्री कृष्ण जी यह भाव दिखलाते हैं कि दान देने वाला दान के पात्र से बदले में किसी प्रकार के थोड़ा सी उपकार पाने की इच्छा न रखे। जिससे किसी भी प्रकार का अपना स्वार्थ का सम्बन्ध मन में नहीं है, उस मनुष्य को जो दान दिया जाता है, वही सात्त्विक है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।। २१।।

तु (किन्तु), यत् (जो दान), परिक्लिष्टम्, च, प्रत्युपकारार्थम् (क्लेशपूर्वक,

तथा, प्रत्युपकार के प्रयोजन से), वा, फलम्, उद्दिश्य (अथवा, फल को दृष्टि में रखकर), पुनः, दीयते (फिर, दिया जाता है), तत्, दानम्, राजसम्, स्मृतम् (वह दान, राजस, कहा गया है)।

प्रश्न 20- राजस दान किसे कहते हैं ?

उत्तर- जो दान क्लेशपूर्वक तथा प्रत्युकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में रखकर फिर दिया जाता है वह दान राजस दान कहा गया है।

क्लेश पूर्वक दान देना- किसी के धरना देने हठ करने या भय दिखलाने अथवा प्रतिष्ठित और प्रभावशाली पुरुष के कुछ दबाव डालने पर बिना ही इच्छा के मन में विषाद और दुःख का अनुभव करते हुए दान देना क्लेश पूर्वक दान होता है।

प्रत्युपकार के लिए दान- जो मनुष्य बराबर अपने काम में आता है या आगे चलकर जिससे अपना कोई छोटा-बड़ा काम निकालने की सम्भावना, आशा है, ऐसे व्यक्ति को दान देना सच्चा दान नहीं है।

फल के उद्देश्य से दान देना - मान, बढ़ाई, प्रतिष्ठा, रोग आदि की निवृत्ति, इस लोक और परलोक में भोगों की प्राप्ति के लिए जो किसी वस्तु का दान किसी व्यक्ति या संस्था को फल के उद्देश्य से दिया जाता है। कुछ लोग तो एक ही दान से एक ही साथ कई लाभ उठाना चाहते हैं- (1) जिसको दान दिया गया है वह उपकार मानेगा और समय पर अच्छे-बुरे कामों में अपना पक्ष लेगा (2) ख्याति होगी, प्रतिष्ठा और सम्मान मिलेगा (3) समाचार पत्रों में नाम छपेगा, लोग धनी व्यक्ति मानेंगे, जिससे व्यापार में और वृद्धि होगी (4) अच्छी प्रसिद्धि होने से लड़के-लड़कियों के सम्बन्ध भी बड़े घराने में होंगे। (5) शास्त्र के अनुसार परलोक में दान का कई गुणा उत्तम फल तो प्राप्त होगा ही।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।। २२।।

यत्, दानम् (जो, दान), असत्कृतम्, अवज्ञातम् (बिना सत्कार के, तिरस्कार पूर्वक), अदेशकाले (अयोग्य देशकाल में), च, अपात्रेभ्यः दीयते (और, कुपात्र के प्रति दिया जाता है), तत्, तामसम्, उदाहृतम् (वह दान, तामस, कहा गया है)।

प्रश्न 21- तामस दान किसे कहते हैं ?

उत्तर- जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कार पूर्वक अयोग्य देशकाल में

कुपात्र को दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है।

(1) **बिना सत्कार के दान देना**– दान लेने के लिए आये हुए अधिकारी पुरुष का आदर न करके अर्थात् बिना यथायोग्य अभिवादन, कुशलक्षेम, प्रियभाषण और आसन आदि द्वारा सम्मान करके रूखाई से दान देना।

(2) **तिरस्कारपूर्वक दान**– कड़वा बोलकर, धमका कर, फिर न आने की कड़ी चेतावनी देकर, अपमानित करके जो दान दिया जाता है।

(3) **अयोग्य देश काल**– जहाँ गर्मी पड़ती हो, कम्बल का दान देना, म्लेच्छों के देश में गो दान करना आदि।

(4) **कुपात्र को दान देना**– पाखण्डी, कपटवेशधारी, हिंसक, दूसरों की निन्दा करने वाला, दूसरों की जीविका छेदन करके अपने स्वार्थ साधन में लगने वाला, बनावटी विनय दिखाने वाला, व्यभिचारी, चोर, जुआरी, नीच काम करने वालों तथा नास्तिक को जो दान दिया जाता है, वह दाता को भी नरक में ले जाने वाला है।

ओ३म् तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा।। २३।।

ओ३म् (ओ३म्), तत्, सत् (तत्, सत्), इति (यह, इस प्रकार), त्रिविधः (तीन प्रकार का), ब्रह्मणः, निर्देशः, स्मृतः (ब्रह्म का नाम कहा है), तेन (उसी से), पुरा (सृष्टि के आदि काल में), ब्राह्मणाः, च, वेदाः, च, (ब्राह्मण और वेद और), यज्ञाः विहिताः (यज्ञादि रचे गये)।

प्रश्न 22– ओ३म्, तत्, सत् से क्या अभिप्राय है?

उत्तर– ओ३म् तत्, सत् ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का कथन है। उसी से सृष्टि के आदिकाल में, ब्राह्मण, वेद, यज्ञादिक रचे गये। श्री गुरूदत्त जी के अनुसार–

कुछ लोग कहते हैं कि 'ओ३म्, तत्, सत्' ऐसा तीन प्रकार का ब्रह्म का नाम है। निर्देशों का अर्थ नाम लिया जाता है। बात तो ठीक है परन्तु इसका आशय वह नहीं जो कुछ वेदान्ती मानते हैं। उनका कहना है कि 'ओ३म्, तत्, सत्' एक ही ब्रह्म के तीन नाम पड़े हैं। इस एक से ही वेद यज्ञ उत्पन्न हुए। वेद का अभिप्राय ज्ञान है और यज्ञ से अभिप्राय है सृष्टि–रचना।

वेद और उपनिषद् ग्रन्थों में ओ३म्, तत्, सत् अर्थात् अनादि और अक्षर तीन पदार्थ माने हैं परन्तु 'ओ३म्' तत्, सत् में से ही तीन ब्रह्म निकले हैं – यह अभिप्राय: नहीं है। यह तो ठीक ही प्रतीत होता है कि ओ३म् निमित्तकारण है

यज्ञ (सृष्टि रचना) का । यह इस प्रकार है जैसे देवयज्ञ में यज्ञ का कर्ता तो यजमान होता है, परन्तु यह नहीं कि यज्ञ की समिधा, अग्नि, घी, सामग्री भी यजमान ही हैं। ये पदार्थ यजमान के होते हुए भी स्वयं यजमान नहीं होते। इसी प्रकार सृष्टि रचना परमात्मा करता है परन्तु वह वस्तु (प्रकृति) जिससे जगत् के पदार्थ बने है, परमात्मा नहीं है।

अत: इस श्लोक का अर्थ यह है कि इस जगत् की रचना (यज्ञ) करने वाला परमात्मा है। ज्ञान का देने वाला भी परमात्मा है परन्तु ज्ञान अनादि है। वह इतना ही सनातन है कि जितना परमात्मा है। वेद ज्ञान भी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति के समान अनादि है।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्।। २४।।

तस्मात् (इसलिए), ब्रह्मवादिनाम् (वेदमन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की), विधानोक्ताः (शास्त्र विधि से नियत), यज्ञदानतपः क्रियाः (यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ), सततम्, ओ३म्, इति (सदा, ओ३म्, इस परमात्मा के नाम को), उदाहृत्य, प्रवर्तन्ते (उच्चारण करके ही, आरम्भ होती हैं)।

प्रश्न 23– यज्ञ, तप, दानादि क्रियाएँ किस नाम के उच्चारण से प्रारम्भ की जाती हैं?

उत्तर– वेद मन्त्रों का उच्चारण करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत यज्ञ, दान और तपरूप क्रियाएँ सदा 'ओ३म्' इस परमात्मा के नाम को उच्चारण करके ही आरम्भ होती हैं।

स्वामी रामसुखदास जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है– वेदवादी के लिए अर्थात् वेदों को मुख्य मानने वाला जो वैदिक समुदाय है उसमें 'ओ३म्' का उच्चारण करना विशेष बताया है। वे 'ओ३म्' का उच्चारण करके ही वेदपाठ यज्ञ, दान, तपादि शास्त्र विहित क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं क्योंकि जैसे गायें, साँड के बिना फलवती नहीं होती, ऐसे ही वेद की जितनी ऋचाएं हैं, श्रुतियाँ हैं, वे सब ओ३म् का उच्चारण किए बिना फलवती नहीं होती अर्थात् फल नहीं देती।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।। २५।।

तत् (वह तत्), इति (इस प्रकार से), फलम्, अनभिसन्धाय (फल को न

चाहकर), विविधाः (नाना प्रकार की), यज्ञ, तपः क्रियाः, च, दानक्रियाः (यज्ञ, तपरूप और दान रूप क्रियाएँ), मोक्षकाङ्क्षिभिः, क्रियन्ते (मोक्ष की इच्छा वाले मनुष्यों द्वारा की जाती हैं)।

प्रश्न 24- मोक्ष की इच्छा रखने वाले मनुष्यों द्वारा क्या क्रियायें की जाती हैं ? अथवा तत् शब्द के प्रयोग की क्या व्याख्या है ?

उत्तर- उस (परमात्मा) का ही सब कुछ है, ऐसा विचार कर मोक्ष के आकांक्षी अपना कुछ न मान अर्थात् फल की इच्छा न कर, तप, यज्ञ तथा दान ये तीन प्रकार की क्रियाएँ करते हैं।

स्वामी ज्ञानानन्द जी ने इस की व्याख्या यूँ की है- मानव जीवन का मुख्य उद्देश्य है मोक्ष की प्राप्ति एवं इच्छा का होना। यदि भीतर मोक्ष की इच्छा नहीं है तो सब कुछ अधूरा है। मोक्ष की इच्छा प्रबल होगी तो अन्य किसी प्रकार के फल की इच्छा जागृत नहीं होगी। मोक्ष की इच्छा रखकर की गई यज्ञ, तप, दान की क्रियाएँ शीघ्र ही फलदायी होती हैं। क्रियाएँ तो ऐसी हो रही हैं, परन्तु भीतर मोक्ष की जिज्ञासा नहीं है तो पूरा लाभ मिलने में सन्देह रहेगा।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।। २६।।

सत् (सत्), इति, एतत् (इस प्रकार यह परमात्मा का नाम), सद्भावे, च, साधुभावे, प्रयुज्यते (सत्यभाव में और श्रेष्ठ भाव में, प्रयोग किया जाता है), तथा, पार्थ (तथा हे अर्जुन!), प्रशस्ते, कर्मणि (उत्तम, कर्म में भी), सत्, शब्दः, युज्यते (सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है)।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।। २७।।

च (तथा), यज्ञे, तपसि, च, दाने (यज्ञ, तप और दान में), स्थिति, एव (जो स्थिति है, वह भी), सत्, इति, उच्यते (सत्, इस प्रकार, कही जाती है), च, तदर्थीयम् (और, इन प्रयोजनों के लिए), कर्म, एव (कर्म, निश्चयपूर्वक), सत्, इति, अभिधीयते (सत्, ऐसे कहा जाता है)।

प्रश्न 25- 'सत्' शब्द की व्याख्या करें।

उत्तर- 'सत्' शब्द का प्रयोग 'वास्तविकता' तथा 'भलाई' के अर्थ में किया जाता है। प्रशंसनीय या उत्तम कार्य करने के लिए 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

यज्ञ, तप और दान में स्थिरता से दृढ़ रहना भी 'सत्' कहलाता है। ये कर्म अनादि काल से चले आ रहे हैं, क्योंकि सत् अनादि है। यह कहा जाता है कि परमात्मा के निमित्त किया हुआ कर्म भी सत् ही होता है। अभिप्राय यह है कि परमात्मा अनादि है, इस कारण इसके निमित्त किया कर्म भी अनादि ही होगा।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी ने इस पर विशेष टिप्पणी की है- १७वें अध्याय में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का त्रिक बतलाया गया है, अन्त में परमात्मा का भी त्रिक बनाकर उसका वर्णन कर दिया (श्रद्धा-सात्त्विक, राजसिक, तामसी) (आहार-सात्त्विक, राजसिक, तामसिक), (यज्ञ-सात्त्विक, राजसिक, तामसिक), (तप- सात्त्विक, राजसिक, तामसिक), (दान- सात्त्विक, राजसिक, तामसिक)।

परमात्मा की श्रुतियों-स्मृतियों में उसका नाम 'ओ३म्' कहा है, फिर उसका त्रिक कैसा? 'ओ३म्' अर्थात् परमात्मा जिसे हम 'वह' अर्थात् 'तत्' कह सकते हैं, वह परमात्मा ही इस विश्व में 'सत्' है, भले ही न दीखता हो, न दीखता हुआ भी वही न दीखने वाला 'सत्' है। शेष सब कुछ जो दीखता है वह क्षण भंगुर है। यज्ञ, तप, दान, कर्म आदि में जो कुछ 'सत्' है उसी के कारण है। उसी में श्रद्धा रहे तो ही इनमें 'सत्' का भान हो सकता है। उसमें श्रद्धा नहीं तो इनमें कुछ भी नहीं रखा- इस प्रकार के विचार इन श्लोकों में कहे गये हैं। ''ओ३म्, तत्, सत्'' का अर्थ तो इतना ही है कि ओंकार ही सत् है। परब्रह्म परमात्मा ही सत् है। परन्तु क्योंकि 'ओ३म्+तत्+सत्' से त्रिक बन जाता है। इसलिए त्रिकों का वर्णन करते हुए इस श्लोक को यहाँ नियोजित किया गया है। भाषा के लालित्य के कारण २३ वें श्लोक को 'सत्' से आरम्भ किया गया है।

इन श्लोकों में मूलभूत विचार तो एक ही है। वह विचार यह है कि सृष्टि का सब कुछ वही परब्रह्म है। वही ओंकार है, वास्तविक सत्ता उसी की है। शेष 'तत्-सत्' का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग गीताकार के भाषा पर अधिकार का सूचक है।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।। २८।।

पार्थ (हे अर्जुन!), अश्रद्धया, हुतम् (बिना श्रद्धा के किया हुआ, यज्ञ), दत्तम्, तप्तम्, तपः (दिया हुआ दान, तपा हुआ तप), च, यत्, कृतम् (और, जो कुछ भी, किया हुआ शुभ कर्म है), [वह सब], असत्, इति, उच्यते (असत्, इस प्रकार कहा जाता है), तत्, नो, इह (वह, न तो, इस लोक में), च, न, प्रेत्य

(और न मरने के बाद लाभदायक है)।

प्रश्न 26- अश्रद्धा से किये कर्मों का क्या फल है ?

उत्तर- बिना श्रद्धा के किया हुआ यज्ञ तथा बिना श्रद्धा से दिया हुआ दान, तप और कर्म 'असत्' अर्थात् चिरकाल तक न रहने वाला माना जाता है। ऐसा कर्म न इस लोक और न ही परलोक में फल देता है।

इस अध्याय का नाम 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' है। श्रद्धा की किसी भी आध्यात्मिक क्रिया में प्रथम आवश्यकता है। विधि-विधान, नियम-संयम सब अच्छे हैं, आवश्यक हैं परन्तु बिना श्रद्धाभाव के पूर्णता नहीं है। बिना श्रद्धाके किए गए यज्ञ, तप, दान मात्र औपचारिकता है, प्रदर्शन है। यज्ञ किये जा रहे हैं, आहुतियाँ डाली जा रही है, दान दिया जा रहा है, तप किया जा रहा है, परन्तु भीतर दम्भ-कपट, सांसारिक भोगैषणा भरी है, इस सब को 'असत्' ही मानो।

श्रद्धा इस अध्याय की नींव है। श्रद्धापूर्वक करने से ही कोई भी क्रिया फलदायी है। यद्यपि फलेच्छा नहीं तथापि क्रिया को निरर्थक भी नहीं कह सकते। बीजारोपण करने पर फल की इच्छा न भी हो तो भी उचित यही है कि बीज इस ढंग से आरोपित हो कि वह फलदायी हो। विचार करो- दृढ़ ईश्वरीय श्रद्धा रखकर यज्ञ, तप, दान तथा अन्यान्य क्रियायें करने पर लोक में अन्तःकरण की निर्मलता और परलोक में मोक्ष तक का लाभ मिलता हो तो क्यों नहीं लेना चाहिये। इसी भाव के साथ यह अध्याय यहाँ सम्पूर्ण हो रहा है।

सारांश या सन्देश - गुण और स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार के लोग, उनकी तीन प्रकार की श्रद्धा, तीन प्रकार के तप, तीन प्रकार के आहार और रूचि, तीन प्रकार के दान और यज्ञों का वर्णन हो चुका है। अब हम अपने मन को टटोलें, अपना स्वयं का आत्मनिरीक्षण करें, अपने विवेक को जागृत करें कि हम इन सब पहलुओं पर कहाँ खड़े हैं? कहीं हमारे प्रयत्नों में, हमारे अपने कर्तव्यों (सृष्टि-चक्र के सुचारू संचालन हेतु किये जाने वाले कर्मों) में राजसी कर्म तो नहीं हो रहे। कहीं हमारा ध्येय राजनीतिज्ञों या दलों को दान देकर जन-धन से उससे कई गुणा लाभ उठाना है? क्या हम कामना पूर्ति के लिए कुछ भी करने को तैयार हैं? यदि ऐसा है तो हम राजसी और तामसी वृत्ति के हैं। हम अपनी आत्मा पर पड़े आवरण को और भी दृढ़ करके अपने को निम्न योनियों में धकेलने वाले हैं, यदि ऐसा है तो हम में और पशुओं में कोई अन्तर नहीं है।

बहुत से लोग सोचते हैं कि अभी तो बहुत जीना है, संसार के भोगों को

भोग लेने दो, जब उम्र ढलेगी, तब देखा जायेगा। प्रथम तो जिसने जन्म लिया उसकी मृत्यु निश्चित है पर कब, किस समय, कोई नहीं जानता। यदि हमारा निश्चय सत्पथ पर बढ़ने का है तो इस बात की प्रतीक्षा न करें कि अन्त समय से पूर्व सब कर लूँगा। एक बार जो भोगों का व्यसन लग गया तो यह जीवन पर्यन्त नहीं छूटेगा। अतः हमें अभी से जागना होगा ताकि हम मर्यादित जीवन व्यवतीत करके बन्धनों से छूट सकें।

कामना के पीछे आधार होता है मनुष्य का अपनी इच्छा के अनुसार स्वतन्त्र काम करने का, परन्तु वह मानव के लिए वैसी सुरक्षित या सन्तोषजनक नहीं होती जैसी पशु के लिए होती है। शास्त्र के पीछे आधार होता है चिर-प्रचलित विधान का, परन्तु वह अवस्थाओं के बदल जाने पर मनुष्य की शास्त्र के प्रति आस्था को उठा देती है। इन दोनों मार्गों को छोड़कर जब मानव किसी सनातन सत्य की खोज में निकलता है, तब उस खोज का आधार क्या होता है? श्री अरविन्द जी का कहना है कि वह मार्ग प्रदर्शक प्रकाश जिस पर विश्वास रख मानव की सत्य के प्रति खोज जारी रहती है 'श्रद्धा' है। जिस सत्ता को मनुष्य अपनी तथा जगत् की सत्ता के सत्य के रूप में देखता या समझता है उस पर विश्वास करने तथा उनके अनुसार जीवन यापन करने के संकल्प का नाम 'श्रद्धा' है। यह संकल्प सात्त्विक, राजसिक, तामसिक हो सकता है। अज्ञानयुक्त संकल्प तामसिक है, अक्षम है, इस प्रकार की श्रद्धा किसी वास्तविक सत्य तक नहीं पहुँच सकती। स्वेच्छाचारी संकल्प राजसिक है। मनुष्य का उद्धार सात्त्विक श्रद्धा से ही हो सकता है। सात्त्विक श्रद्धा से मनुष्य का परमात्मा की ओर अभियान प्रारम्भ हो जाता है। इसी सात्त्विक श्रद्धा पर १७वें अध्याय में बल दिया गया है, इसी श्रद्धा के लिए गीता में कहा है-

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः

भगवद्गीता रूपी उपनिषद् में जिस ब्रह्म-विद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'श्रद्धात्रय-विभाग-योग' नामक सप्तदश अध्याय समाप्त हुआ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः
मोक्ष-संन्यास-योग

प्रधान विषय -

(1) त्याग का विषय -श्लोक संख्या 1 से 12 तक।

(2) कर्मों के होने में साँख्य सिद्धान्त का कथन -श्लोक संख्या 13 से 18 तक।

(3) तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक्-पृथक् भेद - श्लोक संख्या 19 से 40 तक।

(4) फल सहित वर्ण-धर्म का विषय - श्लोक संख्या 41 से 48 तक।

(5) ज्ञान निष्ठा का विषय - श्लोक संख्या 49 से 55 तक।

(6) भक्ति सहित निष्काम कर्म योग का विषय - श्लोक संख्या 56 से 66 तक।

(7) श्री गीता जी का माहात्म्य - श्लोक संख्या 67 से 78 तक।

भूमिका :- गीताकार महर्षि वेद व्यास ने श्रीमद्भगवद्गीता के अन्तिम १८वें अध्याय में श्री कृष्ण जी द्वारा पिछले १७ अध्यायों में दिए ज्ञान की पुनरावृत्ति करते हुए संक्षेप में कहा है कि श्रद्धा के बिना आध्यात्मिक उन्नयन संभव नहीं है। जीवन में ऐसा समय आता है जब व्यक्ति त्यागी बन जाता है। वस्तुएँ अनायास बारी-बारी से छूटने लगती हैं। यह मन: स्थिति ऐसी है जैसे कमल कीचड़ से ऊपर उठकर तालाब के ऊपरी भाग में इस प्रकार स्थिर हो जाए कि उसके पत्तों पर पड़ी पानी की कोई भी बूँद उस पर न ठहरे। कमल पानी में भीगता नहीं, लिप्त नहीं होता। पानी की बूँदे कमल के पत्तों पर ठहरती हैं। लगती हैं जैसे मोती हों। जैसे पानी की बूँदे मोती बनकर कमल के पत्तों पर शोभायमान हो गयी हों वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति संसार के मन में त्याग की स्थिति बनाकर वैभव को देखता है। संसार का वैभव उसके हाथ में मोती की तरह चमकेगा, परन्तु उसके लिए पानी के समान है।

सूर्य संसार की प्रत्येक वस्तु पर अपनी किरणें डालता है। कीचड़ पर भी, कमल पर भी, सुगन्ध और दुर्गन्ध पर परन्तु सूर्य की किरणें अपवित्र नहीं होती। सूर्य सदा निर्लिप्त रहता है। सूर्य की तरह जो इस संसार में अपने आप को प्रकाशित करता रहे वही सबके सिर पर चमका करता है और उससे आँख मिलाने का कोई साहस नहीं करता। इस मन:स्थिति का नाम है 'संन्यास योग'। मुक्त हुआ या मोक्ष के पथ पर चलता हुआ व्यक्ति संसार के पदार्थों से अनासक्त होकर, श्रद्धा और ज्ञान का सामंजस्य बैठाता हुआ जिस व्यक्तित्व को धारण करता है, वह संन्यास है

जन्म मरण रूप संसार के बन्धन से सदा के लिए छूटकर परमात्मा को प्राप्त कर लेने का नाम मोक्ष है। इस अध्याय में पूर्वोक्त समस्त अध्यायों का सार संग्रह करके मोक्ष के उपायभूत साँख्य योग का संन्यास के नाम से और कर्मयोग का त्याग के नाम से अंग-प्रत्यंगों सहित वर्णन किया गया है। इसलिए साक्षात् मोक्ष रूप परमेश्वर में सर्व कर्मों का संन्यास अर्थात् त्याग करने की प्रेरणा देकर उपदेश का उपसंहार किया गया है। (गीता १८/६६)। वस्तुत: इसलिए भी इस अध्याय का नाम 'मोक्ष-संन्यास-योग' रखा गया है।

१८वाँ अध्याय गीतोपनिषद्रूप इस ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय है। कहना चाहिये कि जिस विषय को लेकर ग्रन्थ को प्रारम्भ किया, जिस प्रश्न को लेकर श्री कृष्णार्जुन संवाद प्रारम्भ हुआ, उस प्रश्न का निर्णायक उत्तर ही श्री कृष्णार्जुन संवाद का लक्ष्य है। इस उत्तर से संन्तुष्ट होकर अर्जुन अन्त में यही कहता है कि हे कृष्ण! मैं पूरी तरह सन्तुष्ट हो गया हूँ, मेरा मोह नष्ट हो गया है। मुझे अपने कर्तव्य का पूर्ण ज्ञान हो गया है, कोई सन्देह नहीं रहा, तुम्हारी आज्ञानुसार युद्ध के लिए तत्पर हूँ।

दूसरे अध्याय के ११वें श्लोक से गीता के उपदेश का आरम्भ हुआ। वहाँ से आरम्भ करके ३०वें श्लोक तक श्री कृष्ण जी ने ज्ञानयोग का उपदेश दिया और प्रसंगवश क्षात्रधर्म की दृष्टि से युद्ध करने की कर्तव्यता का प्रतिपादन कर के ३९वें श्लोक से लेकर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त कर्मयोग का उपदेश दिया। उसके पश्चात् तीसरे अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक कहीं ज्ञान योग की दृष्टि से और कहीं कर्मयोग की दृष्टि से परमात्मा की प्राप्ति के बहुत से साधन बतलाये। उन सबको सुनने के अनन्तर अब अर्जुन इस १८वें अध्याय में समस्त अध्यायों के उपदेश का सार जानने के उद्देश्य से श्री कृष्ण जी के सामने संन्यास अर्थात्

ज्ञान योग का और त्याग अर्थात् फलासक्ति त्याग रूप कर्मयोग का तत्त्व भली-भाँति पृथक्-पृथक् जानने की इच्छा प्रकट करते हैं-

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।। १ ।।

महाबाहो (हे महान् भुजाओं वाले श्री कृष्ण जी!), हृषीकेश (हे इन्द्रियजय रूपी कृष्ण!) केशिनिषूदन (हे केशी दैत्य को मारने वाले कृष्ण!), संन्यासस्य, च, त्यागस्य, तत्त्वम् (संन्यास और त्याग के तत्त्व को), पृथक्, वेदितुम्, इच्छामि (पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ)।

प्रश्न 1- अर्जुन श्री कृष्ण जी से संन्यास और त्याग के तत्त्व के बारे में क्या जानना चाहता है?

उत्तर- यहाँ पर श्रीकृष्ण के सम्मुख नतमस्तक होकर अर्जुन कुछ जानने की इच्छा करता है। अर्जुन ने कहा, ''हे महाबाहो! हे इन्द्रियों पर जय करने वाले, हे केशी नामक दैत्य को मारने वाले श्री कृष्ण जी! मैं 'संन्यास' तथा 'त्याग' का पृथक्-पृथक् तात्त्विक रूप अर्थात् यथार्थ रूप जानना चाहता हूँ।''

श्री कृष्ण उवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। २ ।।

कवयः (पण्डितजन तो), काम्यानाम्, कर्मणाम्, न्यासम् (इच्छित, कर्मों के, त्याग को), संन्यासं, विदुः (संन्यास, समझते हैं) [तथा दूसरे], विचक्षणाः (विचार कुशल पुरुष), सर्वकर्मफलत्यागम् (सब कर्मों के फल के त्याग को), त्यागम्, प्राहुः (त्याग, कहते हैं)।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।। ३

एके, मनीषिणः (कई एक, विद्वान्), इति, प्राहुः (ऐसा, कहते हैं कि), कर्म, दोषवत् (कर्म मात्र, दोषयुक्त है), त्याज्यम् (त्यागने के योग्य हैं), च, अपरे (और, दूसरे विद्वान्), इति (यह कहते हैं कि), यज्ञदान, तपः कर्म, न, त्याज्यम् (यज्ञ, दान और तप रूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं)।

प्रश्न 2- त्याग के विषय में कैसे चार सिद्धान्तों का कथन किया गया है?

उत्तर- त्याग के विषय श्री कृष्ण जी निम्नलिखित चार सिद्धान्तों को बताते हैं -

(1) कितने ही पण्डितजन काम्य कर्मों के त्याग को संन्यास समझते हैं।

(2) दूसरे विचारशील पुरुष सब कर्मों के फल को त्याग कहते हैं।

(3) कई एक विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, इसलिए त्यागने के योग्य हैं।

(4) और दूसरे विद्वान् यह कहते हैं कि यज्ञ, दान और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं।

काम्यकर्म- स्त्री, पुत्र और धनादि प्रिय वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तथा रोग की निवृत्ति के लिए जो यज्ञ, दान, तप और उपासना आदि कर्म किये जाते हैं, उनका नाम 'काम्यकर्म' है।

सर्व कर्मफल त्यागम्- ईश्वर की भक्ति, माता-पिता आदि गुरुजनों की सेवा, यज्ञ, दान और तप तथा वर्णाश्रमानुसार आजीविका द्वारा गृहस्थ का निर्वाह एवं शरीर सम्बन्धी खान-पान इत्यादि जितने कर्तव्य कर्म हैं, उन सबमें इस लोक और परलोक की सम्पूर्ण कामनाओं के त्याग का नाम 'सब कर्मों' के फल का त्याग है।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार - चाहे कामना की पूर्ति के लिए तथा परमात्मा की भक्ति रूपी कामना की सिद्धि के लिए जो कर्म किए जाते हैं, वे भी मनुष्य को बाँधते हैं। निष्काम भाव से कर्म करने का अर्थ है कि उस कर्म में किसी भी अपनी इच्छा की पूर्ति की कामना न की जाये। परमात्मा की भक्ति भी जब किसी इच्छा पूर्ति के लिए हो तो वह भी काम्य कर्म कहलायेगी। इस कारण गीता के प्रवक्ता ने कर्म करने के लिए कहा है, इसके फल की इच्छा के लिए नहीं।

जब हम कोई कर्म करते हैं तो उसके अच्छे अथवा बुरे फल का विचार किया जाता है परन्तु अच्छा व बुरा अपने सन्दर्भ में नहीं बल्कि उसके सन्दर्भ में होना चाहिये जिसके लिए कर्म किया गया हो। उदाहरण के लिए एक राज्यधिकारी अपने अधीन सचिव को कहता है कि 'अमुक् व्यक्ति को डिटेन्शन एक्ट के अधीन पकड़ने की आज्ञा दे दो।' तब सचिव के लिए यह विचारणीय नहीं होना चाहिये कि उसको पकड़ना उचित है अथवा अनुचित। उसे तो आज्ञा पालन करना है, परन्तु इस आज्ञापालन का सम्बन्ध यदि उसके सेवा कार्य अथवा किसी अन्य उपलब्धि के साथ हो जाये तो फिर कर्म का फल उसको भी प्राप्त होगा।

सचिव समझता है कि राज्याधिकारी की आज्ञा अनुचित है, फिर भी वह

सेवाकार्य के कर्तव्यों का पालन करते हुए व्यक्ति को बन्दीगृह में डाल देता है परन्तु यदि इस आज्ञापालन के समय सचिव के मन में यह भाव हो कि इससे उसके वेतन में अथवा उसकी अन्य किसी प्रकार की उपलब्धि में वृद्धि होगी तो उसका यह कर्म उसके लिए भी लाभदायक हो जायेगा, तभी वह बन्धन में बाँधने वाला होगा। ऐसी स्थिति में सचिव को अपना पद त्याग देना ही फल से बचने का साधन हो सकता है।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः।।४।।

पुरुषव्याघ्र, भरतसत्तम (हे पुरुषश्रेष्ठ, अर्जुन!), तत्र (उस), त्याग (त्याग के विषय में), मे (मेरा), निश्चयम्, शृणु (निश्चय, सुन) , हि, त्यागः (क्योंकि, त्याग), त्रिविधः, सम्प्रकीर्तितः (तीन प्रकार का कहा गया है)।

प्रश्न 3- त्याग के विषय में श्री कृष्ण जी का क्या निश्चय है?

उत्तर- त्याग के विषय में यह कृष्ण जी की यह सम्मति है कि वह त्याग तीन प्रकार (सात्त्विक, राजसिक, तामसिक) का होता है।

'त्याग के विषय में मेरा निश्चय सुन' भाव यह है कि जिन दो बातों को जानने की इच्छा अर्जुन ने पहले श्लोक में की है, उसमें अब तक श्री कृष्ण जी ने दूसरों के मत बतलाये। अब श्री कृष्ण जी अपने मत के अनुसार उन दोनों में से पहले त्याग का तत्त्व भली भाँति बतलाते हैं।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

यज्ञदानतपः कर्म (यज्ञ, दान और तपरूप कर्म), न, त्याज्यम् (त्यागने योग्य नहीं है), तत्, एव, कार्यम् (वह तो, अवश्य, कर्तव्य है), यज्ञः, दानम्, च, तपः, एव (यज्ञ, दान, और तप ही), मनीषिणाम्, पावनानि (बुद्धिमान् पुरुषों को, पवित्र करने वाले हैं)।

प्रश्न 4- कौन से कर्म बुद्धिमान् पुरुषों को पवित्र करने वाले हैं?

उत्तर- यज्ञ, दान, तपरूप कर्म त्याग करने के योग्य नहीं हैं। यज्ञ, दान, तप तो विद्वानों को भी पवित्र कर देते हैं। यहाँ 'मनीषिणाम्' का अर्थ उन बुद्धिमान् विद्वानों से है जो फल और आसक्ति को त्याग कर केवल भगवदर्थ कर्म करता है। जो कर्म अपनी कोई कामना न रखकर दूसरों के हित के लिए किये जाते हैं, वे कर्म पवित्र करने वाले होते हैं। वे ही कर्म यदि अपनी कामना रखकर दूसरों

का अहित करने के लिए किये जायें तो वे अपवित्र करने वाले अर्थात् लोक-परलोक में महान् दुःख देने वाले हो जाते हैं।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

पार्थ (हे अर्जुन!), एतानि (इन यज्ञ, दान और तपरूप कर्मों को), तु (तथा), अपि (और, भी), कर्माणि (सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को), सङ्गम्, च, फलानि, त्यक्त्वा (आसक्ति और, फलों का, त्याग करके), कर्तव्यानि (अवश्य करना चाहिये), इति मे (यह, मेरा), निश्चितम्, उत्तमम्, मतम् (निश्चय किया हुआ, उत्तम, मत है)।

प्रश्न 5- कर्म के विषय में श्री कृष्ण जी का उत्तम मत क्या है?

उत्तर- कर्म के विषय में अपनी मान्यता व्यक्त करते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यज्ञ, दान और तप रूप कर्मों का तथा और सम्पूर्ण कर्मों को आसक्ति और फल की इच्छा त्याग करके करना चाहिये। ऐसा मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।

कर्मासक्ति और फलासक्ति ही विशेष बन्धन है, जिससे छूटने पर ही मनुष्य योगारूढ़ होता है (गीता ६/४) इसलिए इस श्लोक में कर्मासक्ति और फलासक्ति -दोनों के त्याग की बात आई है।

शुभ कर्म भी निष्काम भाव से होने से ही कल्याण करने वाले होते हैं। यदि निष्काम भाव न हो तो शुभ कर्म भी बन्धनकारक हो जाते हैं। **''आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन'' (गीता ८/१६)।**

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः।।७।।

तु, नियतस्य (परन्तु, शास्त्र विहित), कर्मणः, संन्यासः (कर्म का, त्याग), न, उपपद्यते (उचित, नहीं है), मोहात्, तस्य (मोह के कारण, उसका), परित्यागः (त्याग कर देना), तामसः, परिकीर्तितः (तामस त्याग, कहा गया है)।

प्रश्न 6- तामस त्याग किसे कहा गया है?

उत्तर- (निषिद्ध और काम्य कर्मों का तो स्वरूप से त्याग करना उचित ही है), परन्तु नियत (शास्त्रविहित) कर्म का स्वरूप से त्याग करना उचित नहीं है। इसलिए मोह के कारण उसका त्याग कर देना तामस त्याग कहा गया है।

मोह के कारण त्याग से यह भाव दिखलाया गया है कि जो कोई भी अपने

वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थिति के अनुसार शास्त्र में विधान किए हुए कर्म के त्याग को भूल से मुक्ति का हेतु समझकर वैसा त्याग करता है- उसका वह त्याग मोहपूर्ण होने के कारण तामस त्याग है क्योंकि मोह की उत्पत्ति तमोगुण से बतलाई गई है (गीता १४/१५-१७) तथा तामसी मनुष्यों की अधोगति बतलाई गई है। इसलिए उपर्युक्त त्याग ऐसा त्याग नहीं है, जिसके करने से मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है। यह तो प्रत्यवाय का हेतु होने से उल्टा अधोगति को ले जाना वाला है।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत।।८।।

यत्, कर्म (जो कुछ कर्म है, वह सब), दुःखम्, एव (दुःख-रूप, ही है), इति (ऐसा समझकर, यदि कोई), कायक्लेशभयात् (शारीरिक क्लेश के, भय से) [कर्तव्य कर्मों का], त्यजेत् (त्याग कर दे, तो), सः, राजसम्, त्यागम्, कृत्वा (वह ऐसा, राजस्, त्याग करके), त्यागफलम्, एव, न, लभेत (त्याग के फल को किसी प्रकार भी, नहीं, पाता)।

प्रश्न 7- राजस त्याग के लक्षण क्या हैं?

उत्तर- जो व्यक्ति किसी 'शास्त्रविहित' कर्म का इसलिए त्याग कर देता है कि उसके करने से उसे -

(1) मानसिक दुःख होता है (2) शारीरिक कष्ट होता है (3) किसी कष्ट की सम्भावना है (4) कष्ट से भय लगता है, उसका त्याग राजस त्याग है। और उसे इस राजस त्याग से 'त्याग' का फल नहीं मिलता।

त्याग का फल शान्ति है (**त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्**) (गीता १२/१२) और राग का फल दुःख है '**रजसस्तु फलं दुःखम्**' (गीता १४/१६) राजस मनुष्य को त्याग का फल 'शान्ति' तो नहीं मिलती, पर राग का फल दुःख तो मिलता ही है।

राजस मनुष्य त्याग करके भी उसके फल 'शान्ति' को नहीं पाता, क्योंकि उसने जो त्याग किया है, वह अपनी सुख-सुविधा के लिए किया है। ऐसा त्याग तो पशु-पक्षी आदि भी करते हैं। अपनी सुख-सुविधा के लिए शुभ कर्मों का त्याग करने से राजस मनुष्य को उसका फल दण्ड रूप में अवश्य भोगना पड़ता है।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), यत् (जो), नियतम्, कर्म, कार्यम् (शास्त्र-विहित, कर्म, करना कर्तव्य है), इति एव (इसी भाव, से), सङ्गम्, च, फलम्, त्यक्त्वा (आसक्ति और फल का, त्याग करके), क्रियते (किया जाता है), सः, एव (वह, ही), सात्त्विकः, त्यागः, मतः (सात्त्विक, त्याग, माना गया है)।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अकुशलम्, कर्म, न, द्वेष्टि (अकुशल कर्म से तो, द्वेष, नहीं करता), कुशले, न, अनुषज्जते (कुशल कर्म में, आसक्त, नहीं होता), सत्त्व-समाविष्टः (शुद्ध सत्त्वगुण से युक्त पुरुष) छिन्नसंशयः मेधावी, त्यागी (संशयरहित, मेधावी, त्यागी, बुद्धिमान् और सच्चा त्यागी है)।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११

हि (क्योंकि), देहभृता, अशेषतः (शरीर धारी किसी भी मनुष्य के द्वारा, सम्पूर्णता से), कर्माणि, त्यक्तुम्, न, शक्यम् (सब कर्मों का, त्याग करना शक्य, नहीं है, इसलिए), यः, कर्मफलत्यागी, सः, तु (जो, कर्मफल त्यागी है, वह, ही), त्यागी, इति, अभिधीयते (त्यागी है, यह, कहा जाता है)।

प्रश्न 8- सात्त्विक त्याग तथा सात्त्विक त्यागी के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- सात्त्विक त्याग के लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, हे अर्जुन! ''सात्त्विक त्याग केवल कर्तव्यमात्र करना है'' ऐसा समझकर जो शास्त्रविहित कर्म आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके किया जाता है, वही सात्त्विक त्याग माना जाता है।

व्याख्या :- राजस त्याग में शारीरिक श्रम के भय से और तामस त्याग में मोहपूर्वक कर्मों का स्वरूप से त्याग किया जाता है परन्तु सात्त्विक त्याग में कर्मों का स्वरूप से त्याग नहीं किया जाता, प्रत्युत् कर्मों को कर्तव्य मात्र समझकर निष्काम भाव से तत्परतापूर्वक किया जाता है। राजस और तामस त्याग में बाहर से तो कर्मों से सम्बन्ध विच्छेद दिखता है पर भीतर से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। सात्त्विक त्याग में बाहर से कर्म करने पर भी भीतर से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है।

एक मार्मिक बात है कि कर्तव्य मात्र समझकर जो भी कर्म किया जाता है उससे सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। लौकिक साधन (कर्मयोग तथा ज्ञान योग) में शरीर-संसार से सम्बन्ध-विच्छेद मुख्य है। इसलिए साधक को प्रत्येक कर्म कर्तव्य मात्र समझकर करना चाहिये। स्वरूप से कर्मों का त्याग करने से तो बन्धन होता है पर सम्बन्ध न जोड़कर कर्तव्य मात्र समझकर कर्म करने से मुक्ति होती है।

सात्त्विक योगी के लक्षण – जो व्यक्ति किसी (अकुशल) अप्रिय कर्म से घृणा नहीं करता किसी प्रिय कर्म में आसक्त नहीं होता वह वास्तविक अर्थों में त्यागी है, सत्त्वगुणी है, मेधावी है एवं संशय से रहित है।

किसी भी देहधारी के लिए कर्मों का पूर्ण त्याग सम्भव नहीं है परन्तु जो कर्म के फल को त्याग देता है, वही त्यागी कहलाता है। केवल भगवा पहनकर सब काम छोड़ देना और अपने को संन्यासी कहते फिरना त्यागी का लक्षण नहीं है।

स्वामी राम सुख दास जी के अनुसार

व्याख्या – मनुष्य का स्वभाव है कि वह रागपूर्वक ग्रहण और द्वेषपूर्वक त्याग करता है। राग और द्वेष-दोनों से ही संसार से सम्बन्ध जुड़ता है। श्री कृष्ण जी कहते हैं कि वास्तव में वही मनुष्य श्रेष्ठ है जो शुभ कर्मों का ग्रहण तो करता है पर रागपूर्वक नहीं और अशुभ कर्मों का त्याग तो करता है परन्तु द्वेषपूर्वक नहीं।

कर्मफल त्याग का तात्पर्य – वस्तुत: कर्मफल त्याग का अभिप्राय है कर्मफल की इच्छा का त्याग। कारण कि कर्मफल का त्याग हो ही नहीं सकता जैसे शरीर भी कर्मफल है, फिर उसका त्याग कैसे होगा? भोजन करने पर तृप्ति का त्याग कैसे होगा? खेती करने पर अन्न का त्याग कैसे होगा? अत: साधक को कर्मफल की इच्छा का त्याग करना है। कर्मफल की इच्छा का त्याग करने से साधक सुखी-दु:खी नहीं होगा। इसलिए गीता में फलेच्छा के त्याग को ही फल का त्याग कहा गया है। कर्मयोग में कर्मफल की इच्छा का त्याग होता है और ज्ञानयोग में कर्तृत्वाभिमान का।

बाहर का त्याग वास्तव में त्याग नहीं है, प्रत्युत् भीतर का त्याग ही त्याग है। यदि कोई बाहर से त्याग करके एकान्त में वन में या हिमालय में चला जाय तो भी संसार का बीज शरीर तो उसके साथ है ही। मरने वाले का अपने शरीर

सहित सब व्यक्तियों और पदार्थों का त्याग हो जाता है परन्तु इससे मोक्ष नहीं हो जाता। अत: हमारे भीतर की कामना-ममता-आसक्ति ही बाँधने वाली है। संसार बान्धने वाला नहीं है। यदि कोई समाधि लगा ले तो उस समय बाहर की क्रियाओं का सम्बन्ध छूट जाता है, परन्तु समाधि भी एक क्रिया है। इस लिए समाधि से भी व्युत्थान हो जाता है क्योंकि समाधि में प्रकृति-जन्य कारण-शरीर का सम्बन्ध बना रहता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं त्रिविधं कर्मण: फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।। १२।।

अत्यागिनाम् (कर्मफल का त्याग न करने वाले मनुष्यों को), कर्मण: इष्टम्, अनिष्टम्, च, मिश्रम् (कर्मों का तो अच्छा, बुरा, मिश्रित ऐसे), त्रिविधम्, फलम् (तीन प्रकार का, फल), प्रेत्य, भवति (मरने के पश्चात्, अवश्य होता है), तु (किन्तु),संन्यासिनाम् (कर्म के फल को जिन्होंने त्याग दिया है), क्वचित्, न (किसी काल में भी, नहीं होता)।

प्रश्न 9- कर्मफल का त्याग न करने और कर्मफल का त्याग करने वालों में क्या अन्तर है?

उत्तर- जिन्होंने कर्मफल का त्याग नहीं किया उन्हें मरने के पश्चात् कर्मों का तीन प्रकार का फल मिलता है। प्रिय (अच्छा), 2 अप्रिय (बुरा), 3 प्रियाप्रिय: (मिश्रित मिला हुआ), परन्तु जिन्होंने कर्म-फल का त्याग कर दिया है, उन्हें कोई फल नहीं मिलता अर्थात् उनके लिए 'कर्म' किसी प्रकार का बाधक नहीं बनता।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार – गीता का मुख्य लक्ष्य कर्म के फल का त्याग है। इसी बात को गीता ने भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा है। इसी अभिप्राय से गीता 'संन्यास' आदि शब्दों का भी कभी-कभी नवीन अर्थ कर देती है। गीताकार के समय भी इसी शब्द का यही अर्थ था, परन्तु क्योंकि गीता ने हर क्षेत्र में समन्वय करने की चेष्टा की है, इसीलिए कहीं-कहीं 'संन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग न करके कर्म के फल का त्याग – यह अर्थ किया है। जब गीता 'संन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग – यह करती है, तब संन्यास का खण्डन करती है। संन्यास योग (ज्ञान योग, साँख्य योग) तथा कर्मयोग को एक ही बतलाती है। इसके भेद को मिटा देती है।

गीता कर्म करने, परन्तु आसक्ति तथा फलाशा को त्यागने का उपदेश देती

है। यही कर्मयोग है, यही संन्यास योग है, यही ज्ञान योग है, यही साँख्य योग है, यही सात्त्विकता है।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।

सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।। १३।।

महाबाहो (हे अर्जुन!), सर्वकर्मणाम्, सिद्धये, एतानि (सम्पूर्ण कर्मों की, सिद्धि के, ये), पञ्च, कारणानि (पाँच, कारण), कृतान्ते (कर्मों का अन्त करने के लिए उपाय बतलाने वाले), सांख्ये, प्रोक्तानि (साँख्य शास्त्र में कहे गये हैं, उनको तू), मे, निबोध (मुझ से, भली-भाँति जान)।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्।। १४।।

अत्र (इस विषय में अर्थात् कर्मों की सिद्धि में), अधिष्ठानम्, च, कर्ता, च (अधिष्ठान, और, कर्ता, और), पृथग्विधम्, कारणम् (भिन्न प्रकार के, कारण), च (एव), विविधाः, पृथक्, चेष्टाः (नाना प्रकार की, अलग-अलग, चेष्टाएँ और), तथा, एवं (वैसे, ही), पञ्चमम्, दैवम् (पाँचवा हेतु दैव है)।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।

न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।। १५।।

नरः, शरीरवाङ्मनोभिः (मनुष्य, शरीर, वाणी और मन से), न्याय्यम्, च, विपरीतम्, वा (शास्त्रानुकूल अथवा विपरीत), यत्, कर्म, प्रारभते (जो भी, कर्म, करता है), तस्य, एते, पञ्चः, हेतवः (उसके, ये, पाँचों कारण हैं)।

प्रश्न 10- साँख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्म के फल के कितने कारण हैं?

उत्तर- श्री कृष्ण जी साँख्य सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल के कारण बताते हुए कहते हैं, ''हे महाबाहो अर्जुन! सम्पूर्ण कर्मों की सिद्धि के लिए कर्मों का अन्त करने वाले साँख्य सिद्धान्त में ये पाँच कारण बताये गये हैं, उनको तुम्हें बताता हूँ, सुनो। ये पाँच कारण हैं- (1) अधिष्ठान (कर्म का स्थान) (2) कर्ता (3) भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन (4) भिन्न-भिन्न प्रकार की चेष्टाएँ तथा (5) दैव अर्थात् वह कारण जो हमारी समझ से बाहर है।

मनुष्य अपने शरीर, अपनी वाणी, तथा अपने मन से जो भी कोई उचित, अनुचित कार्य प्रारम्भ करता है, उसमें ये पाँच हेतु, पाँच कारण होते हैं।

कारण से अभिप्रायः है कर्म करने में साधन। कर्म में कारण (जो कर्म निर्माण करते हैं) पाँच हैं :-

(1) अधिष्ठान- अधिष्ठान का अर्थ है आधार परन्तु यहाँ अधिष्ठान का अभिप्रायः है शरीर।

(2) कर्ता - कर्ता है चेतन तत्त्व जीवात्मा।

(3) करण- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ रूप (आँख), रस (जिह्वा), गन्ध (नासिका), शब्द (कान) स्पर्श (त्वचा), पाँच कर्मेन्द्रियाँ - मुख (जिह्वा), हस्त, पादः, पायुः, उपस्थ, एक आभ्यन्तर इन्द्रिय, एक मन, एक बुद्धि इस प्रकार ये 13 करण हैं।

(4) चेष्टा अर्थात् कर्म करने की प्रवृत्ति (रुचि)। रुचि स्वभाव से बनती है।

(5) दैव अर्थात् भाग्य। भाग्य से अभिप्राय है पूर्वजन्म के कर्म का फल। सब प्रकार के अच्छे या बुरे कर्म इन पाँच कारणों से ही होते हैं।

न्याय्यम् - वर्ण, आश्रम, प्रकृति और परिस्थिति के भेद से जिसके लिए जो कर्म कर्तव्य माने गये हैं- उन न्यायपूर्वक किये जाने वाले यज्ञ, तप, विद्याध्ययन, युद्ध, कृषि, गोरक्षा, व्यापार, सेवा आदि शास्त्रविहित कर्मों के समुदाय का वाचक यहाँ 'न्याय्यम्' पद है।

विपरीतम्- जिन कर्मों का शास्त्रों में निषेध किया गया है- असत्य भाषण, चोरी, व्याभिचार, हिंसा, मद्यपान, अभक्ष्य- भक्षण आदि समस्त पाप कर्मों का वाचक यहाँ विपरीतम् शब्द है।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः।। १६।।

तु, एवम्, सति (परन्तु, ऐसा होने पर, भी), यः, अकृतबुद्धित्वात् (जो, असंस्कारी बुद्धि के कारण), तत्र (वहाँ अर्थात् कर्मों के होने में) केवलम्, आत्मानम्, कर्तारम्, पश्यति (केवल, आत्मा को, कर्ता, समझता है), सः, दुर्मति, न, पश्यति (वह, मलिन बुद्धि वाला अज्ञानी, यथार्थ नहीं, समझता)।

प्रश्न 11- जो व्यक्ति केवल अपने को कर्म का कर्ता समझता है, वह व्यक्ति कैसा है?

उत्तर- तब ऐसी अवस्था में (जब प्रत्येक कर्म के पाँच कारण है) जो व्यक्ति केवल अपने को कर्म का कर्ता मान लेता है, वह ऐसा असंस्कारी बुद्धि के कारण समझता है, वह दुर्मति कुछ समझता ही नहीं।

श्री गुरुदत्त जी ने इस की इस प्रकार व्याख्या की है- यहाँ कहा गया है कि

केवल आत्मतत्त्व को कर्म में साधन मान लेना भूल है। इसका अभिप्राय: यह नहीं कि जीवात्मा का कर्मों में उत्तरदायित्व नहीं अथवा कुछ कम है, परन्तु जीवात्मा अकेला कुछ नहीं कर सकता। जैसे युद्ध में लड़ता तो सैनिक है परन्तु यदि उसको हथियार आदि उपलब्ध न हों तो सैनिक भी लड़ नहीं सकता। बड़ी से बड़ी सेना भी सुचारु रूप से अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थोड़े-से-लोगों से परास्त हो जाती है। जीवात्मा कितना भी दृढ़निष्ठ क्यों न हो, जब तक उसके कर्म करने में सहायक उसके कारण सबल और कुशल न हों, वह कुछ नहीं कर सकता।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।। १७।।

यस्य (जिस पुरुष के [अन्त:करण में]), अहङ्कृत (मैं कर्ता हूँ [ऐसा]), भाव:, न (भाव नहीं है [तथा]), यस्य (जिसकी), बुद्धि: (बुद्धि [सांसारिक पदार्थों और कर्मों में]), न, लिप्यते (लिप्त=आसक्त नहीं होती है), स:, इमान्, लोकान्, हत्वा, अपि (वह पुरुष, इन, लोकों को मारकर, भी), न, हन्ति, न, निबध्यते (न तो, मारता है और न पाप से, बँध जाता है)।

प्रश्न 12- कौन व्यक्ति कर्म करता हुआ भी कर्मों के बन्धन में नहीं पड़ता ?

उत्तर- जो अहंकार की भावना से मुक्त है अर्थात् जो निष्काम है जिसकी बुद्धि निर्लिप्त है, अर्थात् जो निस्संग है, वह इन सब लोगों को मारता हुआ भी नहीं मारता, वह कर्म करता हुआ भी कर्म के बन्धन में नहीं पड़ता।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार – गीता ने 'फलाशा' तथा 'आसक्ति' के त्याग का उपदेश दिया है। फलाशा तथा आसक्ति का मूल कारण 'अहंकार' है। 'मैंने यह किया', इसलिए मुझे फल मिलना चाहिये, इत्यदि विचार फलाशा तथा आसक्ति बुद्धि में निर्लेप भाव न होने के कारण होते हैं। जिस व्यक्ति में 'मैं' का, 'अहंकार' का भाव न रहा, और जो किसी बात में लिप्त होकर काम नहीं करता, निस्संग रह कर काम करता है, जो श्रद्धातिरेक में यह समझता है कि 'मैं' नहीं कर रहा, मेरे द्वारा 'वह' कर रहा है और 'वह' जो कुछ मुझ से करा रहा है, उसमें 'मैं' क्यों लिप्त होऊँ- ऐसी आध्यात्म भावना का व्यक्ति यदि किसी का वध भी करता है तो वह निस्संगता, निस्वार्थ भाव से करता है। इसलिए उस को दोष नहीं लगता, ठीक ऐसे जैसे किसी को फाँसी पर चढ़ा देने का दोष न्यायप्रिय जज को नहीं लगता, क्योंकि वहाँ जज जो कुछ करता है, निस्संग तथा निर्लेप

भाव से करता है, स्वार्थ तथा द्वेष भाव से नहीं करता।

डॉ. राधाकृष्णन् जी का इस सम्बन्ध में यह कथन है कि मुक्त मनुष्य अपने को विश्वात्मा का उपकरण बना देता है, इसलिए जो कुछ वह करता है, वह स्वयं नहीं करता। विश्वात्मा उसके माध्यम से विश्व की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए कर्म करता है। वह भयंकर कर्मों को भी किसी स्वार्थपूर्ण उद्देश्य या इच्छा के बिना करता है। केवल इसलिए कि यह उसका आदिष्ट कर्म है, यह उसका अपना कर्म नहीं, भगवान् का कर्म है। यहाँ यह अर्थ नहीं है कि हम दण्ड से मुक्त होकर अपराध करते रह सकते हैं। जो व्यक्ति अपने 'अहम्' को छोड़कर विशाल आत्मिक चेतना में जीवन यापन करता है, उसे कोई पाप करने का प्रलोभन नहीं रहता। बुरे कर्म अज्ञान और पृथक् चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं और परमात्मा के साथ एकता की चेतना के फलस्वरूप केवल अच्छे काम ही हो सकते हैं।

सब लोगों को मारता हुआ भी नहीं मारता- यह एक ऐसी स्थापना है जो समझ में नहीं आती, परन्तु यदि हम एक हत्यारे की, देश के लिए युद्ध में शत्रु का संहार करने वाले वीर से तुलना करे तो गीता का कथन स्पष्ट हो जाता है। हत्यारे के हृदय में हत्या करने के पश्चात् वासना बनी रहती है, उसका हृदय अशान्त, चिन्ताग्रस्त और व्याकुल रहता है। देश के लिए जो शत्रु का संहार करता है, वह सैंकड़ों का खून बहाकर भी वासना हीन रहता है। उसका मन शान्त तथा प्रसन्न रहता है। इसका कारण यही है कि हत्यारे में 'अहं' है, 'अहंकार' है, कर्म के प्रति आसक्ति है, परन्तु देश के लिए युद्ध करने वाले के हृदय में न अहम् है, न अहंकार है। उसके हृदय में देश है, देश के प्रति उसने अपने आपको समर्पित किया है, जो कुछ उसने किया है, वह उसका किया नहीं, देश का किया है। उसके हृदय में आसक्ति भी नहीं है। उसने अपने लिये कुछ नहीं किया, इसलिए परिणाम कुछ भी क्यों न हो, वह परिणाम से बँधा हुआ तो है, परन्तु उसमें लिप्त नहीं है- इसलिए वह मारता हुआ भी नहीं मारता परन्तु जो एकाग्रता से, लिप्तभाव से संहार करता है, वह सचमुच मारता है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।। १८।।

परिज्ञाता, ज्ञानम्, ज्ञेयम् (ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय), त्रिविधा, कर्मचोदना (यह तीन प्रकार की, कर्म प्रेरणायें हैं), कर्ता, करणम्, कर्म (कर्ता, करण तथा क्रिया),

इति, त्रिविधः, कर्म संग्रहः (यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह है)।

प्रश्न 13- कर्म प्रेरणा तथा कर्म संग्रह कितने प्रकार का है ?

उत्तर- ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये तीनों ही कर्म के प्रेरक हैं। कर्ता, करण (साधन) और कर्म ये तीनों ही कर्म को सम्पन्न करने में साधन हैं। **ज्ञाता**- जानने वाले का नाम 'ज्ञाता' है। **ज्ञान** - जिसके द्वारा जाना जाय उसका नाम -'ज्ञान' है। **ज्ञेय**- जानने में आने वाली वस्तु 'ज्ञेय' है। **कर्ता**-कर्म करने वाले का नाम 'कर्ता' है। **क्रिया**- करने का नाम 'क्रिया' है।

किसी भी पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने वाले को '**ज्ञाता**' कहते हैं, वह जिस वृत्ति के द्वारा स्वरूप का निश्चय करता है, उसका नाम '**ज्ञान**' है और जिस वस्तु के स्वरूप का निश्चय करता है उसका नाम '**ज्ञेय**' है- यह तीन प्रकार की प्रेरणा है। इन तीनों के संयोग से ही मनुष्य की कर्म में प्रेरणा होती है।

कर्ता, करण और कर्म- यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह है।- देखना, सुनना, समझना, स्मरण करना, खाना पीना आदि समस्त क्रियाओं को करने वाले प्रकृतिस्थ पुरुष को 'कर्ता' कहते हैं। उसके जिस मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा उपर्युक्त समस्त क्रियाएँ की जाती हैं- उनका वाचक 'करण' पद है और उपर्युक्त समस्त क्रियाओं का वाचक यहाँ 'कर्म' पद है। यह तीन प्रकार का कर्म संग्रह है। इन तीनों के संयोग से ही कर्म का संग्रह होता है।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।। १९

गुणसङ्ख्याने (गुणों की संख्या करने वाले शास्त्र में), ज्ञानम्, च, कर्म, च, कर्ता (ज्ञान और कर्म तथा कर्ता), गुण-भेदतः (गुणों के भेद से), त्रिधा एव प्रोच्यते (तीन-तीन प्रकार के ही कहे गये हैं), तानि, अपि, यथावत्, शृणु (उनकी, भी, तू, मुझ से भली भाँति सुन)।

प्रश्न 14- ज्ञान, कर्म और कर्ता के त्रिविध भेद से क्या प्रस्तावना की गई है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ज्ञान, कर्म और कर्ता के माध्यम से तीन भेदों का विवेचन करते हुए अर्जुन से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! गुणों का विवेचन करने वाले शास्त्र में गुणों के भेद से ज्ञान, कर्म और कर्ता तीन-तीन प्रकार से ही कहे जाते हैं। उनको भी तुम मुझ से यथार्थ रूप से सुनो। **गुणसङ्ख्याने**- जिस शास्त्र में सत्त्व, रजस् और तमस्- इन तीनों गुणों के सम्बन्ध से समस्त पदार्थों के भिन्न-

भिन्न भेदों की गणना की गई हो ऐसे शास्त्र का वाचक 'गुणसङ्ख्याने' है। अतः उसमें बतलाये हुए गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार के ज्ञान, कर्म और कर्ता को सुनने के लिए कह कर श्री कृष्णजी ने उस शास्त्र को इस विषय में आदर दिया है और कहे जाने वाले उपदेश को ध्यानपूर्वक सुनने के लिए अर्जुन को सावधान किया है।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।। २०।।

येन (जिस ज्ञान से मनुष्य), विभक्तेषु, सर्वभूतेषु (पृथक्-पृथक् सब भूतों में), अव्ययम्, भावम् (अविनाशी, परमात्मा भाव को) अविभक्तम् (विभाग रहित अर्थात् समभाव से स्थित), ईक्षते (देखता है), तत्, ज्ञानम्, सात्त्विकम् विद्धि (उस ज्ञान को, सात्त्विक, जान)।

प्रश्न 15- सात्त्विक ज्ञान के लक्षण क्या हैं ?

उत्तर- जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सब प्राणियों में, जड़-चेतन में सर्वव्यापक परमात्मा का वास है - ऐसा देखता है, जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य विभक्तों में अविभक्त को देखता है, उस ज्ञान को ही सात्त्विक ज्ञान समझा जाता है।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।। २१।।

तु (किन्तु), यत्, ज्ञानम् (जो, ज्ञान), सर्वेषु, भूतेषु (सम्पूर्ण, प्राणियों में), पृथग्विधान्, नानाभावान् (भिन्न-भिन्न प्रकार के, नाना भावों को), पृथक्त्वेन, वेत्ति (अलग-अलग, जानता है), तत्, ज्ञानम्, राजसम्, विद्धि (उस ज्ञान को तू, राजस, जान)।

प्रश्न 16- राजस ज्ञान के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सभी प्राणियों में, जड़-चेतन में उनकी पृथक्ता के कारण सत्ता को एक न देखकर विविध जानता है, उस ज्ञान को तू राजसिक ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य-मनुष्य में भेद करने वाला ज्ञान राजसी होता है।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्।। २२।।

तु (परन्तु), यत् (जो ज्ञान), एकस्मिन्, कार्ये (एक, कार्य रूप शरीर में ही), कृत्स्नवत्, सक्तम् (सम्पूर्ण के सदृश, आसक्त है), च (तथा, जो) अहैतुकम्

(बिना युक्ति वाला), अतत्त्वार्थवत् (तात्त्विक अर्थ से रहित और), अल्पम् (तुच्छ है), तत्, तामसम्, उदाहृतम् (वह, तामस, कहा गया है)।

प्रश्न 17- तामस ज्ञान के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- जो ज्ञान एक कार्यरूप शरीर में ही सीमित हो और उसी में लीन हो, वह युक्तिविहीन और अर्थरहित तुच्छ ज्ञान, तामसी ज्ञान कहा गया है। अर्थात् जो ज्ञान ऐसा हो कि मनुष्य अपने को सबसे पृथक् समझे तो वह ज्ञान तामसी होगा।

इन तीनों (२०, २१, २२) श्लोकों की व्याख्या करते हुए श्री तिलक जी लिखते हैं, अपने बाल-बच्चों और स्त्री को ही सारा संसार समझ लेना तामस ज्ञान है। इससे कुछ ऊँची सीढ़ी पर पहुँचने से दृष्टि अधिक व्यापक हो जाती है। बाल-बच्चे ही नहीं, गाँव और देश के लोग भी अपने हैं- यह समझने लगना राजस-ज्ञान कहा गया है, परन्तु इससे भी ऊँचे जाकर प्राणि मात्र में एक ही आत्मा को पहचानना, विभक्त में अविभक्त, अनेकता में एकता को देखना ही सात्त्विक ज्ञान है। उपनिषदों में भी कहा है-

''**नेह नानास्ति किंचन**''- जगत् में विविधता में एकता है, '**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति**' नानात्व देखना मृत्यु के चक्कर में पड़ना है।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।। २३

यत्, कर्म, नियतम् (जो, कर्म, शास्त्र विधि से नियत किया हुआ और), सङ्गरहितम् (कर्तापन के अभिमान से रहित हो), अफलप्रेप्सुना (फल न चाहने वाले पुरुष द्वारा), अरागद्वेषतः, कृतम् (बिना राग-द्वेष के, किया गया हो), तत् (वह), सात्त्विकम्, उच्यते (सात्त्विक कहा है)।

प्रश्न 18- सात्त्विक कर्म के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- वह कर्म सात्त्विक कहलाता है (1) जो कर्म शास्त्र विहित है, जिसे करना आवश्यक है, जो हमारा कर्तव्य कर्म है। (2) जो कर्म आसक्ति के बिना किया जाता है (3) जो कर्म राग-द्वेष के बिना किया जाता है (4) जो कर्म फल की इच्छा से रहित किया जाता है।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।। २४।।

तु (परन्तु), यत्, कर्म (जो, कर्म), बहुलायासम् (बहुत परिश्रम से युक्त होता

है), पुनः (तथा), कामेप्सुना (कामनाओं की इच्छा वाले पुरुष द्वारा), वा (या), साहङ्कारेण, क्रियते (अहंकारयुक्त पुरुष द्वारा किया जाता है), तत्, राजसम्, उदाहृतम् (वह कर्म, राजस, कहा है)।

प्रश्न 19- राजस कर्म के क्या लक्षण है ?

उत्तर- वह कर्म राजस कहलाता है (1) जो फल की प्राप्ति की इच्छा से किया जाता है (2) अहंकार की भावना से प्रेरित होकर किया जाता है (3) जिसमें बहुत परिश्रम लगता है।

उपर्युक्त दो श्लोकों की व्याख्या करते हुए डॉ. राधाकृष्णन् जी लिखते हैं- जिस कर्म में बहुत परिश्रम लगता है, जो 'बहुलायास' है, उसे राजसिक कर्म कहते हैं उसे राजसिक कहने का कारण यह है कि इस प्रकार की जो भावना होती है कि हम किसी कष्ट से गुज़र रहे हैं, ऐसी भावना कर्म के मूल्य को समाप्त कर देती हैं। चेतनापूर्वक यह अनुभव करना कि हम कोई बड़ा काम कर रहे हैं, कोई महत्त्वपूर्ण बलिदान कर रहे हैं, स्वयं बलिदान की विफलता है, परन्तु जब कोई काम किसी आदर्श के लिए किया जाता है, तब वह श्रम, श्रम नहीं लगता, बलिदान, बलिदान नहीं लगता। उसे पूर्णतया आत्मचेतना रहित होकर, अहंकार की भावना को छोड़कर, मुस्कराते हुए करना, जैसे कि महर्षि दयानन्द सरस्वती और सुकरात ने विष पिया था, सात्त्विक कर्म का उदाहरण है।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।। २५।।

यत्, कर्म (जो, कर्म), अनुबन्धम्, क्षयम्, हिंसा, च (परिणाम, हानि, हिंसा और), पौरुषम्, अनवेक्ष्य (सामर्थ्य को, न विचार करके), मोहात्, आरभ्यते (केवल अज्ञान से, आरम्भ किया जाता है), तत्, तामसम्, उच्यते (वह कर्म, तामस कर्म, कहा जाता है)।

प्रश्न 20- तामसिक कर्म के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर- जो कर्म क्या 'परिणाम' होगा, क्या 'हानि' होगी, किस-किस की हिंसा होगी, अपना 'सामर्थ्य' भी उस काम को करने का है या नहीं- इन सब बातों पर विचार किये बिना, मूर्खता से किया जाता है, वह तामस-कर्म कहलाता है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के अनुसार :- तामस कर्म का लक्षण करते हुए गीता ने कहा है कि जब मनुष्य परिणाम का ध्यान किए बिना कर्म करता है, तब वह कर्म तामस कर्म कहलाता है। जो लोग समझते हैं कि गीता का फलाशा

को त्याग कर कर्म करने का उपदेश का यह अर्थ है कि मनुष्य को कर्म करते हुए परिणाम का ध्यान नहीं रखना चाहिये- वे गीता का तत्त्व नहीं समझते। परिणाम का ध्यान किए बिना जो कर्म किया जाता है, उसे तो गीता ने तामस कर्म कहा है। फलाशा के त्याग का अर्थ तो यह है कि मनुष्य कर्म तो करे, परन्तु इस आग्रह से न करे कि इस कर्म का यही फल होगा। कर्म किया है तो फल तो होगा ही, कर्म का परिणाम न हो- यह कैसे हो सकता है? परन्तु हाँ, क्योंकि कर्म के फल में अनेक कारण हो सकते हैं। इस लिए फल को भगवान्-भरोसे छोड़ें। अपना कर्तव्य तो कर्म करना मात्र समझें। कार्य किया और फल भगवान् के हाथ सौंप दिया।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।। २६।।

कर्ता,मुक्तसङ्गः (कर्ता, आसक्ति रहित), अनहंवादी (अहंकार के वचन न बोलने वाला), धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य और उत्साह से युक्त), सिद्धयसिद्धयोः (कार्य के सिद्ध होने और न होने में), निर्विकारः (विकार से रहित अर्थात् हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है वह), सात्त्विकः, उच्यते (सात्त्विक कर्ता, कहा जाता है)।

प्रश्न 21- सात्त्विक कर्ता के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- सात्त्विक कर्ता के निम्नलिखित लक्षण हैं। (1) वह आसक्ति रहित होता है। उसमें किंचित्मात्र भी ममता और कामनायें नहीं होती। (2) वह अहंकार के वचन नहीं बोलता, सरलभाव से अभिमान शून्य वचनों को बोलने वाला होता है (3) कार्य सिद्ध हो जाये, सफल हो जाये तो अत्याधिक हर्षित नहीं होता। (4) कार्य की असफलता होने पर निराश नहीं होता अर्थात् वह प्रत्येक स्थिति में समभाव अवस्था में रहता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।। २७।।

कर्ता, रागी (कर्ता, आसक्ति से युक्त), कर्मफल, प्रेप्सुः (कर्म के फल को चाहने वाला), लुब्धः (लोभी), हिंसात्मकः (दूसरों को कष्ट देने के स्वभाव वाला), अशुचिः (अपवित्र), हर्षशोकान्वितः (हर्ष और शोक से युक्त), राजसः, परिकीर्तितः (राजस, कहा गया है)।

प्रश्न 22- राजसिक कर्ता के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- राजसिक कर्ता उसे कहते हैं (1) जो रागी है अर्थात् जो कुछ क्रिया करता है उसमें और उसके फल में आसक्त रहता है। (2) कर्मफल प्रेप्सु- जो कर्मों के फलस्वरूप स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान, प्रतिष्ठा आदि इस लोक और परलोक के नाना प्रकार के भोगों की इच्छा करता है (3) जो न्याय-अन्याय का विचार न करके सदा धन संग्रह की लालसा रखता है। (4) जो दूसरों को कष्ट पहुंचाने का स्वभाव रखता है (5) जो बाह्य और आन्तरिक रूप से अशुद्ध रहता है (6) जो सफलता मिलने पर हर्ष मिश्रित अहंकार में तथा असफलता मिलने पर शोक मिश्रित दुःख का अनुभव करता है। ऐसा व्यक्ति बार-बार जन्म लेता है और संसार चक्र से मुक्त नहीं होता।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।। २८।।

कर्ता, अयुक्तः (चंचल चित्त वाला, कर्ता), प्राकृतः (अशिक्षित), स्तब्धः, शठः (घमण्डी,धूर्त), नैष्कृतिकः (दूसरों के काम को बिगाड़ने वाला), विषादी, अलसः, च, दीर्घसूत्री (शोक करने वाला, आलसी और काम को टालने वाला), तामसः, उच्यते (तामस, कहा है)।

प्रश्न 23- तामस् कर्ता के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- जो कर्ता चंचल चित्त वाला, अशिक्षित, घमण्डी, धूर्त, दूसरों के काम को बिगाड़ने वाला, शोक करने वाला, आलसी और आज के काम को कल तक टालने वाला है। यह तामस कर्ता के लक्षण हैं।

(1) अयुक्तः - जिसके मन और इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं। जिसमें श्रद्धा तथा आस्तिकता का अभाव तथा मन चंचल होता है।

(2) प्राकृतः - जिसको किसी प्रकार की शिक्षा नहीं मिली है।

(3) स्तब्धः - जिसका स्वभाव अत्यन्त कठोर है, अपने समान दूसरों को कुछ नहीं समझता।

(4) शठः - जो द्वेष भाव को छुपा कर दूसरों का अपकार करने वाला अर्थात् ठग है।

(5) नैष्कृतिकः - दूसरों के काम में बाधा डालने वाला, दूसरों की जीविका का नाश करने वाला।

(6) अलसः - जिसके अन्तःकरण और इन्द्रियों में आलस्य भरा रहता है।

(7) विषादी - जो सदैव चिन्ताग्रस्त रहता है।

(8) दीर्घसूत्री – कार्य का आरम्भ करके बहुत काल तक पूरा न करने वाला, कार्य को टालने वाला, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों कर लेंगे ऐसे स्वभाव वाले व्यक्ति तामस हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।। २९ ।।

धनञ्जय (हे अर्जुन!), बुद्धेः, च, धृतेः, एव (बुद्धि का और धृति का भी), गुणतः, त्रिविधम्, भेदम् (गुणों के अनुसार तीन प्रकार का भेद), अशेषेण, पृथक्त्वेन (पूर्णतया, विभाग पूर्वक) प्रोच्यमानम्, शृणु (कहा जाने वाला, सुन)।

प्रश्न 24– श्री कृष्ण जी अर्जुन को यहाँ किस के भेद सुनाना चाहते है ?

उत्तर– श्री कृष्ण जी तीन गुणों के आधार पर बुद्धि और धृति के बारे में बताते हैं, ''हे अर्जुन! अब तू सत्त्व-रजस्-तमस्- इन तीन गुणों के अनुसार ''बुद्धि और धृति'' के तीन भेदों को सुन जिन्हें मैं पूर्णतया अलग-अलग करके बतलाता हूँ।''

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।। ३० ।।

पार्थ (हे अर्जुन!), या (जो बुद्धि), प्रवृत्तिम्, च, निवृतिम् (प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग को), कार्याकार्ये (कर्तव्य और अकर्तव्य को), भयाभये (भय और अभय को), च बन्धम्, च मोक्षम् (तथा, बन्धन और मोक्ष को), वेत्ति (यथार्थ जानती है) सा बुद्धिः, सात्त्विकी (वह, बुद्धि सात्त्विकी है)।

प्रश्न 25– सात्त्विकी बुद्धि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– अर्जुन को सात्त्विक बुद्धि के लक्षण बतलाते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! वह बुद्धि सात्त्विकी होती है जिनमें निम्न लक्षण हैं- (1) जो प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के भेद को समझती है।

(2) जो करने योग्य और न करने योग्य कार्यों में भेद कर सकती है।

(3) जो इस बात को समझती हैं कि किससे डरना चाहिये और किससे नहीं डरना चाहिये।

(4) जो यह जानती है कि क्या वस्तु आत्मा को बन्धन में डालती है और क्या बन्धन से छुड़ा देती है ?''

स्वामी रामदेव जी के अनुसार :- वह बुद्धि सर्वोच्च मानी जाती है जो अपने कार्यक्षेत्र की वस्तुओं, व्यक्तियों एवं घटनाओं को यथार्थरूप में तत्परता से समझ सकती है। बुद्धि का मुख्य कार्य है 'विवेक'।

प्रवृत्ति व निवृत्ति इन दो शब्दों के पारिभाषिक अर्थ क्रमशः कर्ममार्ग व संन्यास मार्ग हैं। एक सच्चे साधक को इन दोनों के वास्तविक स्वरूप को समझकर स्वयं की अभिरूचि व क्षमता के अनुसार किसी एक मार्ग का यथायोग्य अनुसरण करना चाहिये अन्यथा कोई साधक तो कर्म में ही आसक्त होकर रह जायेगा और अन्य संन्यास के नाम पर केवल भलाई करते रहेंगे।

मूढ लोग अत्यधिक विषयासक्ति के कारण अवैध, अनैतिक, और अधार्मिक कार्य करने से भयभीत नहीं होते, परन्तु शास्त्रों का अध्ययन और आत्मनुसंधान जैसे श्रेष्ठ कार्यों में प्रवृत्ति होने में उन्हें भय प्रतीत होता है। संन्यास और वैराग्य जैसे शब्दों से भी उन्हें डर लगता है। अतः वह बुद्धि सात्त्विकी है जो भय और अभय के कारणों का सम्यक् प्रकार से विवेक कर सकती है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।। ३१ ।।

पार्थ (हे अर्जुन!), यया (मनुष्य जिस बुद्धि के द्वारा), धर्मम्, च, अधर्मम्, च (धर्म और अधर्म को तथा), कार्यम्, च, अकार्यम्, एव (कर्तव्य और अकर्तव्य को भी), अयथावत्, प्रजानाति (यथार्थ नहीं जानता), सा, बुद्धिः, राजसी (वह बुद्धि राजसी है)।

प्रश्न 26– राजसी बुद्धि के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– जिस बुद्धि के द्वारा मनुष्य धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को ठीक-ठीक नहीं समझ पाता, वह बुद्धि राजसी होती है।

जैसे जल में मिट्टी घुल जाने से जल में स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती, ऐसे ही बुद्धि में रजोगुण (राग), आ जाने से बुद्धि में उतनी स्वच्छता, निर्मलता नहीं रहती। इसलिए धर्म-अधर्म को समझने में कठिनाई पड़ती है। जो मनुष्य धर्म-अधर्म तथा कर्तव्य-अकर्तव्य को भी ठीक तरह से नहीं जानता, वह बन्धन और मोक्ष को कैसे जानेगा ? नहीं जान सकता। बुद्धि रागात्मिका होने से वह इनको ठीक तरह से नहीं जानता; क्योंकि राग की मुख्यता होने से वह विवेक को महत्त्व नहीं दे पाता। उत्पत्ति-विनाशशील वस्तुओं का रंग चढ़ने से उसका विवेक लुप्त हो जाता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।। ३२ ।।

पार्थ (हे अर्जुन!), या, तमसा, आवृता (जो, तमोगुण से घिरी बुद्धि), अधर्मम्, धर्मम्, इति, मन्यते (अधर्म को भी, 'यह धर्म है' ऐसा मान लेती है), च (तथा), सर्वार्थान्, विपरीतान् (सम्पूर्ण पदार्थों को, विपरीत मान लेती है), सा, बुद्धिः, तामसी (वह, बुद्धि, तामसी है)।

प्रश्न 27- तामसी बुद्धि के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- जिस बुद्धि के द्वारा अन्धकार के आवरण से घिरा हुआ मनुष्य अधर्म को धर्म समझने लगता है और सब बातों को उल्टा देखने लगता है, वह बुद्धि तामसी होती है।

अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म मानना :- ईश्वर निन्दा, देवनिन्दा, शास्त्र विरोध, माता-पिता-गुरु आदि का अपमान, वर्णाश्रम धर्म के प्रतिकूल आचरण, असन्तोष, दम्भ, कपट, व्यभिचार, असत्यभाषण, पर-पीड़न, अभक्ष्यभोजन आदि निषिद्ध पापकर्मों को धर्म मान लेना और धृति, क्षमा, मनोनिग्रह, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध, ईश्वरोपासना, शास्त्रसेवन, वर्णाश्रम, धर्मानुसार आचरण, माता-पिता-गुरुजन की आज्ञापालन, सरलता, ब्रह्मचर्य, सात्त्विक भोजन, अहिंसा और परोपकार को अधर्म मानना - यह तामसी बुद्धि के लक्षण हैं।

अकर्तव्य को कर्तव्य, दुःख को सुख, अनित्य को नित्य, और अशुद्ध को शुद्ध और हानि को लाभ मान लेना आदि विपरीत ज्ञान को अपनाना तामसी बुद्धि के लक्षण हैं।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।। ३३।।

पार्थ (हे अर्जुन!), यया (जिस), अव्यभिचारिण्या (इधर, उधर न भटकने वाली एक निष्ठ), धृत्या (धारण शक्ति से मनुष्य), योगेन (ध्यान योग के द्वारा), मनः, प्राणेन्द्रिय, क्रियाः (मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को), धारयते (धारण करता है), सा, धृतिः, सात्त्विकी (वह, धृति, सात्त्विकी है)।

प्रश्न 28- सात्त्विकी धृति के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- सात्त्विकी धृति के लक्षण बतलाते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! जिस इधर-उधर न भटकने वाली, एक निष्ठ धारणशक्ति से मनुष्य ध्यान योग के द्वारा मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धारण करता है, वह धृति सात्त्विकी है।''

भगवत्-विषय के अतिरिक्त अन्य सांसारिक विषयों को धारण करना ही व्यभिचार-दोष है उस दोष से जो रहित है वह इधर-उधर न भटकने वाली एकनिष्ठ 'अव्यभिचारिणी धारणा शक्ति' है। मन, प्राण और इन्द्रियों को भगवत् प्राप्ति के लिए भजन, ध्यान और निष्काम कर्मों में लगाने का नाम 'क्रियाओं को धारण करना' है।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।। ३४।।

तु (परन्तु), पार्थ, अर्जुन (हे अर्जुन!), फलाकाङ्क्षी (फल की इच्छा वाला मनुष्य), यया, धृत्या (जिस, धारण शक्ति के द्वारा), प्रसङ्गेन (अत्यन्त आसक्ति से), धर्मकामार्थान् (धर्म, अर्थ और कामों को), धारयते (धारण करता है), सा, धृतिः, राजसी (वह, धारण शक्ति, राजसी है)।

प्रश्न 29- राजसी धृति के लक्षण बताईये।

उत्तर- जिस धृति के द्वारा मनुष्य धर्म, अर्थ, काम- इनके साथ चिपका रहता है, फल की इच्छा बनाये रखता है! वह धृति राजसिक होती है।

राजसी धारण शक्ति से मनुष्य अपनी विविध कामनाओं की पूर्ति के लिए धर्म का अनुष्ठान करता है, भोग पदार्थों को भोगता है और धन का संग्रह करता है। संसार में अत्यन्त राग (आसक्ति) होने के कारण राजस मनुष्य जो कुछ भी शुभ-कर्म करता है, उसमें उसकी यही कामना रहती है कि इस कर्म से मुझे इस लोक में भी सुख-सुविधा, यश-मान, आदर सत्कार आदि मिले और परलोक में भी सुख भोग मिले। ऐसी धारणा को रखने वाला राजसी कहलाता है।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी।। ३५।।

पार्थ (हे अर्जुन!), दुर्मेधाः, यया (दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य, जिस धारण शक्ति के द्वारा), स्वप्नम्, भयम्, शोकम्, च (निद्रा, भय, चिन्ता और), विषादम्, मदम्, एव (दुःख को, तथा उन्मत्तता को, भी), न, विमुञ्चति (नहीं, छोड़ता), सा, धृति, तामसी (वह, तामसी, धारण शक्ति है)।

प्रश्न 30- तामसी धारण शक्ति के क्या लक्षण हैं?

उत्तर- दुष्ट बुद्धि वाला मनुष्य जिस धृति के द्वारा निद्रा, भय, चिन्ता, दुःख और उन्मतत्ता (मद या घमण्ड) को भी नहीं छोड़ता है, अर्थात् धारण किये रहता है, ऐसे व्यक्ति की धृति तामसी है।

(1) 'दुर्मेधाः ' जिसकी बुद्धि अत्यन्त मन्द और मलिन हो, जिसके अन्तःकरण में दूसरों का अनिष्ट करने आदि के भाव भरे हों।

(2) जिसमें **'स्वप्न'** निद्रा और तन्द्रा आदि जो मन और इन्द्रियों को तमसाच्छन्न एवं मूढ़ बनाने वाले भाव हों।

(3) 'भय' धनादि पदार्थों के नाश की, मृत्यु की, दुःख प्राप्ति की, सुख के नाश की आशंका, जिससे व्याकुलता बनी रहती हो।

(4) 'शोक' मन में होने वाले नाना प्रकार की दुश्चिन्तायें जिसमें बनी रहती हों।

(5) विषाद शोक के द्वारा जिसकी इन्द्रियों में सन्ताप विषाद भरा रहता हो।

(6) 'उन्मत्तता' जो धन, जन और बल आदि के कारण होने वाली– विवेक, भविष्य के विचार और दूरदर्शिता से रहित है इस प्रकार की धृति को मद और घमण्ड भी कहते हैं।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति।। ३६ ।।

भरतर्षभ (हे भरत श्रेष्ठ!), इदानीम्, त्रिविधम्, सुखम्, तु (अब, तीन प्रकार के, सुख को, भी तू), मे, शृणु (मुझ से, सुन), यत्र (जिस सुख में साधक मनुष्य), अभ्यासात् (अभ्यास से), रमते, च, दुःखान्तम्, निगच्छति (रमण करता है, और, जिससे दुःखों के अन्त को, प्राप्त हो जाता है)।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।। ३७।।

यत्, तत् (जो ऐसा सुख है, वह), अग्रे, विषम्, इव (आरम्भ काल में यद्यपि, विष के, तुल्य प्रतीत होता है), परिणामे, अमृतोपमम् (परिणाम में, अमृत के तुल्य है), तत् (वह), आत्मबुद्धिप्रसादजम् (परमात्म विषयक, बुद्धि के, प्रसाद से उत्पन्न होने वाला), सुखम्, सात्त्विकम्, प्रोक्तम् (सुख, सात्त्विक, कहा गया है)।

प्रश्न 31– सात्त्विक सुख के क्या लक्षण हैं ?

उत्तर– ऐसे सुख के विषय में जिसमें दीर्घकाल तक रहने के कारण मनुष्य रम जाता है और जिसमें उसके दुःख का अन्त हो जाता है। जो सुख प्रारम्भ में विष जैसे प्रतीत होता है, अन्त में अमृत के समान होता है ऐसा जो परमात्मा विषयक बुद्धि के प्रसाद से उत्पन्न होने वाला सुख है वह सात्त्विक सुख हैं।

स्वामी रामसुखदास जी के अनुसार :–

सत्संग, स्वाध्याय, ध्यान, जप आदि से जो सुख होता है, वह परमात्मा से सम्बन्धित होने के कारण ''सात्त्विक'' कहा गया है। कारण कि वह सुख, मान–बढ़ाई, सुख–सुविधा, भोग आदि विषयेन्द्रिय–सम्बन्ध का (राजस) भी नहीं है और प्रमाद आलस्य, निद्रा का (तामस) भी नहीं है।

पूर्वपक्ष– १४ वे अध्याय में तो सात्त्विक सुख बाँधने वाला बताया था **'सुखसङ्गेन बध्नाति'** (गीता १४/६) पर यहाँ उसे दुःखों का नाश करने वाला बताया है। **''दुःखान्तं च निगच्छति''** इसका सामंजस्य कैसे करोगे ?

उत्तर पक्ष – इसका तात्पर्य यह है कि सात्त्विक सुख में रमण (भोग) करने से वह बाँधने वाला हो जाता है अर्थात् गुणातीत नहीं होने देता। यदि रमण न करें तो वह सात्त्विक सुख–दुःखों का नाश नहीं करता। भोग का त्याग करने से ही योग होता है। संग होने से बन्धन कारक रजोगुण आ जाता है। सत्त्वगुण में रजोगुण आने से पतन होता है।

विवेक को महत्त्व न देने के कारण सुख आरम्भ में विष की तरह दिखता है। राजस मनुष्य विवेक को महत्त्व नहीं देता। अतः सात्त्विक सुख का आरम्भ में विष की तरह दिखना 'राजस पना' है। तात्पर्य है कि सात्त्विक सुख दुःखदायी नहीं होता। प्रत्युत् मनुष्य की बुद्धि में 'राजस पना' होने से सात्त्विक सुख भी उसको विष की तरह दीखता है।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। ३८ ।।

यत्, सुखम् (जो, सुख), विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है), तत् (वह), अग्रे (पहले भोगकाल में), अमृतोपमम् (अमृत के तुल्य प्रतीत होने पर भी), परिणामे, विषम्, इव (परिणाम में, विष के, तुल्य है)।

प्रश्न 32– राजस सुख के लक्षण क्या है ?

उत्तर– जो सुख इन्द्रियों और विषयों के संयोग से होता है, वह आरम्भ में अमृत की तरह और परिणाम में विष की तरह प्रतीत होता है, अतः वह सुख राजस कहा गया है।

जैसे भोजन आरम्भ में बहुत प्रिय लगता है, पर भोजन करते–करते जब पेट भर जाता है, भोजन करने की शक्ति क्षीण हो जाती है, तब उससे अरुचि हो जाती है। फिर जो भोजन आरम्भ में सुख देने वाला प्रतीत होता था, वही दुःख

देने वाला हो जाता है। उस समय कोई व्यक्ति बलात् खिलाये तो वह शत्रु की तरह प्रतीत होता है। यही बात सभी सांसारिक भोगों में लागू होती है। कोई भी सांसारिक सुख अखण्ड नहीं होता। आरम्भ में सांसारिक-सुख अमृत की तरह प्रिय लगता है, परन्तु उसे भोगते-भोगते जब परिणाम में वह सुख नीरसता में परिणत हो जाता है, उस सुख से बिल्कुल अरुचि हो जाती है, तब वही सुख विष की तरह दु:खदायी हो जाता है। अविवेकी मनुष्य आरम्भ को ही महत्त्व देता है। आरम्भ तो सदा रहता नहीं पर उसकी कामना सदा रहती है, जो सम्पूर्ण दु:खों का कारण है। परिणाम को देखने की योग्यता मनुष्य में ही है। परिणाम को न देखना पशुता है। इसलिए विवेकी मनुष्य आरम्भ को न देखकर परिणाम को देखता है। इसलिए वह भोगों में आसक्त नहीं होता **'न तेषु रमते बुधः'** (गीता ५/२२)

वास्तव में आरम्भ मुख्य नहीं है, प्रत्युत् अन्त ही मुख्य है। मनुष्य आरम्भ काल को चाहता है पर वह रहता नहीं क्योंकि यह नियम है कि प्रत्येक आरम्भ का अन्त होता है। जिसका आरम्भ और अन्त होता है, उसकी इच्छा से ही दु:खों की उत्पत्ति होती है, परन्तु राजसी वृत्ति के कारण आरम्भ (संयोग) अच्छा प्रतीत होता है। यदि मनुष्य आरम्भ काल के सुख को महत्त्व न दे तो दु:ख कभी आयेगा ही नहीं। आरम्भ को देखने से भोग होता है और परिणाम को देखने से योग।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।। ३९।।

यत्, सुखम्, अग्रे, च (जो, सुख, भोगकाल में, तथा), अनुबन्धे, च, आत्मनः, मोहनम् (परिणाम में, भी, आत्मा को, मोहित करने वाला है), तत्, (वह), निद्रालस्य प्रमादोत्थम् (निद्रा, आलस्य और प्रमोद से उत्पन्न सुख), तामसम्, उदाहृतम् (तामस, कहा गया है)।

प्रश्न 33- तामस सुख के लक्षण क्या हैं?

उत्तर- जो सुख प्रारम्भ और अन्त में आत्मा को मोह में फँसाये रखता है, जो सुख निद्रा, आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक है। स्वामी रामदेव जी के अनुसार :-

तामस सुख के स्रोत हैं - निद्रा, आलस्य और प्रमाद। जहाँ 'क्रियाशीलता' रजोगुण का धर्म है वहाँ 'आलस्य' तमोगुण का धर्म है। तामसी पुरुष की कर्म

को टालने की प्रवृत्ति होती है और इस प्रकार आलस्य में ही वह अपने समय को व्यतीत कर देता है, यही उसका सुख है। प्रमाद-यह सत्त्वगुण के लक्षण सजगता और विवेक के सर्वथा विपरीत लक्षण हैं। प्रमादी नुष्य अपने हृदय के उच्च गुणों के आह्वान की अवहेलना और उपेक्षा करके निम्नस्तर भोगों में रमा रहता है।

सच्चा सुख आत्मनिष्ठ (Subjective) होता है और वह भौतिक पदार्थों (Objects) के इन्द्रिय-सम्बन्धों से प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तविक (सात्त्विक) सुख अतीन्द्रिय होता है जिसे बुद्धि द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। बुद्धि ही ऐसा तत्त्व है जो प्रकृति के त्रिगुणात्मक व्यवहार का भी अनुभव करती है और आत्मस्वरूप परब्रह्म का बोध भी उसी से होता है:- **'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चितं सर्वार्थम्' (योगसूत्र कैवल्य पाद ४/२३)**

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।। ४०।।

पृथिव्याम्, वा, दिवि, वा, देवेषु (पृथिवी में, या, आकाश में अथवा देवताओं में), पुनः, तत् (तथा इनके सिवा और कहीं भी, वह ऐसा कोई भी), सत्त्वम्, न, अस्ति (सत्त्व, नहीं, है), यत्, प्रकृतिजैः (जो, प्रकृति से उत्पन्न), एभिः, त्रिभिः, गुणैः (इन, तीनों, गुणों से) मुक्तम्, स्यात् (रहित, हो)।

प्रश्न 34- इस प्रसंग का उपसहांर करते हुए श्री कृष्ण जी समस्त पदार्थों को किन से युक्त बताते हैं?

उत्तर- इस पृथ्वी पर, द्युलोक में, देवताओं में अर्थात् देवलोक में भी कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्रकृति के इन तीन गुणों (सत्त्व, रजस्, तमस्) से मुक्त हो।

गीता में त्रैगुण्य की यह चर्चा केवल तीन गुणों के भेद का वर्णन मात्र नहीं है। उसमें साधना का यह स्पष्ट संकेत भी है कि सात्त्विक जीवन का विकास किया जाये। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करें तो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड (दृश्य जगत्) जहाँ भी है, मूल तत्त्व और इसके गुण (सत्त्व) ठोस तत्त्व (उससे उत्पन्न विद्युत् चुम्बकीय आकर्षण- अपकर्षण रजस्) और विद्युत् चुम्बकीय आवृत्तियों (तमस्) से मुक्त नहीं हैं। सारा ब्रह्माण्ड (दृश्य जगत्) इन गुणों के आधार पर टिका है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। ४१

परन्तप (हे अर्जुन!), ब्राह्मणक्षत्रिय विशाम्, च, शूद्राणाम्, कर्माणि (ब्राह्मण,

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म), स्वभावप्रभवैः (स्वभाव से उत्पन्न), गुणैः, प्रविभक्तानि (गुणों के द्वारा, विभक्त किये गये हैं)।

प्रश्न 35- चारों वर्णों के कर्म किस प्रकार बाँटे गये हैं?

उत्तर- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न हुए सत्त्व, रजस्, तमस्-इन गुणों के कारण इनके कर्म अलग-अलग बाँटे गये हैं।

श्री गुरुदत्त जी के अनुसार- धर्म स्वभाव से उत्पन्न होता है, परन्तु स्वभाव जन्म से नहीं होता। यदि ऐसा होता तो ब्राह्मण की सन्तान कभी भी अधर्माचरण करने वाली नहीं होती। देखने में ऐसा नहीं होता। अनेक स्थानों पर देखा जा सकता है कि क्षत्रिय की सन्तान राजसी स्वभाव की नहीं होती। ब्राह्मण सफल राजा होते देखे गये हैं और राजपुत्र यौवन में ही संन्यासी बने हुए भी इतिहास में मिलते हैं। इस कारण स्वभाव का जन्म से सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है।

स्वभाव, वातावरण, संगति तथा शिक्षा से बनता है। साथ ही इसका सम्बन्ध पूर्वजन्म के कर्मों से भी होता है। अतएव केवल मात्र परिवार, जाति और स्थान देखकर ही स्वभाव का निश्चय नहीं किया जा सकता।

आर्ष पद्धति यह रही है कि गुरुकुल में प्रवेश के समय और गुरुकुल छोड़ने के समय युवक को स्वयं पता चल जाता था कि वह किस प्रकार के कार्यों में रुचि रखता है। वह स्वेच्छा से ही अपना जीवन कार्य निश्चित कर लेता था।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के अनुसार :- इस श्लोक में गीता ने 'स्वभाव' पर बल दिया है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना 'स्वभाव' होता है। अपने स्वभाव से, अन्तरात्मा में निहित संस्कारों और वासनाओं के बीज से, कोई सात्त्विक, कोई राजसिक, कोई तामसिक होता है, और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कहाता है। 'स्वभाव' पर बल इसलिए दिया गया है कि मनुष्य जो कुछ है जन्म-जन्मान्तर के संचित कर्मों के कारण बना है। इस स्वभाव के कारण उसका एक निश्चित व्यक्तित्व बन गया है, इसलिए सामाजिक समस्याओं पर विचार करते हुए हमें व्यष्टि को सम्मुख रख कर विचार करना होगा, समष्टि को रखकर नहीं, क्योंकि व्यष्टि का स्वभाव जैसा होगा, समष्टि वैसी बनेगी। स्वभावज वर्ण-व्यवस्था तथा जन्म-जात, जात-पात में भेद है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।। ४२।।

शमः, दमः, तपः (शान्तिभाव, आत्म संयम, तपस्या), शौचम, क्षान्तिः, आर्जवम् (पवित्रता, सहिष्णुता, सरलता), आस्तिक्यम्, च, ज्ञानम्, च विज्ञानम् एव (आस्तिकता और ज्ञान और परोक्ष ज्ञान ही), ब्रह्मकर्म स्वभावजम् (ब्राह्मण के, स्वाभाविक कर्म हैं)।

प्रश्न 36- ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म कौन से हैं?

उत्तर- (1) '**शमः**' - अन्तःकरण को अपने वश में कर उसे शान्त बना लेना तथा सांसारिक चिन्तन का त्याग कर देना।

(2) '**दम**' - समस्त इन्द्रियों को वश में कर लेना तथा वश में की हुई इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर परमात्मा की प्राप्ति में लगाना।

(3) '**तप**' - स्वधर्मपालन के लिए कष्ट सहना अर्थात् अहिंसादि महाव्रतों का पालन करना, भोग सामग्रियों का त्याग करके सादगी से वन में रहना

(4) '**शौच**' - मन, इन्द्रिय और शरीर को तथा उनके द्वारा की जाने वाले क्रियाओं को पवित्र रखना।

(5) '**क्षान्तिः**' - दूसरों के द्वारा किए हुए अपराधों को क्षमा कर देना।

(6) '**आर्जवम्**' - मन में किसी प्रकार का दुराग्रह न रखना, जैसा मन में हो वैसा इन्द्रियों द्वारा प्रकट करना।

(7) '**आस्तिक्यम्**' - वेद, शास्त्र, ईश्वर- इन सब की सत्ता में पूर्ण विश्वास रखना।

(8) '**ज्ञान**' - वेद-शास्त्रों के श्रद्धापूर्वक अध्ययन करने और उसमें वर्णित उपदेश को भली-भाँति समझना।

(9) '**विज्ञानम्**' - वेद शास्त्रों में बतलाये हुए और महापुरुषों से सुने हुए साधनों द्वारा परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने का नाम।

ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्मों में इनकी गणना की गई है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।। ४३।।

शौर्यम्, तेजः, धृतिः, दाक्ष्यम् (शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता),च, युद्धे, अपि, अपलायनम् (और, युद्ध में, भी, न भागना), दानम्, च, ईश्वरभावः (दान, और, शासन करने की भावना), क्षात्रम्, स्वभावजम्, कर्म (क्षत्रियों के, स्वाभाविक, कर्म हैं)।

प्रश्न 37- क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म कौन से हैं?

उत्तर- (1) '**शूरवीरता**' बड़े से बड़े बलवान् शत्रु का न्याययुक्त सामना करने

में भय न करना।

(2) '**तेज**' जिस शक्ति के प्रभाव से मनुष्य दूसरों का दबाव मानकर किसी भी कर्तव्यपालन से विमुख नहीं होता।

(3) '**धैर्य**' बड़े से बड़ा संकट उपस्थित हो जाने पर भी व्याकुल एवं विचलित न होना।

(4) '**चतुरता**' न्याय करने में कर्तव्य का निर्णय और पालन करने में, सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करने में चतुरता दिखाना।

(5) '**अपलायनम्**' युद्ध करते समय भारी से भारी संकट आ पड़ने पर भी पीठ न दिखाना, अपने प्राणों की चिन्ता किए बिना युद्ध में डटे रहना।

(6) '**दानम्**' यथा योग्य पात्रों को दान देना।

(7) '**ईश्वरभावः**' शासन के द्वारा लोगों को अन्यायाचरण से रोककर सदाचार में प्रवृत्त करना, दुराचारियों को दण्ड देना, समस्त प्रजा का हित सोचकर निःस्वार्थ भाव से प्रेमपूर्वक पुत्र की भाँति उनकी (प्रजाओं की) रक्षा और पालन पोषण करना। ये सब क्षत्रियों के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

कृषि, गोरक्ष्यवाणिज्यम् (कृषि, गोरक्षा, व्यापार), वैश्यकर्म, स्वभावजम् (वैश्य के, स्वाभाविक कर्म हैं), परिचर्यात्मकम् (सब वर्णों की सेवा करना), शूद्रस्य, अपि, स्वभावजम्, कर्म (शूद्र का, भी, स्वाभाविक कर्म है)।

प्रश्न 38- वैश्य और शूद्र के स्वाभाविक कर्म कौन से हैं ?

उत्तर- खेती, गोपालन और क्रय-विक्रय रूप सत्य व्यवहार- ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

(1) '**कृषि**' - न्यायानुकूल समस्त खाद्य पदार्थों, औषधियों तथा मनुष्य और पशु आदि के उपयोग में आने वाली सभी पवित्र वस्तुओं को उत्पन्न करना।

(2) '**गोरक्ष्य**' - यहाँ पशुपालन न कह कर गौरक्ष्य कहा गया है, वैसे तो मनुष्य के उपयोगी भैंस, ऊँट, घोड़े, बकरी, भेड़, गधा आदि सभी पशुओं का पालन करना वैश्य का कार्य है। परन्तु गौ पालन उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

(3) '**क्रय-विक्रय रूप सद्व्यवहार**' - पवित्र वस्तुओं को धर्मानुकूल खरीदना एवं बेचना। अच्छी वस्तु खरीदना व बेचना, उचित नापतोल करना। उचित लाभ लेना आदि। ये वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र के कर्म- चारों वर्णों की श्रद्धापूर्वक सेवा करना, इसमें सभी कर्मचारी, कारीगर आदि आते हैं।

श्लोक संख्या ४२,४३,४४ पर स्वामी रामदेव की विशेष टिप्पणी :- यह चातुर्वर्ण्य गुणभेद और स्वभाव रूचि पर आधारित है न कि जन्म पर। यह उपपत्ति गीता में पहली बार नहीं बतलाई गई है, वरन् महाभारत के नहुष-युधिष्ठर-संवाद, द्विज-व्याध-संवाद (वन पर्व १८० और २११), भृगु-भारद्वाज संवाद (शांति पर्व १८८), और उमा-महेश्वर संवाद और अश्वमेध पर्व में तथा अनुगीता में भी उपयुर्क्त गुण भेद का कथन कुछ अन्तर से पाया जाता है। महाभारत में कुछ जगह यहाँ तक कहा गया है कि यदि जन्मना ब्राह्मण कर्म से ब्राह्मण न हो तो उसके कर्म और आचरण के अनुसार उसे शूद्र माना जाये। उक्त कार्य विभाजन वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है जिसे श्रम विभाजन पद्धति (Division of Labour) कहते हैं। इसका मुख्य ध्येय है- सामाजिक संरचना और समाज के क्रियाकलाप यथावत् सम्पन्न हो और सृष्टि चक्र अनवरत अबाधित चलता रहे।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

स्वे, स्वे, कर्मणि (अपने-अपने स्वाभाविक, कर्मों में), अभिरतः नरः (तत्परता से लगा हुआ, मनुष्य), संसिद्धिम्, लभते (सिद्धि को, प्राप्त हो जाता है), स्वकर्मनिरतः (अपने स्वाभाविक कर्म में लगा हुआ मनुष्य), यथा, सिद्धिम्, विन्दति (जिस प्रकार से, कर्म करके सिद्धि को, प्राप्त होता है), तत्, शृणु (उस विधि को तू मुझ से, सुन)।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

यतः, भूतानाम्, प्रवृत्तिः (जिस परमेश्वरसे, सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति, हुई है), येन, इदम्, सर्वम्, ततम् (जिससे, यह सब जगत्, व्याप्त है), तम्, स्वकर्मणा (उस परमेश्वर की, अपने स्वाभाविक कर्मों द्वारा) अभ्यर्च्य (पूजा करके), मानवः, सिद्धिम्, विन्दति (मनुष्य, परम सिद्धि को, प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 39- मनुष्य सिद्धि को कैसे प्राप्त कर लेता है ?

उत्तर– अपने-अपने कर्म में जो व्यक्ति (अपने स्वभाव के अनुसार) लगा रहता है, वह सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। 'अपने कर्म में ही लगे रहने से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है' इस तथ्य की युक्तिसंगत ढ़ग से व्याख्या की गई है। श्लोक संख्या ४५ में गीताकार कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने स्वभाव के अनुसार अपने कर्तव्य को करता है, यही सिद्धि प्राप्ति का परम आधार है। इसका अर्थ यह है कि कोई काम ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं। यदि अपना नियत कर्म ईमानदारी से किया जाए तो नीचा कहा जाने वाला कर्म ऊँचा कहा जाने वाले कर्म के समान स्तर का हो जाता है। कर्म का बाह्य रूप कुछ अर्थ नहीं रखता, कर्म का आन्तरिक रूप किस भावना से किया गया है, यही महत्त्व की वस्तु है।

डॉ. राधाकृष्णन् जी इस स्थल की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि समाज एक ऐसा संगठन है जिसमें सबको कर्म करना है, सब के कर्म करने से ही यह संगठन बना रहा सकता है। इस संगठन को स्वस्थ बनाये रखने के लिए हर तरह का काम समान है, वह काम न होगा तो समाज बना ही कैसे रहेगा? सब मनुष्यों की क्षमताएँ समान नहीं होती, परन्तु समाज के लिए सब मनुष्य समान रूप से आवश्यक हैं। प्रत्येक मनुष्य अपना अंशदान करता है, अशंदान के रूप में सबका मूल्य समान है। इसलिए गीता का कहना है कि मनुष्य अपने कर्म में, स्वधर्म में लगा रहे, तो उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है जैसी समाज के स्वधर्म का पालन करने वाले किसी भी व्यक्ति को प्राप्त हो सकती है। यह सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है।

गीताकार का कहना है – जिससे सब प्राणी जन्म लेते हैं, जिससे यह सारा जगत् व्याप्त है, उस परमात्मा की अपने कर्म से पूजा करके मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। यह पूजा कर्मफलाशा त्याग कर कर्मों को समर्पित करने से होती है न कि पत्तों, व फूलों से या वाणी द्वारा कहने मात्र से।

स्वामी रामदेव जी का यहाँ यह कहना है – कि चातुर्वर्ण्य व्यवस्था द्वारा निर्धारित कर्म (व्यवसाय) को नित्य फल में आसक्ति त्यागकर कर्तव्य रूप में निष्काम भाव से करने से ही उस परब्रह्म की सच्ची पूजा होती है अर्थात् उस विराट् स्वरूप का भजन-पूजन होता है, किसी मूर्ति के समक्ष केवल पत्र-पुष्प अर्पित करने से अथवा घण्टा-निनाद करने से उस ब्रह्म की यथार्थ पूजा नहीं होती। निष्काम भाव से कर्तव्य कर ब्रह्मार्पण कर देना परम सिद्धि प्रदान करता है।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।। ४७।।

स्वनुष्ठितात् (अच्छी प्रकार आचरण किए हुए), परधर्मात् (दूसरे के धर्म से), विगुणः (गुण रहित भी), स्वधर्मः, श्रेयान् (अपना धर्म, श्रेष्ठ है [क्योंकि]), स्वभावनियतम् (स्वभाव से नियत किए हुए), कर्म, कुर्वन् (स्वधर्मरूप कर्म को, करता हुआ मनुष्य), किल्बिषम् न, आप्नोति (पाप को नहीं प्राप्त होता)।

प्रश्न 40– स्वधर्म पालन को गुण रहित होने पर भी कैसा कहा गया है?

उत्तर– अपना धर्म– 'स्वधर्म' – यदि ठीक तरह पालन न किया जा सके, और दूसरे का धर्म– 'पर धर्म'– यदि पालन करने में आसान हो, तो भी 'स्वधर्म' का पालन करना अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुसार 'नियत' कर्म को करने वाले व्यक्ति को पाप नहीं लगता। जैसे क्षत्रिय के कर्म युद्ध करना, शासन करना आदि में हिंसा की सम्भावना रहती है और जहाँ हिंसा हो वह कर्म सदोष ही हुआ, पर फलाशा त्याग कर कर्तव्य रूप में किए गये ऐसे कर्म में भी पाप नहीं होता बल्कि वह परम सिद्धि देता है, क्योंकि सृष्टि चक्र के संचालन में कर्म आवश्यक है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।। ४८।।

कौन्तेय (हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन!), सदोषम्, अपि (दोषयुक्त होने पर भी) सहजम्, कर्म, न, त्यजेत् (सहज, कर्म को, नहीं, त्यागना चाहिये), हि (क्योंकि), धूमेन, अग्निः, इव (धुएँ से, अग्नि की, भाँति), सर्वारम्भाः, दोषेण, आवृताः (सभी कर्म किसी न किसी, दोष से, युक्त हैं)।

प्रश्न 41– कौन सा कर्म त्यागने योग्य नहीं है?

उत्तर– यदि हमारी प्रकृति के अनुकूल कोई सहज कर्म हमें प्राप्त हो किन्तु वह सदोष हो, अर्थात् कर्म करते हुए बीच में आने वाले असन्तुलन आदि दोषों से युक्त हो, तो भी उसे छोड़ना नहीं चाहिये, क्योंकि सभी कार्य (उद्योग) किसी न किसी दोष से ढके हुए हैं जैसे धुएँ से अग्नि। अतः उसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिये, ज्ञान प्राप्त होने पर कर्मों के दोष भी स्वयं ही दूर हो जाते हैं या ज्ञान की अग्नि में भस्म हो जाते हैं।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी के अनुसार :- यदि सहज अर्थात् स्वाभाविक कर्म में कोई काय-क्लेश का झंझट भी दिखता हो और दूसरा कर्म सुकर दीखे तो काय-क्लेश के भय से उसे न छोड़े, क्योंकि यह काय-क्लेश तो

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब ही के कर्मों में इस प्रकार लगा है जैसे धुँआ अग्नि के साथ। दूर से देखने में सब को स्वधर्म कठिन तथा पर-धर्म सुगम दिखता है परन्तु करने पर कठिनाई सब में लगती है, इसलिए अपने स्वभाव को देखें, कठिनाई को नहीं।

प्रकृति के अनुसार शास्त्र विधि से नियत किए हुए जो वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म है, उनको ही यहाँ 'स्वधर्म', 'सहजकर्म', 'स्वकर्म', 'नियतकर्म', 'स्वभावजकर्म' और 'स्वभावनियत कर्म' इत्यादि नामों से कहा गया है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।। ४९

सर्वत्र (सब जगह), असक्तबुद्धिः (आसक्ति रहित बुद्धिवाला), विगत- स्पृहः (स्पृहा रहित), जितात्मा (जीते हुए अन्तःकरण वाला पुरुष), संन्यासेन (साँख्य योग = संन्यास के द्वारा), परमाम् (उस परम), नैष्कर्म्यसिद्धिम् (निष्कर्मता-रूप सिद्धि को), अधिगच्छति (प्राप्त होता है)।

प्रश्न 42- किस स्थिति में व्यक्ति कर्म करते रहने पर भी अकर्मी बना रहता है?

उत्तर- सभी कर्मों में आसक्ति रहित बुद्धिवाला, मन को वश में करने वाला, कामनाओं का त्याग करने वाला पुरुष साँख्य योग के द्वारा (कर्मफल संन्यास द्वारा), निष्कर्मता रूप सिद्धि को प्राप्त होता है अर्थात् कर्म करते रहने पर भी अकर्मी बना रहता है।

असक्तबुद्धि, जितात्मा, कामना रहित होने पर भी कर्मयोग सिद्धि को प्राप्त कर लेता है (गीता २/७१) कर्मयोग सिद्ध होने पर साधक साँख्य योग का अधिकारी हो जाता है। साँख्य योग से वह नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है। नैष्कर्म्यसिद्धि का अर्थ है- कर्म सर्वथा अकर्म हो जाय, कर्म होते हुए भी लिप्तता न हो। कर्मों का न करना नैष्कर्म्य नहीं है (गीता ३/४) प्रत्युत् कर्म करना तो साधक के लिए आवश्यक है (गीता ६/३)। कर्मयोग तथा ज्ञानयोग तो साधन है, पर भक्ति योग साध्य है। अतः कर्मयोग और ज्ञान योग से 'नैष्कर्म्यसिद्धि' होती है पर भक्ति योग से 'परम नैष्कर्म्यसिद्धि' की प्राप्ति होती है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।। ५०

या (जो कि), ज्ञानस्य, परानिष्ठा (ज्ञान योग की, परानिष्ठा है), सिद्धिम् (उस नैष्कर्म्यसिद्धि को), यथा, प्राप्तः (जिस प्रकार से, प्राप्त होकर मनुष्य), ब्रह्म, आप्नोति (ब्रह्म को, प्राप्त होता है), तथा, कौन्तेय (उसी प्रकार हे अर्जुन!) समासेन, एव, मे, निबोध (संक्षेप में, ही, मुझ से सुन)।

प्रश्न 43- श्री कृष्ण जी ने यहाँ ज्ञान की परानिष्ठा का कैसा वर्णन किया है?

उत्तर- नैष्कर्म्यसिद्धि की पूर्व भूमिका में ज्ञान योग के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! जो कि ज्ञान योग की परानिष्ठा है, उस नैष्कर्म्यसिद्धि को जिस प्रकार से प्राप्त होकर मनुष्य ब्रह्म को प्राप्त होता है, उस प्रकार को तू संक्षेप से सुन।

ज्ञान योग के साधन समुदाय को ज्ञान निष्ठा कहते हैं और उन साधनों के फलरूप तत्त्वज्ञान को ज्ञान की परानिष्ठा कहते हैं। सिद्धि प्राप्त होने के पश्चात् ब्रह्म की प्राप्ति में विलम्ब नहीं होता।

यहाँ पर 'ब्रह्म' पद नित्य-निर्विकार, निर्गुण-निराकार, सच्चिदानन्दघन, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का वाचक है।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।। ५१
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।। ५२
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।। ५३

विशुद्धया, बुद्धया, युक्तः (बुद्धि से, विशुद्ध, संयुक्त होकर), धृत्या, आत्मनम्, नियम्य (धैर्य=धारणा से, अपने-आप स्वयं को, संयम में करके), च, (और), शब्दादीन्, विषयान्, त्यक्त्वा (शब्दादि, विषयों को, त्यागकर), च (और), रागद्वेषौ, व्युदस्य (राग और द्वेष को नष्ट करके)।

विविक्तसेवी, लघ्वाशी, यतवाक्कायमानसः (एकान्तवासी, अल्पाहारी, वाणी, काया और मन को नियन्त्रण में रखने वाला), ध्यानयोग परः (ध्यान-योग में लगा हुआ), नित्यम्, वैराग्यम् समुपाश्रितः (सदा, वैराग्य का, आश्रय लेने वाला)।

अहंकारम्, बलम्, दर्पम् (अहंकार, बल, अभिमान को) कामम्, क्रोधम्,

परिग्रहम् (काम, क्रोध, अधिक सम्पत्ति के संग्रह को), विमुच्य (छोड़कर), निर्ममः, शान्तः (ममता से रहित, शान्त), ब्रह्मभूयाय, कल्पते (ब्रह्म के साथ एकाकार होने के लिए योग्य हो जाता है)।

प्रश्न 44– ज्ञान योग के अनुसार भगवत् प्राप्ति का पात्र बनने की क्या विधि (योग्यता) है ?

उत्तर– विशुद्ध बुद्धि से युक्त होकर, अपने–आपको धैर्य अर्थात्–दृढ़ता पूर्वक संयम में रखकर, शब्दादि विषयों को त्यागकर राग और द्वेष को नष्ट करना भगवत्प्राप्ति की पात्रता है। एकान्त स्थान का सेवन करने वाला, अल्पाहार करने वाला, वाणी, शरीर और मन को वश में रखने वाला, सदा ध्यान तथा एकाग्रता में तत्पर, वैराग्य की प्रेरणा लिए हुए अहंकार, बल, दर्प, काम, क्रोध और धन–सम्पत्ति को छोड़कर, ममता से रहित होकर जो शान्त स्वभाव का हो जाता है, वह 'ब्रह्मभूय' अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने के योग्य हो जाता है।

श्री जयदयाल गोयन्दका जी ने उपरोक्त शब्दों की व्याख्या इस प्रकार की है:

(1) 'विशुद्ध बुद्धि' – पूर्वार्जित पाप के संस्कारों से रहित अन्तःकरण को विशुद्ध बुद्धि कहते है।

(2) धारण शक्ति के द्वारा अन्तःकरण और इन्द्रियों का संयम– अन्तःकरण को सांसारिक विषयों के चिन्तन से रहित करके सांसारिक भोगों में प्रवृत्त न होने देना।

(3) शब्दादि विषयों का त्याग – रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श आदि सांसारिक भोगों का त्याग अर्थात् उनके भोगने में अपना अमूल्य समय न लगाना।

(4) राग, द्वेष को नष्ट करना – इस लोक या परलोक के किसी भी भोग में, किसी भी प्राणी में तथा किसी भी पदार्थ क्रिया अथवा घटना में किञ्चिन्मात्र भी आसक्ति या द्वेष न रहने देना।

(5) एकान्त स्थान का सेवन– जहाँ वायुमण्डल पवित्र हो, बहुत से लोगों का आना जाना न हो– ऐसी नदी तट, वन, पर्वत की गुफा आदि स्थानों में निवास करना।

(6) लघ्वाशी– अपनी प्रकृति, आवश्यकता और शक्ति के अनुरूप नियमित और परिमित भोजन करना।

(7) यतवाक्काय मानसः – इन्द्रियों के संयम से मन, इन्द्रिय (शरीर) और वाणी को वश में रखना।

(8) ध्यानयोग के परायण – नित्य, निरन्तर अभिन्न भाव से ब्रह्म का चिन्तन करना, उठते, बैठते, सोते–जागते, शौच–स्नान, खान–पानी आदि आवश्यक क्रिया करते समय भी परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन करना।

(9) वैराग्यम् समुपाश्रितः –राग–द्वेष का सर्वथा अभाव, निःस्पृह भाव से वैराग्य में मग्न रहना।

(10) अहंकार का त्याग – देहाभिमान का सर्वथा त्याग करना।

(11) बल का त्याग– अन्यायपूर्वक दूसरों पर प्रभुत्व जमाने का त्याग।

(12) दर्प का त्याग– धन, जन, विद्या, जाति और शारीरिक शक्ति आदि का सर्वथा त्याग करना।

(13) काम का त्याग–भोगों को प्राप्त करने की इच्छा का सर्वथा त्याग।

(14) क्रोध का त्याग – अपने मन के प्रतिकूल आचरण करने वाले पर और नीति विरुद्ध व्यवहार करने वाले के प्रति भी जो अन्तःकरण में उत्तेजना के भाव का त्याग करना।

(15) परिग्रह का त्याग– सांसारिक भोगों की सामग्री को एकत्र करने की भावना का त्याग करना।

(16) ममता से रहित– मन और इन्द्रियों के सहित समस्त प्राणियों में, कर्मों में, समस्त भोगों में एवं जाति, कुल, देश, वर्ण और आश्रम में ममत्व न रखना।

(17) शान्त होना– जिसके कारण अन्तःकरण में विक्षेप का सर्वथा अभाव हो गया है, यही 'शान्त' होने की स्थिति है।

उपर्युक्त प्रकार से साधना करने वाला मनुष्य तत्काल ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।। ५४।।

ब्रह्मभूतः (ब्रह्म से एकाकार हुआ), प्रसन्नात्मा (प्रसन्न मन वाला योगी), न, शोचति (शोक, नहीं करता है), न, काङ्क्षति (न, कामना करता है), सर्वेषु, भूतेषु, समः (समस्त, प्राणियों में, समभाव वाला योगी), पराम्, मद्भक्तिम्, लभते (मेरी, पराभक्ति को, प्राप्त करता है)।

प्रश्न 45– ब्रह्म से एकाकार योगी को क्या –क्या प्राप्त होता है ?

उत्तर–'ब्रह्मभूत' – अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार होने पर साधक प्रसन्न आत्मा हो जाता है, उसे न कोई शोक होता है, न उसे कोई इच्छा होती है। ऐसा व्यक्ति

सब प्राणियों को समदृष्टि से देखता है और वह परमात्मा की भक्ति को प्राप्त कर लेता है। 'पराभक्ति' – जो तत्त्व की पराकाष्ठा है तथा जिसको प्राप्त होकर और कुछ जानना शेष नहीं रहता, वही यहाँ 'पराभक्ति', 'ज्ञान की परानिष्ठा', 'परम नैष्कर्म्यसिद्धिः' और 'परमसिद्धिः' इत्यादि नामों से कही गई है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार जी के अनुसार :-

गीता में '**ब्रह्मभूयाय कल्पते**' (गीता १४/२६) तथा 'ब्रह्मभूत' तथा 'ब्रह्मभूयाय' शब्द आये है। इनका वेदान्त की दृष्टि से जो अर्थ किया जाता है, वह तो है ही परन्तु इनका अर्थ यह भी है कि मानव का आत्मा जब विशाल होने के मार्ग पर चल पड़ता है, जब उसकी दृष्टि अपने तक ही सीमित नहीं रहती, वह सम्पूर्ण विश्व में आत्मानुभूति करने लगता है। जब उसका दृष्टिकोण '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का हो जाता है तब वह 'ब्रह्मभूय' तथा 'ब्रह्मभूत' कहलाता है। यही मानव की ब्रह्मरूपता है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।। ५५।।

भक्त्या (पराभक्ति के द्वारा), माम् (मुझ को), [मैं], यः, च, यावान्, अस्मि (जो हूँ, और जितना, हूँ), तत्त्वतः, अभिजानाति (ठीक वैसा का वैसा, जान लेता है तथा), ततः, माम् (उस भक्ति से, मुझ को), तत्त्वतः, ज्ञात्वा (तत्त्व से, जानकर), तदनन्तरम्, विशते (तत्काल ही, प्रविष्ट हो जाता है)।

प्रश्न 46- कौन परमात्मा में प्रवेश कर जाता है ?

उत्तर- श्रद्धा भक्ति से जो परमात्मा को भली-भाँति जानता है, वह परमात्मा को तत्त्व से जानकर परमात्मा में ही प्रवेश पा जाता है।

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी ने इस की व्याख्या इस प्रकार की है- वह प्रभु भक्त सच्ची भक्ति से, 'मैं जितना और जो कुछ हूँ' उसे तत्त्वतः जान लेता है अर्थात् वह जान लेता है कि मैं कृष्ण चन्द्र अन्य साधारण मनुष्यों के समान ही साधारण मनुष्य हूँ, किन्तु मैंने मर्यादा-पालन की, आचार्य सान्दीपन जैसे गुरु से विधिवत् शिक्षा पाई तो आज सकल-लोक-नायक हूँ और महाभारत-साम्राज्य का पुनरुद्धारक हूँ, परन्त हूँ तो मनुष्य ही, तभी तो जरासन्ध से १७ बार युद्ध में परास्त होकर भागा, परन्तु व्यवसायात्मिका बुद्धि के बल पर अन्त में उसे मारकर ८४ राजाओं का उद्धार करने में समर्थ हुआ। बारह वर्ष ब्रह्मचर्य पालन करके सन्तान उत्पन्न की तो प्रद्युम्न समान पुत्र पाया है। हे अर्जुन! मेरे समान मनुष्य

इतना पद कैसे पा सका, इसका एक ही रहस्य है-

'तमेव चाद्यम्, पुरुषं प्रपद्ये, यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी'

(गीता १५/४)

मैं उस परम पुरुष की शरण में गया हूँ। 'बस जब कृष्ण सरीखा पुरुष प्रभु-भक्ति में इतना कुछ पा सकता है तो मैं ऐसा क्यों न करूँ।' इस प्रकार जो मेरे जीवन रहस्य को जान लेता है वह इस तत्त्व को जानकर मेरे अनुसार अपना जीवन बना लेता है, मेरे जैसा बनने का कारण दृढ़-संकल्प करके कल्याणाभिनिवेशी कहलाता है।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।। ५६।।

मद्व्यपाश्रयः (मेरा आश्रय लेने वाला), सर्वकर्माणि, सदा, कुर्वाणः अपि (सम्पूर्ण कर्मों को, सदा, करता हुआ, भी), मत्प्रसादात् (मेरी कृपा से), शाश्वतम्, अव्ययम्, पदम्, अवाप्नोति (सनातन, अविनाशी, परम पद को प्राप्त हो जाता है)।

प्रश्न 47- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को शाश्वत अमर पद की प्राप्ति का क्या उपाय सुझाया ?

उत्तर- मानव परमात्मा का आश्रय पाकर, सब प्रकार के कर्मों (निष्काम) को करता हुआ भी परमात्मा की कृपा से शाश्वत अमर पद को प्राप्त कर लेता है।

भक्त के लिए श्री कृष्ण जी यहाँ बताते हैं कि वह सम्पूर्ण कर्मों (निष्काम) को सदा करते हुए भी प्रभु कृपा से परमपद को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उसने प्रभु का आश्रय लिया है। वह अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदि का किंचिन्मात्र भी आश्रय न रखकर केवल परमात्मा का ही आश्रय रखता है (क्योंकि उसने निष्काम कर्म किये हैं) फिर प्रभु कृपा ही उसका कल्याण कर देती है।

५४वें श्लोक में '**मद्भक्तिम्**' – मेरी भक्ति का वर्णन है 55वें श्लोक में '**तत्त्वतो ज्ञात्वा**' – तत्त्व से जानकर – का वर्णन है, 56वें श्लोक में '**सर्वकर्माणि**' – सब कर्मों का वर्णन है इस प्रकार इन तीन श्लोकों में 'भक्ति'- 'ज्ञान' – 'कर्म', का उल्लेख है। गीताकार का इन श्लोकों में अभिप्राय यही है कि इन तीनों मार्गों से मनुष्य भगवान् को ही प्राप्त करता है, ये तीनों मार्ग ब्रह्म प्राप्ति के साधन हैं।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित: सततं भव।। ५७

सर्वकर्माणि, चेतसा (सब कर्मों को, मन से), मयि, संन्यास (मुझ में, समर्पित करके), बुद्धियोगम्, उपाश्रित्य (समबुद्धि रूप योग को, अवलम्बन करके), मत्पर: (मेरा परायण), सततम्, मच्चित: भव (निरन्तर, मुझ में, चित्त वाला हो)।

प्रश्न 48- श्री कृष्ण जी ने अर्जुन से यहाँ पर किस योग का आश्रय लेने की बात कही है ?

उत्तर- निष्काम एवं समर्पित भाव से कर्म करने की प्रेरणा देते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! अपने चित्त से सब कर्मों को परमात्मा में समर्पित करके, परमात्मा को ही लक्ष्य समझता हुआ 'बुद्धियोग' का आश्रय लेकर अपने चित्त को निरन्तर परमात्मा में लगाये रख।''

'बुद्धि योग' का वर्णन गीता के दूसरे अध्याय के श्लोक संख्या ४९, ५० में पहले ही आ चुका है। 'बुद्धि योग' का अर्थ है – 'बुद्धि की वह क्रिया जो जीवात्मा को प्रकृति से हटाकर परमात्मा से युक्त करे'। 'बुद्धि' का काम विवेक करना है, एक दूसरे का भेद जानना है। जब 'बुद्धि' से प्रकृति तथा परमात्मा में भेद जान लिया तब आत्मा को स्पष्ट हो जाता है कि उसका वास्तविक लक्ष्य प्रकृति न होकर परमात्मा ही हो सकता है, तब साधक का चित्त अपने आप परमात्मा की ओर दौड़ता है।

मच्चित: सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्‌क्ष्यसि।। ५८

मच्चित:, त्वम् (मुझ में चित्त वाला होकर, तू), मत्प्रसादात् (मेरी कृपा से), सर्वदुर्गाणि, तरिष्यसि (समस्त संकटों को, पार कर जायेगा), चेत् (यदि), अहंकारात्, न, श्रोष्यसि (अहंकार के कारण, न, सुनेगा), विनङ्‌क्ष्यसि (नष्ट हो जायेगा)।

प्रश्न 49- प्रभु कृपा से क्या प्राप्त होगा और अहंकार से कैसी स्थिति होगी ?

उत्तर- अंहकार भाव से कर्म करने वाले मनुष्य की दुर्गति का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण जी कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! मैं निष्काम भाव से एक एकल-लोक-कल्याणकारी महान् समारम्भ में लगा हूँ, यदि तू अपना चित्त मेरे अर्पण करके चलेगा अर्थात् मेरे अनुसार अपने आचरण को अपनायेगा तो मेरी प्रसन्नता से

तेरी सब कठिनाईयाँ दूर हो जायेंगी और यदि अहंकारवश तूने मेरी बात न मानकर मेरी बात नहीं सुनी तो तू नष्ट हो जायेगा, क्योंकि मैं कोई अपना काम तो नहीं कर रहा, मैं पूर्व में (गीता १५/४) में कह चुका हूँ।

'तमेव चाद्यम् पुरुषं प्रपद्ये यत:, प्रवृत्ति: प्रसृता पुराणी'

इसलिए मेरा साथ देना परमात्मा का साथ देना है, मेरा विरोध परमात्मा का विरोध है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।। ५९।।

यत्, अहंकारम्, आश्रित्य (जो तू, अहंकार का आश्रय लेकर), इति मन्यसे (यह, मान रहा है), न, योत्स्ये (मैं युद्ध, नहीं करूँगा), एष:, व्यवसाय:, मिथ्या (यह, निश्चय, मिथ्या है) [क्योंकि तेरी], प्रकृति:, त्वाम् नियोक्ष्यति (स्वभाव, तुझे, जबरदस्ती युद्ध में लगा देगा)।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्ध: स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्।। ६०।।

कौन्तेय (हे अर्जुन!), यत्, मोहात्, कर्तुम्, न, इच्छसि (जिस, कर्म को, तू, मोह के कारण, करना नहीं चाहता), तत्, अपि, स्वेन (उसको भी तू अपने पूर्वकृत), स्वभावजेन, कर्मणा, निबद्ध: (स्वभाविक, कर्म से, बँधा हुआ), अवश:, करिष्यति (परवश होकर, करेगा)।

प्रश्न 50- श्री कृष्ण जी अर्जुन को सावधान करते हुए उसके स्वभाव का किस प्रकार उसको स्मरण कराते हैं ?

उत्तर- अहंकार भाव से कर्म करने वाले मनुष्य की दुर्गति का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण जी पुन: कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि अहंकार के वश में होकर तू यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चर्य व्यर्थ है, **'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति'** – 'प्रकृति' अर्थात् संसार का संचालन करने वाली सत्ता तुझ से जो काम लेना चाहती है, उस काम में तुझे जबरदस्ती झोंक देगी या तेरी प्रकृति – स्वभाव तुझे युद्ध करने के लिए विवश कर देगा, क्योंकि तू क्षत्रिय है और क्षत्रिय कभी भी युद्ध से मुख मोड़ नहीं सकता।

हे अर्जुन! यदि तू मोहवश जिस काम को नहीं करना चाहता उसे तू अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाले कर्म से बँधा हुआ विवश होकर करेगा।

अध्याय २ में अर्जुन ने श्री कृष्ण जी से कहा था – **'न योत्स्ये'** – मैं युद्ध

नहीं करूँगा। तभी श्री कृष्ण जी ने कहा – 'तुम्हारा यह मानना केवल अहंकार मात्र है, युद्ध न करना तुम्हारे वश की बात नहीं है, तेरा यह निश्चय मिथ्या है। जन्म–जन्मान्तर में किए हुए कर्मों के संस्कार जो तुम्हारा क्षत्रिय स्वभाव है, वह स्वभाव तुम्हारी इच्छा न रहने पर भी तुमको ज़बरदस्ती युद्ध में प्रवृत्त कर देगा। योग्यता प्राप्त होने पर वीरतापूर्वक युद्ध करना, युद्ध से डरना या भागना तुम्हारा कर्म नहीं है। अतः तुम्हें युद्ध तो अवश्य करना पड़ेगा। यहाँ क्षत्रिय के नाते अर्जुन को युद्ध के विषय में जो बात कही है, वही बात अन्य वर्ण वालों को अपने–अपने स्वाभाविक कर्मों के विषय में समझ लेनी चाहिये।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।। ६१।।

अर्जुन (हे अर्जुन!), यन्त्रारूढानि (शरीर रूप यन्त्र में आरुढ़ हुए), सर्वभूतानि (सम्पूर्ण प्राणियों को), ईश्वरः, मायया (ईश्वर, अपनी माया से), [उनके कर्मों के अनुसार], भ्रामयन् (भ्रमण कराता हुआ) सर्वभूतानाम्, हृद्देशे, तिष्ठति (सब प्राणियों के, हृदय में, स्थित है)।

प्रश्न 51– श्री कृष्ण जी परमात्मा की सर्वव्यापकता का किस प्रकार वर्णन करते हैं?

उत्तर– परमात्मा की सर्वव्यापकता को वर्णन करते हुएश्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, ''हे अर्जुन! ईश्वर सब प्राणियों के हृदय प्रदेश में बैठा हुआ है और वह (वहाँ से) उनको इस प्रकार घुमा रहा है मानों वे किसी यन्त्र पर चढ़े हुए हों।''

हमारे सामने दो ही मार्ग हैं। या तो अपने अहंकार के पीछे चलकर अपनी इच्छा के पीछे चलें, या भगवान् की इच्छा के पीछे चलें। जब हम अपनी इच्छा को, अपने अहंकार को प्रधान मानकर चलते हैं, तब जीवन में विवशता, संकट, चिन्ता, दु:ख, असफलता आ घेरते हैं। जब अपने को उसकी (प्रभु की) महान् इच्छा के प्रति अर्पण कर देते हैं जैसे महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने जीवन के अन्तिम क्षणों में कहा था– 'हे ईश्वर! तेरी इच्छा पूर्ण हो, तूने बड़ी अच्छी लीला की' – यह भाव ले आते, तब विवशता नहीं रहती, संकट छिन्न–छिन्न हो जाते हैं, जीवन में प्रसाद भर जाता है।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्मपरां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।। ६२।।

भारत (हे अर्जुन!), सर्वभावेन, तम्, एव, शरणम् गच्छ (सब प्रकार से, उस परमेश्वर की, ही, शरण में जा), तत्प्रासादात्, पराम्, शान्तिम् (उस परमात्मा की कृपा से ही, परमशान्ति को तथा), शाश्वतम्, स्थानम्, प्राप्यसि (सनातन, परम धाम को, प्राप्त होगा)।

प्रश्न 52– श्री कृष्ण जी किस की शरण जाने हेतु आदेश देते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को विशेष सन्देश देते हुए कह रहे हैं, ''हे भारत! तू 'सर्वभाव' से अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को समेट कर उसी परमात्मा की शरण में जा। उसकी कृपा से तुझे परमशान्ति और शाश्वत भाव प्राप्त होगा।''

गीता के ६१–६२ श्लोक एक दृष्टि से बहुत महत्त्व के हैं। अब तक गीता में श्री कृष्ण जी ने अपने आप को भगवान् कहते आये हैं कि तू मुझ में चित्त लगा '**मच्चितः**' 'मुझे ही नमस्कार कर' '**मां नमस्कुरु**'। इन दो श्लोकों में कहा है– ईश्वर ही विश्व का चक्र चला रहा है, उसी के शरण में जा '**तमेव शरणम् गच्छ**'। इससे स्पष्ट है कि श्री कृष्ण जी भगवान् की शरण में जाने की बात करते हैं जब वह 'तम् एव' तथा 'तत्–प्रसादात्' कहते हैं तो उनका संकेत परमात्मा की ओर है अपनी ओर नहीं। यह दोनों श्लोक सिद्ध करते हैं कि श्री कृष्ण जी स्वयं परमात्मा नहीं है, वह भी उस परमात्मा की पूजा करते हैं जो सबके हृदय प्रदेश में स्थित है, वह हमें कर्मानुसार फल प्रदान कर रहा है, उसी की शरण में जाने पर ही हमें परमशान्ति तथा शाश्वत भाव प्राप्त होगा।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।। ६३।।

इति (इस प्रकार यह), गुह्यात्, गुह्यतरम् (गोपनीय से भी अति गोपनीय), ज्ञानम्, मया, ते, आख्यातम् (ज्ञान, मैंने, तुझ से, कह दिया), एतत् (इस रहस्ययुक्त ज्ञान को), अशेषेण, विमृश्य (पूर्णतया, भली–भाँति विचार कर), यथा, इच्छसि, तथा कुरु (जैसे चाहता है, वैसे, कर)।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।। ६४।।

सर्वगुह्यतमम् (सम्पूर्ण गोपनीय से अति गोपनीय), मे, परमम्, वचः (मेरे परम रहस्य युक्त, वचन को तू), भूयः, शृणु (फिर से, सुन), मे, दृढम्, इष्टः, असि (मेरा, अतिशय, प्रिय, है), ततः, इति, हितम्, ते, वक्ष्यामि (इससे, यह,

परमहितकारक वचन, मैं तुझसे कहूँगा)।

प्रश्न 53- श्री कृष्ण जी अपने उपदेश का उपसंहार किस प्रकार कर रहे हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी ने कहा, ''हे अर्जुन! मैंने इस प्रकार तुझे गुह्य से भी गुह्यतर ज्ञान का मार्ग बता दिया, अब इस पर भली भाँति विचार करके तुझे जो ठीक लगे, उस मार्ग पर चल।''

महात्मा पुरुष सामान्य रूप से लोगों को सच्चे मार्ग पर चलाना चाहते हैं, परन्तु अपने सम्बन्ध में बहुत बढ़ा चढ़ा कर व्यर्थ बात नहीं कहते क्योंकि अनजान पुरुष को यह व्यर्थ की आत्मश्लाघा-सी दीखती है। जो उनके अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र व शिष्य होते हैं, उनके सामने वे कभी स्नेहवश अपनी महिमा का भी बखान कर देते हैं। वे कहते हैं- 'हे अर्जुन! तू मेरा अत्यन्त प्यारा है इसलिए 'गुह्यात् गुह्यतरम्' के पश्चात् इससे भी बढ़कर तू मेरा सर्वगुह्यतम परमवचन सुन। मैं तेरे विशेष हित की बात कहूँगा। भावार्थ यह होगा-

श्री कृष्ण जी कहते हैं- मैंने यह गुह्य से गुह्य ज्ञान तुझे कहा है, अब तू इस ज्ञान के प्रकाश में विचार कर साम्यबुद्धि द्वारा जो निश्चय करेगा वह एक स्थित प्रज्ञ का अडिग निश्चय होगा। ऐसी अवस्था में मेरी व तेरी इच्छा में कोई अन्तर नहीं होगा।

मन्मना भव मदभक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। ६५।।

मन्मनाः, भव, मद्भक्तः, मद्या जी (मुझ में मन वाला, मेरा भक्त, मेरा पूजन करने वाला हो या बन), माम्, नमस्कुरु (मुझे नमस्कार कर) [ऐसा करने से तू], माम्, एव एष्यसि (मुझे, ही, प्राप्त होगा), ते, सत्यम्, प्रतिजाने (तुझसे, सत्य प्रतिज्ञा, करता हूँ), मे, प्रियः, असि (मेरा, अत्यन्त, प्रिय है)।

प्रश्न 54- श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपने अनुसार चलने की क्यों कहते हैं ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते हैं- मेरी मति अनुसार, मेरे कथन में विश्वास करता हुआ, मेरे विचारित मत के अनुसार आचरण करते हुए, तू मेरे जैसा ही हो जायेगा। ऐसा होने पर मैं तेरे लिए सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि तू परमात्मा को ही प्राप्त होगा।

तू मेरा भक्त बन अर्थात् मेरे आचरण के अनुसार चल। मुझे नमस्कार कर

का अर्थ यह है कि धर्म-राज्य-स्थापन रूप महान् यज्ञ में सहयोग के लिए धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में मैं तुझे आहूति देने का उपदेश दे रहा हूँ, इसमें मुक्त हस्त से आहुति देकर इन आततायियों को मार। तू मेरा प्रिय सखा है, मैं तुझ से सत्य कहता हूँ कि तुझे वही सद्गति प्राप्त होगी जो मुझे होगी।

श्री गुरुदत्त जी इस की व्याख्या इस प्रकार करते हैं- इस श्लोक में जो '**मन्मना** शब्द का प्रयोग किया गया है, वह श्री कृष्ण जी के अपने लिए (परमात्मा के लिए नहीं) किया हुआ समझ में आता है। श्री कृष्ण जी देवकी के गर्भ से उत्पन्न हुए। कुछ लोग श्री कृष्ण जी को अवतार मानते हैं परन्तु अवतार का अर्थ परमात्मा नहीं है। वेद में परमात्मा के कुछ चिन्ह यजुर्वेद के ४० अध्याय के ८ वें मन्त्र में कहे है वे श्री कृष्ण जी में नहीं थे।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी, परिभूः, स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।'
(यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र संख्या ८)

वह परमात्मा सब जगह है, वह शुद्धता की चरम सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नहीं, काया नहीं तो व्रण कहाँ, नस नाड़ी कहाँ? भौतिक दृष्टि से उसे शुद्ध कहते है। मानसिक दृष्टि से पाप रहित कहते हैं, वह कवि है, यह भौतिक संसार उसका काव्य है। वह मनीषी है, मानसिक संसार का भी वही स्वामी है। वह सब जगह मौजूद है परन्तु साथ ही वह स्वयंभू है। 'अपने आप है- कोई उसे पैदा नहीं करता। शाश्वत काल से जो यह सृष्टि चल रही है, उसके लिए ठीक-ठीक पदार्थों की व्यवस्था, जिस समय जो कुछ होना चाहिये, वह सारा प्रबन्ध वही कर रहा है।'

श्री कृष्ण जी उत्पन्न हुए, काया में आए, नसनाड़ी के बन्धन में आये, उनकी मृत्यु हुई अतः हम उन्हें विशेष योग्यता प्राप्त आत्मा तो मान सकते हैं, परमात्मा नहीं। उन्हें परमात्मा मानना भ्रम एवं अनुचित होगा।

विष्णु पुराण में भगवान् के कहे लक्षणों से यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा की प्राणशक्ति की विशेष मात्रा भगवान् कहे जाने वाले व्यक्ति में होती है। श्री कृष्ण जी के अतिरिक्त भी कई व्यक्ति उस विशेष प्राणशक्ति से युक्त हो चुके हैं। फिर भी श्री कृष्ण जी योगयुक्त अवस्था में प्रवचन कर रहे थे। इसी कारण अन्त में उन्होंने कहा कि तू मुझे प्राप्त होगा अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त होगा।

यदि कृष्ण जी सचमुच अपने को भगवान् ही मानते थे तो अर्जुन के सामने

खड़े होकर क्यों कहने लगे कि तू मुझ तक पहुँच जायेगा। पहुँचे हुए तो वह थे ही, पास ही तो खड़े थे। गीताकार के पात्र रूप में यदि श्री कृष्ण जी परमात्मा के नाम से यह सब कुछ कह रहे थे, तब इस कथन में कोई आपत्ति नहीं।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।। ६६।।

सर्वधर्मान्, परित्यज्य (सम्पूर्ण धर्मों को अर्थात्, सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को छोड़कर), एकम्, माम्, शरणम्, व्रज (एक, मुझ सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमेश्वर की ही, शरण में आ, जा), अहम्, त्वाम्, सर्वपापेभ्यः (मैं, तुझको, सम्पूर्ण पापों से), मोक्षयिष्यामि (मुक्त कर दूँगा), मा, शुचः (शोक, मत कर)।

प्रश्न 55– श्री कृष्ण जी अर्जुन को अपने अनुसार चलने को क्यों कह रहे हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी अर्जुन को निष्काम कर्म करने की आज्ञा देते हुए कहते हैं, ''हे अर्जुन! सब कर्तव्य कर्मों को छोड़कर (निष्काम, कर्म करते हुए) मेरे कथनानुसार कार्य कर। मैं तुझे सब पापों की प्रवृति से मुक्त कराकर मोक्ष पद का मार्ग बता दूँगा। शोक मत कर।''

'सब धर्मों को छोड़कर' का अभिप्राय है कि सब प्रकार के कर्मों को छोड़कर इस युद्ध कर्म में रत हो। कर्म भी धर्म होता है और मनुष्य के लिए करणीय कर्म (धर्म) बहुत से हैं। उदाहरण के रूप में परिवार, गाँव, जनपद, राज्य, देश में सांस्कृतिक भेद हो सकता है।

यहाँ श्री कृष्ण जी अर्जुन से कह रहे हैं, वह कार्य जो मैंने तुम्हें बताया है, तू उसे कर फिर मैं तुम्हें पार करा दूँगा अर्थात् श्री कृष्ण जी ने इस युद्ध में अर्जुन को अन्त तक सहायता करने का वचन दिया था। श्री कृष्ण जी चाहते थे कि अर्जुन युद्ध करे और भाई-बन्धुओं के लिए झूठे मोह का विचार छोड़कर वास्तविक कार्य (धर्म की स्थापना, साधुओं के परित्राण और दुष्टों के विनाश) में लग जाए।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।। ६७।।

ते (तुझे), इदम् (यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश), कदाचन, न (कदापि, नहीं), अतपस्काय, वाच्यम् (तप रहित मनुष्य से, कहना चाहिये), न, अभक्ताय (न, भक्ति रहित से), च, न, अशुश्रूषवे (और, न, बिना सुनने की इच्छा वाले से [कहना चाहिये]), च, यः, माम् (और, जो, मुझमें), अभ्यसूयति, न (दोष दृष्टि रखता है, उसे भी नहीं)।

प्रश्न 56– श्री कृष्ण जी गीता का रहस्यमय उपदेश किस-किस को न सुनाने का आदेश देते हैं?

उत्तर– श्री कृष्ण जी निम्नलिखित व्यक्तियों को गीता रूपी रहस्यमय् उपदेश न सुनाने का आदेश देते हैं –

(1) जो तपस्या से रहित हों।
(2) जो भक्ति से रहित हों।
(3) जो सुनने की इच्छा न रखते हों।
(4) जो परमात्मा की निन्दा करते हों अर्थात् नास्तिक हों।

हे अर्जुन! मैंने इसे 'सर्व गुह्यतम वचन' इसलिए भी कहा है साधारण पुरुष इसका अर्थ '**पापफलेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' ऐसा समझकर और अधिक पाप में लग जावेंगे। मैं तो कह रहा हूँ कि पाप से छुड़ाऊँगा, वे समझेंगे कि पाप के फल से छुड़ाऊँगा, इसलिए यह उपदेश तू तपहीन, भक्तिहीन, सुनने की इच्छा न रखने वाले और जो मुझे देखकर मेरे नेतृत्व से ईर्ष्या करते हैं, उनके सामने भी न कहना। इस सन्देश को समझने में वे ही लोग समर्थ है जो तपस्वी, भक्तिभाव से पूर्ण, सुनने की इच्छा वाले और अनिन्दक हैं, अन्य लोग सम्भव है इस सन्देश को सुनकर इसका दुरुपयोग करें।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।। ६८।।

यः, मयि, पराम्, भक्तिम्, कृत्वा (जो पुरुष, मुझ में, परम, प्रेम करके), इमम्, परमम्, गुह्यम् (इस, परम, रहस्ययुक्त उपदेश को), मद्भक्तेषु, अभिधास्यति (मेरे भक्तों में, कहेगा), माम्, एव, एष्यति (मुझ को, ही, प्राप्त होगा), असंशयः (इसमें कोई सन्देह नहीं)।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।। ६९।।

तस्मात्, मे, प्रियकृत्तमः (उससे बढ़कर, मेरा, प्रिय कार्य करने वाला), मनुष्येषु, कश्चित्, च, न (मनुष्यों में कोई, भी, नहीं है), च, भुवि, तस्मात् (तथा, पृथ्वी पर, उससे बढ़कर), मे, प्रियतरः (मेरा, प्रिय), अन्यः, भविता, न (दूसरा कोई, भविष्य में, नहीं होगा)।

प्रश्न 57- गीता के प्रचार करने वाले को क्या फल मिलेगा ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी अर्जुन को गीता के वचन को प्रशंसा करते हुए कहते हैं, " हे अर्जुन! जो इस परम मूढ़ वचन का प्रभु के भक्तों में (प्रभु में विश्वास रखने वालों में) कहेगा, वह मेरे को ही प्राप्त होगा अर्थात् मेरे जैसा योगी हो जायेगा।

जो मेरे इस प्रवचन को दूसरों को सुनाता है उससे बढ़कर मेरा और बड़ा प्रिय कोई नहीं है और न उससे बढ़कर कोई प्रिय होगा।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।। ७०।।

यः (जो पुरुष), इमम्, धर्म्यय, (इस, धर्ममय), आवयोः, संवादम् अध्येष्यते (हम दोनों के, संवाद रूप गीता शास्त्र को, पढ़ेगा) तेन, च, अहम् (उसके द्वारा, भी, मैं), ज्ञानयज्ञेन, इष्टः, स्याम् (ज्ञान यज्ञ, से पूजित, होऊँगा), इति, मे, मतिः (ऐसा, मेरा, मत है)।

प्रश्न 58- गीता के पढ़ने का क्या फल है ?

उत्तर- श्री कृष्ण जी कहते हैं, "हे अर्जुन! जो पुरुष हम दोनों के इस गीता शास्त्र रूपी संवाद को अध्ययन करेगा अर्थात् इसके अनुसार अपना आचरण बना लेगा, वह भी मेरे ही मत अर्थात् मेरे जैसा ज्ञानी हो जायेगा अर्थात् मेरे जैसे विचारों का हो जायेगा।"

गीताशास्त्र का अध्ययन करना - गीता का मर्म जानने वाले भगवान् के भक्तों से इस गीता शास्त्र को पढ़ना, इसके अर्थों पर विचार करना, इसके अनुसार अपना आचरण बनाना - ये सब गीता शास्त्र अध्ययन करने के अन्तर्गत है।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। ७१।।

यः, नरः (जो, मनुष्य), श्रद्धावान्, च, अनसूयः (श्रद्धायुक्त, और, दोष दृष्टि से रहित होकर), शृणुयात्, अपि (श्रवण, भी करेगा), सः, अपि, मुक्तः (वह, भी, मुक्त होकर), पुण्यकर्मणाम् (उत्तम कार्य करने वालों के), शुभान्, लोकान्, प्राप्नुयात् (श्रेष्ठ, लोकों को प्राप्त होगा)।

प्रश्न 59- गीता के श्रवण का क्या फल है ?

उत्तर- जो व्यक्ति विश्वास से तथा दोष दृष्टि से रहित होकर गीता प्रवचन का श्रवण मात्र भी करेगा वह पापों से मुक्त हो जायेगा। पापों से मुक्त होने का तात्पर्य

यह है कि पाप कर्म छोड़ देगा, पाप कर्म नहीं करेगा। वह उत्तम कर्म करने वाला होकर श्रेष्ठ परिवारों में जन्म लेगा।

केवल श्रवण से पिछले किये हुए पापों से मुक्त नहीं होगा। जो ऐसा सोचता है वह ईश्वर के विधान में विश्वास नहीं रखता। '**अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृतं कर्म शुभाशुभम्**' किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा चाहे शुभ या अशुभ। हाँ, इतना अवश्य है कि इस शुभ वाणी का श्रवण करने के पश्चात् उसके मन में पाप कर्म की भावना अवश्य नष्ट हो जायेगी।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।। ७२।।

पार्थ (हे अर्जुन!), कच्चित्, एतत् (क्या, इस गीता शास्त्र को), त्वया, एकाग्रेण, चेतसा, श्रुतम् (तूने, एकाग्र चित्त से, श्रवण किया), धनञ्जय (हे अर्जुन!) कच्चित्, ते (क्या तेरा), अज्ञानसम्मोहः, प्रनष्टः (अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया?)।

प्रश्न 60- गीता श्रवण से अर्जुन का मोह नष्ट हुआ या नहीं ? यह प्रश्न श्री कृष्ण जी पूछते हैं।

उत्तर- गीता के उपदेश को सुनने के पश्चात् अर्जुन के मन में पड़ने वाले प्रभाव के विषय में श्री कृष्ण जी पूछते हैं, "हे अर्जुन! क्या तूने एकाग्रचित होकर यह सब कुछ सुना? हे धनंजय! अज्ञान के कारण जो तुझे मोह हो गया था, आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, क्या वह मोह दूर हुआ या नहीं?"

अज्ञान जनित मोह नष्ट हुआ या नहीं? इस प्रश्न से श्री कृष्ण जी ने यह भाव दिखलाया है कि यदि तुमने उस उपदेश को भली-भांति सुना है तो उसका फल भी अवश्य होना चाहिये। इसलिए तुम जिस मोह से व्याप्त होकर धर्म के विषय में अपने को मूढ़चेता बतला रहे थे '**धर्मसम्मूढचेता**' (गीता २/७) तथा अपने स्वधर्म का पालन करने में पाप समझ रहे थे '**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः**' (गीता १/३६) और समस्त कर्मों का त्याग करके भिक्षा के अन्न से जीवन बिताना श्रेष्ठ समझ रहे थे '**श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके**' (गीता २/५) एवं जिसके कारण तुम-स्वजन वध के भय से व्याकुल हो रहे थे (गीता १/४५-४७) और अपने कर्तव्य का निश्चय नहीं कर पाते थे - (गीता २/६-७) तुम्हारा यह अज्ञान जनित मोह नष्ट हुआ या नहीं? यदि मेरे उपदेश को तुमने ध्यानपूर्वक सुना होगा तो अवश्य ही तुम्हारा

मोह नष्ट हो जाना चाहिये और यदि तुम्हारा मोह नष्ट नहीं हुआ है तो यह मानना पड़ेगा कि तुमने इस उपदेश को एकाग्रचित से नहीं सुना।

अर्जुन उवाच

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।। ७३।।

अच्युत (हे कृष्ण!), त्वत्प्रसादात् (आपकी कृपा से मेरा), मोहः, नष्टः (मोह नष्ट हो गया), मया, स्मृतिः, लब्धा (मैंने, स्मृति, प्राप्त कर ली है), [अब मैं], गतसन्देहः, स्थितः, अस्मि (संशय रहित होकर, स्थित हो, गया हूँ), तव, वचनम्, करिष्ये (आपकी, आज्ञा का, पालन करूँगा)।

प्रश्न 61– श्री कृष्ण जी के पूछने पर कि तुम्हारा मोह नष्ट हुआ है या नहीं के उत्तर में अर्जुन ने क्या कहा?

उत्तर– अर्जुन बोले, ''हे श्री कृष्ण जी! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली, अब मैं संशय रहित होकर स्थित हूँ। अतः मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा।''

श्री जयदयाल गोयन्दका के अनुसार '**नष्टो मोहः**' के शब्दों द्वारा अर्जुन ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए श्री कृष्ण जी के प्रश्न का उत्तर दिया है। यहाँ अर्जुन के कहने का अभिप्राय यह है कि आपने यह दिव्य उपदेश सुनाकर मुझ पर भारी कृपा की है, आपके उपदेश सुनने से मेरा अज्ञान जनित मोह सर्वथा नष्ट हो गया है अर्थात् आपके गुण, प्रभाव, ऐश्वर्य और स्वरूप को यथार्थ न जानने के कारण जिस मोह से व्याप्त होकर मैं आपकी आज्ञा मानने के लिए तैयार नहीं हो रहा था और बन्धुबान्धवों के विनाश का भय करके शोक से व्याकुल हो रहा था, वह सब मोह अब सर्वथा नष्ट हो गया है।

'**स्मृतिर्लब्धा**' - इससे अर्जुन ने यह भाव दिखलाया है कि मेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो जाने से मेरे अन्तःकरण में दिव्य ज्ञान का प्रकाश हो गया है और मुझे स्मृति प्राप्त हो गई है।

'**गतसन्देहः**' यहाँ अर्जुन ने यह भाव प्रकट किया है कि अब धर्म-अधर्म और कर्तव्य-अकर्तव्य आदि के विषय में किञ्चिन्मात्र भी संशय नहीं रहा है। मेरे सब संशय नष्ट हो गये है तथा समस्त संशयों का नाश हो जाने के कारण मेरे अन्तःकरण में चंचलता का सर्वथा अभाव हो गया है।

तव वचनं करिष्ये - यहाँ अर्जुन ने यह भाव दिखलाया है कि आप की

दया से मैं कृतकृत्य (धन्य) हो गया हूँ। मेरे लिए अब कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा। अतएव आपके कथनानुसार लोकसंग्रह के लिए युद्धादि समस्त कर्म जैसा आप करवायेंगे, निमित्त मात्र बनकर मैं वैसा ही करूँगा।

अतः संवाद यहाँ पूर्ण हुआ। देखा जाये तो गीता का प्रवचन यहाँ समाप्त हो जाता है, क्योंकि गीता का मुख्य उद्देश्य अर्जुन के मोह को नष्ट करना और उन्हें युद्ध के लिए तैयार करना था। वह कार्य अब पूर्ण हो चुका है, जब अर्जुन ने कह दिया- मेरा मोह नष्ट हो गया, स्मृति प्राप्त हो गई, कोई संशय नहीं रहा, आप की आज्ञा का पालन करूंगा।

संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।। ७४।।

इति, अहम् (इस प्रकार मैंने), वासुदेवस्य, च, महात्मनः, पार्थस्य (श्री कृष्ण जी, और, महात्मा अर्जुन के), इमम्, अद्भुतम् (इस अद्भुत रहस्ययुक्त), रोमहर्षणम् (रोमांचित कर देने वाले), संवादम् अश्रौषम् (संवाद को, सुना)।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।। ७५

व्यास प्रसादात् (श्री व्यास जी की कृपा से), अहम्, एतत्, परम् (मैंने, इस, परम), गुह्यम्, योगम् (गोपनीय, योग को), कथयतः (कहते हुए), स्वयं योगेश्वरात्, कृष्णात् (स्वयं, योगेश्वर श्री कृष्ण जी से), साक्षात्, श्रुतवान् (प्रत्यक्ष, सुना है)।

प्रश्न 62– संजय ने धृतराष्ट्र को श्री कृष्ण जी और अर्जुन के संवाद के बारे में क्या बताया?

उत्तर– संजय बोले– हे राजन् धृतराष्ट्र! इस प्रकार मैंने श्री कृष्ण जी के और महात्मा अर्जुन के इस अद्भुत, रहस्य युक्त, रोमांच कर देने वाले संवाद को सुना।

अर्जुन के लिए 'महात्मनः' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि अर्जुन कितने महान् विलक्षण पुरुष हैं जिनकी आज्ञा का पालन स्वयं श्री कृष्ण जी भी करते हैं। अर्जुन कहते हैं, ''हे अच्युत! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा कर दो (गीता १/२१)!'' श्री कृष्ण जी दोनों सेनाओं के बीच में रथ को खड़ा कर देते हैं (गीता १/२४)। गीता में अर्जुन जहाँ-जहाँ प्रश्न करते हैं,

वहाँ-वहाँ श्री कृष्ण जी बड़े प्यार से और विलक्षण रीति से प्रायः विस्तार पूर्वक उत्तर देते हैं। वह अर्जुन को एक योग्य भक्त मानते हैं (गीता ४/३१)

संजय आगे बोले, ''हे राजन्! श्री व्यास जी की कृपा से (दिव्य दृष्टि पाकर) मैंने यह परम गुह्य (ज्ञान योग, कर्मयोग, भक्ति योग अर्जुन के प्रति), साक्षात् कथन करते हुए योगेश्वर श्री कृष्ण जी के मुख से स्वयं सुना है।''

यहाँ पर संजय ने **'योगेश्वरात्, कृष्णात्, साक्षात् कथयतः, स्वयम्'** - ये पाँच शब्द कहे। ये कहने की आवश्यकता संजय को क्यों पड़ी? संजय इन शब्दों का प्रयोग करके यह कहना चाहते हैं कि मैंने यह संवाद परम्परा से नहीं सुना है और किसी ने मुझे सुनाया हो- ऐसी बात भी नहीं है, इसको तो मैंने स्वयं श्री कृष्ण जी के मुख से कहते सुना है।

यहाँ पर 'योगेश्वरात्, कृष्णात्' शब्द से भी यह तात्पर्य है कि श्री कृष्ण जी एक महान् योगी ही नहीं थे, बल्कि योगेश्वर भी है, परन्तु यहाँ कहीं भी श्री कृष्ण जी का परमात्मा के रूप में वर्णन नहीं है, बल्कि योगेश्वर कृष्ण के रूप में वर्णन है।

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।। ७६ ।।

राजन् (हे धृतराष्ट्र), केशवाजुर्नयोः (श्री कृष्ण जी और अर्जुन के), इमम्, पुण्यम् (इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक), च, अद्‌भुतम्, संवादम् (और, अद्‌भुत, संवाद को), संस्मृत्य, संस्मृत्य (पुनः-पुनः, स्मरण करके), मुहर्मुहुः, हृष्यामि (बार-बार, हर्षित हो रहा हूँ)।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः।। ७७।।

राजन् (हे राजन्), हरेः (श्री हरि के), तत्, अति, अद्‌भुतम्, रुपम् (उस, अत्यन्त, विलक्षण, रूप को), च, संस्मृत्य, संस्मृत्य (और पुनः पुनः, स्मरण करके), मे, महान्, विस्मयः (मेरे चित्त में, महान्, आश्चर्य होता है), च, पुनः, पुनः, हृष्यामि (और मैं, पुनः, पुनः, हर्षित हो रहा हूँ)।

प्रश्न 63- संजय किस-किस बात से पुनः पुनः हर्षित हो रहा है?

उत्तर- संजय बोले, ''हे राजन् (धृतराष्ट्र!) श्री कृष्ण जी और अर्जुन में यह जो कल्याणकारक और अद्‌भुत संवाद हुआ है तथा श्री कृष्ण जी द्वारा जो परमात्मा का विराट् स्वरूप (अर्जुन के माध्यम से) मैंने देखा है, उन्हें पुनः पुनः स्मरण

करके मेरे चित्त में बार-बार हर्ष और विस्मय होता है।

'पुण्यम्, अद्‌भुतम्' इन दोनों विशेषणों का प्रयोग करके संजय ने यह भाव दिखलाया है कि श्री कृष्ण जी और अर्जुन का दिव्य संवादरूप यह गीता शास्त्र अध्ययन, अध्यापन, श्रवण, मनन और वर्णन आदि करने वाले मनुष्य को सब प्रकार से कल्याणकारक तथा अद्‌भुत लाभ देता है, **'अतिअद्‌भुतम् रूपम्'** से तात्पर्य है कि जिस अत्यन्त आश्चर्यमय, दिव्य विश्वरूप का श्री कृष्ण जी ने अर्जुन को दर्शन कराया था, उसको स्मरण करके मैं पुनः पुनः हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ, अर्थात् श्री कृष्ण जी द्वारा वर्णित इस उपदेश ने मेरे हृदय को इतना आकर्षित कर लिया है कि अब मुझे दूसरी कोई बात ही अच्छी नहीं लगती तथा मैं हर्ष और प्रेम में विह्वल हो रहा हूँ। मेरे आनन्द का पारावार नहीं है।

यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।। ७८।।

यत्र, योगेश्वरः, कृष्णः (जहाँ, योगेश्वर, श्री कृष्ण जी हैं), यत्र, धनुर्धरः, पार्थः (जहाँ, गाण्डीव धनुषधारी, अर्जुन हैं), तत्र (वहाँ), श्रीः, विजयः, भूतिः (लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य), ध्रुवा, नीतिः (अचल, नीति है), मम, मतिः (ऐसा, मेरा मत है)।

प्रश्न 64- गीता के आरम्भ में धृतराष्ट्र का गूढ़ाभिसन्धि प्रश्न था कि युद्ध का परिणाम क्या होगा? इस श्लोक में संजय ने धृतराष्ट्र को उस प्रश्न का क्या उत्तर दिया है?

उत्तर- संजय बोले, ''हे धृतराष्ट्र राजन्! आपने मुझ से जब युद्ध का आँखों देखा हाल जानने की इच्छा प्रकट की थी तभी एक गूढ प्रश्न भी किया था कि युद्ध में मेरे पुत्रों की विजय होगी या पाण्डवों की?

इस प्रश्न के उत्तर में संजय के वचन से लगता है कि युद्ध का परिणाम संजय ने घोषित कर दिया है। अभी युद्ध तो प्रारम्भ होना है, परन्तु संजय के भावों से यह स्पष्ट हो गया है- हे राजन्! जहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण जी हैं, जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं वहाँ लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और अचल नीति होगी, ऐसा मेरा मत है।

संजय कहते हैं कि हे राजन! जहाँ अर्जुन का संरक्षण करने वाले, उन्हें सम्मति देने वाले, सम्पूर्ण योगों के महान् ईश्वर (योगेश्वर), महान् बलशाली, ऐश्वर्यवान्, विद्यावान्, चतुर श्री कृष्ण जी हैं और जहाँ श्री कृष्ण जी की आज्ञा

का पालन करने वाले, श्री कृष्ण जी के प्रिय सखा तथा भक्त गाण्डीवधारी अर्जुन हैं, उसी पक्ष में, सम्पत्ति, विजय, ऐश्वर्य और अचल नीति– ये सभी हैं और मेरी सम्मति भी उसी के पक्ष में है।

युद्ध में कौन जीतेगा और कौन हारेगा ? गीता के अन्त में संजय भी मानो उसी निर्णय की ओर संकेत करते हैं। यह सर्वविदित तथ्य है कि जहाँ श्री कृष्ण जी विद्यमान, विराजमान् हैं, वहीं विजय है, 'यत: कृष्णस्ततो जय:' (महाभारत भीष्म पर्व ४३/६०) (शल्यपर्व ६२/३२)

सारांश या सन्देश –

संन्यास और त्याग के तत्त्व को पृथक्–पृथक् जानने हेतु अर्जुन की जिज्ञासा से अध्याय प्रारम्भ हुआ। विचारकों, विद्वानों के इस सम्बन्ध में पृथक्–पृथक् विचारों का संकेत करते हुए पहले त्याग के विषय में श्री कृष्ण जी द्वारा अपना मत प्रस्तुत किया गया कि यज्ञ–दान और तप रूपी कर्मों को कभी भी त्यागना नहीं चाहिये। अहंकार और आसक्ति का त्याग अवश्य करना चाहिये। मोह के कारण कर्म का त्याग तामसी, शारीरिक कष्ट के भय से कर्म का त्याग राजसी और कर्म में से आसक्ति और फलेच्छा का त्याग सात्त्विक और वास्तविक त्याग है। अब हम अपना निरीक्षण करें कि हमारा त्याग, ज्ञान, बुद्धि, धृति किस श्रेणी का है। कैसा सुख चाहते हैं ? पहले विष के समान बाद में आनन्द प्रदान करने वाला, या पहले इन्द्रिय जनित क्षणिक सुख जो प्रारम्भ में अमृत के समान, परन्तु जिसका अन्त विष तुल्य है, ऐसे सुख में से हमें कौन सा सुख ग्रहण करना है, यह निर्णय हमें करना है।

हम चाहें तो स्वयं को ऊपर उठा सकते हैं। यदि हम सात्त्विकता की ओर बढ़ते हैं तो ध्येय की प्राप्ति मानव जीव का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति होगी। हम आत्मतुष्टि के चक्कर में ढोंगी, पाखण्डी साधुओं के चक्कर में पड़ जाते हैं। इससे न केवल वे हमारा धन ही हरते हैं बल्कि हमें पतन की ओर धकेल देते हैं। हमें गीता के इस निष्काम, फलेच्छा रहित कर्म योग पर अपने पग बढ़ाने होंगे। स्थिर चित्त होकर अपने कर्तव्य कर्म को करना होगा। उसके फल को पुण्प रूप में उस की शरण में जाकर परब्रह्म को प्राप्त करना होगा, वह हमारा परम मित्र है। फिर हमें किसी प्रकार की चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि हम तामसी निद्रा में सोये रहे तो हमारा विनाश निश्चित है। गीता के

अनुसार निष्काम, फलेच्छा रहित कर्म कर्तव्य में करते रहकर आगे बढ़ना होगा।

गीता का प्रथम शब्द है, '**धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे**' (गीता १/१) और समापन शब्द है '**ध्रुवानीतिर्मतिर्मम**' (गीता १८/७८)। मैं जो हूँ उस रूप में मेरा धर्म (कर्तव्य) क्या है ? और जहाँ हूँ वहाँ मेरा धर्म (कर्तव्य) क्या है ?)

गीता का अन्तिम श्लोक '**यत्र योगेश्वर: कृष्ण: यत्र पार्थो धनुर्धर:। तत्र श्रीर्विजयोभूति र्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम**' से संजय ने जिस निर्भीकता में बात कही है वही हमारे जीवन का सत्य है। जहाँ श्री कृष्ण जी जैसे धर्मपारायण व्यक्ति हों, महात्मा अर्जुन जैसे योग्य भक्त हो, वहाँ सम्पत्ति, ऐश्वर्य, विजय एवं अचल नीति विद्यमान रहती है।

श्री कृष्ण जी ने जब अन्त में अर्जुन से पूछा, ''हे अर्जुन! क्या तुम्हारा मोह नष्ट हो गया है तो अर्जुन उत्तर देता है, ''मोह भी नष्ट हो गया है, स्मृति भी आ गई और संशय भी समाप्त हो गये हैं।'' प्रश्न सुनते ही अर्जुन का साहसी, उत्साही उत्तर सुनकर तथा उसके पश्चात् संजय का उछाल लेता आह्लाद, अर्जुन और संजय दोनों की कृतज्ञता गीता को जन–जन की व्यावहारिक प्रेरणा बनाने का मानो मधुर एवं अत्यन्त आशावादी–उत्साहवादी मूलमन्त्र ही है, जिसके साथ ही यह अध्याय और श्रीमद्‌भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद का यह सन्देश सम्पन्न हुआ।

भगवद्‌गीता रूपी उपनिषद् जिस में ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, उसके अन्तर्गत जो योगशास्त्र है, उसमें जो श्री कृष्णार्जुन संवाद है, उस संवाद का 'मोक्ष–संन्यास–योग' – नामक अष्टादश अध्याय समाप्त हुआ।

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

श्रीमद्भगवद्गीता- आचार्य सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
श्रीमद्भगवद्गीता – स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती
श्रीमद्भगवद्गीता गीतामृत – स्वामी रामदेव जी
श्रीमद्भगवद्गीता – श्री गुरुदत्त जी
श्रीमद्भगवद्गीता – गीता प्रैस गोरखपुर
गीता प्रबोधनी – स्वामी राम सुखदास जी
भगवद्गीता – डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन
श्रीमद्भगवद्गीता तत्त्वविवेचनी – श्री जयदयाल गोयन्दका
श्रीमद्भगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र – लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक
गीता प्रेरणा – स्वामी श्री ज्ञानानन्द जी
श्रीमद्भगवद्गीता – आचार्य सुधांशु जी महाराज
श्रीमद्भगवद्गीता साधक-संजीवनी – स्वामी रामसुखदास जी
श्रीमद्भगवद्गीता – आनन्दमूर्ति गुरु माँ
अध्यात्म योग प्रदर्शिका श्रीमद्भगवद्गीता – महात्मा मौनी जी
गीता विमर्श – डॉ. शशि तिवारी
गीता चिन्तन – हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता माधुरी – डॉ. सत्यपाल बेदार 'सरस'
सरस सिरायकी गीता – डॉ. सत्यपाल बेदार 'सरस'
श्रीमद्भगवद्गीता (एक वैदिक रहस्य) – स्वामी राम स्वरूप
गीता सार – श्री अनिल विद्यालंकार
सरल गीता ज्ञान – डॉ. महेश विद्यालंकार
भगवान् का गीत – श्री नारायण सिंह तहलान एडवोकेट
योगेश्वर श्री कृष्ण – आचार्य आर्य नरेश जी
मनुस्मृति – डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी (मनुस्मृति विशेषज्ञ)
गीतोपनिषद् श्रीमद्भगवद्गीता यथा रूप – श्रीमद् ए.सी भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद
बाल गीता – राय साहब रोशन लाल
गीता-प्रवचन – आचार्य विनोबा भावे
एक बहुआयामी व्यक्तित्व योगेश्वर श्री कृष्ण – श्रीमती कृष्ण बाला
श्रीमद्भगवद्गीता – श्री तुलसी राम स्वामी
कर्मयोगी श्री कृष्ण – श्री प्रेमचन्द्र विद्याभास्कर
योगेश्वर कृष्ण – पं. चमूपति एम.ए.
श्रीमद्भगवद्गीता विवेचनी – श्री उत्तम प्रकाश बन्सल
ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद,
एकादशोपनिषद् – डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार
योगेश्वर श्री कृष्ण – श्री सुभाष चन्द्र गुप्ता
कर्मयोग के व्यावहारिक व्याख्याता – श्री कृष्ण – आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री
योगेश्वर श्री कृष्ण – श्री चन्द्रभान आर्य
भगवान श्री कृष्ण योगीराज या भोगीराज- डॉ. गंगाशरण आर्य
भगवान् श्री कृष्ण व जन्माष्टमी – आचार्य सत्यवीर शास्त्री
हरियाणवी श्रीमद्भगवद्गीता – डॉ. मूलराज शर्मा
श्रीमद्भगवद्गीता (सरल काव्यमय अनुवाद)- प्रो. मुरारिलाल शर्मा

भगवद्गीता
अकारादिक्रम से श्लोक-सूची